॥ णमो सुअस्स ॥

जैन शास्त्र माला—चतुर्थ रत्नम्

दशवैकालिकसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतं

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दी-भाषा-टीकासहितं च

अनुवादक

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, जैनाचार्य

श्री श्री श्री १००८ परम पूज्य श्री आतमाराम जी महाराज

पंजाबी

सम्पादक :—

कविरत्न उपाध्याय श्री अमर चन्द जी महाराज

प्रकाशक

खज़ानचीराम जैन

जैन शास्त्रमाला कार्यालय

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

प्रथमावृत्ति १०००]   [मूल्य लागतमात्र १०)

महावीराब्द २४७२ विक्रमाब्द २००३ ईसवी सन् १९४६

प्रकाशक—

लाला खज़ानची राम जैन,
व्यवस्थापक—जैन शास्त्र
माला कार्यालय, जैन स्ट्रीट,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

मुद्रक—

लाला खज़ानची राम जैन,
मैनेजर, मनोहर इलैक्ट्रिक प्रेस,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

अर्पण-पत्रिका

श्रीमन् पूज्यपाद, गणावच्छेदक एवं स्थविरपदविभूषित संघ हितैषी मुनि श्री गणपतिराय जी महाराज !

आपने मुझ दीन पर जो जो उपकार किये हैं, वे सब के सब अलौकिक एवं अद्वितीय हैं। उनसे उऋण होने की मुझमें तनिक-सी भी शक्ति नहीं है। आपने मुझे शास्त्राभ्यास एवं लेखन क्रिया में वह परम सहायता दी है, जिसके फलस्वरूप आज मैं इस योग्य हुआ हूँ। शिक्षा प्रदान करने में आप दृढ़ परिश्रमी हैं, और मुझ जैसे शिष्यों को भी इसके लिये सदा उत्साहित करते रहे हैं। अतएव आपके संस्मरणीय उपकारों का आभार मानता हुआ मैं, यह श्री दशवैकालिक सूत्र की 'आत्मज्ञानप्रकाशिका' भाषा टीका आपके पवित्र कर कमलों में सादर समर्पण करता हूँ; कृपया इसे सहर्ष स्वीकार और सेवक को कृतार्थ करें।

समर्पकः—

चरणरज, आत्माराम।

अथ सच्छास्त्र पारतन्त्र्यमधिकृत्याह ।

योगविन्दु में श्री हरिभद्र सूरि जी शास्त्र के महत्व विषय में निम्न प्रकार से लिखते हैं—

परलोकविधौ शास्त्रात्, प्रायो नान्यदपेक्षते ॥ आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः ॥ २२१ ॥ परलोकविधौ परलोकफले प्रयोजने कर्तव्ये । शास्त्रादुक्तनिरुक्तात् । प्रायो बाहुल्येन । न नैव । अन्यल्लोकरूढ्यादि । अपेक्षते आलम्बते । क इत्याह—आसन्नभव्यः; दूरभव्यव्यवच्छेदार्थमेतत् । मतिमान् मार्गानुसारी प्राज्ञः । तथा श्रद्धाधनसमन्वितः श्रद्धानुष्ठानाभिलाषरूपधनसमन्वितः ॥ २२१ ॥

उपदेशं विनाप्यर्थ-कामौ प्रति पटुर्जनः ।
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥ २२२ ॥

उपदेशं शास्त्रप्रज्ञापनम् । विनाप्यन्तरेणापि किं पुनरितरथेत्यपिशब्दार्थः । अर्थकामौ प्रतीतरूपावेव । प्रतीत्याश्रित्य । पटुर्जनो लोकरूढिप्रामाण्यादपि तत्सिद्धिसम्भवात् । धर्मस्तु धर्मः पुनरुक्तनिरुक्तः । न विना शास्त्रात् । इत्यस्माद्धेतोः । तत्र शास्त्रे । आदरो यत्नः । हितः कल्याणरूपः सम्पद्यत इति ॥२२२॥

अर्थादावविधानेऽपि, तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः, क्रियोदाहरणात्परः ॥ २२३ ॥

अर्थादावर्थकामलक्षणविषये । अविधानेऽप्यविधावपि क्रियमाणे विधौ तावत्सर्वानर्थाभाव इत्यपिशब्दार्थः । तदभावोऽर्थाद्यभावः । परं केवलं नान्यः कश्चिदनर्थः । नृणां पुंसां, सम्पद्यत इति । धर्मे धर्मविषये । अविधानतोऽवि-

धानात् । अनर्थोऽकल्याणम् । क्रियोदाहरणाच्चिकित्सादृष्टान्तात्, परः प्रकृष्टः । यथोक्तम्—

"पडिवज्जिऊण किरियं, तीए विरुद्धं निसेवइ जो उ ।
अपवत्तगाउ अहियं, सिग्घं च संपावइ विणासं" ॥१॥२२३॥
तस्मात्सदैव धर्मार्थी, शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिञ्शास्त्रालोकः प्रवर्तकः ॥ २२४ ॥

तस्माद्धर्मेऽविधानतः परानर्थभावात् । सदैव सर्वकालमेव । धर्मार्थी धर्माभिलाषुकः । शास्त्रयत्नः शास्त्रादरपरः । प्रशस्यते श्लाघ्यते । कुतः । यतः लोके जगति, मोह एवान्धकारस्तमो यत्र स तथा तत्र, शास्त्रालोकः शास्त्रप्रकाशः, प्रवर्तकः प्रवर्तयिता परलोकक्रियासु ॥ २२४ ॥

अथ शास्त्रमेव स्तुवन्नाह ।—

पापामयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥ २२५ ॥

पापामयौषधं पापव्याधिशमनीयं, शास्त्रम् । तथा शास्त्रं पुण्यनिबन्धनं पवित्रकृत्यनिमित्तम् । चक्षुर्लोचनं, सर्वत्र सूक्ष्मबादरादावर्थे गच्छति यत्तत्सर्वत्रगं, शास्त्रम्, शास्त्रं सर्वार्थसाधनं सर्वप्रयोजननिष्पत्तिहेतुः ॥ २२५ ॥ ततः ।

न यस्य भक्तिरेतस्मिंस्तस्य धर्मक्रियापि हि ।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला ॥ २२६ ॥

न यस्य धर्मार्थिनः । भक्तिर्बहुमानरूपा । एतस्मिन् शास्त्रे । तस्य धर्मक्रियापि हि देववन्दनादिरूपा किं पुनरन्यरूपेत्यपिहिशब्दार्थः । अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या अन्धस्यावलोकनकृते या प्रेक्षणकक्रिया तत्तुल्या । कर्मदोषात्तथाविधमोहोदयात् असत्फला अविद्यमानाभिप्रेतार्था सम्पद्यत इति ॥ २२६ ॥

एतदपि कुतः । यतः—

यः श्राद्धो मन्यते मान्यानहङ्कारविवर्जितः ।
गुणरागी महाभागस्तस्य धर्मक्रिया परा ॥ २२७ ॥

यः श्राद्धः सन्मार्गश्रद्धालुः मन्यते बहुमानविषयीकुरुते । मान्यान्देवतादीन् । अहङ्कारविवर्जितो मुक्ताभिमानः । अतएव गुणरागी गुणानुरागवान् ।

महाभागः प्रशस्याचिन्त्यशक्तिः। किमित्याह–तस्य शास्त्रपरतन्त्रतया मान्यमन्तुः, धर्मक्रिया उक्तरूपा, परा प्रकृष्टेति ॥ २२७ ॥

व्यतिरेकमाह 'यस्य' इत्यादि ॥

यस्य त्वनादरः शास्त्रे, तस्य श्रद्धादयो गुणाः ।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वान्न प्रशंसास्पदं मताम् ॥ २२८ ॥

यस्य त्वनादरोऽगौरवरूपः, शास्त्रे, तस्य श्रद्धादयः श्रद्धासंवेगनिर्वेदादयो, गुणाः। किमित्याह–उन्मत्तगुणतुल्यत्वात्, तथाविधग्रहावेशात्सोन्मादपुरुषशौर्यौदार्यादिगुणसदृशत्वात्, न प्रशंसास्पदं न श्लाघास्थानं, सतां विवेकिनामिति ॥२२८॥

एतदपि कथम्। यतः—

मलिनस्य यथात्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्तःकरणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥ २२९ ॥

मलिनस्य मलवतः, यथात्यन्तं अतीव, जलं पानीयम्। वस्त्रस्य प्रतीतरूपस्य शोधनं शुद्धिहेतुः। अन्तःकरणरत्नस्य अन्तःकरणं मनः, तदेव रत्नं, तस्य चिन्तारत्नादिभ्योऽप्यतिशायिनः। तथा शास्त्रं, विदुर्जानते, शोधनं, बुधाः बुद्धिमन्तः ॥ २२९ ॥ अतएव—

शास्त्रे भक्तिर्जगद्वन्द्यैर्मुक्तेर्दूती परोदिता ।
अत्रैवेयमतो न्याय्या तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥ २३० ॥

शास्त्रे भक्तिरुक्तरूपा। जगद्वन्द्यैर्जगत्त्रयपूजनीयैस्तीर्थकृद्भिः। मुक्तेर्दूती अवशीभूतमुक्तियोषित्समागमविधायिनी। परा प्रकृष्टा। उदिता निरूपिता। अत्रैव शास्त्र एव। इयं भक्तिः। अतो मुक्तिदूतीभावादेव हेतोः। न्याय्या सङ्गता। कुत इत्याह–तत्प्राप्त्यासन्नभावतः, मुक्तिप्राप्तेरासन्नभावात्। न हि मुक्तिप्राप्तेरनासन्नभावात्। न हि मुक्तिप्राप्तेरनासन्नः शास्त्रभक्तिमान्सम्पद्यते। अतः शास्त्र एवेयं न्याय्येति ॥ २३० ॥

आभार-प्रदर्शन

स्वनामधन्य सम्माननीय गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज के मंगलमय चरणों का स्मरण करना और उनकी कृपा का आभार मानना मेरा परम कर्तव्य है। उनकी मुझ पर बाल्यकाल से ही कृपा बनी रही। समय समय पर आवश्यक साहाय्य भी उनसे मिलता रहा। ये सदा ही शास्त्रादि के अनुवाद-कार्य में मुझे प्रोत्साहित करते रहे। एतदर्थ मैं उनका सादर आभार मानता हूँ और यह कामना करता हूँ कि उनकी आत्मा को परम शांति प्राप्त हो।

प्रस्तुत अनुवाद के सम्पादक हैं—कविरत्न श्री मुनि अमरचन्द्र जी उपाध्याय। आप जैन समाज में एक प्रतिष्ठित और सुपठित मुनि हैं। हिन्दी-भाषा के सिद्धहस्त लेखक हैं। इनके द्वारा अनेकों ग्रन्थों का सम्पादन और निर्माण हुआ है।

प्रस्तुत अनुवाद के सम्पादक होने का श्रेय भी कविश्री जी को है। कविश्री जी से सम्पादन कहाँ तक उचित हो पाया है और कितना सफल हो सका है इत्यादि प्रश्नों का उत्तर सम्पादित पंक्तियों द्वारा स्वयं ही दिया जा रहा है। उसे दुहराने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अस्तु।

कविश्री जी के इस विद्वत्तापूर्ण सम्पादन के लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

अनुवादक

संपादकीय विज्ञप्ति

"को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ?"

"सर्वः सर्वं न जानाति, सर्वज्ञो नास्ति कश्चन"

विचारशील वाचक वृन्द ! जैनसूत्रसाहित्य अतीव गूढ़ है। बड़े बड़े धुरंधर दिग्गज विद्वान् तक भी इसकी गूढ़ता के आगे हाथ जोड़ते हैं और दाँतों तले उँगुली दबाते हैं। प्रस्तुत दशवै-कालिक सूत्र भी इसी सूत्र साहित्य में है और चरण-करणानुयोग के कारण अपनी और भी अधिक गूढ़ता रखता है । चरण--करणानुयोग की विधि-निषेध भंगावली कैसी है ? इसे भुक्त--भोगी ही जान सकते हैं । अस्तु प्रस्तुत पुस्तक का संपादन 'यावद् बुद्धिबलोदयं' से बहुत ही सोच समझ कर किया है, तथापि बुद्धिदोष किंवा प्रमाद आदि के कारण, इस में स्खलनाएँ अवश्य हुई हैं। सो वाचक महोदय जहाँ स्खलना देखें वहाँ गीतार्थों द्वारा शुद्ध करलें और संपादक को क्षमाप्रदान करें। ऐसी स्थिति में वेचारा संपादक, क्षमा-याचना के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है। भूल तो सदा क्षमा ही चाहती है ॥

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ॥

क्षमा—प्रार्थी—
मुनि अमरचंद्र ।

धन्यवाद

श्री दशवैकालिक सूत्र के प्रथम संस्करण का प्रकाशन महेन्द्रगढ़ (पटियाला) निवासी स्वर्गीय सेठ ज्वालाप्रसाद माणकचंद जैन जौहरी ने किया था, और चारित्र-शुद्धि ही उसका मूल्य रखकर परोपकारार्थ जनता को भेंट किया था। ऐसी २ अनेकानेक उदारताओं के कारण ही स्वर्गीय सेठ जी को समाज ने 'जैन-समाज-भूषण' पद से सत्कारित किया था। क्या ही अच्छा होता यदि वे आज भी संसार में होते और समाज में जाग्रति पैदा करते। अस्तु, मैं जैनसमाज-भूषण दानवीर सेठ ज्वालाप्रसाद जी को शास्त्रमाला कमेटी की ओर से सादर धन्यवाद देता हुआ कामना करता हूँ कि उनकी आत्मा को सद्गति प्राप्त हो।

मंत्री

जैन शास्त्रों के उद्धारार्थ

जैन शास्त्रमाला कार्यालय को

जिन दानवीरों ने दान देकर अपनी उदारता और भगवद्भक्ति का परिचय दिया है उनका चित्रों द्वारा यहां दर्शन कराया जाता है। जिन दानवीरों ने अपने चित्र नहीं भेजे उनका नामोल्लेख करके ही हम संतोष करते हैं। यह सब धर्मप्रेमी सज्जन ६२५) प्रत्येक देकर जैनशास्त्रमाला कार्यालय के स्थायी सभासद् बने हैं। कई एक दानवीर जो पाकिस्तान से आये हैं उनके निवास-स्थान का मुझे अभी तक भी पता नहीं लगा इसलिए उनका पूरा पता नहीं दिया जा सका। उनका पता-ठिकाना मिलने पर अवश्य दिया जावेगा।

चौड़ा बाजार
लुधियाना शहर

चिमनलाल जैन, मत्री
जैनशास्त्रमाला कार्यालय

नीचे लिखे सज्जनों के चित्र प्राप्त नहीं हुए।

१ श्री शालिग्राम जैन, जम्मूँ
२ श्री बख्शीराम चिमनलाल जैन, जनरल मर्चेण्ट्स, लुधियाना
३ श्री नंदलाल जी जैन, दलाल, लुधियाना
४ श्री धूमी राम एण्ड सन्ज़, जालंधर छावनी
५ श्री मंगलसेन रोशनलाल जैन, भटिण्डा
६ ला. लद्धेशाह जैन लाहौरवाले, सदर बाज़ार, दिल्ली



लाला तेलूराम जी जैन रईस
जालंधर छावनी



लाला हुकुम चंद जी
फ़र्म-जैन साइकल कंपनी, घंटाघर, लुध्याना



लाला रामजीदास जैन
फ़र्म-नौहरियामल रामजीदास, लोहेवाले
मलेरकोटला



बीबी देवकी देवी जी जैन
प्रिंसिपल, जैन गर्ल्स हाई स्कूल, लुध्याना



लाला वलायतीराम जैन
फ़र्म—मैय्याशाह ऐण्ड सन्ज़, रावलपिंडी वाले
नई दिल्ली



श्री सावित्री देवी सपुत्री ला मुन्शीराम जी
अर्ज़ीनवीस जीरावाले । आजकल
महासती श्री चन्दा जी महाराज
के चरणों में साध्वी बनी हुई हैं



लाला वलायती राम जी
अध्यक्ष-लाला गेंदामल वलायतीराम
जनरल मर्चेंट, कन्नाट प्लेस, नई दिल्ली



लाला गोपीराम जी
अध्यक्ष-कन्हैयालाल बृजलाल,
डब्बी बाज़ार, होशयारपुर



लाला सावनमल जी नाहर स्यालकोट वाले
बज़ाज़, गली कर्त्ताराम, लुध्याना



लाला चरनदास जी, पिक्चर पैलेस टॉकी
पटियाला



लाला अमरनाथ जी लाहौर वाले
फ़र्म-लाला चन्दशाह अमरनाथ,
सदर बाज़ार, दिल्ली



लाला हंसराज जी
अध्यक्ष-लाला तुलसीदास नगीनचंद
लोहेवाले, चौडा बाजार, लुध्याना



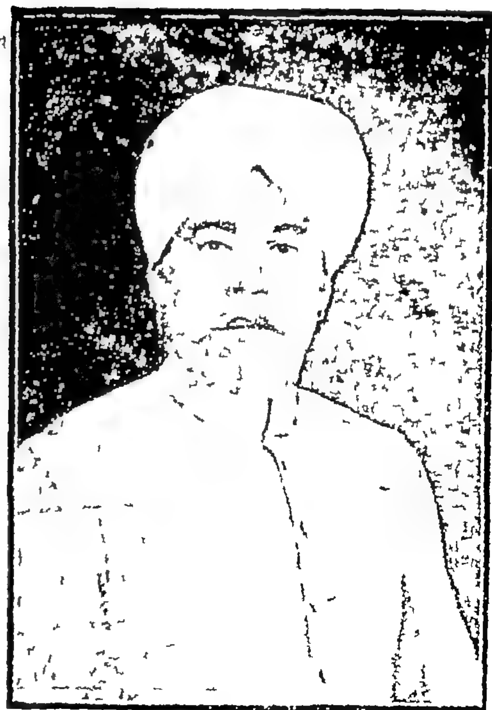
श्री महेंद्रकुमारी जैन। आजकल आप महासती श्री चन्दा जी महाराज के चरणों में साध्वी बनी हुई हैं



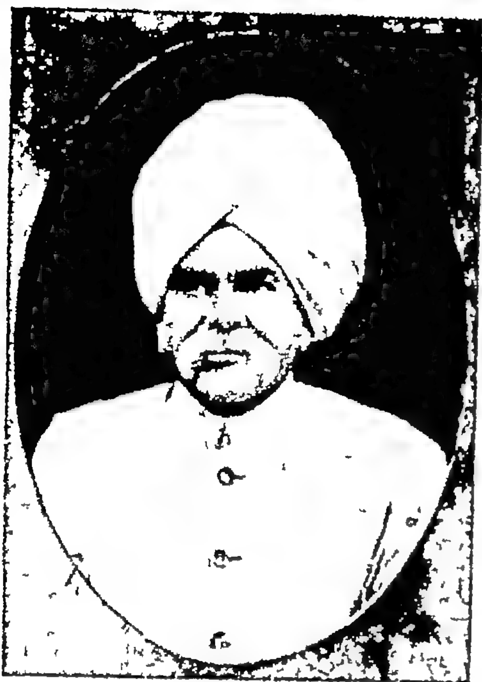
लाला देशराज जी जैन रईस
सुलतानपुरलोदी (कपूरथला)



लाला मुनशीराम जी
फ़र्म-लाला सोहन लाल जुगल किशोर
तालाब बाज़ार, लुध्याना



लाला शिवप्रसाद जी
फ़र्म-लाला श्रीचन्द शिवप्रसाद, अम्बाला



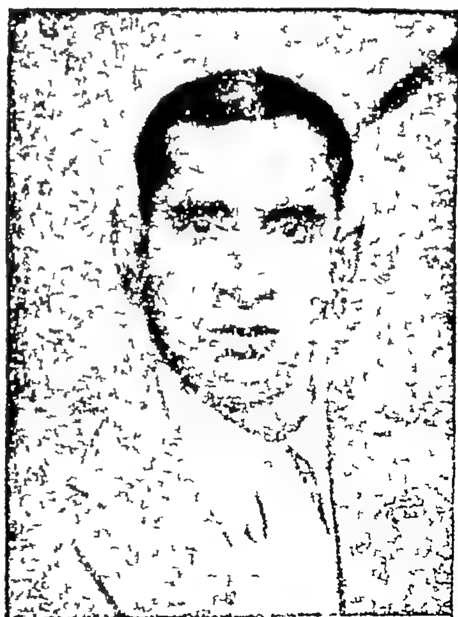
कपूरथला निवासी लाला बनारसीदास जी ओसवाल। उनके सुपुत्र लाला मानिकचद जी ने दान दिया



लाला दौलतराम जी जैन वकील समराला, जिला लुध्याना



लाल चूनीलाल जी ओसवाल, सुपुत्र ला बनारसीदास जी कपूरथला



लाला बालकराम जी बज़ाज़, फ़ैंसी स्टोर लुध्याना



ला० घनीराम जी
फ़र्म—घनीराम भगवानदास जैन
सुलतानपुर



लाला कुंजलाल जी
फ़र्म—कुंजलाल शीतलप्रसाद जैन
सदर बाज़ार, दिल्ली



लाला प्यारेलाल जी जैन सराफ़
फ़र्म-निक्कामल प्यारेलाल, लुध्याना



स्वर्गीय लाला आशाराम जी कसूरवाले



स्वर्गीय लाला मुनशीलाल जी रैंका
फरीदकोट



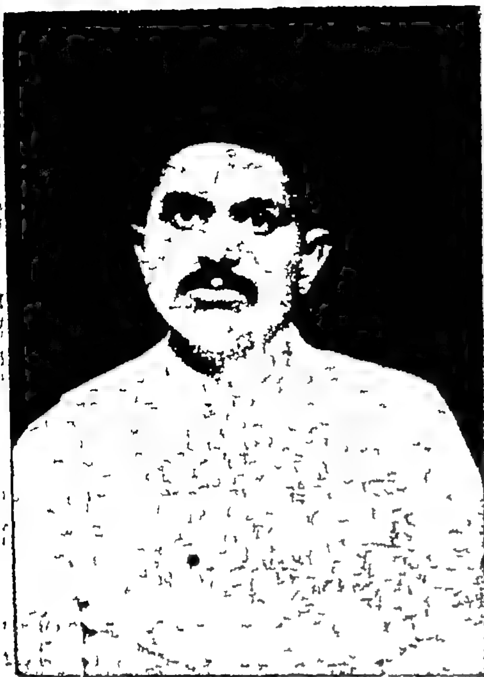
स्वर्गीय लाला संतलाल जी
फ़र्म-लाला मल्लीमल संतलाल, चौड़ा बाज़ार,
लुधियाना



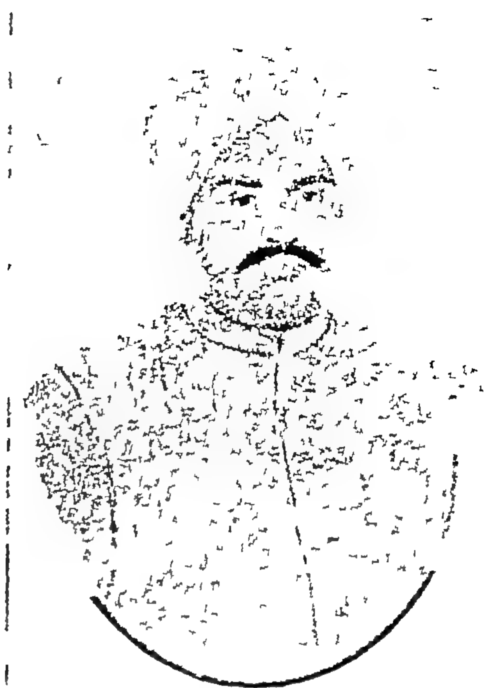
लाला सोहनलाल जी जैन
फ़र्म-लाला मिठ्ठीमल बाबूलाल बैंकर,
चौडा बाज़ार, लुधियाना



लाला खूबचंद जी जौहरी
दिल्ली



लाला बाकेराय जैन, लुध्याना



लाला अच्छरूराम जी
फ़र्म-लाला चाननमल अच्छरूमल जैन
पटियाला



लाला चूनीशाह जी स्यालकोट वाले
फ़र्म-लाला चूनीशाह-पन्नालाल-जैन



लाला कुंदनलाल जी अग्रवाल जैन
रामा मंडी (पटियाला)



स्वर्गीय लाला रोचीशाह जी रावलपिंडीवाले



स्वर्गीय बाबू परमानंद जी वकील
कसूरवाले



स्वर्गीय लाला तेजेशाह जी रावलपिंडीवाले



स्वर्गीय लाला वैष्णव दास जैन
मालिक फर्म ला० वैष्णव दास लक्ष्मी चन्द जैन
बाजार वं कानेरियां, अमृतसर, व, बम्बई।



श्री मोती लाल जी जौहरी ओसवाल जैन
देहली।



श्रीमती हुकम देवी जी जैन धर्मपत्नी
लाला रूप लाल जी जैन
फरीदकोट वाले।

आवश्यक विनम्र निवेदन

हमें खेद है कि जिस रूप में पहले शास्त्र-माला के पुष्पों से हम आगमाभ्यासी पाठकों की सेवा का सौभाग्य प्राप्त करते आ रहे हैं, अब की बार उस रूप में वह प्राप्त नहीं हो रहा है। ऐसा होने में हमारी कई एक विवशताएं हैं –

१–भारत और पाकिस्तान के विभाजन में मानवदेहधारी दानवों द्वारा जो उपद्रव, हत्याकाण्ड और अग्निकाण्ड किया गया है उस में शास्त्रमाला का बहुत बड़ा स्टॉक लाहौर में जल गया है। जिस में श्री उत्तराध्ययन सूत्र श्री दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, का काफी मैटर और श्री दशवैकालिकसूत्र की विषयानुक्रमणिका शब्द-कोष व दान-वीरों के चित्रों के ब्लौक आदि भी थे। वे तमाम वहीं भस्मसात् हो गये हैं।

२–शास्त्रमाला की पूञ्जी लाहौर में जल जाने से कोष की कमी का हो जाना भी स्वाभाविक ही था और स्टेशनरी की जो आज महंगाई है वह किसी से छुपी हुई नहीं है, अस्तु।

ऐसे अनेकों कारणों से हम श्री दशवैकालिक सूत्र को पूरी सजधज के साथ नहीं निकाल पा रहे हैं, जिस का हमें स्वयं अत्यधिक खेद है, दुःख है, विक्षोभ है।

आशा है पाठक हमारी असमर्थता को ध्यान में रख कर हमें क्षमा करेंगे।

प्रार्थी – चिमन लाल जैन,
मंत्री–शास्त्रमाला कार्यालय, लुधियाना।

प्रस्तावना ।

अक्षय सुख के साधन

प्रिय सुज्ञपुरुषो ! इस अनादि अनंत संसार में यह जीवात्मा, कर्मो के फेर मे पड़कर इतस्ततः गेंद की तरह भ्रमण कर रही है; इसकी कहीं पर भी स्थिति नहीं होती। यह कभी नरक गति में जाती है, तो कभी तिर्यंच गति में; एवं कभी मनुष्य गति में जाती है, तो कभी देवगति में। इस इधर उधर की भगदौड़ में यह आत्मा महान् दुःख भोग रही है, इसे कहीं पर भी सुख नहीं मिलता। नरक और तिर्यंच गति में तो स्पष्ट रूप से दुःख है ही, केवल मनुष्य और देवगति में सुख अवश्य है; किन्तु वह भी नाम मात्र का है, उसमें भी दुःख मिला हुआ है। और तत्सम्बन्धी स्थिति के भोग लेने के बाद तो फिर वही दुःख ही दुःख है। अतः दयानिधि तीर्थंकर देवों ने, जहाँ पर किसी भी प्रकार का दुःख नहीं है, ऐसे अद्वितीय अक्षय सुखधाम मोक्ष की प्राप्ति के लिये, जीवात्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीन साधन बतलाये हैं। इन्हें रत्नत्रय भी कहते हैं। क्योंकि वस्तुतः यही वास्तविक सुख के दाता रत्न हैं। इनके द्वारा अनेकानेक भव्य जीव पूर्व काल में मोक्ष सुख प्राप्त कर चुके हैं।

साधनों का स्वरूप

यहाँ प्रसंगवश संक्षेप रूप में, उक्त साधनों का यत्किंचित् स्वरूप भी बतलाया जाता है। इस संसार में जीव और अजीव, ये दो द्रव्य पूर्णतया सिद्ध हैं। संसार में सर्वत्र इन्हीं दोनों द्रव्यों की विभूति दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य धर्म से युक्त है। अतएव प्रत्येक पदार्थ मूल भाव को ध्रुव

रखकर, पूर्वाकृति से उत्तराकृति में परिवर्तित होता हुआ, दिखलाई देता है। जैसे कि एक बालक बाल्यावस्था से युवावस्था में और युवावस्था से वृद्धावस्था में जाता है। जैन शास्त्रकार इसी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य को नित्य और अनित्य रूप से मानते हैं। यही अनेकान्त वाद है। अतः उक्त दोनों द्रव्यों की पूर्णतया सत्य श्रद्धा को सम्यग्दर्शन, और यथार्थ सत्य ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। तथा इन दोनों द्रव्यों की पर्यायों से उत्पन्न होने वाले, राग द्वेष के भावों की निवृत्ति और अहिंसा आदि विशुद्ध भावों की प्रवृत्ति को, सम्यक् चारित्र कहते हैं।

चारित्र का प्राधान्य

जिस प्रकार दधि का सार नवनीत है, उसी प्रकार शास्त्रकारों ने सम्यग्-दर्शन और सम्यग्ज्ञान का अन्तिम सार, सम्यक् चारित्र प्रतिपादन किया है, क्योंकि, **"चयरित्तकरं चारित्तं होइ"**—कर्मों के चय को नष्ट करने वाला चारित्र ही है। ज्ञान दर्शन की वास्तविक शोभा भी चारित्र से ही होती है। कहा भी है—

नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥२॥

(उत्त० २८ अ०)

यही कारण है कि, चारित्र हीन का सत्योपदेश भी जनता मे हास्यकर ही होता है। चारित्र संपन्न व्यक्ति का वाक्य, मधु-घृत-सिक्त यज्ञ की अग्नि के समान सुशोभित एवं पूज्य होता है, और चारित्र हीन का वाक्य तैल रहित दीपक के समान कलुषित एवं असुन्दर मालूम होता है। चारित्रवान् के पौष्टिक वचनों की प्रशंसा एवं चारित्र हीन के वचनों की निन्दा करता हुआ, एक कवि क्या ही अच्छा सुभाषित कहता है—

क्षीरं भाजनसंस्थं, न तथा वत्सस्य पुष्टिमावहति।
आवल्गमानशिरसो, यथाहि मातृस्तनात् पिबतः ॥१॥
तद्वत् सुभाषितमयं क्षीरं, दुःशीलभाजनगतं तु।
न तथा पुष्टिं जनयति, यथाहि गुणवन्मुखात् पीतम् ॥२॥

अर्थात् जिस प्रकार बछड़ा अपनी माता के स्तनों से दुग्ध पीकर शीघ्र ही पुष्टवपु एवं बलवान् होजाता है, उस प्रकार पात्रस्थ दुग्ध पीकर नहीं हो सकता। यही बात सुभाषित के विषय में है कि दुश्चरित्री के मुँह से सुने हुए सुभाषित वचन, उस प्रकार असर करने वाले नहीं होते, जिस प्रकार सच्चरित्री के मुखारविन्द से सुने हुए असर करते हैं ॥२॥ चारित्रहीन का चाहे कैसा ही क्यों न अच्छा उपदेश हो, किन्तु जनता की उस पर कदापि अभिरुचि नहीं होती। वह तो उसके कारण उसके उपदेश को भी घृणित समझने लग जाती है। क्योंकि कहा भी है कि—

शीतेऽपि यत्नलब्धो, न सेव्यतेऽग्निर्यथा श्मशानस्थः।
शीलविपन्नस्य वचः, पथ्यमपि न गृह्यते तद्वत् ॥

अर्थात् जिस प्रकार शीत से अतीव पीड़ित हुआ भी कोई विचारशील मनुष्य, श्मशानस्थ अग्नि का सेवन नहीं करता, उसी प्रकार आचारहीन मनुष्य के हितरूप सत्यवचन को भी जनता स्वीकार नहीं करती।

अतः उपर्युक्त कथन से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि, मनुष्य को चारित्र की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके बिना सब गुण शुष्क रहते हैं। केवल औषधी का ज्ञान और विश्वास, रोग को दूर नहीं कर सकते। रोग दूर तभी होगा, जब कि औषधी का सेवन किया जायगा। चारित्र क्रियारूप है, अतः कर्म रोग को यही दूर कर सकता है।

चारित्र के भेद और दशवैकालिक

चारित्र के गृहस्थधर्म और मुनिधर्म इस प्रकार दो भेद हैं। गृहस्थ धर्म का वर्णन मुख्यतः उपासकदशांग आदि सूत्रों में किया गया है। अतः जिज्ञासुओं को वहाँ देखना चाहिये। और मुनि धर्म का वर्णन आचारांग, सूत्रकृतांग और इस प्रस्तुत दशवैकालिक आदि बहुत से सूत्रों मे किया गया है; क्योंकि इनकी रचना प्रायः मुनि धर्म को लक्ष्य करके की गई है। किन्तु आचारांग आदि का वर्णन बहुत विस्तृत एवं रहस्यमय है; अतः प्रथम श्रेणी के मन्द-बुद्धि-शिष्यों को भली भाँति बोधगम्य नहीं होता। और यह प्रस्तुत दशवैकालिक सूत्र (जो पाठकों के समक्ष है) का वर्णन संक्षिप्त एवं सरल है, अतः जिज्ञासुओं की सुकुमारमति इसमें सहसा प्रविष्ट हो जाती है; क्योंकि यह सूत्र सुबोधता का उद्देश रखकर ही बनाया गया है।

यद्यपि यह सूत्र मुख्यतः मुनिधर्मप्ररूपक है, तथापि गृहस्थों को भी बहुत लाभप्रद है। इसके पठन से गृहस्थ भी बहुत कुछ आत्मोद्धार कर सकते हैं।

यह सूत्र किसने क्यों और कब बनाया ?

इस सूत्र के निर्माता श्री शय्यंभव आचार्य हैं। यह जाति के ब्राह्मण और बड़े भारी दिग्गज विद्वान् थे। इनकी जन्म भूमि **मगध** देश की प्रसिद्ध राजधानी **राजगृह** है। यह अपने द्रव्य से एक विशाल यज्ञ कर रहे थे कि **श्री जम्बू स्वामी** जी के पट्टधर **श्री प्रभव स्वामी** के उपदेश से संसार का परित्याग कर मुनि हो गये। श्रीप्रभवस्वामी के बाद यह पट्टधर आचार्य हुए। जब यह मुनि हुए तब इनकी स्त्री गर्भवती थी, बाद में उसके पुत्र हुआ, जिसका नाम **मनक** रक्खा गया। सम्भवतः दश ग्यारह वर्ष की अवस्था में यह मनक पुत्र अपनी माता से पूछ कर **चंपा** नगरी में अपने संसारी पिता श्रीशय्यंभवाचार्य जी से मिला और परिचय के पश्चात् उनका शिष्य हो गया। आचार्य श्री ने ज्ञान बल से देखा, तो उस समय मनक की आयु केवल छः महीने की शेष रही थी। तब, चारित्र की आराधना कराने के वास्ते श्री शय्यंभवाचार्य जी ने पूर्वश्रुत में से, संक्षिप्त रूप से, इस दशवैकालिक सूत्र का उद्धार किया। इस सूत्र के अध्ययन से मनक ने छः मास मे ही स्वकार्य की सिद्धि की।

इस सूत्र की रचना आज से करीब तेईससौ वर्ष से कुछ ऊपर पहले हुई है। अर्थात् भगवान् महावीर के निर्वाण से ७५वें वर्ष से ९८वें वर्ष के मध्य मे यह सूत्र बनाया गया है; क्योंकि इस समय में श्री शय्यंभवाचार्य जी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे और संघ का संचालन कर रहे थे, इसी बीच की यह घटना है। ऐतिहासिक शोध के अनुसार दशवैकालिक का रचना काल, स्पष्टतया वीर संवत् ७५ के लग भग ठहरता है। श्री शय्यंभवाचार्य जी का स्वर्गवास वीर संवत् ९८वें मे हुआ था, अर्थात् आज से संभवतः तेईससौ ६७ वर्ष पूर्व। अब वीर संवत् २४६६ चालू है। इतने सुदीर्घ समय से आज तक, इस सूत्र का लगभग संघ में पठन पाठन होता चला आरहा है। इसी से इस सूत्र की महत्ता प्रमाणित होती है।

उपर्युक्त वक्तव्य के लिये पाठकों को प्रमाणस्वरूप, कल्प सूत्र की सुबोधिनी व्याख्या का यह अंश देखना चाहिये—

"तदनु श्रीशय्यंभवोऽपि साधानमुक्तनिजभार्याप्रसूतमनकाख्यपुत्रहिताय, श्रीदशवैकालिकं कृतवान्। क्रमेण च श्रीयशोभद्रं स्वपदे संस्थाप्य, श्री वीरादष्ट नवत्या (९८) वर्षैः स्वर्जगाम" ॥

(आगमोदयसमिति मुद्रित पृष्ठ १६१)

क्या यह प्रामाणिक है ?

इस सूत्र की प्रामाणिकता के विषय मे कोई शंका नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि इसके रचयिता श्री शय्यंभवाचार्य चतुर्दश पूर्व के पाठी थे, सो उन्होंने यह सूत्र पूर्वश्रुत मे से उद्धृत करके रचा है। छठे अध्ययन की आठवीं गाथा में 'महावीरेण देसिअं'-और इक्कीसवीं गाथा में 'नायपुत्तेण ताइणा' जो पद दिये हैं, वे सूचित करते हैं कि—दशवैकालिक में जो कुछ प्रतिपादन किया है, वह वीर वचनानुसार होने से सत्य ही है, असत्य नहीं। इसी प्रकार महानिशीथ सूत्र में भी श्री भगवान् महावीर स्वामी ने गौतमस्वामी जी को जो वक्तव्य दिया है, उससे भी इस सूत्र की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। वह पाठ यों है—

गोयमाणं इओ आसण्णकालेणं चेव महाजसे, महासत्ते, महाणुभागे, सेजंभवे अणगारे, महातवस्सी, महामई, दुवालसंगेसु अ धारि भवेज्जा, सेणं अपक्खवाएणं अप्पाओ सवसव्वसे सुअतिसअणं विन्नाय इकारसण्हं अंगाणं चोद्दसण्हं पुव्वाणं परमसार वण्णियसुअं सुप्पओगेणं सुअधर उज्जुअं सिद्धिमग्गं दसवेआलिअं णाणासुयक्खंधाणि उहज्जा। से भयवं ! किं पडुच ? गोयमा ! मणगं पडुच्च, जहाकहं नाम एसणं मणगस्स परिणएयां थोवकालेणं ण एवं महत्काले घोरदुक्ख आगाराओ चउगइसंसाराओ निफोडे भवणुगुच्छेवणं दवथओवएसेणं से अ सव्वण्णूवए से अणोरपारे दुक्खगाढे अणंतगमपज्जवे हि नो सक्का अप्पेणं कालेणं अवगाहीओ तहाणु गोयमा ! अइहिएणं चित्तेज्जा एवं सेणं २ सेजंभवे जहा अणंतपहापार बहुजाणियव्वं कालो बहुलोए विग्घे जं सारभूअं तं गिहिअ वं हं सो जहा खीरमिव वुमिसत्तेणं इमं संभवं सत्त समणगस्स तत्तपरिन्नाणं भवउति काउणं जाव णं दसवेआलिअं सुयखंधणी कहेज्जा। तं च वोच्छिन्नेणं तं कालं दुवालसंगेणं गणि पिडगेणं जाव णं दुसमाया परियेरंतं दुप्पसहे ताव णं

सुततेणं वा जत्ता से सयल आगम सया त्रि संदेह दसवेआलिअ सुयक्खं सुत्त अ अहिज्झिए गोयमा ! (अध्ययन ५ दुःषमारक प्रकरण)*

इस पाठ का संक्षिप्त भाव यह है कि, हे गौतम ! मेरे वाद निकट भविष्य में ही द्वादशांग का ज्ञाता महान् तपस्वी शय्यंभवाचार्य होगा। वह विना किसी पक्षपात के धर्म बुद्धि से प्रेरित होकर अल्पायु मनक शिष्य की आराधना के लिये ग्यारह अंग और चतुर्दश पूर्वो का सारभूत दशवैकालिक सूत्र निर्माण करेगा। वह सूत्र संसारतारक एवं मोक्षमार्गप्रदर्शक होगा। उसे पढ़कर दुःषमकाल के अन्त में होने वाला दुप्पसह नामक साधु आराधना करके आराधक वनेगा।

तथा नन्दी सूत्र में श्रुतज्ञान के अधिकार में कहा गया है कि—"**दुवालसंगं गणि-पिडगं चोद्दस पुव्विस्स मम्मसुअं अभिण्णदस पुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा से-त्तं सम्मसुअं** [सू० ४१] अर्थात् गणि पिटक की संज्ञा वाले आचारांग आदि द्वादशांग सूत्र और चतुर्दश पूर्व से लेकर दश पूर्व संपूर्ण तक के ज्ञाता मुनियों के रचित शास्त्र सव सम्यक् श्रुत हैं, अतः पूर्ण रूप से सत्य हैं। और जो अपूर्ण दश पूर्व के पाठी होते हैं, उनका रचा शास्त्र संदिग्ध होता है—अर्थात् वह सम्यक् श्रुत भी हो सकता है और मिथ्या श्रुत भी। अतः इस नंदी सूत्र के वचन से भी दशवैकालिक प्रमाण कोटि में है, क्योंकि श्री शय्यंभवजी चतुर्दश पूर्व के पाठी थे, श्रुतकेवली थे। श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने **अभिधान चिन्तामणि** कोष मे के देवाधिदेव कांड में छः श्रुत केवली माने हैं, उनमे शय्यंभवजी द्वितीय स्थान मे ही हैं। तथाहि—

अथ प्रभव प्रभुः

शय्यंभवो यशोभद्रः, संभूतविजयस्ततः ॥३॥
भद्रबाहुः, स्थुलभद्रः, श्रुतकेवलिनो हि षट्।

उपर्युक्त प्रमाणों से इस दशवैकालिक सूत्र की प्रामाणिकता निर्विवाद सिद्ध है। इसे वने आज तेईस सौ वर्ष से कुछ ऊपर पूर्व का सुदीर्घ समय हो चुका है; किन्तु इस मध्यकाल मे किसी भी आचार्य ने इसे अप्रामाणिक नहीं ठहराया। सभी

* यह महानिशीथ सूत्र यद्यपि श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय को मान्य नहीं है, तथापि प्रकरण संगति के लिये इसका उद्धरण दिया है।

आचार्य विना वाद-विवाद के इसे प्रामाणिक मानते हैं और चारित्र वर्णन का प्रथम सूत्र मान कर पढ़ते पढ़ाते आये हैं। यही कारण है कि आज भी यह सूत्र श्वेतांबर आम्नाय की स्थानकवासी, मूर्तिपूजक, और तेरापंथी नामक सभी शाखाओं में बिना किसी पक्षपात के प्रामाणिक माना जाता है और प न-पाठन में लाया जाता है। जिनवाणी के समान ही इसे मानते हैं।

दशवैकालिक नाम क्यों ?

इस सूत्र का चारित्रपरक नाम न होकर, एक विलक्षण दशवैकालिक नाम क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता है कि, यह सूत्र जब संग्रह होकर समाप्त हुआ, तब असमय हो गया था; अतः "वैकालिक" शब्द की योजना दश अध्ययनों के भाव से 'दश' शब्द के साथ की गई, जिससे इस सूत्र का नाम दशवैकालिक रक्खा गया। यह नाम दश अध्ययनों का और सूत्र समाप्ति के समय का सूचक है, अतः यौगिक है।

मंगलाचरण क्यों नहीं ?

बहुत से सज्जन इस सूत्र की आदि मे मंगलाचरण न होने के विषय में शंकित हैं, उनसे कहना है कि, यह सूत्र समग्र ही अक्षरशः मंगल रूप है; क्योंकि यह निर्जरा का कारणभूत है, सर्वज्ञ प्रणीत है। तथापि व्यवहार दृष्टि से इसमें भी आदि, मध्य और अन्त में मंगल विधान किया है। आदि मंगल 'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं' है, मध्य मंगल 'नाण दंसण संपन्नं' ६ अ० है; और अन्तिम मंगल 'निक्खम्माणाइ य बुद्धवयणे १० अ०' है। उक्त तीनों मंगलों से परंपरागत यह भाव लिया जाता है, आदि मंगल शास्त्र की विघ्नोपशान्ति के लिये, मध्य मंगल प्रतिपाद्य विषयात्मक ग्रन्थ को स्थिरीभूत करने के लिये; और अन्तिम मंगल शिष्य-शाखा मे ग्रन्थ के अव्यवच्छेद रूप से पठन पाठन के लिये, किया जाता है। श्री जिनवाणी चार अनुयोगों मे विभक्त है, चरण करणानुयोग—आचारांग आदि, धर्म कथानुयोग—सूत्र कृतांग आदि, गणितानुयोग—सूर्य प्रज्ञप्ति आदि, और द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद आदि। सो यह सूत्र प्रथम के चरणकरणानुयोग मे होने से अतीव मंगल रूप है; क्योंकि चरणानुयोग के बिना आगे के तीनों योग मुमुक्षुओं के लिये प्रायः कार्य साधक नहीं। सार तत्व यही है।

किस अध्ययन में क्या वर्णन है ?

प्रथम अध्ययन में धर्म प्रशंसा का वर्णन है। द्वितीय अध्ययन में संयम में धैर्य रखने का उपदेश दिया गया है। तृतीय अध्ययन में आत्म संयम के लिये छोटी-छोटी शिक्षाओं का वर्णन है। चतुर्थ में षट्काय के जीवों की रक्षा का विधान किया है। पाँचवें में संयम एवं तप की अभिवृद्धि के लिये शुद्ध भिक्षा-विधि का वर्णन है। छट्ठे मे अष्टादश स्थानों का निरूपण करके महाचारकथा का वर्णन किया है। सातवें में धर्मज्ञ पुरुषों को विशिष्ट धर्म की शिक्षाएँ दी गई हैं। आठवें में आचार प्रणिधि का वर्णन किया गया है। नौवें में विनय का महत्त्व और उसका फल वतलाते हुए विनय धर्म का वड़ा ही विस्तृत विवेचन किया है। दशवें अध्ययन में उपसंहार रूप में भावभिक्षु के लक्षणों का दिग्दर्शन कराया गया है। यह दश अध्ययनों का प्रतिपाद्य विषय है, इसी मे आचार्य श्री ने विन्दु में सिन्धु के समाने की लोकोक्ति चरितार्थ की है।

कहाँ से उद्धृत हैं ?

अव प्रसंगोपात्त यह वताया जाता है कि, दशवैकालिक के ये दश अध्ययन किन किन स्थानों से उद्धृत किये गये हैं। इसके विषय मे दो मत प्रचलित हैं; एक पक्ष तो पूर्वो से दशवैकालिक का उद्धार मानता है और दूसरा पक्ष द्वादशांग से। निर्युक्तिकार भद्रवाहु स्वामी अपनी निर्युक्ति मे दोनों ही पक्षों का उल्लेख करते हैं—

आयप्पवायपुव्वा , निज्जूढा धम्म पन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा , पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥१६॥
सच्चप्पवायपुव्वा , निज्जूढा होइ वक्कस्स।
अवसेसा निज्जूढा , नवमस्स उ तइय वत्थुओ ॥१७॥
वीओऽविअ आएसो, गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ।
एअं कीरं निज्जूढं, मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥१८॥

भाव यह है कि, आत्म प्रवाद पूर्व मे से धर्म प्रज्ञप्ति नामक चतुर्थ, कर्म प्रवाद पूर्व में से पिंडैषणा नामक पंचम अध्ययन, सत्य प्रवाद पूर्व में से वाक्य शुद्धि नामक सप्तम अध्ययन उद्धृत किया और शेष अध्ययन नौवें प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु मे से उद्धृत किये हैं। यह प्रथम पक्ष हुआ। अब दूसरा पक्ष यह है

कि आचारांग आदि द्वादशांग से इस सूत्र की रचना की गई है ।

अब हमारा जहाँ तक विचार जाता है, तदनुसार यह सूत्र दूसरे पक्ष की मान्यता के साथ वर्तमान काल के ३२ सूत्रों से सम्बन्ध रखता है । इसकी संगति इस प्रकार होती है । प्रथम अध्ययन की रचना, श्री अनुयोगद्वार सूत्र में कही गई साधु की १२ उपमाओं में से भ्रमर की उपमा को लेकर, की गई है । प्रथम अध्ययन मे भ्रमर के दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक का भाव उतार कर यह सिद्ध किया है कि संसार में चारित्र धर्म ही उत्कृष्ट है और चारित्रधर्म की रक्षा मधुकरी वृत्ति से हो सकती है । अनुयोगद्वार सूत्र में साधु की बारह उपमाओं वाला पाठ यह है— **उरगगिरि जलन सागर नह तल तरुगण समो अ जो होई, भमरमिय धरणि जलरुह रवि पवण समो अ सो समणो (१३१)** । द्वितीय अध्ययन उत्तराध्ययन सूत्र के २२वें अध्ययन से लिया गया है । इन दोनों अध्ययनों की तो विषय के साथ बहुत सी गाथाएँ भी मिलती हैं । तृतीय अध्ययन नशीथ आदि सूत्रों से लिया है । चतुर्थ अध्ययन आचारांग सूत्र के २४वें अध्ययन के अनुसार रचा हुआ है । पंचम् अध्ययन आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के पिंडैषणा नामक प्रथम अध्ययन का प्रायः अनुवाद है । छट्टा अध्ययन समवायांग सूत्र के अष्टादश समवाय की अष्टादश शिक्षाओं का विवेचन रूप है । तथा च तत्पाठः—**समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं सखुड्डय वियत्ताणं अट्ठारस ठाणा प० तं० वयछक्कं ६ कायछक्कं १२ अकप्पो १३ गिहिभायणं १४ पलियंक १५ निसिज्जाय १६ सिणाणं १७ सोभवज्जणं १८** ॥ सातवाँ अध्ययन आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के तेरहवें भाषा नामक अध्ययन का अनुवाद है । आठवाँ स्थानांगसूत्र के आठवें स्थानक से विवेचनपूर्वक लिया गया है, तथा च पाठः—**अट्ठसुहुमा प० तं० पाणसुहुमे १ पणग सुहुमे २ बीयसुहुमे ३ हरितसुहुमे ४ पुप्फसुहुमे ५ अंडसुहुमे ६ लेणसुहुमे ७ सिणेहसुहुमे ८** (सू० ६१५) अब रहे अवशिष्ट के नवम और दशम अध्ययन, सो भिन्न भिन्न सब सूत्रों की अनुपम शिक्षाओं से समलंकृत हैं । यह दूसरा पक्ष हुआ । बुद्धयनुसार विचारविनिमय करने पर अधिक अंशों मे प्रथम की अपेक्षा द्वितीय पक्ष ही बलवान् प्रतीत होता है । आगे तत्व सर्वज्ञगम्य है ।

दशवैकालिक सूत्र की व्याख्याएँ

दशवैकालिक सूत्र पर अतीव प्रसिद्धि में आई हुई निर्युक्ति, टीका और दीपिका के नाम से तीन व्याख्याएँ हैं; जो बड़ी ही सुन्दर एवं मननीय हैं। निर्युक्ति प्राकृत गाथाओं में है, जिसके रचयिता भद्रबाहु स्वामी माने जाते हैं। बहुत से सज्जन इसके रचयिता उन्हीं भद्रबाहु स्वामी को मानते हैं, जो मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु थे। किन्तु विचार करने पर यह निर्युक्तिकार भद्रबाहु, उनसे अन्य ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि निर्युक्ति में दशवैकालिक के अध्ययनों का पूर्वोक्त रीत्या उद्गम बतलाते हुए दो पक्ष कथन किये हैं; सो वे चन्द्रगुप्तकालीन भद्रबाहु स्वामी तो मति, श्रुत, अवधिज्ञान के धारी एवं चतुर्दशपूर्व के पाठी थे, दो पक्षों के संशय में क्यों पड़ते। ज्ञानबल से किसी एक उचित पक्ष का ही उल्लेख करते। तथा निर्युक्ति में श्री शय्यंभवाचार्य का जिनप्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोधित होना लिखा है, वह भी ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो महानिशीथ सूत्र में भी शय्यंभवाचार्य के वर्णन में यह कथन आता। अतः इसी प्रकार की अन्य बातों के भी देखने से यह निर्युक्तिकार भद्रबाहु, पूर्वपाठी भद्रबाहु से भिन्न और पीछे के जान पड़ते हैं। इस पर ऐतिहासिक विद्वानों को विशेष लक्ष्य देना चाहिये। अब रही टीका और दीपिका। इनके रचयिता क्रमशः हरिभद्र सूरि और समयसुन्दर गणी हैं, जो दोनों ही प्रौढ़ विद्वान् हैं। हरिभद्र सूरि तो बड़े ही तार्किक विद्वान् थे। इनके बहुत से ग्रन्थ बनाये हुए हैं, जिनको देखकर विधर्मी विद्वान् भी इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा करते हैं।

मूलसंज्ञा कब हुई ?

नंदी सूत्र में श्रुतज्ञान के अधिकार में सूत्रों को अंगप्रविष्ट और अंगवाह्य नामक दो भागों में विभाजित किया है। अंगप्रविष्ट में आचारांग आदि द्वादशाङ्गों का ग्रहण है। अब रहा अंगवाह्य, उसके भी आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त दो भेद किये हैं। फिर आवश्यक व्यतिरिक्त के भी कालिक और उत्कालिक दो भेद करके उत्कालिक सूत्रों की गणना में सर्वप्रथम दशवैकालिक सूत्र का नाम कथन किया है। अतएव सिद्ध हुआ कि, यह सूत्र प्राचीन समय में प्रथम उत्कालिक नाम से प्रसिद्ध था। जब सूत्रों की संख्या अल्प होने लगी और कतिपय मतवादी सूत्रों

में गड़बड़ मचाने लगे, तो बत्तीस सूत्रों के मानने वालों ने अंग, उपांग, मूल, छेद और आवश्यक भेद से सूत्रों के पाँच विभाग कर दिये । यथा—आचारांग आदि ११ अंग सूत्र, उववाई आदि १२ उपांग सूत्र, दशवैकालिक आदि ४ मूल सूत्र, नशीथ आदि ४ छेद सूत्र, और ३२वाँ आवश्यक सूत्र । इस प्रकार ये वर्तमान-काल प्रचलित अंग आदि संज्ञाएँ अर्वाचीन ही प्रतीत होती हैं, सूत्रों में इन संज्ञाओं का कोई विधान नहीं है । मूल और छेद संज्ञाएँ अंग और उपांग संज्ञाओं से भी अर्वाचीन हैं, क्योंकि श्रीहेमचन्द्राचार्य अभिधानचिंतामणि कोष के द्वितीय कांड में ११ अंग सूत्रों और १२ उपांग सूत्रों का नामोल्लेख करके 'इत्येकादश सोपाङ्गान्यङ्गानि' पद देकर अंग और उपांग संज्ञा तो स्वीकार करते हैं, किन्तु आगे मूल और छेद के विषय की कुछ चर्चा नहीं करते । अतः सिद्ध है कि, दशवैकालिक आदि सूत्रों की मूल संज्ञा का विधान आचार्य हेमचन्द्र से भी पीछे हुआ है । आचार्य हेमचन्द्र विक्रम की १२वीं शताब्दी के लगभग हुए हैं । अब कहना यह है कि, यह मूल संज्ञा अर्वाचीन भले ही हो, किन्तु है पूर्ण सार्थक । आज कल यह सूत्र सर्वप्रथम पाठ्य होने से मूल रूप ही है ।

चूलिकाएँ

दशवैकालिक सूत्र पर दो चूलिकाएँ भी हैं, जिन्हें परिशिष्ट कह सकते हैं । इनके कर्ता सूत्रकार श्री शय्यंभवाचार्य नहीं हैं किन्तु कोई अन्य ही हैं । रचियता ने अपना नामोल्लेख नहीं किया है । चूलिकाएँ साधुचर्या की प्रतिपादिका हैं एवं अतीव शिक्षाप्रद हैं, अतः हमने भी प्रस्तुत प्रति में इनको सहर्ष स्थान दिया है । ये दोनों चूलिकाएँ शास्त्रसम्मत हैं, अतः प्रामाणिक मानी जाती हैं । निर्युक्तिकार भी इनकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं—

दो अज्झयणा चूलिअं, विसीययंते थिरीकरणमेगं ।
विइए विवित्तचरिआ, असीयणगुणाइरेगफला ॥२४॥

प्रस्तावना का आकार अधिक लंबा होता जा रहा है, तथापि चूलिकाओं की उत्पत्ति के विषय में जो जनता में एक निराधार किंवदन्ती प्रचलित है, उस पर प्रकाश डाला जाता है । बृहद्वृत्ति और दीपिका टीका में वृद्धवाद के नाम से लिखा है कि, किसी साध्वी ने चतुर्मास आदि पर्व के अवसर पर, एक ऐसे दुर्बल साधु

को उपवास करा दिया, जो थोड़ी भी क्षुधा नहीं सहन कर सकता था। क्षुधा न सहने के कारण, साधु की उस उपवास में ही मृत्यु होगई। साधवी को बड़ा पछतावा हुआ कि, हाय ? मैं ऋषि घातिका हो गई, मेरी कैसे आत्मशुद्धि हो ? तब शासन देवी के द्वारा वह महाविदेह क्षेत्र में भगवान् श्री सीमंधर स्वामी के पास पहुँची और आलोचना की। भगवान् ने कहा कि आर्ये ! तू निर्दोष है, तेरे भाव साधु के हित के थे, न कि मारने के। वापिस आते समय भगवान् ने कृपा करके साधवी को उक्त दो चूलिकाएं दी। भगवत्प्रदत्त होने से भारतीय जैनसंघ मे चूलिकाओं का बहुत आदर एवं प्रचार हुआ। यही चूलिकाओं के आविर्भाव की कहानी है, जो श्वेताम्बर मूर्ति पूजक समाज में विशेष स्थान पाई हुई है। हमें इस कहानी के विषय में कहना है कि यह केवल कल्पना है। इसमें कुछ भी तथ्य नहीं है। क्योंकि प्रथम तो महाविदेह और पंचमारक-कालीन भारत के मनुष्यों की शारीरिक अवगाहना में बड़ा भारी अन्तर है। दूसरे वह आर्या कब हुई। किस आचार्य के समय में गई। चूलिका किस भाँति लाई, अर्थात् पत्र रूप मे लाई या कंठस्थ करके लाई। भगवान् ने दशवैकालिक की ही चूलिका क्यों बना कर दी। क्या महाविदेह में भी यही भाषा बोली जाती है ? क्या वहाँ पर भी ये ही कल्प हैं, जो चूलिका में भारत की अपेक्षा से दिये हैं। इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भी इस कहानी से कोई नहीं मिलता। चूलिकाओं के विषय में जो मत ऊपर देकर आये हैं, हमें तो वही सुसंगत जान पड़ता है।

शास्त्रोद्धार की आवश्यकता

बड़े दुःख की बात है कि वर्तमान सूत्रों के पाठों में बहुत कुछ भेद पड़ा हुआ है। किसी प्रति में कुछ पाठ है, तो किसी में कुछ। कोई किसी पाठ को प्रक्षिप्त मानता है, तो कोई किसी को। कोई किसी पाठ को अधिक एवं कंठस्थ कर रहा है, तो कोई किसी को। दशवैकालिक सूत्र के पाठों में भी यही अव्यवस्था अग्रसर हुई है। अतः श्रीसंघ से मेरी सविनय प्रार्थना है कि श्रीसंघ के मुख्य मुख्य धुरंधर विद्वान विराट् रूप में एकत्र होकर, आधुनिक मुद्रित प्रतियों, लिखित प्रतियों एवं ताड़ पत्र की प्राचीन प्रतियों का परस्पर मिलान करें और फिर सूत्रमाला के नाम से सब आगमों को अतीव शुद्ध पद्धति से प्रकाशित करें, जिससे आगे फिर

कोई व्यक्ति किसी पाठ को न्यूनाधिक न कर सके । यदि श्रीसंघ ने इस ओर ध्यान न दिया तो स्पष्ट है कि, संघ को इस प्रमाद का फल भविष्य में बहुत कुछ हानिकर होगा । अतएव उक्तकार्य की सफलता के लिये अतिशीघ्र ही **आगम-प्रकाशक मंडल** किंवा **शास्त्रोद्धार सभा** आदि किसी सुदृढ़ संस्था की योजना कर देनी चाहिये ।

अन्तिम निवेदन

अब अन्तिम निवेदन यह है कि, वर्तमान में दशवैकालिक सूत्र की बहुत सी मुद्रित प्रतियाँ मिलती हैं, जिनमें संस्कृत, गुर्जर और हिन्दी भाषा टीका वाली सभी हैं । परन्तु ये प्रतियाँ प्रायः पाठ भेदों एवं अशुद्धियों से युक्त होने के कारण सर्वोपयोगी नहीं हैं । उनसे विरले ही धीमान् सज्जन लाभ उठाते हैं । अतएव कतिपय साहित्यप्रेमी सज्जनों की एवं अपने अन्तर्हृदय की प्रेरणा से प्रेरित होकर, मैंने यह दशवैकालिक सूत्र की आत्मज्ञान प्रकाशिका नामक हिन्दी भाषा टीका संस्कृत छाया, अन्वयार्थ, मूलार्थ और स्फुटार्थ (टीका) आदि से विभूषित की है । अतः मैं आशा करता हूँ कि, सूत्रप्रेमी सज्जन इससे लाभ उठाकर पुण्य के भागी बनेंगे, और साथ ही मुझे भी कृतार्थ करेंगे । यदि किसी स्थान पर प्रमादवश, अर्थ वा पाठ मे कोई अशुद्धि रह गई हो तो कृपया पाठक, गीतार्थो द्वारा शुद्ध करके पढ़े और सूचित करें, ताकि मैं अपनी उचित भूल को स्वीकार करके सम्यग् ज्ञान की आराधना करूँ ।

इस कार्य में मुझे आगमोदय समिति, मकसूदाबाद निवासी राय धनपति-सिंह प्रतापसिंह बहादुर, एवं जीवराज घेला भाई (अहमदाबाद) आदि मंडल तथा सज्जनों की ओर से मुद्रित प्रतियों से तथा बहुत सी लिखित प्रतियों से सहायता मिली है । प्रस्तुत प्रति का मूलपाठ तो प्रायः आगमोदय समिति की प्रति के आधार पर ही रक्खा है । एतदर्थ सभी प्रशंसार्ह हैं ।

अब प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि, सूत्र शब्द के अल्पाक्षर महार्थ, महाक्षर अल्पार्थ, महाक्षर (महार्थ) और अल्पाक्षर (अल्पार्थ) इस प्रकार चार भंग होते हैं । सो यह दशवैकालिक सूत्र अल्पाक्षर महार्थ नामक प्रथम भंग से युक्त है । सो उपक्रम, नय, निक्षेप और उपोद्घात आदि द्वारा, इस सूत्र का आलोचना

पूर्वक अध्ययन करना चाहिये; और यथाशक्य प्रतिपाद्य विषय को अपने जीवन में उतारना चाहिये । ऐसा करने से आप, ज्ञानात्मा और चारित्रात्मा की शुद्धि कर सकगे और स्वपरतारक पद पर पहुँच कर, शिवसुख के अधिकारी बन सकेंगे ।

जैन मुनि उपाध्याय आत्माराम ।

श्री दशवैकालिकसूत्र

विषय-सूची

पञ्चम अध्ययन

षष्ठमध्ययन

सप्तम अध्ययन

अष्टमाध्ययन

नवमध्ययन

नवमाध्ययने द्वितीय उद्देश

नवमाध्ययने तृतीय उद्देश

नवमाध्ययने चतुर्थ उद्देश

दशम् अध्ययन

प्रथम चूलिका

द्वितीय चूलिका

श्रीः

दशवैकालिकसूत्रम्

संस्कृतच्छाया–पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतम्

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दीभाषाटीकासहितं च

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

दुमपुप्फिया पढमं अज्झयणं ।

द्रुमपुष्पिका प्रथममध्ययनम् ।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

धर्मः मङ्गलमुत्कृष्टम्, अहिंसा संयमस्तपः ।
देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥१॥

पदार्थान्वयः—अहिंसा-दया संजमो-संयम तवो-तप रूप, जो धम्मो-धर्म है, वह उक्किट्ठं-उत्कृष्ट मंगलं-मंगल है जस्स-जिसका धम्मे-धर्म में सया-सदा मणो-मन है तं-उस (धर्मयुक्त व्यक्ति को) देवा-देवता वि-भी (अपि शब्द से अन्य चक्रवर्त्यादि) नमंसंति-नमस्कार करते हैं ।

मूलार्थ—अहिंसा, संयम और तप रूप जो धर्म है, वह उत्कृष्ट मंगल है । जिसका उक्त धर्म में मन सदा लगा रहता है, उस धर्मात्मा को देवता तथा अन्य चक्रवर्त्यादि भी नमस्कार करते हैं ।

टीका—यद्यपि इस अनादि-अनन्त संसार-चक्र में परिभ्रमण करते हुए प्रत्येक प्राणी को प्रत्येक पदार्थ की प्राप्ति हुई, हो रही है और होगी, परन्तु जिससे वह संसार से पार हो जाय उस पदार्थ की उसे प्राप्ति होनी असाध्य तो नहीं, किन्तु

कष्टसाध्य अवश्य है । जब पूर्व पुण्योदय अथवा स्वकीय क्षयोपशम-भाव के कारण मनुष्य-जन्म की और उसके सहकारी पदार्थों की प्राप्ति हो, तब जानना चाहिये कि निर्वाण-पद अब इस आत्मा के निकट हो रहा है, या यह आत्मा निर्वाण-पद को शीघ्र प्राप्त करेगी । क्योंकि जब तक आत्मा उपशम-भाव वा क्षयोपशम-भाव अथवा क्षायिक-भाव को पूर्णतया प्राप्त नहीं करती, तब तक वह धर्म-पथ से पराङ्मुख ही रहती है ।

इसका कारण यह है कि औदयिक-भाव की प्रकृतियाँ इस आत्मा को संसार के पदार्थों की ओर ही प्रवृत्त कराती हैं । और औपशमिक आदि भावों की शक्तियाँ इस आत्मा को निर्वाण-साधन के लिये उत्साहित तथा बाध्य करती हैं । इसी लिये ऐसे मंगलमय पदार्थ, मंगलमय कारणों के सिद्ध करने वाले प्रतिपादन किये गये हैं ।

प्रत्येक आत्मा मंगल रूप पदार्थों के देखने की इच्छा करती है । वह जानती है कि मंगलमय पदार्थों के देखने से मुझे मंगल रूप पदार्थो की उपलब्धि होती रहेगी । संसार में पाँच प्रकार के पदार्थ मंगल रूप माने गये हैं:—१. पुत्रादि के जन्म पर गाये जाने वाले मंगल रूप गीतों को 'शुद्ध-मंगल' माना गया है, २. नूतन गृहादि की रचना करने को 'अशुद्ध-मंगल' कथन किया गया है; ३. विवाहोत्सव के समय जो शुभ गीतादि गाये जाते हैं, उसको 'चमत्कार-मंगल' प्रतिपादन किया गया है, ४. धनादि की प्राप्ति को 'क्षीण-मंगल' बतलाया गया है और पाँचवाँ षट्काय की रक्षा रूप 'धर्म-मंगल' श्री भगवान् द्वारा वर्णन किया गया है ।

धर्म-मंगल के अतिरिक्त प्रथम कहे हुए चार मंगल समयान्तर में अमंगल के रूप को भी धारण कर लेते हैं । परन्तु धर्म-मंगल संसार-पक्ष में उक्त मंगलों की प्राप्ति कराता हुआ ज़ीव को निर्वाण-पद की प्राप्ति कराने में भी अपनी सामर्थ्य रखता है । कारण कि—

'दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्म्मः' ।

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति शास्त्रकारों ने यही कथन की है कि जो दुर्गति में पड़ते हुए प्राणियों को उठाकर सुगति में स्थापन करता है, उसे 'धर्म' कहते हैं । तथा जिस प्रकार सुन्दर वा शुद्ध जल उद्यान वा आराम के सौन्दर्य को बढ़ाता है वा पुष्पों आदि के विकसित करने में सहायक बनता है, ठीक उसी प्रकार

धर्म-मङ्गल भी आत्मा के विकास करने में सहायक होता है। अत एव आत्मा के विकास होने के लिये अथवा आत्मा को ही मंगल रूप बनाने के लिये इस गाथा में धर्म-मंगल का ही अधिकार किया गया है।

प्रथम के चार मंगलों का यहाँ इसलिये उल्लेख नहीं किया गया कि, एक तो वे नित्य मंगल नहीं हैं। दूसरे वे धर्म रूप मंगल के ही फल रूप कथन किये गये हैं। इसलिये इस स्थान पर केवल धर्म-मंगल वा धर्म-मंगल के माहात्म्य का ही वर्णन किया गया है। क्योंकि सब मांगलिक पदार्थों में उत्कृष्ट वा सब मांगलिक पदार्थों का उत्पादक धर्म-मंगल ही है। वह धर्म-मंगल—अहिंसा (प्राणियों की रक्षा), संयम (आस्रव का निरोध), और तप (१२ प्रकार का तप) रूप है।

यद्यपि विशेषण के सामान्य कथन करने से ही अभिप्रेत पदार्थों की संपूर्ण सिद्धि की जा सकती है, तथापि शास्त्रकार ने इस स्थान पर विशेषण का विशेष रूप से वर्णन कर दिया है। अर्थात् यद्यपि धर्म-मंगल अहिंसा रूप ही होता है, परन्तु जब तक आस्रव (कर्म आने के मार्ग) का निरोध और तप (इच्छा के निरोध) का सम्यक्तया आसेवन नहीं किया जावे, तब तक आत्मा अहिंसादेवी की भी सम्यक्तया उपासना नहीं कर सकती। क्योंकि अहिंसा का पालन उसी समय हो सकता है जब कि आस्रव के मार्गों का सर्वथा निरोध करते हुए तप द्वारा इच्छाओं का भी निरोध कर दिया जावे। इसके बिना अहिंसा रूप धर्म्म की पालना सम्यक्तया नहीं की जा सकती। अहिंसा की सम्यक्तया पालना के लिये ही सत्रह प्रकार के संयम प्रतिपादन किये गये हैं। जो कि निम्नलिखित हैं:—

(१) पृथिवीकाय-संयम, (२) अप्काय-संयम, (३) तेजस्काय-संयम, (४) वायुकाय-संयम, (५) वनस्पतिकाय-संयम, (६) द्वीन्द्रिय-संयम, (७) त्रीन्द्रिय-संयम, (८) चतुरिन्द्रिय-संयम, (९) पञ्चेन्द्रिय-संयम, (१०) अजीवकाय-संयम, (११) उपेक्षा-संयम, (१२) उत्प्रेक्षा-संयम, (१३) अपहृत्य-संयम, (१४) अप्रमार्जना-संयम, (१५) मनः-संयम (१६) वचन-संयम, और (१७) काय-संयम।

इन संयमों के कथन करने का सारांश इतना ही है कि अहिंसा-धर्म की पालना करने के लिये प्रत्येक कार्य के करते समय यह यत्न करना चाहिये कि किसी

भी जीव के द्रव्य अथवा भाव प्राणों का घात न हो जावे। वारह प्रकार के तप का वर्णन भी इसी वास्ते किया गया है कि इच्छाओं का सर्वथा निरोध करके उक्त धर्म सुखपूर्वक पालन किया जा सके। वारह तप ये हैं:—(१) अनशन, (२) ऊनोदर, (३) भिक्षाचरी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, और (६) प्रतिसंलीनता, ये छः प्रकार के वाह्य तप हैं। इसी प्रकार से छः प्रकार के आभ्यन्तर तप भी हैं। जैसे कि—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग। इन संयम और तपों के द्वारा अहिंसा रूप धर्म-मंगल की सुखपूर्वक पालना की जा सकती है।

इस प्रकार सूत्रकार ने उक्त गाथा के प्रथम दो पादों में धर्म-मंगल और उसके विशेषण—लक्षण—प्रतिपादन किये हैं। शेष दो पादों में धर्म-मंगल का माहात्म्य वर्णन किया है कि जो आत्मा उक्त कथन किये हुए धर्म-मंगल से अलंकृत हो जाती है, उसको देवता तथा चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी नमस्कार करते हैं। अथवा जिस पुरुष का उक्त धर्म में मन सदा लगा रहता है, उसी को देवता आदि नमस्कार करते हैं, अन्य को नहीं। कारण कि धर्म-मंगल-धारक व्यक्ति सब का पूज्य बन जाता है। इस प्रकार इस गाथा में धर्म-मंगल की उत्कृष्टता, उसके लक्षण तथा उसके माहात्म्य का दिग्दर्शन कराया गया है।

यहाँ यदि कहा जावे कि धर्म-मंगल मात्र ही उत्कृष्ट है, इसलिये उसमें अहिंसारूप विशेषण नहीं लगाना चाहिये ? तो इसका उत्तर यह है कि 'धर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं और उसका कई प्रकार से प्रयोग किया जाता है। जैसे—ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, देश-धर्म, पाखंड-धर्म, अस्तिकाय-धर्म इत्यादि। धर्म शब्द के अनेक अर्थों में गमन करने के कारण शंका उत्पन्न हो सकती है कि—ग्राम-धर्म परमोत्कृष्ट मंगल है अथवा पाखंड-धर्मादि उत्कृष्ट मंगल हैं ? इसी शंका के व्यवच्छेद करने के लिये सूत्रकर्ता ने धर्म-मंगल के साथ ही 'अहिंसा' पद जोड़ दिया है। जिससे फिर किसी को शंका करने का अवसर प्राप्त न हो सके। साथ ही उस अहिंसा की रक्षा के लिये संयम और तप, जो कि उसके मुख्य हेतु हैं, वर्णन कर दिये हैं। क्योंकि बहुत से लोग अपनी मानी हुई हिंसा को भी अहिंसा की कोटि में रखते हैं। जैसे कि यज्ञों की हिंसा को कतिपय लोगों ने वेद-विहित होने से अहिंसा ही

स्वीकार किया है। किसी किसी ने अपनी वर्णाश्रम की विधि में होती आई हिंसा को अहिंसा माना है। किसी किसी ने संग्राम आदि की हिंसा को अहिंसा का रूप दे रक्खा है। इत्यादि विकल्पों के व्यवच्छेद करने के लिये सूत्रकर्ता ने संयम शब्द से सत्रह प्रकार की हिंसाओं का निषेध कर दिया है। इतना ही नहीं, किन्तु इच्छा के उत्पन्न होने से जो हिंसा उत्पन्न होती है, उसका भी निषेध करने के लिये उन्होंने 'तप' शब्द का प्रयोग कर दिया है।

धर्म-मंगल का माहात्म्य वर्णन करते हुए पहले जो देवताओं का पद रक्खा है, उसका कारण यह है कि लौकिक में लोग देवों की विशेष उपासना करते हैं। परन्तु धर्म-मंगल की तो देवता लोग भी उपासना करते हैं इस बात को स्फुटतया दिखलाया गया है। तथा जो 'वि'—'अपि' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका कारण यह है कि यद्यपि सूत्रकर्ता के ज्ञान में देव प्रत्यक्षरूप में ठहरे हुए हैं, तथापि प्रायः सामान्य जनता के सामने देव परोक्ष हैं। अतः धर्म-माहात्म्य दिखलाने के लिये ही 'वि' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे प्रतीत हो जाय कि जो वर्त्तमानकाल में महाऋद्धिशाली चक्रवर्ती आदि महाराजे हैं, वे भी धर्मात्मा पुरुषों की पर्युपासना करने में अपना कल्याण समझते हैं और इसी कारण वे ऋषि वा महर्षियों की सेवा, नमस्कारादि क्रिया तथा उनकी स्तुति करते रहते हैं।

गाथा के चतुर्थ चरण का वर्णन यह दिखलाने के लिये किया गया है कि देवता अथवा अन्य महाव्यक्ति उसी धर्मात्मा पुरुष को नमस्कार करते हैं, जिसका मन सदा उक्त धर्म-मंगल में लगा रहता है अर्थात् जिसने आयु-पर्यन्त उक्त धर्म को धारण कर लिया है।

यहाँ यदि यह कहा जावे कि प्रत्येक धर्म, मंगलरूप हो सकता है यदि उसमें सहानुभूति का गुण पाया जावे तो, सो हमको इसमें कुछ भी विवाद नहीं है। भले ही वह धर्म मंगलरूप धारण कर ले, यदि वह सहानुभूति स्वार्थरूप से है तब तो वह धर्म, मङ्गल का रूप नहीं कहा जा सकता। किन्तु धर्म के रूप में प्रायः अपने स्वार्थ की सिद्धि की जाती है। हाँ, यदि वह सहानुभूति स्वार्थ के भावों को छोड़कर केवल परोपकार की बुद्धि से की जाती है, तब तो वह धर्म, मंगल-रूप अवश्य है। इसमें किसी को भी विवाद करने का स्थान नहीं है।

यहाँ यदि यह कहा जावे कि जब मुक्ति-पद की प्राप्ति के लिये सम्यग् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र, इन तीनों का समूह वर्णन किया गया है, तो फिर यहाँ क्रम को छोड़कर केवल चारित्र को ही क्यों उत्कृष्टता दी गई ? तो इसका उत्तर यह है कि 'उत्तराध्ययन-सूत्र' के २८वे 'मोक्षमार्ग' नामक अध्याय में प्रतिपादन किया है कि—'नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा । अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं' अर्थात् विना सम्यग्दर्शन के ज्ञान और ज्ञान के विना चारित्र के गुण उत्पन्न नहीं हो सकते । विना गुणों के मोक्ष और विना मोक्ष के निर्वाण-पद प्राप्त नहीं हो सकता । सो कर्म-क्षय करने के लिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का साध्य चारित्र रूप तृतीय गुण ही हो जाता है । इसी लिये इस गाथा में सम्यग् दर्शन वा ज्ञान हो जाने के पश्चात् चारित्र रूप धर्म की उत्कृष्टता दिखलाई गई है ।

और चारित्र रूप धर्म में प्रथम अहिंसा रूप व्रत का ही निरूपण किया गया है । तथा अहिंसा रूप व्रत की रक्षा के लिये शेष व्रतों का वर्णन किया गया है । साथ ही संयम और तप, इन दो शब्दों के कहने से तो चारित्र-धर्म का सर्वस्व ही प्रतिपादन कर दिया गया है । क्योंकि जितनी भी चारित्र रूप धर्म की व्याख्या है, वह सब संयम और तप रूप धर्म की ही व्याख्या है । इसलिये जिसके मन में प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूप उत्कृष्ट धर्म-मंगल उत्पन्न हो चुके हों, उसी आत्मा को अहिंसा-धर्म रूप मंगल की प्राप्ति हो सकती है । तथा इसी सूत्र के चतुर्थाध्याय में दया का कारण ज्ञान माना है । सो जब दर्शन और ज्ञान, कारण हुए तो फिर चारित्र रूप धर्म-कार्य सहज में ही हो जाता है । अतः चारित्र रूप धर्म को उत्कृष्ट मंगल मानना युक्तिसंगत सिद्ध होता है ।

उत्थानिका—जब आत्मा सम्यग् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र रूप धर्म से अलंकृत हो जाती है, तब वह चारित्र रूप धर्म को पालने के लिये अपने शरीर की पालना शुद्ध आहार आदि के द्वारा करने लगता है । क्योंकि शरीर आहारादि के आश्रित ही रह सकता है । अत एव अब सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा आहार की शुद्धि का वर्णन करते हुए मुनिवृत्ति का निरूपण करते हैं:—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं ॥२॥

यथा द्रुमस्य पुष्पेषु, भ्रमर आपिबति रसम्।
न च पुष्पं क्लामयति, स च प्रीणाति (प्रीणयति) आत्मानम् ॥२॥

पदार्थान्वयः—जहा–जिस प्रकार भमरो–भ्रमर दुमस्स–वृक्ष के पुप्फेसु–पुष्पों में से रसं–रस को आवियइ–मर्यादापूर्वक पीता है य–तथा पुप्फं–पुष्प को ण य–नहीं किलामेइ–पीड़ा देता सो–वह भ्रमर अप्पयं–आत्मा को पीणेइ–तृप्त करता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार भ्रमर, वृक्ष के पुष्पों में से पुष्प को विना कष्ट दिये हुए रस को परिमाणपूर्वक पीता है और अपनी आत्मा को भी तृप्त कर लेता है।

टीका—इस गाथा में धर्ममूर्त्ति आत्मा के आहार की विधि का निरूपण दृष्टान्त द्वारा किया गया है कि जिस प्रकार भ्रमर वृक्ष के पुष्पों पर जाकर प्रमाण-पूर्वक उन पुष्पों के रस को पी लेता है और उस रस से स्वकीय आत्मा की तृप्ति कर लेता है, परन्तु उन पुष्पों को पीड़ित नहीं करता।

अब इस कथन से यहाँ यह शङ्का उत्पन्न हो जाती है कि शास्त्र ने पंचावयवरूप वाक्य को छोड़कर यहाँ केवल दृष्टान्त को ही क्यों ग्रहण किया ? सो इसका उत्तर यह है कि हेतु और प्रतिज्ञा में दृष्टान्त को ही मुख्य माना जाता है, अतः सूत्रकार ने इस स्थान पर उसी का ग्रहण किया है। पूर्व गाथा में पंचावयव-रूप वाक्य से धर्म-मंगल सर्वोत्कृष्ट सिद्ध किया ही गया है। यथा—अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म-मंगल उत्कृष्ट है यह प्रतिज्ञा वचन है, क्योंकि यहाँ पर धर्म कहने से धर्मी का निर्देश किया है। फिर अहिंसा, संयम और तप रूप, ये धर्मी के विशेषण हैं। उत्कृष्ट मंगल के कथन करने से धर्म साध्य बतलाया गया है। अत एव धर्मी और धर्म-समुदाय का कथन करने से पूर्व गाथा के दो पादों द्वारा प्रतिज्ञा का कथन किया गया है। फिर देव आदि से वह धर्मी पूजित है,

इस प्रकार कथन करने से हेतु की सिद्धि की गई है। 'अपि' शब्द से विद्याधर आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। पूर्व गाथा के तृतीय पाद से हेतु का कथन किया गया है। 'अर्हदादिवत्' यह दृष्टान्त है। तथा जो जो देवादि से पूजित हैं, वे वे उत्कृष्ट मंगल हैं। जैसे अर्हदादि तथा देवादि से जो पूजित है वह धर्म है, यह उपनयन है। इसलिये देवादि से पूजित होने से ही उत्कृष्ट मंगल है, यह निगमन है।

सूत्रकर्ता ने जब दो अवयवों को ग्रहण कर लिया तब शेष तीनों अवयव अविनाभावी होने से साथ ही ग्रहण कर लिये गये हैं। इसी तरह प्रत्येक गाथा में भी न्याय के आश्रित होकर विषय की सम्भावना कर लेनी चाहिये।

तथा स्थानान्तर पर जो भ्रमर का उदाहरण दिया गया है, वह देशोपमा से ही साध्य हो सकता है, न कि सर्वोपमा से। जैसे कि इसका मस्तक चन्द्रवत् सौम्य है। यहाँ पर चन्द्र का सौम्य गुण मस्तक में देशोपमा से माना गया है। इसी प्रकार भ्रमर अविरतादि गुणों से युक्त होने पर भी जो अनियतवृत्तिता उसमें गुण है, सूत्रकर्ता ने उसी गुण को लक्ष्य में रखकर दृष्टान्त में भ्रमर ग्रहण किया है।

यहाँ यदि ऐसा कहा जाय कि गृही लोग अन्नादि जो पदार्थ पकाते हैं, उन पदार्थों को भिक्षादि द्वारा भिक्षु लोग भी खाते हैं, तो फिर उनको उसका पाप क्यों नहीं लगता ? इस शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि पाप कर्म करने के तीन हेतु हैं। करना, कराना और अनुमोदन करना। सो जब कि भिक्षु तीनों कारणों का निरोध कर चुका है तो फिर उसको पाप क्यों लगेगा ? इसके अतिरिक्त गृहस्थ लोग उस कार्य को स्वयं ही करते हैं। क्योंकि जिन ग्राम नगर आदि में भिक्षु नहीं जाते तो क्या उन स्थानों पर लोग अन्नादि नहीं पकाते ? अपि तु पकाते ही हैं। तो बतलाइये कि क्या वह पाप भी भिक्षुक को ही लगता है ? अतः यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार वर्षा तृण आदि के लिये ही नहीं बरसती; तृणादि मृगादि के खाने के लिये ही वृद्धि नहीं पाते; वृक्षों की शाखाएँ केवल मधुकरों के लिये ही नहीं विकसित होतीं, उसी प्रकार गृहस्थ लोग भी साधुओं के लिये ही अन्नादि नहीं पकाते।

जिस प्रकार उक्त कार्य स्वाभाविक और समय पर होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार भिक्षु जन भी समय का पूर्ण बोध रखते हुए समय पर ही भिक्षादि के लिये गृहस्थ लोगों के गृहादि में जाते हैं। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार वृक्षादि को कोई अदृष्ट शक्ति विकसित नहीं करती, केवल काल (समय) और उन वृक्षों का स्वभाव ही उन्हें विकसित करता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के क्षुधा-वेदनीय का स्वभाव और उसके शान्त करने का समय भिक्षाचरी में मुख्य कारण होता है। क्योंकि जहाँ पर भ्रमरादि नहीं जाते तो क्या वहाँ पर वृक्षादि विकसित नहीं होते ? अपितु होते ही हैं। इसी प्रकार जिन २ स्थानों पर भिक्षु भिक्षा के लिये नहीं जाते, तो क्या उन स्थानों पर अन्नादि नहीं पकाये जाते ? अपि तु अवश्यमेव पकाये जाते हैं। इससे भिक्षु सर्वथा निर्दोष हैं।

यहाँ यदि यह कहा जाय कि जहाँ पर गृहस्थ भक्तिवश केवल साधु के लिये ही आहार तैयार करवाता है, तो वहाँ पर उस आहार को ग्रहण करने से साधु कैसे पाप से लिप्त न होगा ? इसका उत्तर यह है कि यदि साधु को मालूम हो जाय कि यह आहार मेरे लिये ही तैयार करवाया है और फिर वह उसे ले ले तो वह साधु अवश्य पापलिप्त होगा। क्योंकि साधु—करना, कराना और अनुमोदन करना—कृत-कारित-अनुमोदना, इन तीनों का ही त्यागी होता है। इतना ही नहीं, किन्तु जैन साधु के लिये भगवान् महावीर की आज्ञा है कि वह परमोत्कृष्ट—भयंकर से भयंकर—संकट के समय उपस्थित होने पर भी वृत्ति से विरुद्ध आचरण कभी न करे। जो साधु अपनी शास्त्रोक्त क्रियाओं पर खड्गधारा के समान चला जा रहा है, वह पाप क्रियाओं से कभी लिप्त नहीं होता।

उत्थानिका—अब सूत्रकार दार्ष्टान्तिक का भाव कहते हैं:—

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणा (णे) रया ॥३॥

एवमेते श्रमणा मुक्ताः, ये लोके सन्ति साधवः।
विहङ्गमा इव पुष्पेषु, दानभक्तैषणारताः ॥३॥

पदार्थान्वयः—एमेए–उसी प्रकार से ये लोए–लोक में जे–जो मुत्ता–मुक्त-वंधन समणा–श्रमण साहुणो–साधु लोग संति–हैं, वे दाणभत्तेसणा–दाता के दिये हुए दान, प्रासुक आहार-पानी और एपणा में इस प्रकार रया–रत होते हैं व–जिस प्रकार पुप्फेसु–पुष्पों में विहंगमा–भ्रमर।

मूलार्थ—उसी प्रकार लोक में विद्यमान, आरम्भादि से मुक्त श्रमण-साधु, दाता के द्वारा दत्त प्रासुक आहार-पानी और एषणा में इस प्रकार अनुरक्त होते हैं जिस प्रकार पुष्पों में भ्रमर लीन होते हैं।

टीका—पूर्व गाथा में दृष्टान्त का वर्णन किया गया था। इस गाथा में सूत्रकार दार्ष्टान्तिक (उपनय) का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, जिस प्रकार भ्रमरगण फूलों के रस लेने की इच्छा से उनके पास जाता है, ठीक उसी प्रकार अढ़ाई द्वीप में जो साधु विद्यमान हैं, वे भी गृहस्थों के घरों में भिक्षा के लिये जावें।

उक्त गाथा मे 'श्रमण' और 'मुक्त' ये दो शब्द दिये गये हैं। वह इसलिये कि 'श्रमण' शब्द का अर्थ 'श्राम्यतीति श्रमणः' अर्थात् जो परीषह सहे, वह 'श्रमण' यह होता है। इस तरह 'श्रमण' शब्द से निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक भी ग्रहण किये जा सकते हैं, अतः उसके साथ 'मुक्त' शब्द लगाना आवश्यक है। 'मुक्त' शब्द का अर्थ है—अन्तरंग और वहिरंग परिग्रह से रहित आत्मा। 'मुच्यत इति मुक्तः।' उपरोक्त पाँचों प्रकार के श्रमण परीषह तो सहते हैं, किन्तु अन्तरंग परिग्रह के त्यागी नहीं होते। अन्तरंग परिग्रह का त्याग सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के वाद होता है।

यही नहीं, वल्कि 'श्रमण' के साथ 'साधु' शब्द का एक और प्रयोग किया गया है। वह इसलिये कि मुक्तवन्धन तो निह्नवादि भी हो जाते हैं, किन्तु वे निर्वाण-पद की साधना नहीं कर सकते। उनके व्यवच्छेद के लिये 'श्रमण' के साथ 'मुक्त' के अतिरिक्त 'साधु' शब्द का विशेषण और लगाना आवश्यक हुआ। 'साधु' का अर्थ है—'साधयतीति साधुः' अर्थात् जो ज्ञान और निर्वाण-पद की साधना करता है; वह साधु है।

गाथा में आये हुए 'लोक' शब्द का अर्थ 'अढ़ाई द्वीप' इसलिये किया गया है कि मनुष्य सिवा इन अढ़ाई द्वीपों के अन्यत्र पैदा नहीं होते। तथा जो सूत्रकर्ता

ने 'दाणभत्तेसणारया'—'दानभक्तैषणारताः' यह पद ग्रहण किया है, इसका भी अर्थ इस प्रकार से जानना चाहिये। जैसे कि—दान शब्द से यह आशय है कि, दाता के देने से ही दान कहा जाता है। जिससे अदत्तादान का निषेध किया गया अर्थात् आहार-विधि में तृतीय महाव्रत के पालने की परमोपयोगिता दिखलाई गई है तथा 'भक्त' शब्द से प्रासुक आहार के ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। अर्थात्—प्रथम महाव्रत को सम्यक्तया पालन करते हुए आधाकर्मादि दोष-युक्त आहार का निषेध किया गया है। साथ ही 'एषणा' शब्द से तीनों एषणाओं का ग्रहण किया गया है अर्थात् एषणासमिति के द्वारा निर्दोष आहार के आसेवन से शरीर की रक्षा का उपदेश किया गया है। इस प्रकार इन गाथाओं के शब्दों पर सूक्ष्म बुद्धि से विचार करते रहना चाहिये।

सूत्रकर्ता ने 'भ्रमर' शब्द के स्थानपर जो 'विहंगम[1]' शब्द ग्रहण किया है उसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार आकाश में भ्रमर (विहंगम) भ्रमण करता है, ठीक उसी तरह आत्मा कर्मों के वश होकर लोकाकाश में परिभ्रमण कर रही है। उस परिभ्रमण की निवृत्ति के लिये मधुकरी वृत्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। संसार-चक्र से विमुक्त होने के लिये वह मधुकरी वृत्ति उस समय ग्रहण की जाती है, जब कि अहिंसादि महाव्रत धारण कर लिये जाते हैं।

उत्थानिका—यदि कहा जावे कि, भक्ति आदि के वश से जब किसी के यहाँ आहार लिया जावे तब तो जीव-हिंसा के होने की सम्भावना की जा सकेगी। यदि न लिया जावे तब स्ववृत्ति के अलाभ से मृत्यु आदि दोषों की प्राप्ति हो जावेगी? इसी प्रकार की शंकाओं के समाधान सूत्रकार करते हैं—

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥४॥

वयं च वृत्तिं लप्स्यामहे, न च कोऽप्युपहन्यते।
यथाकृतेषु रीयन्ते, पुष्पेषु भ्रमरा यथा ॥४॥

१ विहायसि—आकाशे गच्छति गमनशीलः इति 'विहङ्गमः'।

पदार्थान्वयः—अहागडेसु–जिन घरों में अपने लिये भोजन तैयार किया है उनमें वयं–हम वित्तिं–वृत्ति को लब्भामो–प्राप्त करेंगे, जिससे कोइ–कोई भी जीव न उवहम्मइ–हनन क्रिया को प्राप्त न हो जहा–जिस प्रकार कि पुप्फेसु–पुष्पों में भमरा–भ्रमर रीयंते–जाते हैं च-य–चकार पादपूर्णार्थ ।

मूलार्थ—गृहस्थी ने जो आहारादि अपने वास्ते बनाये हैं, उनके यहाँ हम वृत्ति को इस तरह प्राप्त करेंगे, जिससे कोई भी जीव विराधित न हो; जिस प्रकार कि भ्रमर पुष्पों से रस लेने में किसी को नहीं सताते ।

टीका—इस गाथा में पूर्व शंका का समाधान किया गया है । जैसे कि—जब यह शंका उत्पन्न की गई थी कि, आहारादि भक्तिभाव से लिया हुआ अवश्यमेव आधाकर्मादि दोषों से युक्त हो जायगा । तब इस शंका के उत्तर में शंकाकार के प्रति कहा गया है कि, हम मुनि की आहारादि वृत्ति को उसी प्रकार प्राप्त करेंगे, जिस प्रकार षट्काय में किसी भी जीव की विराधना होने की सम्भावना न की जा सके । जिस प्रकार कि पुष्पों पर रस लेने के लिये भ्रमर जाते हैं, ठीक उसी प्रकार मुनि भिक्षाचरी में गमन-क्रिया करते हैं अर्थात् गृहस्थों ने अपने निमित्त जो भोजन तैयार किये हैं, उसी में भ्रमरवत् मुनि भिक्षाचरी में प्रवृत्त होते हैं ।

क्योंकि—जो भोजन केवल मुनि के वास्ते ही तैयार किया गया है वह दोषों से विमुक्त नहीं है । इस वास्ते दोषों की शुद्धि करने के लिये मुनि उसी आहार को लेने के लिये जाते हैं, जिसे कि गृहस्थ लोग अपने ही निमित्त तैयार करवाते हैं । जिस तरह वृक्षों के समूह अपने स्वभाव से पुष्पित और फलित होते हैं, उसी तरह गृहस्थ लोग अपने स्वभाव से ही अन्नादि पकाते हैं । अन्तर है तो केवल इतना ही कि भ्रमर उन पुष्पों का रस लेते समय वृक्षों की आज्ञा नहीं लेता—उनका दिया हुआ नहीं लेता; और मुनि, दाता का दिया हुआ ही ग्रहण करते हैं । इसमें दोनों समान हैं कि भ्रमर पुष्पों का रस लेने में वृक्ष को कष्ट नहीं पहुँचाते और मुनि आहार लेने में गृहस्थों को कष्ट नहीं पहुँचाते । वे इतना लेते ही नहीं कि जिसमें गृहस्थों को दुबारा रसोई बनाने की आवश्यकता पड़े ।

सूत्रकार ने उक्त गाथा के तृतीय पाद में 'रीयंते' यह वर्तमान काल का और प्रथम पाद में 'लब्भामो' यह भविष्यत्काल का पद दिया है । इसका तात्पर्य

यह है कि मुनियों की उक्त वृत्ति त्रिकालवर्ती है अर्थात् मुनि की मधुकरी वृत्ति तीनों काल में एक समान है।

जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों से रस लेकर अपनी आत्मा को तृप्त करता है, उसी तरह मुनि भी गृहस्थों के घरों से आहार लेकर शरीर-साधन करते हुए अपनी आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चारित्र से परितृप्त करते हैं। जिस तरह कर्ता की क्रिया में करण साधकतम है, उसी तरह आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लिये शरीर कारण है, और शरीर की स्थिति के लिये आहार कारण है।

इस तरह रत्नत्रय के साधक निरवद्य आहार को लेता हुआ मुनि, अपने आत्मिक गुणों के विकास करने में लवलीन रहे। मुनि को यह ध्यान रखना चाहिये कि 'रसमूर्छित' आदि दोषों से उस आहार को वह दूषित न करे।

उत्थानिका—इस प्रकार आहार ग्रहण करते हुए मुनि को अब आगे क्या करना चाहिये ? वह कहते हैं:—

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥५॥

त्ति बेमि।

पढमं दुमपुप्फियज्झयणं सम्मत्तं ॥१॥

मधुकरसमा बुद्धाः, ये भवन्ति अनिश्रिताः।
नानापिण्डरता दान्ताः, तेन उच्यन्ते साधवः ॥५॥

इति ब्रवीमि।

प्रथमं द्रुमपुष्पिकाध्ययनं समाप्तम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—जे-जो बुद्धा-तत्त्व के जानने वाले हैं, और महुगारसमा-भ्रमर के समान अणिस्सिया-कुलादि के प्रतिवन्ध से रहित भवंति-हैं नाणापिंडरया-अनेक थोड़ा थोड़ा कई घरों से प्रासुक आहारादि के लेने में रया-रक्त हैं, तथा

दंता-इन्द्रिय और नोइन्द्रिय के दमन करने वाले हैं तेण-इसी वृत्ति के कारण, वे साहुणो-साधु वुच्चंति-कहे जाते हैं। त्ति वेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो तत्त्व को जानने वाले हैं, भ्रमर के समान कुलादि के प्रतिवन्ध से रहित हैं, और थोड़ा प्रासुक आहार अनेक जगह से एकत्रित करके अपनी उदरपूर्ति करने वाले हैं, तथा इन्द्रियादि के दमन करने में जो समर्थ हैं, वे ही 'साधु' कहे जाते हैं। अर्थात् इन गुणों के कारण ही वे 'साधु' कहलाने के योग्य होते हैं।

टीका—इस गाथा में उक्त विषय का उपसंहार किया गया है। भ्रमर के दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक पर घटाकर उपमा को स्पष्ट कर दिया है। जिस तरह भ्रमर यह प्रतिवन्ध नहीं रखता कि मैं अमुक पुष्पवाटिका से या अमुक पुष्प से ही रस लूंगा, उसी तरह साधु भी ऐसा कोई प्रतिवन्ध नहीं रखता कि मैं अमुक के ही घर से अथवा अमुक ही प्रकार का आहार लूंगा। हाँ ! यदि किसी तपोविशेष के निमित्त से यदि किसी प्रकार के आहार का अभिग्रह कर लिया गया हो तो वह वात अलग है। ऐसा करना हानिकारक नहीं है, किन्तु रसगृद्धि से किया हुआ किसी प्रकार के आहार का अभिग्रह मुनि-धर्म से विरुद्ध है।

इससे साधुओं को उचित है कि वे नाना प्रकार के अभिग्रह तथा अन्त-प्रान्त आदि प्रासुक आहार के ग्रहण करने में ही रत रहे—उद्वेग-युक्त न हों। साथ ही पाँचों इन्द्रियों और छठे मन को तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि अध्यात्म-दोषों के दमन करने में तत्पर रहे। इस तरह की वृत्ति से अपना जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति ही आत्म-साधक वन सकते हैं और वे ही 'साधु' कहलाने के योग्य हैं। उन्हे एषणासमिति तथा ईर्यापथ में यत्न करना चाहिये, और सदैव परमार्थ में लगे रहना चाहिये।

इस अध्ययन के अध्ययन से यह भी सिद्ध होता है कि, ज्ञान और क्रिया दोनों से ही निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है। जव जीव को सम्यक्-ज्ञान हो जायगा तभी वह चारित्र की ओर रुचि कर सकता है। सिद्धान्त में चारित्र की व्युत्पत्ति की गई है—'चयरित्तीकरं चारित्तं आहियं' अर्थात् कर्मों के चय (संचय) को जो रिक्त (खाली) करे, वह 'चारित्र' है।

यहाँ यदि कहा जाय कि तत्त्व के जानने वाले साधु को चतुरिन्द्रिय भ्रमर की उपमा क्यों दी ? इसका उत्तर यह है कि उपमा एकदेशीय होती है । जैसे—'चन्द्रमुखी कन्या' । यहाँ केवल सौम्य गुण की अपेक्षा से ही कन्या के मुख को चन्द्र की उपमा दी है । उसी तरह पुष्पों से रस लेते हुए उन्हें पीड़ित न करना तथा किसी अमुक पुष्प-वाटिका से ही रस लेने का नियम न होना, केवल इन्हीं दो गुणों की अपेक्षा से साधु को भ्रमर की उपमा दी गई है ।

श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे शिष्य ! श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामी के मुखारविन्द से मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययन का सुना है, वैसा ही मैंने तुझसे कहा है । अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा ।

द्रुमपुष्पिकाध्ययन समाप्त ।

अह सामण्णपुव्विया विइयं अज्झयणं ।

अथ श्रामण्यपूर्विका द्वितीयमध्ययनम् ।

गत अध्ययन में चारित्र-धर्म के माहात्म्य का दिग्दर्शन कराया गया है। परन्तु स्मरण रहे कि चारित्र-धर्म को वही वीर पालन कर सकता है जिसकी आत्मा परम धैर्यवती और सम्यग्दर्शन-सम्पन्न हो । क्योंकि अतिदुस्सह सर्वविरतिरूप चारित्र केवल जैन-शासन में ही उपलब्ध होता है, अन्य दर्शनों में नहीं । चारित्र धारण किये विना न तो परिणामों में दृढ़ता आती है और न किसी कार्य में सफलता प्राप्त होती है। जिस कार्य के लिये जिस प्रकार का चारित्र—जैसी क्रियारूप आचरण आवश्यक है उसको धारण किये विना, वह कार्य कभी सफल नहीं हो सकता । यदि उसके विना वह कार्य सफल हो सकता होता तो वह उसके लिये आवश्यक कारण ही क्यों कहलाता ? इसी लिये शास्त्रकारों ने स्थान स्थान पर चारित्र की अपरंपार महिमा गाई है ।

चारित्र की जितनी महिमा है, उतनी ही उसकी आवश्यकता है। और जितना वह आवश्यक है, उतना ही वह कठिन है। परम धैर्यवान् ही उसे धारण कर सकता है, और वही उसे पाल सकता—निभा सकता—है ।

चारित्र के जो अनेक भेद हैं, वे सब काम के जीतने पर ही सफल होते हैं । चारित्र को पालने के लिये कामदेव को, जो कि 'त्रिभुवनजयी' कहलाता है, जीतना आवश्यक है। इसकी उत्पत्ति-भूमि मन है, जो कि अतिचंचल है, और

चिरंतन के संकल्प उसके कारण हैं, जो कि बार-बार आकर उसे सताते हैं। इसी लिये सब का जीतना सरल है, मगर इस त्रिभुवनजयी का जीतना अति कठिन है। और नवदीक्षित शिष्यों के लिये तो और भी कठिन है। इसलिये उनको लक्ष्य में रखकर सूत्रकार कहते हैं:—

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीदंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥१॥

कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यम्, यः कामान्न निवारयेत्।
पदे पदे विषीदन्, सङ्कल्पस्य वशं गतः ॥१॥

पदार्थान्वयः—जो-जो पुरुष **कामे**-कामों को **न निवारए**-निवारण नहीं करता है, वह **पए पए**-पद-पद में **विसीदंतो**-विषाद पाता हुआ **संकप्पस्स**-संकल्पों के **वसं गओ**-वश होता हुआ **कहं नु**-किस प्रकार से **सामएणं**-श्रमण-भाव की **कुज्जा**-पालना कर सकता है।

मूलार्थ—जो पुरुष कामों को निवारण नहीं करता है, वह पद-पद में संकल्पों से खेदखिन्न होता हुआ किस प्रकार संयम-भाव की पालना कर सकता है ?।

टीका—इस गाथा में आक्षेपपूर्वक शिक्षा दी गई है कि, जिस पुरुष ने कामभोगेच्छा का निवारण नहीं किया है, वह पग-पग में संयम-मार्ग से पतित होता है। क्योंकि जब उस व्यक्ति को काम-भोग की आशा तो बनी हुई है, परन्तु वे उसको प्राप्त होते नहीं हैं, तो फिर संकल्प और विकल्पों के वश होता हुआ किस प्रकार वह श्रमण-भाव की पालना कर सकता है ? अपि तु नहीं कर सकता।

यहाँ पर 'नु' अव्यय आक्षेप अर्थ में आया हुआ है[1]।

'काम' शब्द से यहाँ शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श, इन सब का ही ग्रहण किया गया है। ये सब मोहनीय कर्म के उत्तेजक हैं। इन द्रव्य-कामों से इच्छा-काम और मदन-काम, इस प्रकार दोनों भाव-कामों की वासना जीव को लग

१ यथा—कथं नु स राजा, यो न रक्षति प्रजाम्, कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते।

जाती है। जिससे कि वह प्राणी इच्छा के वश होता हुआ मदन-काम की आसेवना में प्रतिबद्ध हो जाता है। उसे कामी वा कामरागी कहा जाता है। काम-भोगों को शास्त्रकारों ने रोग प्रतिपादन किया है। इससे जो व्यक्ति काम की प्रार्थना करता है, वह वास्तव में रोगों की प्रार्थना कर रहा है।

जब तक आत्मा उक्त पाँचों ही विषयों से पराङ्मुख नहीं हो जाती, तब तक वह सम्यग् विचारणा भी नहीं कर सकती। कामी पुरुष पग-पग पर विषाद पाता है और वस्तु के न मिलने से संकल्प-विकल्पों के वश होकर आर्त्तध्यान वा रौद्रध्यान के वशीभूत सदा बना रहता है।

इस गाथा से यह भी शिक्षा प्राप्त होती है कि सम्यग् विचारणा वही आत्मा कर सकती है, जो कि कामभोगों से उपरत हो गई हो। जो विषयी आत्मा, पदार्थों के निर्णय करने की आशा रखती हैं, वे आकाश-पुष्पों के पाने के लिये निरर्थक क्रिया कर रही हैं। तथा जिन्होंने द्रव्य-लिङ्ग धारण कर रक्खा है और द्रव्य-क्रियाएँ भी कर रहे हैं, परन्तु जिनकी अन्तरंग आत्मा विषयों की ओर ही लगी हुई है, वे वास्तव में अश्रमण ही हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार इसी बात का प्रकाश करते हुए कहते हैं:—

वत्थं गंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥२॥
वस्त्रं गन्धमलङ्कारम्, स्त्रियः शयनानि च।
अच्छन्दा ये न भुञ्जते, न ते त्यागिन इत्युच्यन्ते ॥२॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो पुरुष **अच्छंदा**—परवश होते हुए **वत्थं**—वस्त्र **गंधं**—गन्ध **अलंकारं**—आभूषण **इत्थीओ**—नाना प्रकार की स्त्रियाँ **सयणाणि**—शय्याएँ **य**—अन्य आसनादि, इनको **न भुंजंति**—नहीं भोगते हैं **से**—वह पुरुष **चाइत्ति**—'त्यागी' इस प्रकार से **न वुच्चइ**—नहीं कहे जाते हैं।

मूलार्थ—जो पुरुष—वस्त्र, गन्ध, आभूषणों, स्त्रियों तथा शय्याओं आदि को भोगते तो नहीं हैं, लेकिन जिनके उक्त पदार्थ वश में भी नहीं हैं वे वास्तव में 'त्यागी' नहीं कहे जाते।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया है कि वास्तव में भाव-प्रधान ही संयम-क्रिया मोक्ष-साधक होती है। क्योंकि जिसने द्रव्य-लिंग तो धारण कर लिया है, परन्तु उसके अन्तःकरण में इच्छा का रोग लगा हुआ है। इस प्रकार के व्यक्ति को शास्त्रकार 'त्यागी' नहीं कहते हैं। जैसे कि किसी व्यक्ति के भाव हैं कि मैं सुन्दर २ वस्त्र पहरूँ, सुगन्ध का आसेवन करूँ, आभूषणों से अलंकृत हो जाऊँ, नाना प्रकार के ऋतुओं के अनुसार सुख देने वाली शय्याओं में नाना देशों की उत्पन्न हुई स्त्रियों के साथ काम-क्रीड़ाएँ करूँ तथा नाना प्रकार के आसनों द्वारा अपने मन को प्रसन्न करूँ, ऐसी दशा में वह यदि इन पदार्थों का त्याग कर दे तो फल यह होगा कि पदार्थ तो उसको प्राप्त होंगे ही नहीं और इच्छा बनी ही रहेगी। तब हमेशा उसके चित्त में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प होते रहेंगे अर्थात् आर्तध्यान हमेशा बना रहेगा। इसलिये द्रव्य-लिंग धारण किये जाने पर भी वह 'त्यागी' नहीं कहा जा सकता। इस गाथा में धैर्य के रखने के लिये उपदेश दिया गया है और साथ ही वास्तविक त्यागी का लक्षण भी ध्वनिरूप से किया गया है। सूत्र में बहुवचन के प्रसंग में 'चाइ' इस प्रकार जो एक वचन दिया है, वह आर्ष प्रयोग होने से शुद्ध है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार त्यागी का स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं—

जे य कंते[1] पिए भोए, लद्धे विपिट्ठीकुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥३॥

यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति।
स्वाधीनान् त्यजति भोगान्, स खलु त्यागीत्युच्यते ॥३॥

पदार्थान्वयः—जे—जो पुरुष पिए—प्रिय कंते—मन को आकर्षण करने वाले भोए—भोगों के लद्धे—मिल जाने पर य—और साहीणे—वशवर्ती हो जाने पर विपिट्ठीकुव्वइ—सर्वथा पीठ करता है, और चयई—छोड़ता है हु—वास्तव में से—वही पुरुष चाइ—त्यागी त्ति—इस प्रकार वुच्चइ—कहा जाता है।

---

१ इत्यत्र 'टाणा शस्येत्' इत्यनेन शसः स्थाने एद्।

मूलार्थ—जो पुरुष प्रिय और कमनीय भोगों के मिलने पर भी उन्हें पीठ दे देता है तथा स्वाधीन भोगों को छोड़ देता है, वास्तव में वही पुरुष 'त्यागी' कहा जाता है ।

टीका—इस गाथा में त्यागी पुरुष का स्वरूप वर्णन किया गया है । जो पुरुष शोभनरूप और परम इच्छित भोगों के मिल जाने पर भी नाना प्रकार की शुभ भावनाओं द्वारा उनकी ओर पीठ कर देता है तथा स्वाधीन काम-भोगों को छोड़ देता है, वास्तव में उसी पुरुष को त्यागी कहा जाता है ।

जो भोग इन्द्रियों को प्रिय नहीं हैं, या प्रिय हैं, पर स्वाधीन नहीं हैं और स्वाधीन भी हैं, परन्तु किसी समय प्राप्त नहीं होते तो उनको मनुष्य स्वयं ही नहीं भोगता या नहीं भोग सकता । परन्तु जो इन्द्रियों को प्रिय हैं, स्वाधीन हैं, और प्राप्त भी हैं, उन्हें जो छोड़ता है—उनसे विमुख रहता है, वास्तव में त्यागी वही है । ऐसा त्याग करना धीर वीर पुरुषों का काम है ।

गाथा में 'विपिट्ठीकुव्वइ' शब्द आ जाने पर भी उसका समानार्थक ही दूसरा जो 'चयइ' पद और दिया है, वह इसलिये कि जब शुभ भावनाओं द्वारा उन काम-भोगों से मन को पीछे कर लिया जाय तो फिर उन काम-भोगों का त्याग ही कर दिया जाय तब तो मनोवृत्ति ठीक रह सकती है, नहीं तो न मालूम किस समय मनोवृत्ति फिर उनकी उस ओर लग जाय, यह सूचित करने के लिये है ।

गाथा में 'य' और 'हु' शब्द अवधारणार्थ में आया हुआ है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार कहते हैं कि यदि त्यागी पुरुष को कदाचित् राग की संभावना हो जाय तो वह उस काम-राग को अपने मन से किस प्रकार से हटावेः—

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे,
इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ॥४॥

समया प्रेक्षया परिव्रजतः,
स्यात् मनो निःसरति बहिः।
न सा मम नाप्यहमपि तस्याः,
इत्येवं तस्या व्यपनयेद् रागम् ॥४॥

पदार्थान्वयः—समाइ पेहाइ–समभाव की दृष्टि से परिव्वयंतो–विचरते हुए साधु का मणो–मन सिया–कदाचित् बहिद्धा–बाहर निस्सरई–निकले तो सा–वह महं–मेरी न–नहीं है, तथा नो वि–नहीं अहं पि–मैं भी तीसे–उसका हूँ इच्चेव–इस प्रकार से ताओ–उस स्त्री पर से रागं–राग को विणइज्ज–दूर करे।

मूलार्थ—समभाव की दृष्टि से विचरते हुए मुनि का मन कदाचित् संयमरूपी गृह से बाहर निकल जाय तो मुनि, 'वह स्त्री आदि मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ' इस प्रकार की विचारणा से उस स्त्री पर से राग को हटा ले।

टीका—इस काव्य में मोह-कर्म के उदय हो जाने पर काम-राग से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है। अपनी आत्मा के समान प्रत्येक जीव को मानते हुए मुनि का मन कदाचित् कर्मोदय से संयमरूपी गृह से वा मार्ग से निकलता हो तो मुनि को इस प्रकार की भावाना से मन को फिर संयम-मार्ग में ही लाना चाहिये। मुनि यदि भुक्तभोगी होकर दीक्षित हुआ है, तब तो पूर्व विषयों की स्मृति मात्र से मन के विषम हो जाने की संभावना रहती है। यदि अभुक्तभोगीरूप में ही दीक्षित हो गया है, तब काम-राग के उत्पादक ग्रन्थों के—कथाओं के—सुनने से तथा कुतूहलादि के कारण से काम-राग का उदय हो जाता है। तब उसे इस प्रकार की विचारणा से मन को शान्त करना चाहिये कि 'जिस स्त्री आदि को मैं कामदृष्टि से देखता हूँ, वह स्त्री मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ। तात्पर्य यह है कि जब मेरा उससे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर मेरा उस पर राग करना व्यर्थ है।'

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि राग-द्वेष के अभाव को सम भाव कहते हैं। स्त्री आदि भोगोपभोगों की अभिलाषा राग-भाव के होने से ही पैदा होती

है। तो फिर जो व्यक्ति 'समाइ पेहाइ परिव्वयंतो'—समभाव से संसार में विचरण करने वाले हैं, उनके स्त्री आदि भोगोपभोगों की अभिलाषा पैदा हो कैसे सकती है? इसका उत्तर यह है कि कर्मों की बड़ी विचित्रता है। जब तक आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध लगा हुआ है, तब तक समभाव वाले मुनि के भी कदाचित् वैसा कर्मोदय हो सकता है।

गाथा में 'सा' और 'तीसे' स्त्रीलिंग शब्दों का जो प्रयोग किया गया है वह उपलक्षण है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'—'कौओं से दही को बचाना' यहाँ पर 'काकेभ्यः' पद उपलक्षण है। वास्तव में सभी प्रकार के पदार्थों से दही की रक्षा करनी उसका अर्थ है। उसी प्रकार यहाँ पर भी सभी प्रकार के पदार्थों से राग-भाव को हटाना चाहिये, यह अर्थ है।

उत्थानिका—इस प्रकार सूत्रकर्ता ने मनोनिग्रह की अन्तरंग विधि तो बतलाई, परन्तु बाह्य विधि के आसेवन किये विना प्रायः पूर्ण मनोनिग्रह नहीं किया जा सकता। अत एव सूत्रकार अब बाह्य विधि को बतलाते हैं और साथ ही उसके फल का भी निदर्शन करते हैं:—

आयावयाही चय सोगमल्लं,
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणइज्ज रागं,
एवं सुही होहिसि संपराए ॥५॥

आतापय त्यज सौकुमार्यम्,
कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम्।
छिन्धि द्वेषं व्यपनयेद् रागम्,
एवं सुखी भविष्यसि सम्पराये ॥५॥

पदार्थान्वयः—आयावयाही-आतापना ले सोगमल्लं-सौकुमार्य भाव को चय-छोड़ कामे-कामभोगों को कमाही-अतिक्रम कर दुक्खं-दुःख कमियं खु-

निश्चय ही अतिक्रान्त हो जाता है दोसं–द्वेष को छिंदाहि–छेदन कर रागं–राग को विणइज्ज–दूर कर एवं–इस प्रकार से संपराए–संसार में सुही–सुखी होहिसि–हो जायगा।

मूलार्थ—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! आतापना ले, सुकुमार भाव को छोड़, कामों को अतिक्रम कर। इनके त्यागने से दुःख निश्चय ही अतिक्रान्त हो जाता है। द्वेष को छेदन कर, राग को दूर कर। इस प्रकार करने से संसार में तू सुखी हो जायगा।

टीका—आतापनादि तप और सुकुमारता का अभाव काम को रोकने के लिये बाह्य कारण हैं और राग-द्वेप को छोड़ना अन्तरंग कारण। इन दोनों निमित्त कारणों के आसेवन करने से मनुष्य, काम को जीत सकता है और सुखी हो सकता है।

यहाँ पर 'आतपन तप' उपलक्षण है। वास्तव में ऊनोदरी आदि बारह प्रकार के तप काम के जीतने में सहायता पहुँचाते हैं। शरीर की सुकुमारता भी काम की वृद्धि करती है, अतः उसको भी छोड़ना चाहिये।

गाथा में आये हुए 'संपराए' शब्द का अर्थ कोई २ 'परीषहोपसर्गसंग्राम' भी करते हैं। वह भी ठीक है। क्योंकि जो काम को जीत सकेगा, वही पुरुष परीषह और उपसर्गों को आसानी से जीत सकता है।

यहाँ पर 'खु' शब्द अवधारण अर्थ में आया हुआ है। जिसका तात्पर्य यह है कि निश्चय से यावन्मात्र दुःखों का कारण एक 'काम' ही है।

उत्थानिका—फिर संयमरूपी गृह से मन निकल न जाय, इसके लिये मुनि इस प्रकार की विचारणा करे। जैसे कि:—

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे॥६॥

प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषम्, धूमकेतुं दुरासदम्।
नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुम्, कुले जाता अगन्धने॥६॥

पदार्थान्वयः—**अगंधणे**–अगंधन नामक **कुले**–कुल में **जाया**–उत्पन्न हुए सर्प **दुरासदं**–दुष्कर से जो सहन की जाय इस प्रकार की **जलियं**–ज्वलित **जोइं**–ज्योति **धूमकेउं**–धूम है केतु—ध्वजा—जिसकी अर्थात् अग्नि, उसमें **पक्खंदे**–गिर जाते हैं, परन्तु **वंतयं**–वमन किये हुए विष के **भोत्तुं**–भोगने के लिये अर्थात् वान्त विष को पीना **नेच्छंति**–नहीं चाहते ।

मूलार्थ—अंगधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प, जिसके पास तक जाना भी कठिन हो और धूएँ के गुब्बारे जिसमें उठ रहे हों ऐसी जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि में गिरने की तो इच्छा कर लेते हैं, परन्तु वमन किये हुए विष के पीने की इच्छा नहीं करते ।

टीका—सर्पों की दो जातियाँ हैं:—१. गन्धन और २. अगन्धन । इनमें से 'अगन्धन' नाम के सर्प की यह आदत होती है कि वह जिसे काट खाय, उसका विष फिर नहीं चूसता । भले ही उसे प्रचण्ड अग्नि में जलना पड़े ।

एक अशिक्षित तिर्यंच की जब इतनी प्रबल दृढ़ता होती है तो फिर विवेकी पुरुषों के लिये क्या कहा जाय ! अर्थात् व्रत स्वीकार कर लेने के बाद—स्त्री आदि भोगोपभोगों का त्याग कर देने के बाद—उसे फिर कभी ग्रहण न करना चाहिये । कर्मोदय की विचित्रता से यदि कभी मन चलायमान भी हो जाय तो उसे धैर्यपूर्वक सँभालना चाहिये ।

इस द्वितीय अध्ययन की ७ वीं, ८ वीं आदि गाथाओं में शास्त्रकार ने श्रीराजीमती के उपालम्भपूर्वक इस विषय का निदर्शन किया है । अतः उस कथा का पूर्वरूप यहाँ लिख देना अच्छा होगा:—

सोरठ देश में 'द्वारिका' नाम की एक नगरी थी । विस्तार में वह बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी । उस समय नौवें वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज राज्य करते थे । उनके पिता के एक श्रीसमुद्रविजय भाई थे । इनकी शिवा नाम की रानी से भगवान् श्रीअरिष्टनेमि जन्मे । युवा हुए । उग्रसेन राजा की पुत्री श्रीराजीमती से उनका विवाह होना तय हुआ । धूम-धाम के साथ जब वे बरात लेकर जा रहे थे तो उन्होंने जूनागढ़ के पास बहुत से पशुओं को बाड़े और पिंजरों में बन्द हुआ देखा । श्रीअरिष्टनेमि ने जानते हुए भी जनता को बोध कराने के लिये सारथी से

पूछा—ये पशु यहाँ किस लिये बँधे हुए हैं ? सारथी ने कहा—हे भगवन् ! ये पशु आपके विवाह में साथ आये हुए मांसाहारी घरातियों के भोजनार्थ यहाँ लाये गये हैं । यह सुनते ही भगवान् अरिष्टनेमिजी का चित्त बड़ा उदासीन हुआ । आपने विचार किया कि मेरे विवाह के लिये इतने पशुओं का वध कराना मुझे इष्ट नहीं है । इस पाप के बदले न जाने मुझे कितने जन्म धारणकर कष्ट उठाना पड़ेगा । इस तरह विचार करने पर उनके चित्त की वृत्ति विवाह करने से ही हट गई । तब सारथी को सम्पूर्ण भूषण उतारकर प्रीति-दान में दिये और आप उन पशुओं को बन्धनों से छुड़ाकर विवाह न कराते हुए अपने घर को वापिस चले आये । एक वर्ष पर्यन्त आपने करोड़ों सुवर्ण-मुद्राओं का दान देकर एक सहस्र पुरुषों के साथ आपने साधु-वृत्ति ग्रहण की । तदनन्तर वे विदुषी श्रीराजीमती कन्या भी अपने अविवाहित पति के वियोग के कारण वैराग्य-भाव को धारणकर सात सौ सखियों के साथ स्वयमेव दीक्षित हो गईं । और भगवान् श्रीअरिष्टनेमिजी के दर्शनार्थ रेवती पर्वत पर जहाँ कि वे तपश्चर्या कर रहे थे, चलीं । अकस्मात् रास्ते में अति वायु और वृष्टि होने के कारण सब सखियाँ तितर-बितर हो गईं । श्रीराजीमती ने वायु-वर्षा की घबराहट के कारण एक गुफा में प्रवेश किया । वहाँ जाकर उन्होंने निर्जन स्थान जान व्याकुलता के कारण अपने सर्व वस्त्र उतारकर भूमि पर रख दिये । वहाँ श्रीअरिष्टनेमि के छोटे भाई श्रीरथनेमि पहले से ही समाधि लगाकर खड़े थे । बिजली की चमक में नग्न श्रीराजीमती पर श्रीरथनेमि की दृष्टि पड़ी । देखते ही श्रीरथनेमि का चित्त काम-भोगों की ओर आकर्षित हो गया और श्रीराजीमती से प्रार्थना करने लगे । इस पर विदुषी श्रीराजीमती ने श्रीरथनेमि को समझाया कि देखो, अगन्धन जाति का सर्प एक पशु होता हुआ भी अपनी जातीय हठ से जाज्वल्यमान और दुरासद अग्नि में कूद तो पड़ता है, पर वह यह इच्छा नहीं करता कि मैं वमन किये हुए विष को फिर से अंगीकार कर लूँ । परन्तु शोक है कि तुम जहर की तरह विषय-भोगों को समझ त्याग कर चुके हो, फिर भी उसे अंगीकार करना चाहते हो ।

उत्थानिका—इस विषय का उपदेश कर अब श्रीराजीमती आक्षेपपूर्वक उपदेश करती हुई कहती हैं कि:—

धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥

धिगस्तु तेऽयशस्कामिन् !, यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुम् , श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥७॥

पदार्थान्वयः—अजसोकामी-हे अयश की कामना करने वाले ! ते-तुझे धिरत्थु-धिक्कार हो जो-जो तं-तू जीवियकारणा-असंयमरूप जीवन के वास्ते वंतं-वमन को आवेउं-पान करने की इच्छसि-इच्छा करता है, अतः ते-तेरे लिये मरणं-मृत्यु सेयं-कल्याणरूप भवे-है ।

मूलार्थ—रे अपयश चाहने वाले ! तुझे धिक्कार !, जो तू अपने असंयमरूप जीवने के लिये वमन को पुनः पीना चाहता है, उससे तो तेरा मरण हो जाना ही अच्छा है ।

टीका—इस गाथा में उपालम्भपूर्वक श्रीराजीमती का श्रीरथनेमि को समझाना है । गाथा का जो अर्थ ऊपर किया गया है वह पहले चरण में 'तेऽजसोकामी' पद में अकार का प्रश्लेष मानकर किया गया है । कोई २ अकार-प्रश्लेष नहीं भी मानते । उस पक्ष में भी उक्त पद का सुन्दर अर्थ घट जाता है । तब उसका असूयापूर्वक आमन्त्रण अर्थ होगा । जैसे—'हे यश की चाहना वाले ! अर्थात् तू यश की चाहना करता है और ऐसा तेरा विचार है । इसलिये तुझे धिक्कार है ।'

मरण श्रेयस्कर इसलिये कहा जाता है कि अकार्य-सेवन से व्रतों का भंग होता है । व्रतों की रक्षा करता हुआ जीव यदि मरण को प्राप्त हो जाय तो वह आत्म-घाती नहीं कहलाता, किन्तु 'व्रत-रक्षक' कहा जाता है ।

गाथा में 'धिरत्थु' और 'सेयं'—'धिगस्तु' और 'श्रेयः' दोनों शब्द साथ-ही-साथ काम में लाये गये हैं । इसका तात्पर्य यह है कि एक संयमी पुरुष को जिस प्रकार काम-वासना धिक्कार का हेतु है, उसी प्रकार संयम की रक्षा के लिये उसका मरण हो जाना कल्याण का कारण है । 'धिरत्थु' का अर्थ धिक्कार और 'सेयं' का अर्थ कल्याण है । अतः आचार्य ने अन्वय और व्यतिरेक दोनों हेतुओं से पक्ष-समर्थन किया है ।

उत्थानिका—श्रीराजीमती ने और भी कहाः—

अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥८॥

अहं च भोगराजस्य, त्वं चासि अन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव, संयमं निभृतश्चर ॥८॥

पदार्थान्वयः—अहं—मैं भोगरायस्स—उग्रसेन की पुत्री हूँ च—और तं—तू अंधगवण्हिणो—समुद्रविजय का पुत्र असि—है कुले—उत्तम कुल में (उत्पन्न हुए हम दोनों) गंधणा—गन्धन सर्प के समान मा होमो—न हों, किन्तु निहुओ—मनको स्थिर रखते हुए संजमं—संयम को चर—पाल ।

मूलार्थ—हे रथनेमि ! मैं उग्रसेन राजा की पुत्री हूँ और तू समुद्रविजय राजा का पुत्र है । अतः उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हम दोनों, गन्धन सर्प के समान न हों; किन्तु तू चित्त निश्चल कर और संयम पाल ।

टीका—इस गाथा में श्रीराजीमती ने अपने और श्रीरथनेमि के कुल की प्रधानता पर श्रीरथनेमि का ध्यान आकर्षित किया है । क्योंकि शुद्धवंशीय पुरुष प्रायः अकृत्यों से बच जाता है । वह कष्ट-सहन में कुछ स्वाभाविक ही धीर होता है ।

गाथा में 'भोगरायस्स' और 'अंधगवण्हिणो' दोनों षष्ठ्यन्त पद दिये हैं जो कि सम्बन्ध-वाचक हैं, लेकिन गाथा में उसका सम्बन्धी कोई पद नहीं दिया है । इसलिये उनके साथ क्रम से 'पुत्री' और 'पुत्र' शब्द का अध्याहार पारिशेष्यात् कर लेना चाहिये ।

भोगराज का अर्थ 'उग्रसेन' और अन्धकवृष्णि का अर्थ 'समुद्रविजय' होता है । यथा—

'अंधगवण्हि—पुं० (अन्धकवृष्णि) समुद्रराजानुं अपर नाम, पृष्ठ १२ । भोगराय—पुं० (भोगराज) भोगकुलना एक राजा, यदुवंशी उग्रसेन राजा, पृष्ठ ५९६ ।' अर्ध मागधी गुजराती कोष ।

गाथा का 'निहुओ'—'निभृतः' पद यह सूचित करता है कि सर्व-दुःख-निवारक संयम के विधि-विधान या क्रिया-कलाप को वही जीव पालन कर सकता

है, जिसका चित्त अव्याक्षिप्त हो। व्याक्षिप्त चित्त वाला पुरुष धैर्यच्युत हो जाता है और संयम की विराधना कर बैठता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार धैर्यगुण के न होने से जिस दशा के हो जाने की संभावना की जा सकती है, उसी विषय में कहते हैं:—

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारीओ।
वायाविद्धु व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥९॥

यदि त्वं करिष्यसि भावम्, या या द्रक्ष्यसि नारीः।
वाताविद्ध इव हडः, अस्थितात्मा भविष्यसि ॥९॥

पदार्थान्वयः—तं-तू जा जा-जिन २ नारीओ-नारियों को दिच्छसि-देखेगा भावं-विषय के भाव को जइ-यदि काहिसि-करेगा, तो वायाविद्धु-वायु से प्रेरित हडो व्व-अबद्धमूल हड वनस्पति की तरह अट्ठिअप्पा-अस्थिरात्मा भविस्ससि-हो जायगा।

मूलार्थ—हे रथनेमि! तू जिन २ स्त्रियों को देखेगा; फिर यदि उनमें विषय के भाव करेगा, तो तू वायु से प्रेरित अबद्धमूल हड वनस्पति के समान अस्थिर आत्मा वाला हो जायगा।

टीका—ध्यान का लक्षण है—'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्'—एक पदार्थ की ओर चित्त का लगाना—मन का एकाग्र करना। विषयों की ओर जब मन आकृष्ट होता है, तब वह एकाग्रता से हट जाता है और चंचल हो जाता है। यों तो संसार के जितने पदार्थ हैं, वे सभी मन की चंचलता को बढ़ाने वाले हैं; परन्तु उन सब में स्त्री बड़ी प्रबल है। इसका संसर्ग होते ही मन की एकाग्रता एकदम काफूर हो जाती है।

कोई स्त्री सुन्दर है तो उस ओर अनुराग और कोई असुन्दर है तो उस ओर अरुचि, बस यही तो चंचलता है। ऐसे चंचल पुरुष की हालत, आँधी के प्रबल झोकों से उखड़े हुए वृक्ष के समान है। वह शीघ्र ही गिर जाता है।

गाथा में आये हुए 'हडो' शब्द का अर्थ 'अबद्धमूलो वनस्पतिविशेषः' है। और 'व्व' का अर्थ 'इव' है।

उत्थानिका—इस उपदेश के बाद क्या हुआ ? सो सूत्रकार कहते हैं:—

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥१०॥

तस्या असौ वचनं श्रुत्वा, संयतायाः सुभाषितम्।
अङ्कुशेन यथा नागः, धर्मे सम्प्रतिपातितः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—सो—वह तीसे—उस संजयाइ—संयमिनी के सुभासियं—सुन्दर वयणं—वचन को सोच्चा—सुनकर अंकुसेण—अंकुश से नागो—हाथी की जहा—तरह धम्मे—धर्म में संपडिवाइओ—स्थिर हो गया।

मूलार्थ—वह रथनेमि उस आर्या श्रीराजीमती के सुन्दर वचनों को सुनकर, जिस प्रकार अंकुश से हाथी वश हो जाता है, उसी प्रकार धर्म में स्थिर हो गया।

टीका—इस गाथा में उपदेश की सफलता दृष्टान्तपूर्वक दिखलाई गई है। स्वयं आचरण पर दृढ़ एक स्त्री के वचनों की सफलता इस बात को सिद्ध करती है कि चारित्र-संपन्न आत्मा का प्रभाव अवश्य होता है।

श्रीरथनेमि का एक स्त्री की बात को स्वीकार करना इस बात को सिद्ध करता है कि कुलीन वंशज पुरुष शिक्षा से ही माने जाते हैं।

हाथी का उदाहरण एक वंशज पुरुष के लिये सर्वथा उपयुक्त है। वह स्वभाव से ही धैर्यशाली होता है। धैर्यशाली व्यक्ति को थोड़ा-सा इशारा ही पर्याप्त होता है।

उत्थानिका—अब उक्त विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं:—

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥११॥

त्ति बेमि।

बिइयं सामण्णपुव्वियज्झयणं सम्मत्तं।

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यः, यथाऽसौ पुरुषोत्तमः ॥११॥

इति ब्रवीमि ।

द्वितीयं श्रामण्यपूर्विकाध्ययनं समाप्तम् ।

पदार्थान्वयः—**संबुद्धा**–तत्त्व के जानने वाले **पवियक्खणा**–सावद्य कर्म से भय मानने वाले पुरुष **पंडिया**–पण्डित—दोषज्ञ—विषय-सेवन के दोषों को जानने वाले **एव**–पूर्वोक्त प्रकार से **करंति**–करते हैं, अर्थात् वे **भोगेसु**–भोगों से **विणियट्टंति**–निवृत्त हो जाते हैं **जहा**–जिस प्रकार **पुरिसुत्तमो**–पुरुषों में उत्तम **से**–वह रथनेमि । **त्ति बेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—तत्त्व के जानने वाले प्रविचक्षण पण्डित, उसी प्रकार भोगों से विरक्त हो जाते हैं, जिस प्रकार कि पुरुषोत्तम श्रीरथनेमि ।

टीका—इस गाथा में चालू विषय का उपसंहार करते हुए उपदेश भी दिया गया है । क्योंकि इस द्वितीयाध्ययन की यह अन्तिम गाथा है ।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि गाथा में 'संबुद्धा', 'पंडिया' और 'पवियक्खणा', ये एकार्थ-वाचक तीन शब्द क्यों दिये ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि स्थूल दृष्टि से ये एकार्थ-वाचक ही हैं, फिर भी सूक्ष्म विचार से इनके अर्थों में अन्तर है । यथा सम्यक्-दर्शन की प्रधानता से आत्मा 'संबुद्ध' कहलाती है; सम्यक्-ज्ञान की प्रधानता से आत्मा 'पण्डित' कहलाती है; और चारित्र की प्रधानता से आत्मा 'प्रविचक्षण' कहलाती है । इस तरह से गाथा में शास्त्रकार ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीनों रत्नों का वर्णन कर दिया है । जिसका कि तात्पर्य यह निकलता है कि जो इन तीनों को धारण करता है, वही पुरुषोत्तम है ।

एक शंका यहाँ और हो सकती है । और वह यह कि जब श्रीराजीमती का नग्नावस्था में दर्शन पाकर श्रीरथनेमि का चित्त चलायमान—चंचल—हो गया, तो गाथा में उसे 'पुरुषोत्तम' क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उसके भाव डगमगा गये थे, लेकिन फिर भी श्रीराजीमती के शिक्षोपदेश से वह

कुपथ से हट गया और प्रायश्चित्तपूर्वक अपने व्रत में दृढ़ हो गया । सर्वोत्तम तो वही है, जो चाहे जैसी डिगाने वाली परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर भी न डिगे । किन्तु वह भी पुरुषोत्तम ही है, जो कि परिस्थिति के हिलाये हिल जाने पर भी सोच-समझकर अपने क्रियाचरणरूप व्रत से डिगे नहीं—अटल बना रहे । यह भी शूर-वीर पुरुषों का लक्षण है ।

विषय-सेवन के त्याग का जो उपदेश दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि काम-भोगों के जनक आत्मा के साथ अनादिकाल से संबद्ध एक मोहनीय कर्म है, जो कि नितान्त दुःखदायी है । उसके अभाव से अत्यन्त निराबाध सुख की प्राप्ति होती है ।

इसलिये सारांश यह निकला कि यदि पूर्व कर्मोदय के कारण कदाचित् किसी को विषय-सेवन के संकल्प-विकल्प उत्पन्न भी हो जायँ, तब भी उसका भला इसी में है कि वह सदुपदेश, शुभ भावनाओं का स्मरण करके उनसे अलग रहे—उनमें लिप्त न हो । इसी में उसके रत्नत्रय की स्थिति है । इसी से वह पुरुषोत्तम है । इसी तरह से वह मोक्ष की साधना कर सकता है ।

अध्याय की समाप्ति पर 'त्ति बेमि' शब्द का यहाँ पर भी पूर्व की भाँति यही अर्थ लगाना चाहिये कि—

'श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे शिष्य ! श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामी के मुखारविन्द से मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययन का सुना है, वैसा ही मैंने तुम से कहा है । अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा ।'

श्रामण्यपूर्विकाध्ययन समाप्त ।

अह खुड्डयायारकहा तइयं अज्झयणं ।

अथ क्षुल्लकाचारकथा तृतीयमध्ययनम् ।

गत अध्ययन में मोहनीयकर्म-जन्य संकल्प-विकल्पों को छोड़कर चित्त स्थिर करना चाहिये अर्थात् मनुष्य को धैर्यावलम्वी वनना चाहिये । धैर्य धारण किये विना चारित्र की पालना नहीं हो सकती । और विना चारित्र के पाले मोक्ष नहीं हो सकता । धैर्य आचार के विषय में प्रयुक्त करना चाहिये । तभी जीव की सुगति हो सकती है । अनाचार के विषय में प्रयुक्त किया गया धैर्य दुर्गति का कारण होता है । 'क्षुल्लकाचारकथा' नाम में जो 'क्षुल्लक' शब्द आया है, उसका अर्थ 'अल्प' होता है । 'अल्प' हमेशा 'महत्' की अपेक्षा रखता है । हालाँ कि वह अल्पता-महत्ता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अलग-अलग होती है । अस्तु । इस अध्ययन में प्रधान चारित्र की अपेक्षा संक्षेप से कथन किया जायगा । अत एव इस अध्ययन का नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' है । साधुओं का संक्षेप से चारित्र वर्णन करने वाले 'क्षुल्लकाचारकथा' नामक इस तीसरे अध्ययन मे प्रथम अनाचार का वर्णन सूत्रकार करते हैं:—

संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं , निग्गंथाण महेसिणं ॥१॥

संयमे सुस्थितात्मनाम्, विप्रमुक्तानां त्रायिणाम् ।
तेषामेतदनाचरितम् , निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—संजमे–संयम में सुट्ठिअप्पाणं–भली प्रकार से स्थित विप्पमुक्काण–संपूर्ण सांसारिक वन्धन-रहित ताइणं–षट्काय की व अपने आत्मा की रक्षा करने वाले निग्गंथाण–परिग्रह-रहित तेसिं–उन महेसिणं–महर्षियों के एयं–ये—वक्ष्यमाण अणाइण्णं–अनाचीर्ण हैं।

मूलार्थ—संयम में स्थित, वाह्याभ्यन्तर परिग्रह-रहित, स्वपर-रक्षक, निर्ग्रन्थ महर्षियों के अयोग्य आचार अब वर्णन किये जायँगे।

टीका—इस गाथा में निर्ग्रन्थ मुनि के जो विशेषणपद दिये गये हैं, वे सब हेतुहेतुमद्भावपूर्वक हैं। 'यदि पढ़ेगा तो विद्वान् हो जायगा, यदि वर्षा अच्छी होगी तो संवत् हो जायगा', यही हेतुहेतुमद्भाव का उदाहरण है। इसी तरह उपरोक्त गाथा-प्रतिपादित निर्ग्रन्थ मुनि के विशेषण-पदों का अर्थ करना चाहिये। यथा—

निर्ग्रन्थ मुनि यदि भली-भाँति संयम में स्थित होगा, तभी वह संपूर्ण सांसारिक वन्धन-रहित हो सकेगा। जो सांसारिक वन्धन-रहित अर्थात् वाह्याभ्यन्तर परिग्रह-रहित होगा, वही स्व-पर का रक्षक हो सकेगा। और जो स्व-पर का रक्षक होगा, वही महर्षि हो सकेगा।

आत्माएँ तीन प्रकार की होती हैं। स्व-रक्षक, पर-रक्षक और स्वपर-रक्षक। इस प्रकरण में 'रक्षक' शब्द का अर्थ मरने से या तकलीफ़ से वचाना ही नहीं है; वल्कि क्रोध, मान, माया, लोभ, दुर्व्यसन, अपवित्र भावना आदि जीव के अन्तरंग शत्रुओं के आक्रमण से भी वचाना है। इस प्रकार की अपनी रक्षा करने में जो मुनि तन्मग्न हैं, वे स्व-रक्षक हैं; दूसरे की आत्मा की रक्षा करने में जो संलग्न हैं, वे पर-रक्षक हैं; और जो अपनी और साथ ही दूसरे की भी रक्षा करने में समर्थ हैं अर्थात् अपनी आत्मा के कल्याण के साथ २ पराई आत्माओं का भी जो कल्याण कर सकते हैं, वे ही 'महर्षि' कहलाते हैं।

इस अध्ययन की वक्ष्यमाण वातें महर्षियों के लिये अयोग्य इसलिये हैं कि वे इनके संयम में वाधा पहुँचाती हैं। महर्षि अहोरात्र ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार में ही लीन रहते हैं। उनके लिये स्त्री-कथा, देश-कथा, भक्त-कथा और राज्य-कथा तथा मोह-कथा, विप्रलाप-कथा और मृदुकारुणिक कथा आदि विकथा—कुकथा—हैं।

महर्षि हमेशा धर्म-कथा में तत्पर रहते हैं। यद्यपि धर्म-कथा के अनेक भेद हैं, पर उन सब का मुख्य उद्देश्य आत्मा को निर्मल करना—आत्मा को निज स्वरूप में लीन करना—और अन्य भव्य जीवों को तन्मय करके उनका उद्धार करना—उनको आत्मा की ओर लगाना—है। श्रुतज्ञान के प्रभाव से आत्मा स्व-पर के कल्याण करने में समर्थ हो जाती है।

उत्थानिका—अब अनाचीर्ण क्रियाओं का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे ॥२॥

औद्देशिकं क्रीतकृतम्, नियोगिकमभ्याहृतानि च।
रात्रिभक्तं स्नानं च, गन्धमाल्ये च वीजनम् ॥२॥

पदार्थान्वयः—**उद्देसियं**–साधु के उद्देश्य से बनाये गये आहार को लेना **कीयगडं**–खरीदकर लेना **नियागं**–आमंत्रित घर से आहार लेना **य**–और **अभिहडाणि**–स्व-ग्रामादि से साधु के वास्ते लाकर पदार्थ साधु को देना **राइभत्ते**–रात्रि-भोजन करना **य**–और **सिणाणे**–स्नान करना **गंध**–सुगंध का लेना **मल्ले**–पुष्पमालादि धारण करना **य**–और **वीयणे**–वीजना—पंखादि करना।

मूलार्थ—१ औद्देशिक आहारादि लेना, २ खरीदकर लेना, ३ आमंत्रित आहारादि ग्रहण करना, ४ गृहादि से लाया हुआ भोजनादि लेना, ५ रात्रि-भोजन करना, ६ स्नान करना, ७ सुगंधित पदार्थों का सेवन करना, ८ पुष्पमालादि का धारण करना, और ९ वीजनादि करना, ये सब मुनि के लिये अनाचीर्ण हैं।

टीका—इस गाथा में साधु के अनाचीर्ण पदार्थों का वर्णन किया गया है; अर्थात् जो जो पदार्थ मुनि-वृत्ति के सेवन करने के योग्य नहीं है, उन पदार्थों का वर्णन किया गया है। जिन पदार्थों का नाम लिया गया है वे दिग्दर्शनमात्र हैं। उपलक्षण से तत्सदृश अन्य पदार्थ भी ग्रहण किये जा सकते हैं।

१. औद्देशिक—कोई भी काम किया जाय—आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ के विना नहीं हो सकता । आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ जहाँ होता है, वहाँ हिंसा का होना स्वाभाविक है । साधु को निमित्त रखकर यदि भोजन तैयार कराया जाय और उसका पता उस साधु को लग जाय, और फिर उस आहार को वह साधु ग्रहण कर ले तो उस भोजन के बनने मे आरम्भादिजन्य जो हिंसा हुई थी, उसका वह भागी अवश्य होगा । क्योंकि साधु की उसमें अनुमोदना हो गई । न मालूम हो और वह उस आहार को ले ले तो उसमें वह पाप का भागी नहीं है । २. क्रीतकृत—साधु स्वयं कहीं से भी कोई चीज़ खरीदे नहीं, खरीदवावे नहीं, और साधु के निमित्त बाज़ार से खरीदी हुई मिठाई आदि यदि कोई आहार में दे तो उसे भी न ले । ३. नियोगिक—कोई गृहस्थ यदि किसी साधु को न्यौता दे दे कि 'आप मेरे गृह से नित्य आहार ले जाया कीजिये ।' तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा करने से साधु के चित्त में अन्य लोगों के प्रति जिनके यहाँ से उसे निमन्त्रण नही मिला है, घृणा का भाव पैदा हो सकता है । उनकी निन्दा करने का भी विचार साधु के चित्त में आ सकता है । और राग और द्वेष का अविनाभावी सम्बन्ध भी है । अर्थात् जब एक के प्रति द्वेष हो गया तो दूसरे के प्रति राग हो जाना स्वाभाविक है । इसलिये निमन्त्रण देने वाले लोगों से उसका राग-भाव भी हो सकता है और उनकी प्रशंसा करने का भी उसका विचार हो सकता है । 'नियोगिक' का एक अर्थ यह भी है कि जो आहार ब्राह्मण आदि किसी के लिये अलग निकालकर रख दिया हो तो उसे भी साधु ग्रहण न करे । क्योंकि वह दूसरे के हिस्से की चीज़ हो गई । ४. अभ्याहृत—यदि कोई किसी दूसरे के घर से वा किसी दूसरे ग्राम से आहार को लाकर साधु को दे तो उसे भी साधु ग्रहण न करे । 'अभ्याहृत' के लिये गाथा में जो 'अभिहडाणि' बहुवचन-पद दिया है, वह गाँव, नगर, पत्तन, देश, प्रान्त आदि अनेक भेदों को प्रदर्शन करने के लिये दिया है । ५. रात्रिभोजन—इसमें जो दोष-बाहुल्य है, वह तो संसार भर में प्रसिद्ध है । इसमें इतनी दोष-बहुलता है कि वह श्रावकों तक को निषिद्ध है, तो फिर साधुओं का कहना ही क्या ? वह तो एकदम सर्वथा त्याज्य है । जैनेतर शास्त्रों तक में उसका पर्याप्त निषेध है । यहाँ तक लिखा है कि—'रात्रि के समय भोजन

गोमांस के बराबर और जल रुधिर के बराबर है।' ६. स्नान—शुचिमात्र को छोड़कर और सब प्रकार के स्नान—देश-स्नान व सर्व-स्नान त्याज्य हैं। स्नान शरीरालंकार है और काम-राग का वर्धक है। साधु के लिये राग-वर्धक पदार्थ व क्रियाएँ सब हेय हैं। ७. गन्ध—इत्र—फुलेलादि का लगाना भी साधु के लिये अयोग्य है। ये भी राग-वर्धक हैं। ८. माला—सचित्त और राग-वर्धक होने के कारण पुष्प व माला भी वर्ज्य हैं। ९. बीजना—पंखा आदि से हवा करने में वायुकायिक जीवों का विघात होता है, अतः वे भी साधु के लिये त्याज्य हैं।

उत्थानिका—उसी विषय में फिर भी कहते हैं:—

संनिही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए।
संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥३॥

सन्निधिः गृह्यमत्रं च, राजपिण्डः किमिच्छकः।
सम्बाधनं दन्तप्रधावनं च, सम्प्रश्नः देहप्रलोकनं च ॥३॥

पदार्थान्वयः—**संनिही**—वस्तुओं का संचय करना **य**—और **गिहिमत्ते**—गृहस्थी के पात्र में भोजन करना **रायपिंडे**—राज-पिंड का ग्रहण करना **किमिच्छए**—दान देने वाली शाला से दान लेना **संवाहणा**—संबाधन—मर्दन करना **य**—और **दंतपहोयणा**—दन्त-प्रधावन करना, तथा **संपुच्छणा**—गृहस्थ से सावद्यादि प्रश्न तथा मैं कैसा लगता हूँ इत्यादि पूछना **य**—और **देहपलोयणा**—आदर्शादि में अपने देह का अवलोकन करना।

मूलार्थ—१० घृत-गुड़ादि का संचय करना, ११ गृहस्थी के पात्र में भोजन करना, १२ राजा का आहार लेना, १३ दानशाला से दान लेना, १४ मर्दन करना-कराना, १५ दाँत माँजना, १६ गृहस्थ से क्षेम-कुशल पूछना, १७ अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को आदर्शादि में देखना, ये सब साधु के लिये अनाचरित हैं।

टीका—१०. संनिधि—घृत-गुडादि का संग्रह रखना, मुनि की अतिगृद्धा और परिग्रह के प्रति ममत्व का सूचक है। ११. गृहिपात्र—गृहस्थी के यहाँ पात्र

प्रायः धातु के होते हैं। मुनि को धातुमात्र का ग्रहण वर्जित है। १२. राजपिण्ड—अनेक राजा अव्रती भी होते हैं। उनके यहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विवेक प्रायः नहीं होता। दूसरे, राजाओं के यहाँ प्रायः वलयुक्त भोजन वना करता है। मुनि संयम-मार्ग के पथिक हैं। अतः उन्हे ऐसा आहार लेना उनके पथभ्रष्ट होने का कारण है। १३. किमिच्छक—जिन शालाओं में, तुम कौन हो? क्या चाहते हो?' इत्यादि प्रश्न पूछे जाते हैं, वे किमिच्छक दानशालाएँ कहलाती हैं। ऐसी शालाओं से कोई भी चीज़ मुनि को नहीं लेना चाहिये। क्योंकि एक तो 'वह उनके निमित्त तैयार की गई' मानी जाती है। दूसरे, मुनि को दान लेते समय जिन २ दोषों के टालने की शास्त्र में आज्ञा है, उनके टलने की वहाँ संभावना नहीं है। १४. संवाधन—शरीर का दावना या दववाना, ये दोनों ही काम, काम-रागवर्धक हैं। १५. दन्तप्रधावन—दाँत माँजना या दन्तमञ्जन लगाना, यह मुनि की सौन्दर्य-भावना का द्योतक है। १६. संप्रश्न—गृहस्थी गृहस्थी से जैसे कुशल-क्षेम के प्रश्न पूछा करते हैं, वैसे साधु को नहीं पूछने चाहियें। क्योंकि उत्तर में गृहस्थी से जो कुछ कहा जायगा, उसमे सत्यासत्य के सूक्ष्म विवेचन के अनुसार कुछ-न-कुछ असत्यांश भी हुए विना न रहेगा। इस तरह मुनि का वाक्य असत्योत्तेजक हो जाता है। मुनि के असत्य का त्याग कृत-कारित-अनुमोदना से अर्थात् महाव्रतरूप से होता है, अणुव्रतरूप से नहीं। दूसरे, उनका पूछना निरर्थक भी है। क्योंकि जो कुछ तक़लीफ़ या आराम गृहस्थ को प्राप्त है, वह मुनि के पूछने से कुछ वदल नहीं सकता। और न वे दुःख-निवारण का कुछ उपाय ही वतला सकते हैं। क्योंकि जो वे बाह्य उपाय वतलायेंगे, वह सव सावद्य-जन्य होगा। रहा धर्मोपदेश, सो इसे तो वे देते ही हैं। १७. देह-प्रलोकन—शरीर-सौन्दर्य का अभिलाषी ही प्रायः शरीर को दर्पण में देखेगा। मुनि शरीर-सौन्दर्य के त्यागी होते हैं। वे तो आत्म-निर्मलता के योगी होते हैं।

उत्थानिका—उसी विषय में और भी कहते हैं:—

अट्ठावए य नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए।
तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥४॥

अष्टापदं च नालिका, छत्रस्य च धारणमनर्थाय ।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः, समारम्भश्च ज्योतिषः ॥४॥

पदार्थान्वयः—अट्ठावए-जुआ खेलना य-पुनः नालीए-नालिका से जुआ खेलना य-तथा छत्तस्स-छत्र का धारणट्ठाए-धारण करना अनर्थ के लिये है तेगिच्छं-चिकित्सा करना पाए-पैरों मे पाहणा-जूता आदि पहिरना च-और जोइणो-अग्नि का समारंभं-समारम्भ करना ।

मूलार्थ—१८ जुआ खेलना, १९ नालिका से जुआ खेलना, २० सिर पर छत्र धारण करना, २१ व्याधि आदि की चिकित्सा करना, २२ पैरों में जूता आदि पहिरना, और २३ अग्नि का समारम्भ करना, ये सब साधु के लिये अनाचरित हैं ।

टीका—१८. १९.—प्राकृत भाषा के 'अट्ठावए' शब्द के दो अर्थ हैं । एक जुआ खेलना और दूसरा धन के लिये निमित्तज्ञानादि का सीखना । यहाँ ये दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं—दोनों ही साधु के लिये अनाचीर्ण हैं । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'अट्ठावए' शब्द का अर्थ भी जुआ खेलना है और 'नालीए' शब्द का भी वही अर्थ है, तो गाथा में एकार्थक दो शब्द क्यों दिये ? इसका समाधान यह है कि 'अट्ठावए' सामान्य जुए का बोधक है और 'नालीए' पाशों के द्वारा जुआ खेलने तथा ताश-शतरंज आदि का बोधक है । इस तरह 'अट्ठावए' सामान्य-द्यूत-बोधक और 'नालीए' विशेष-द्यूत-बोधक है । २०. छत्रधारण—छाता साधु न स्वयं के लगावे और न दूसरे के । यह कार्य साधु-वृत्ति के लिये अयोग्य है । यहाँ एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि ये सब अनाचीर्ण यहाँ उत्सर्ग मार्ग से बतलाये गये हैं । अपवाद मार्ग से वृद्ध व ग्लान साधु को छत्र लगाने के लिये आज्ञा है । प्राकृत-भाषा के नियमानुसार 'धारणाए' में अनुस्वार, नकार और अकार का लोप मानकर उसकी छाया 'धारणानर्थाय' भी की जा सकती है । वृद्धपरम्परा से ऐसा सुनते चले आते हैं । २१. चैकित्स्य—मुनि दो तरह के होते हैं । एक स्थविर-कल्पी और दूसरे जिन-कल्पी । उनमें से स्थविर-कल्पी के लिये सिर्फ सावद्य औषधि का निषेध है । जिन-कल्पी के लिये क्या सावद्य और क्या निरवद्य सभी

प्रकार की औषधियों का निषेध है। लेकिन बलकारक औषधियों का निषेध स्थविर-कल्पी मुनि के लिये भी है। २२, २३—जूतों का पहिरना और अग्नि का जलाना—सावद्य कर्म होने के कारण मुनि के लिये ये कर्म सर्वथा निषिद्ध हैं।

उत्थानिका—फिर भी पूर्वोक्त विषय में ही कहते हैं:—

सिज्जायरपिंडं च, आसंदीपलियंकए।
गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥५॥

शय्यातरपिण्डश्च, आसन्दीपर्यङ्कौ।
गृहान्तरनिषद्या च, गात्रस्योद्वर्त्तनानि च ॥५॥

पदार्थान्वयः—**सिज्जायरपिंडं**-शय्यातर के घर से आहार लेना **च**-और **आसंदीपलियंकए**-आसंदी और पर्यंक पर बैठना **य**-तथा **गिहंतरनिसिज्जा**-गृहस्थ के घर जाकर बैठना **य**-च शब्द से पीठकादि पर बैठना **गायस्सुव्वट्टणाणि**-शरीर का मल दूर करने के लिये उबटना आदि करना (**य**-च शब्द से यहाँ देह के अन्य संस्कारों का भी ग्रहण करना चाहिये)।

मूलार्थ—२४ शय्यातर के घर से आहार लेना, २५ आसंदी पर बैठना, २६ पर्यंक पर बैठना, २७ गृहस्थ के घर जाकर बैठना, और २८ गात्र की उद्वर्त्तन-क्रियाएँ करना आदि, ये सब साधु के लिये अनाचरित हैं।

टीका—२४. शय्यातरपिण्ड—'शय्या—वसतिः, तया तरति संसारमिति शय्यातरः।' अर्थात् साधु को ठहरने के लिये स्थान देकर जो गृहस्थ संसार से पार उतरने का साधन करता है, उसका नाम शय्यातर है। उसके घर से उस साधु को आहार लेना निषिद्ध है। उस गृहस्थ के चित्त से साधु के प्रति श्रद्धा, भक्ति आदि का व्यवच्छेद न हो जाय, इसलिये श्रीतीर्थंकर भगवान् ने ऐसी आज्ञा दी है। २५, २६. आसन्दकपर्यङ्कनिषद्या—पीढ़ी और खाट आदि पर बैठना। इन जगहों पर बैठने से अप्रमार्जितादि अनेक दोष साधु को लगते हैं। २७. गृहान्तरनिषद्या—घरों में जाकर बैठना अथवा घरों के बीच में जाकर बैठना। ऐसा करना साधु को अनेक लाञ्छन लगने का कारण है। इसलिये यह अनाचीर्ण है। २८. गात्रोद्वर्तन—

शरीर के मल को हटाने के लिये जो उवटना आदि किया जाता है, वह कामरागोत्तेजक है। इसलिये साधु के लिये यह अनाचरित है।

उत्थानिका—अब फिर पूर्वोक्त विषय में ही कहते हैं:—

गिहिणो वेयावडियं, जा य आजीववत्तिया।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं , आउरस्सरणाणि य ॥६॥

गृहिणो वैयावृत्यम्, या च आजीववृत्तिता।
तप्तानिर्वृतभोजित्वम् , आतुरस्मरणानि च ॥६॥

पदार्थान्वयः—**गिहिणो**–गृहस्थ की **वेयावडियं**–वैयावृत्त्य करना **य**–और **जा**–जो **आजीववत्तिया**–अपनी जाति आदि बतलाकर आहारादि लेना **तत्तानिव्वुडभोइत्तं**–मिश्रित जलादि का पान करना अर्थात् जो सर्व प्रकार से प्रासुक नहीं हुए ऐसे पदार्थों का भोजन करना **य**–तथा **आउरस्सरणाणि**–क्षुधादि पीड़ाओं से पीड़ित होकर पूर्वोपभुक्त पदार्थों का स्मरण करना।

मूलार्थ—२९ गृहस्थ की वैयावृत्य करना, ३० जाति-कुल-गणादि बतलाकर अपनी आजीविका करना, ३१ जो पदार्थ सब प्रकार से प्रासुक नहीं हुए उनका भोजन करना, ३२ भूख आदि से पीड़ित होकर फिर पूर्वभुक्त पदार्थों का स्मरण करना, ये सब साधु के लिये अनाचरित हैं।

टीका—२९. गृहि-वैयावृत्य—साधु पूर्णरूप से निश्चय रत्नत्रय के आराधक, महाव्रत के पालक, साक्षात् मोक्ष-मार्ग के पथिक और अहर्निश धर्मध्यानी आत्मावलोकी होते हैं। उन्हें सांसारिक कर्मों के करने की बिल्कुल फुरसत नहीं है। रुचि भी नहीं है। क्योंकि वे उसको त्याग चुके हैं। भगवान् की आज्ञा भी नहीं है। दूसरा कोई साधु यदि बीमारी आदि से पीड़ित हो जाय तो दूसरे साधु को उसकी वैयावृत्य करनी चाहिये। क्योंकि वह स्वस्थ होकर पुनः साक्षात् मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त होगा। गृहस्थ स्वस्थ होकर भी संसार के ही काम में फँसेगा। इसलिये मुनि को गृहस्थ की वैयावृत्य नहीं करनी चाहिये। जैसे कि गृहस्थ को दूसरे के यहाँ से आहार आदि लाकर देना। ऐसा करने से समाचारी का विरोध

होता है। और समाचारी का विरोध होने से असंयमरूप प्रवृत्ति होती है। ३०. आजीववृत्तिता—अपनी जाति, कुल, गण, शैल्पादि दिखलाकर आजीविका करना मुनि के लिये निषिद्ध है। ऐसा करने से उसका जीवन संयम-जीवन–धर्म-जीवन न रहकर गृहस्थ-जीवन बन जाता है। ३१. तप्तानिर्वृतभोजित्व—सचित्त-अचित्त मिश्रित आहार-पानी का ग्रहण करना; तथा अन्य वस्तुएँ भी, जब तक कि वे पूर्णरूप से प्राशुक नहीं हुई हैं, ग्रहण करना, मुनि के लिये निषिद्ध हैं। क्योंकि वे सचित्त के त्यागी हैं। ३२. आतुरस्मरण—क्षुधादि से पीड़ित हो जाने पर पूर्व में भोगे हुए भोज्य पदार्थों का स्मरण करना। ऐसा करने से शान्त-स्वभावी मुनि के चित्त में खेद ही पैदा होगा। इसलिये यह भी साधु के लिये अनाचरित है। 'आतुरस्मरण' शब्द का दूसरा अर्थ, दोषाश्रित पुरुष को आश्रय देना भी किया जाता है।

उत्थानिका—आगे और भी अनाचरितों का वर्णन करते हैं:—

मूलए सिंगबेरे य, उच्छुखंडे अनिव्वुडे।
कंदे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥७॥

मूलकः शृङ्गबेरं च, इक्षुखण्डमनिर्वृतम्।
कन्दो मूलं च सचित्तम्, फलं बीजश्चामकम् ॥७॥

पदार्थान्वयः—अनिव्वुडे–बिना पका हुआ—सचित्त मूलए–मूलक य–और सिंगबेरे–आर्द्रक उच्छुखंडे–इक्षुखण्ड—गणेलियाँ य–और सच्चित्ते–सचित्त कंदे–वज्र-कन्दादि मूले य–और मूलसट्टादि, तथा आमए–सचित्त फले–फल बीए–बीज।

मूलार्थ—३३ जो जीवों से निवृत्त नहीं हुए ऐसे मूलक, ३४ आर्द्रक, ३५ इक्षुखण्ड, ३६ कन्द, ३७ मूल, और ३८ सचित्त फल, तथा ३९ कच्चे बीज, ये सब अनाचरित हैं।

टीका—३३, ३९. सचित्त मूलक, आर्द्रक, इक्षुखण्ड, वज्रकन्द, मूलसट्ट, फल और बीज, इन सचित्त[1] पदार्थों के सेवन से मुनि का अहिंसा-महाव्रत सुरक्षित

१ चित्तेन सहेति सचित्त.—सजीवः।

नहीं रह सकता। मुनि उसी पदार्थ को ग्रहण करे जिसे वह निश्चितरूप से अचित्त समझता हो। जिसमें सचित्त का थोड़ा संदेह भी हो जाय तो उसे वह ग्रहण न करे।

उत्थानिका—मुनि के अनाचीर्णों का और भी वर्णन करते हैं:—

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए ॥८॥
सौवर्चलं सैन्धवं लवणम्, रुमालवणश्चामकम्।
सामुद्रं पांशुक्षारश्च, कृष्णलवणश्चामकम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—आमए–सचित्त **सोवच्चले**–सौवर्चल **सिंधवे लोणे**–सैन्धव लवण **रोमालोणे**–रोमक-क्षार **य**–और **आमए**–सचित्त **सामुद्दे**–सामुद्रिक लवण **य**–तथा **पंसुखारे**–पांशु-क्षार जाति का लवण **य**–पुनः **कालालोणे**–कृष्ण लवण।

मूलार्थ—४० सचित्त सौवर्चल, ४१ सैन्धव लवण, ४२ रोमक-क्षार, ४३ सामुद्रिक लवण, ४४ ऊषर लवण, और ४५ काला लवण, इनका सेवन करना मुनि के लिये अनाचीर्ण है।

टीका—४०, ४५. सौवर्चल, सैन्धव, रोमक-क्षार, सामुद्रिक-क्षार, औषर-क्षार और कृष्ण लवण—ये सब नमक की जातियाँ हैं। सचित्त दशा में इनका सेवन करना, अहिंसा महाव्रत का विघातक है। ये सब पृथ्वीकाय हैं।

यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि गाथा में 'सौवच्चलं'—'सौवर्चल' और 'कालालोणे'—'कृष्ण लवण' ये दोनों ही शब्द दिये हैं। 'कृष्ण लवण' का तो 'काला नमक' अर्थ स्पष्ट ही है। लेकिन 'सौवर्चल' शब्द का भी 'काला नमक' ही अर्थ होता है। इस तरह वैद्यक मतानुसार दोनों ही शब्दों का एक 'काला नमक' ही अर्थ होता है। यथा—'सौवर्चलं स्याद्रुचकं, मन्थपाकं च तन्मतम्' अर्थात् सौवर्चल, रुचक और मन्थपाक, ये तीनों ही काले नमक के वाचक हैं।—भावप्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग।

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वैद्यकमतानुसार 'सौवर्चल' शब्द का अर्थ काला नमक ही होता है। लेकिन संस्कृत-भाषा में एक २ शब्द के कई २ अर्थ

होते हैं । तदनुसार 'सौवर्चल' शब्द का अर्थ 'सज्जी' भी होता है । यथा— 'पाक्योऽथ स्वर्जिकाक्षारः, कापोतः सुखवर्चकः । सौवर्चलं स्याद्रुचकं, त्वक्क्षीरी वंशरोचना ।'—अमरकोष । 'स्वर्जिकाक्षारः, कापोतः सुखवर्चकः, सौवर्चलम् रुचकमिति पञ्चक्षारभेदस्य—'साजीक्षार' इतिख्यातस्य' अर्थात् स्वर्जिकाक्षार, कापोत, सुखवर्चक, सौवर्चल और रुचक, ये पाँच नाम क्षार-भेद के जो कि 'साजी'— 'सज्जी' के नाम से प्रसिद्ध है, उसके हैं । इति तत्सुधाख्या व्याख्या । अन्यच्च— 'अथ सौवर्चलं सर्जक्षारे च लवणान्तरे' अर्थात् 'सौवर्चल' शब्द सज्जी और लवणभेद में है ।—मेदिनीकोष । यहाँ पर यह बात ध्यान में रखने की है कि आजकल बाजार में जो काला नमक बिकता है, उसका निषेध नहीं है । वह तो कृत्रिम है— निर्मित है—बनाया हुआ है । अत एव अचित्त है । मुनि उसे ग्रहण करते हैं । अकृत्रिम काला नमक दूसरा होता है । वह स्वभावतः—प्राकृतिक—ही काला होता है । उसका यहाँ सचित्त होने की वजह से निषेध है । अचित्त हो जाने पर उसे भी मुनि ग्रहण कर सकते हैं ।

तथा च :—

धूवणे त्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य, गायब्भंगविभूसणे ॥९॥
धूपनमिति वमनं च, वस्तिकर्म विरेचनम् ।
अञ्जनं दन्तकाष्ठं च, गात्राभ्यङ्गविभूषणे ॥९॥

पदार्थान्वयः—धूवणे त्ति—वस्त्रादि को धूप देना य—पुनः वमणे—वमन करना वत्थीकम्म—अधोमार्ग से स्नेह-गुटकादि द्वारा मल उतारना विरेयणे—जुलाब लेना अंजणे—आँखों मे अञ्जन डालना य—फिर दंतवणे—दाँतुन करना गायब्भंग—शरीर को तैलादि लगाना, और विभूसणे—शरीर को विभूषित करना ।

मूलार्थ—४६ वस्त्रादि को धूप देना, ४७ वमन करना, ४८ वस्तिकर्म करना, ४९ विरेचन लेना, ५० आँखों में अंजन डालना, ५१ दाँतुन करना, ५२ गात्राभ्यङ्ग करना, और ५३ शरीर को विभूषित करना, ये सब मुनि के लिये अनाचीर्ण हैं ।

टीका—४६. धूपन—अपने शरीर को तथा वस्त्रादि को किसी प्रकार के धूप के द्वारा सुगन्धित करना। तथा कोई २ इस पद का यह भी अर्थ करते हैं कि अनागत कालीन व्याधि की निवृत्ति के लिये धूम्रपान—हुक्का का पीना—आदि। आरम्भजन्य हिंसा के दोष से बचने के लिये मुनि ऐसे काम न करे। वह शरीर से ममत्व छोड़ चुका है। इसलिये भी मुनि के लिये ये कार्य अकर्तव्य हैं। ४७. वमन—शरीर को बलयुक्त बनाने के लिये वैद्यकमतानुसार किसी २ औषधि के सेवन के पहले वमन कराने की आवश्यकता होती है। मुनि ब्रह्मचर्य महाव्रत के प्रताप से स्वतः ही अतुलबलशाली होते हैं। उन्हें बाह्य पौष्टिक उपचार की कतई ज़रूरत नहीं है। ४८. वस्तिकर्म—'पुटकेनाधःस्थाने स्नेहदानम्' अर्थात् अधोमार्ग से पिचकारी आदि द्वारा मल निकालना। हठ-योगी ऐसा भी अभ्यास प्रायः किया करते हैं कि शरीर से नसा-जाल को बाहर निकाल लेना आदि। जिसे कि न्योली-कर्म कहते हैं। यह सब जैन साधु के लिये अनाचीर्ण है। ४९, ५३. विरेचन, अञ्जन, दन्तकाष्ठ, गात्राभ्यङ्ग और विभूषण, आरम्भ-जन्य हिंसा और सौन्दर्य-लालसा के त्यागी होने से साधु के लिये ये सब अनाचरित हैं।

इन सब कामों को अनाचार के अन्दर गिनते हुए पाठकों को यह बात भूल न जानी चाहिये कि वर्णन सर्वत्र उत्सर्ग-मार्ग का ही किया जाता है, अपवाद-मार्ग का नहीं। लेकिन उसमें अपवाद-मार्ग का निषेध नहीं होता। इसलिये किसी मुनि को आँखों में जब कोई व्यथा उत्पन्न हो जाय तो वह उस समय रसाञ्जन ग्रहण कर सकता है। क्योंकि वह अञ्जन का त्यागी सौन्दर्य की दृष्टि से है, न कि सर्वथा। इस प्रकार से कारण उपस्थित हो जाने पर वह विरेचन आदि ले सकता है। क्योंकि, नशीथ-सूत्र के १३ वे उद्देशक में पाठ आता है कि—'जे भिक्खू आरोगिय पडिकम्मं करेइ करंतं वा साइज्जइ' अर्थात् जो साधु रोग-रहित दशा में औषधि लेता है उसे प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार के अपवाद मार्ग के अन्य भी कार्य स्वयं कल्पित किये जा सकते हैं।

उत्थानिका—सूत्रकार अब साधु के अनाचीर्णों का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि:—

सव्वमेयमणाइण्णं , निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमंमि अ जुत्ताणं, लहुभूयविहारिणं ॥१०॥

सर्वमेतदनाचीर्णम् , निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ।
संयमे च युक्तानाम्, लघुभूतविहारिणाम् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—संजमंमि–संयम मे अ–चकार शब्द से तप में जुत्ताणं–युक्तों के लहुभूयविहारिणं–लघुभूत होकर विहार करने वाले निग्गंथाण–निर्ग्रन्थ महेसिणं–महर्षियों के एय–ये सव्वं–सब अणाइण्णं–अनाचीर्ण हैं।

मूलार्थ—संयम और तप में युक्त तथा वायुवत् लघुभूत होकर विचरने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियों के ये सब अनाचीर्ण हैं—आचरने योग्य कृत्य नहीं हैं।

टीका—जो वायु की भाँति अप्रतिबद्ध-गति है, द्रव्य और भाव से सदैव लघुभूत हैं, और संयम तथा तप मे तल्लीन हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिये उपरोक्त औद्देशिकादि क्रियाएँ आचरण करने योग्य नहीं हैं[1]।

गाथा मे 'निर्ग्रन्थ' के बाद 'महर्षि' शब्द के रखने का तात्पर्य यह है कि जो वास्तव में निर्ग्रन्थ होगा, वही 'महर्षि' हो सकता है, अन्य नहीं।

उत्थानिका—इस प्रकार मुनि के अनाचीर्णों का वर्णन करके सूत्रकार अब वास्तविक साधुओं का स्वरूप प्रतिपादन करना चाहते हैं। उनमे से सब से प्रथम 'निर्ग्रन्थ' का स्वरूप कहते हैं:—

पंचासवपरिण्णाया , तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥११॥

पञ्चास्रवपरिज्ञाताः , त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः ।
पञ्चनिग्रहणा धीराः, निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः ॥११॥

१ यद्यपि उपरोक्त अनाचीर्णों में से अनेक ऐसे हैं कि जिन्हें सर्व-साधारण गृहस्थ विना किसी दोषापत्ति समझे पालते हैं। लेकिन मुनियो के लिये ये ही अनाचीर्ण हो जाते हैं। इसका कारण यही है कि मुनि का चरित्र बहुत उच्च एवं उज्ज्वल होता है। उनके लिये थोड़ा सा भी दोष अनाचीर्ण हो जाता है। बिलकुल सफेद चद्दर पर थोड़ा सा भी मैल, मैल मालूम देता है। और जो कपड़ा बहुत मैला हो रहा है, उस पर भले ही उससे अधिक मैल चढ़ जाय, लेकिन वह मैला नहीं मालूम देता।

पदार्थान्वयः—**पंचासव**–पाँच आस्रवों के **परिण्णाया**–जानने वाले **तिगुत्ता**–तीन गुप्तियों के धारक **छसु संजया**–षट्काय के जीवों की रक्षा करने वाले **पंचनिग्गहणा**–पाँच इन्द्रियों के निग्रह करने वाले **धीरा**–निर्भय—सात भयों से रहित **उज्जुदंसिणो**–मोक्ष वा संयम देखने वाले **निग्गंथा**–निर्ग्रन्थ होते हैं ।

मूलार्थ—जो पाँचों आस्रवों के त्यागने वाले, त्रिगुप्त, षट्काय के जीवों की रक्षा करने वाले, पाँच इन्द्रियों के निग्रह करने वाले, निर्भय एवं मोक्ष तथा मोक्ष के कारणभूत संयम के देखने वाले हैं, वे निर्ग्रन्थ होते हैं ।

टीका—पञ्चास्रवपरिज्ञाता—कर्मो के आगमन-द्वार को 'आस्रव' कहते हैं । जब आत्मा पाप कर्मो को करने लगती है, तभी उसको अशुभ कर्मास्रव होता है । पाप पाँच हैं—१ हिंसा, २ झूठ, ३ चोरी, ४ कुशील, और ५ परिग्रह । जो आत्मा इनको छोड़ देगी, उसी को, इनके निमित्त से होने वाला आस्रव नहीं होगा । इन्हें छोड़ेगी वही, जो इनके असली स्वरूप से परिचित हो जायगी । इनका असली स्वरूप शास्त्रकारों ने 'दुःख के कारण और दुःख-स्वरूप' बतलाया है ।

यहाँ पर शङ्का यह होती है कि अशुभ आस्रव तो उन जीवों को नहीं होगा जो उक्त पाँचों पापों को करेंगे नहीं । 'नहीं करने का' वाचक शब्द गाथा में नहीं है । गाथा में तो 'परिज्ञाता' शब्द है, जिसका कि अर्थ जानने वाला होता है । और यही अर्थ ऊपर किया भी गया है ? इसका उत्तर यह है कि परिज्ञा—जानकारी—दो तरह की होती है । एक ज्ञ-परिज्ञा, और दूसरी प्रत्याख्यान-परिज्ञा । प्रत्याख्यान-परिज्ञा का अर्थ है, उनका अशुभ स्वरूप जानकर उनको सर्वथा त्याग देना । यहाँ पर यही प्रत्याख्यान-परिज्ञा ग्रहण करनी चाहिये ।

त्रिगु—१ मनोगुप्ति, २ वाग्गुप्ति, और ३ कायगुप्ति, ये तीन गुप्तियाँ हैं, इनको पालना । षट्संयत—१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेजस्काय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय, और ६ त्रसकाय, इनका संयम पालना । पञ्चनिग्राहक—१ स्पर्शन, २ रसन, ३ घ्राण, ४ चक्षु और ५ श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ हैं, इनके निग्रह करने में समर्थ । धीर—परीषहोपसर्ग सहने में स्थिर-चित्त । ऋजुदर्शी—जीव जब एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, तब उसकी 'विग्रहगति' होती है । 'विग्रहगति' में 'विग्रह' शब्द का अर्थ 'मोड़ा लेना'

किया गया है। इसलिये सारांश यह निकला कि संसार की जितनी गतियाँ हैं, वे सब मोड़े वाली हैं। मोक्ष की गति सीधी होती है। संसार को छोड़कर जीव जब मोक्ष को जाता है, तब उसको मार्ग में मोड़ा नहीं लेना पड़ता। इसलिये मोक्ष का नाम ऋजु-गति है। दूसरे—वास्तव में देखा जाय तो असंयम का मार्ग टेढ़ा और कण्टकाकीर्ण है, और संयम का मार्ग सीधा तथा निरापद है। संसारी जीवों को अनादिकाल की आदत की वजह से असंयम-मार्ग ही रुचिकर होता है, यह दूसरी बात है। लेकिन संयम का मार्ग है सीधा। इसमें परिणामों की वक्रता या कुटिलता की आवश्यकता नहीं है। इसलिये 'ऋजुदर्शी' शब्द के दो अर्थ हैं—एक संयम को देखने वाले, दूसरा, मोक्ष को देखने वाले। दोनों ही अर्थ यहाँ पर ग्राह्य हैं। इन उपरोक्त विशेषणों का निर्ग्रन्थ के साथ अविनाभाव संबन्ध है। अर्थात् इतने विशेषण जिसमें हों, वही व्यक्ति निर्ग्रन्थ है, अन्य नहीं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषय का वर्णन करते हैं कि वे ऋजुदर्शी आत्माएँ काल को अधिकृत्य करके यथाशक्ति ये भी क्रियाएँ करती हैं। जैसे कि:—

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥१२॥

आतापयन्ति ग्रीष्मेषु, हेमन्तेष्वप्रावृताः।
वर्षासु प्रतिसंलीनाः, संयताः सुसमाहिताः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—संजया-संयमी साधु गिम्हेसु-ग्रीष्म-काल में आयावयंति-सूर्य की आतापना लेते हैं हेमंतेसु-शीत-काल में अवाउडा-अप्रावृत हो जाते हैं वासासु-वर्षा-काल में पडिसंलीणा-एक स्थान में इन्द्रिय वश करके बैठते हैं सुसमाहिया-ज्ञानादि में सदा तत्पर रहते हैं।

मूलार्थ—कभी साधु ग्रीष्म-काल में आतापना लेते हैं, शीत-काल में शीतापहारक वस्त्र नहीं ग्रहण करते, वर्षा-काल में एक स्थान पर इन्द्रिय वश करके बैठते हैं और ज्ञान-ध्यान में सदा तत्पर रहते हैं।

टीका—एक साल में तीन प्रधान ऋतुएँ और उनकी तीन उपऋतुएँ होती हैं। यहाँ पर तीन प्रधान ऋतुओं की अपेक्षा से वर्णन है। अर्थात् साधु के लिये

तीनों ऋतुओं के पृथक्-पृथक् कृत्य वर्णन किये गये हैं। गाथा में जो सब शब्द बहु-वचनान्त दिये गये हैं, उसका तात्पर्य यह है कि प्रतिवर्ष ऐसा करना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषय में कहते हैं कि उक्त क्रियाएँ साधु किस लिये करते हैं:—

परीसहरिऊदंता , धूअमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा , पक्कमंति महेसिणो ॥१३॥

परीषहरिपुदान्ताः , धुतमोहा जितेन्द्रियाः ।
सर्वदुःखप्रहाणार्थम् , प्रक्राम्यन्ति महर्षयः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—**परीसह**—परीषहरूपी **रिऊ**—वैरी को **दंता**—दमन करने वाले **धूअमोहा**—मोह-कर्म को दूर करने वाले **जिइंदिया**—इन्द्रियों को जीतने वाले **महेसिणो**—महर्षि **सव्वदुक्ख**—सर्व दुःखों के **पहीणट्ठा**—नाश करने के लिये **पक्कमंति**—पराक्रम करते हैं।

मूलार्थ—परीषहरूपी वैरियों के जीतने वाले, मोह को दूर करने वाले, तथा इन्द्रियों के जीतने वाले महर्षि सर्व प्रकार के दुःखों के नाश करने के लिये पराक्रम करते हैं।

टीका—इन सब क्रियाओं को महर्षि एक निर्वाण-पद की प्राप्ति के लिये ही करते हैं। जिसमें कि शारीरिक और मानसिक एक भी प्रकार का दुःख नहीं है। परीषह को जो वैरी की उपमा दी गई है, वह इसलिये कि शत्रु जिस तरह अपने इष्ट कार्य में विघ्न डालने वाले और दुःख देने वाले होते हैं, उसी प्रकार ये परीषह भी महर्षि के निर्वाण-पद की प्राप्ति में विघ्नरूप हैं तथा आत्मा को दुःख देने वाले होते हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकर्ता परीषहों के सहन करने का फल वर्णन करते हुए कहते हैं:—

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहित्तु य ।
केइ त्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥१४॥

दुष्कराणि कृत्वा, दुःसहानि सहित्वा च।
केचिदत्र देवलोकेषु, केचित् सिध्यन्ति नीरजस्काः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—दुक्कराइं–दुष्कर क्रियाओं को करित्ताणं–करके य–फिर दुस्सहाइं–असहनीय क्रियाओं को सहित्तु–सह करके केइ–कितनेक त्थ–यहाँ से देवलोएसु–देवलोकों में जाते हैं केइ–कितनेक नीरया–कर्मरज से रहित होकर सिज्झंति–सिद्ध हो जाते हैं।

मूलार्थ—दुष्कर क्रियाओं को करके और दुःसह कष्टों को सहकर कई एक यहाँ से मरकर देवलोकों में उत्पन्न होते हैं और कितनेक कर्मरज से सर्वथा विमुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं।

टीका—दुष्कर क्रियाएँ—जैसे औद्देशिक आहार-त्याग आदि। दुस्सह क्रियाएँ—जैसे आतापनादि योग। इन क्रियाओं को पालन करते हुए जो अपनी आत्मा को प्रसन्न करते हैं, वे साधु यहाँ से शरीर छोड़कर स्वर्ग जाते हैं। और कितने ही मोक्ष को भी जाते हैं। मोक्ष को वही जाते हैं, जिनके कर्मरज बिल्कुल नष्ट हो गये हैं। उक्त दुष्कर क्रियाओं के द्वारा जिन्होंने स्वर्ग पाया है, वे भी स्वर्ग की आयु को पूर्णकर फिर मनुष्य-भव धारणकर कर्मों का नाशकर मोक्ष को जायँगे। लेकिन ये फल साधु को तभी प्राप्त होंगे, जब उनकी उपरोक्त क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होंगी। अज्ञानपूर्वक किये गये दुष्कर कर्म और सहे गये दुस्सह परीषह, सातावेदनीय कर्म के बाँधने वाले भले ही हो जायँ; मोक्षदायक नहीं हो सकते। गाथा में 'सिज्झंति' जो वर्तमानकाल की क्रिया दी है, वह त्रिकालवर्ती भाव को द्योतित करती है अर्थात् ऐसा हमेशा होता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार इसी विषय में कहते हुए इस अध्ययन का उपसंहार करते हैं—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिणिव्वुडा ॥१५॥

त्ति बेमि।

तइयं खुड्डयायारकहा अज्झयणं समत्तं।

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च ।
सिद्धिमार्गमनुप्राप्ताः , त्रायिणः परिनिर्वृताः ॥१५॥

इति ब्रवीमि ।

तृतीयं क्षुल्लकाचारकथाऽध्ययनं समाप्तम् ।

पदार्थान्वयः—संजमेण-संयम से य-और तवेण-तप से पुव्वकम्माइं-पूर्व कर्मों को खवित्ता-क्षय करके सिद्धिमग्गं-मोक्ष के मार्ग को अणुप्पत्ता-प्राप्त हुए ताइणो-षट्काय के रक्षक साधु परिणिव्वुडा-निर्वाण प्राप्त करते हैं । त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—संयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मों को क्षय करके मोक्ष के मार्ग को प्राप्त हुए षट्काय के पालक मुनि, मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

टीका—जिस जीव के एक वार के तपश्चरण से सम्पूर्ण कर्म निर्जीर्ण नहीं हो सके हों, वह यहाँ से शरीर छोड़कर स्वर्ग जायगा । वहाँ वह अपनी सम्पूर्ण आयु को भोगकर पुनः मनुष्य-भव धारण करेगा । ऐसा जीव आर्य-देश और सुकुल में उत्पन्न होकर जब दीक्षा धारण करेगा और संयम तथा तप के द्वारा शेष पूर्व कर्मों को खपाता हुआ सिद्धि के मार्ग को प्राप्त करेगा तथा षट्काय के जीवों की जब रक्षा करेगा तभी वह निर्वाण को प्राप्त होगा । गाथा में संयम और तप से पूर्व-कर्मों को क्षय करने की बात जो शास्त्रकार ने लिखी है, उसका तात्पर्य चारित्र-धर्म की प्रधानता वतलाना है, और सिद्धि के मार्ग को प्राप्त हुए जो लिखा है, उसका तात्पर्य सम्यग्दर्शनादि जो मोक्ष का मार्ग प्रतिपादन किया गया है, उससे है । इस तरह तीनों सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का वर्णन यहाँ किया गया समझना चाहिये । उक्त आचार के पालन करने से ही आत्मा स्व तथा पर का उपकार कर सकती है । 'श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे शिष्य ! श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामी के मुखारविन्द से मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययन का सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है । अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा ।'

क्षुल्लकाचारकथाध्ययन समाप्त ।

अह छज्जीवणिया चउत्थं अज्झयणं।

अथ षड्जीवनिका चतुर्थमध्ययनम्।

गत अध्ययन मे साधु का संक्षेप से जो आचार कहा गया है, उसका सम्बन्ध मुख्यतया छः काय के जीवों से है। उनके प्रति दयारूप प्रवृत्ति-निवृत्ति करना ही चारित्र है। इसलिये प्रसङ्गोपात्त उन्हीं छः काय के जीवों का वर्णन सूत्रकार इस अध्ययन में करते हैं:—

सुअं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, सुअक्खाया, सुपण्णत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥ सूत्र १ ॥

श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता, स्वाख्याता, सुप्रज्ञप्ता, श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥१॥

पदार्थान्वयः—आउसं–हे आयुष्मन्—शिष्य! मे–मैंने सुअं–सुना है तेणं–उस भगवया–भगवान् ने एवं–इस प्रकार अक्खायं–कहा है इह–इस जिन-शासन में खलु–निश्चय से छज्जीवणिया–षट्काय के जीवों का कथन करने वाला

नाम—नामक **अज्झयणं**—अध्ययन, जो **कासवेणं**—काश्यप-गोत्री **समणेणं**—श्रमण—तपस्वी **भगवया**—भगवान् **महावीरेणं**—महावीर ने **पवेइया**—अलौकिक प्रकार से जानकर **सुअक्खाया**—भली प्रकार से कथन किया **सुपण्णत्ता**—भली प्रकार से प्रज्ञप्त किया **मे**—मुझे **अज्झयणं**—उस अध्ययन का **अहिज्जिउं**—अध्ययन करना **सेयं**—योग्य **है** **धम्मपण्णत्ती**—जिसमें धर्म की प्ररूपणा है ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उस भगवान् ने इस प्रकार कथन किया है—इस जैन-प्रवचन में निश्चय ही षड्-जीव-निकाय नाम का अध्ययन जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने प्रवेदित किया, भली प्रकार से प्रतिपादन किया, भली प्रकार से प्रज्ञप्त किया; मुझे उस अध्ययन का अध्ययन करना योग्य है, क्योंकि वह धर्मप्रज्ञप्तिरूप है—उसमें धर्म की प्ररूपणा की गई है।

टीका—उक्त अध्ययन के विषय को श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामी ने स्वयं जाना है । बाद में देवों एवं मनुष्यादि की परिषद् में उसका वर्णन किया है । इतना ही नहीं, किन्तु उस विषय का उन्होंने स्वयं आचरण भी भली-भाँति किया है । प्रत्येक व्यक्ति को इस अध्ययन का पाठ करना चाहिये । क्योंकि इसमें सर्व-विरतिरूप चारित्र अर्थात् महाव्रतादि के पालन की विधि युक्तिपूर्वक वर्णन की गई है । यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि, जब श्रीभगवान् ने जीवों के रहने के षट्-स्थान वर्णन किये हैं, जिससे कि इस अध्ययन का नाम भी 'षड्-जीव-निकाय अध्ययन' रक्खा गया है, तो पहले यह तो सिद्ध होना चाहिये कि, जीव की सत्ता भी है या नहीं ? इसका समाधान यह है कि, जीव के विद्यमान होने पर ही चारित्र-धर्म का प्रतिपादन किया जा सकता है । क्योंकि जब जीव ही न होगा तब फिर चारित्र-धर्म की प्रतिपादना किस लिये की जाती ? अतएव आत्मा है, और वह अनेक प्रमाणों से सिद्ध है । वीर्य और उपयोग, आत्मा के आत्मभूत लक्षण वर्णन किये गये हैं । ये लक्षण आत्म-द्रव्य के व्यतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं पाये जाते । मृतादि शरीरों के सर्व अवयव विद्यमान होने पर भी उक्त लक्षणों के न होने से ही उन्हें मृतक शरीर कहा जाता है । अनुमान से अनुमेय पदार्थों की सिद्धि की जाती है । सो जब यह विचार किया जाता है कि, 'मेरा सिर दुख रहा है' इस कथन से यह सिद्ध होता है कि अहं प्रत्यय कहने वाला कोई अन्य

पदार्थ अवश्य है और उससे सम्बन्ध रखने वाला शरीर पदार्थ अन्य है । इससे जीव की सत्ता शरीर से पृथक् सिद्ध होती है । तथा—उपमान से भी जीव-सत्ता स्व-अनुभव से स्वतः सिद्ध है । क्योंकि जब कोई अपने अन्तःकरण में इस प्रकार के भाव उत्पन्न करता है कि, 'मेरी आत्मा है ही नहीं' तो इस कथन से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि, यह चैतन्य संज्ञा किसकी है । क्योंकि चेतन संज्ञा वाला ही जीव पदार्थ कहा जाता है । आप्तवाक्यरूप जो आगम हैं, वे तो जीव-सत्ता स्वीकार करते ही हैं, इसलिये आत्म-द्रव्य सद् रूप है । तथा—आत्मा के सत् मानने पर पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विषयों का ग्राह्य और ग्राहक भाव माना जा सकता है । जब आत्मा की ही नास्ति कर दी जायगी तब ग्राह्य और ग्राहक भाव का भी अभाव मानना पड़ेगा । अतएव आत्मा है और वह अतीन्द्रिय होने से आगम प्रमाण से भी मानना पड़ेगा । तथा प्रत्येक व्यक्ति आत्मा का अस्तित्व मानने से ही आस्तिक माना जाता है । वह आत्म-द्रव्य षट्-काय में विद्यमान है । तथा—जब इस प्रकार की शङ्का उत्पन्न की जाय कि, असंख्यात परिमाण वाले लोक में अनन्त आत्माएँ किस प्रकार समाई हुई हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि, आत्मा द्रव्य अरूपी—सूक्ष्म—है, जिस प्रकार कि दीपक की प्रभा में सहस्र दीपकों का प्रकाश समा जाता है, ठीक उसी प्रकार इस लोक में अनन्त जीव-द्रव्य समाये हुए हैं । तथा जिस प्रकार किसी एक व्यक्ति के मस्तक में बीस-बत्तीस भाषाएँ तथा अनेक नगर आदि की आकृतियाँ ठहर सकती हैं, ठीक उसी प्रकार असंख्यात लोक में अनन्त आत्माएँ समाई हुई हैं । श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामी ने उस आत्म-द्रव्य को अनादि-अनन्त प्रतिपादन किया है । वह आत्म-द्रव्य सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र द्वारा कर्मों से विमुक्त हो सकता है । इन्हीं तीन बातों पर उसका निर्वाण-पद निर्भर है । इस अध्ययन में इसी बात को स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया गया है । सूत्र में 'भंते !'—'भगवान्' शब्द भी है । संस्कृत में 'भग' शब्द छः अर्थों में व्यवहृत होता है । उन अर्थों के धारण करने से ही श्रीमहावीरस्वामी 'भगवान्' कहलाते हैं । 'भग' शब्द के छः अर्थ ये हैं—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीरणा, अर्थात् संपूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न का नाम 'भग' है । सूत्रकर्ता ने मूल में जो

'सुअक्खाया'—'स्वाख्यात' पद रक्खा है, उसका तात्पर्य यह है कि—उन्होंने उक्त प्रकरण को स्वयं केवल-ज्ञान द्वारा जानकर ही जनता के आगे प्रतिपादन किया है, न कि किसी से सुनकर। सूत्र के 'इह' शब्द से इस लोक में वा प्रवचन में इस विषय का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। 'खलु' शब्द से इस बात को सिद्ध किया है कि अन्य-तीर्थ-कृत प्रवचन में भी इस विषय का कहीं २ पर अस्तित्व पाया जाता है। सूत्र में जो 'सुअं मे'—'श्रुतं मया' पाठ रक्खा है, उससे एकान्त क्षणिक-वाद का निषेध किया गया है। क्योंकि एकान्त क्षणिक-वाद में संपूर्ण विषय को एक आत्मा सुन ही नहीं सकती। तथा 'मे'—'मया' जो आत्म-निर्देश पद दिया गया है, इसका यह तात्पर्य है कि—मैंने स्वयं सुना है, परम्परा से नहीं। 'आउसं !'—'आयुष्मन् !' पद का इसलिये निर्देश किया गया है कि आयुष्कर्म के होने पर ही श्रुत-ज्ञान की सार्थकता है, अन्यथा नहीं। 'आउसं!'—'आयुष्मन् !' शब्द से यह सिद्ध होता है कि गुणवान् शिष्य को ही आगम का रहस्य बतलाना चाहिये, अयोग्य शिष्य को नहीं। क्योंकि यदि अपरिपक्व—कच्चे—घड़े में जल रक्खा जाय, तो जल-द्रव्य वा घट-द्रव्य, दोनों की ही हानि होती है। ठीक उसी प्रकार अयोग्य शिष्य को सूत्रदान करने से श्रुत का उपहास और उसकी आत्मा का अधःपतन हो जाने से अत्यन्त हानि होने की संभावना की जा सकती है। यदि 'आउसं तेणं' को एक पद मानकर श्रीभगवान् का विशेषण माना जाय, तब उक्त सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि—'आयुष्मता भगवता चिरजीविनेत्यर्थः' अर्थात् आयुष्य वाले श्रीभगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है। इस कथन से अपौरुषेय वाक्य का निषेध हो जाता है। क्योंकि आयुष्य वाला देहधारी होता है। और वही भाषण कर सकता है। वर्णो के स्थान शरीर के होने पर ही सिद्ध हो सकते हैं। इसी लिये अकाय परमात्मा सिद्ध भगवान् भाषण नहीं कर सकते। तथा आप्तवाक्य पौरुषेय ही होता है। यह शास्त्र आप्तवाक्य है, अतः पुरुषकृत है। यदि—'आउसंतेणं' के स्थान पर 'आवसंतेणं'—'आवसता' पाठ मान लिया जाय, तब इसका यह अर्थ हो जाता है कि—'गुरुमूलमावसता' अर्थात् 'गुरु के पास रहते हुए'। इससे सिद्ध होता है कि गुरु के पास शिष्य को सदैव रहना चाहिये। गुरु के पास रहने से ही ज्ञानादि की वृद्धि हो सकती है, गुरुकुल-वास को छोड़कर नहीं। यदि—

'आउसंतेणं' के स्थान पर 'आमुसंतेणं'—'आमृशता' पाठ पढ़ा जाय तो उसका अर्थ होता है—'आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन' इससे गुरु की विनय सिद्ध होती है। जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक गुरु के चरण-कमलों का स्पर्श करते हैं, वे ही मोक्ष-मार्ग वा ज्ञानादि के सर्वथा आराधक बनते हैं। विनय-धर्म सब कार्यों का साधक माना गया है। श्रमण तपस्वी भगवान् श्रीमहावीरस्वामी ने ही उक्त विषय का प्रकाश किया है और अपना वीर पद सार्थक किया है। जैसे कि—'विदारयति यत्कर्म, तपसा च[1]विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः।' अर्थात् कर्मों के विदारण करने से, तप-सहित विराजमान होने से और तप तथा वीर्य युक्त होने से श्रीमहावीरस्वामी 'वीर' कहलाते हैं। सूत्र में जो 'सेयं मे अहिज्जियं' पद है, वह न सिर्फ अध्ययन अर्थ को कहता है, बल्कि इस अध्ययन का पढ़ना, सुनना, मनन करना, अन्तःकरण में भावना उत्पन्न करना आदि सभी अर्थ को कहता है। सूत्र में 'अज्झयणं धम्मपण्णत्ती' जो दोनों पद प्रथमान्त दिये गये हैं, उनमें से 'धम्मपण्णत्ती' में प्रथमा हेतुवाचक है। इसका अर्थ यह होता है कि इसके अध्ययन से धर्म की प्राप्ति होती है—आत्मा की विशुद्धि होती है। इसलिये इस अध्ययन का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

उत्थानिका—इस प्रकार गुरु के कहे जाने पर शिष्य ने प्रश्न किया कि वह अध्ययन कौन सा है ?

कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, सुअक्खाया, सुपण्णत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥२॥

कतरा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता, स्वाख्याता, सुप्रज्ञप्ता, श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥२॥

१ तथा च—'धर्मप्रज्ञप्तिः, प्रज्ञपनं-प्रज्ञप्ति। धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्ति। ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणाच्चेतसो विशुद्ध्यापादनम्। चेतसो विशुद्ध्यापादनाच्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुरिति'—टीकाकारः।

पदार्थान्वयः—छज्जीवणिया—षड्-जीव-निकाय नाम—नामक सा—वह कयरा—कौन सा खलु—निश्चय से अज्झयणं—अध्ययन है, जो समणेणं—श्रमण भगवया—भगवान् महावीरेणं—महावीरस्वामी कासवेणं—काश्यपगोत्री ने पवेइया—ज्ञान से जानकर सुअक्खाया—भली प्रकार से वर्णन किया सुपण्णत्ता—भली प्रकार से प्रज्ञप्त किया धम्मपण्णत्ती—वह धर्म-प्रज्ञप्तिरूप है मे—मुझे अहिज्जिउं—अध्ययन करना अज्झयणं—उस अध्ययन का सेयं—योग्य है ।

मूलार्थ—षड्-जीव-निकाय नाम का वह कौन सा अध्ययन है जो श्रमण भगवान् श्रीमहावीर काश्यप ने ज्ञान से जानकर परिषद् में वर्णन किया है, जिसमें कि धर्म की प्रज्ञप्ति है, जिसका कि अध्ययन करना मुझे योग्य है ।

टीका—उक्त सूत्र में गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर द्वारा इस अध्ययन का प्रारम्भ किया गया है । इसमें सन्देह नहीं कि जनता ने परमात्मा की स्तुति करने के लिये अनेक मन्त्रादि कल्पित कर रक्खे हैं, लेकिन महाव्रतों को धारण करने के लिये एक भी विधान-युक्त शास्त्र जनता के सामने नहीं है । जनता का भी उधर लक्ष्य नहीं है । यह अध्ययन उसी सर्वविरतिरूप चारित्र का—महाव्रतों का—वर्णन करने वाला है ।

उत्थानिका—अब शिष्य के प्रश्न को सुनकर गुरु कहने लगे कि :—

इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, सुअक्खाया, सुपण्णत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥३॥

इमा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता, स्वाख्याता, सुप्रज्ञप्ता, श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥३॥

पदार्थान्वयः—इमा—यह वक्ष्यमाण खलु—निश्चय से सा—वह छज्जीवणिया—षड्-जीव-निकाय नामज्झयणं—नामक अध्ययन समणेणं—श्रमण तपस्वी भगवया—भगवान् महावीरेणं—महावीरस्वामी कासवेणं—काश्यपगोत्री ने पवेइया—स्वयं ज्ञान में

जानकर सुअक्खाया-वर्णन किया सुपण्णत्ता-भली प्रकार बतलाया, जिसका अहिज्जिउं-अध्ययन करना मे-मुझे सेयं-कल्याणकारी है, और जो अज्झयणं-अध्ययन धम्मपण्णत्ती-धर्मप्रज्ञप्तिरूप है ।

मूलार्थ—यह वक्ष्यमाण षड्-जीव-निकाय नामक अध्ययन श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामी काश्यपगोत्री ने स्वयं ज्ञान से जानकर जनता के सामने द्वादश प्रकार की परिषद् में प्रकट किया, फिर भली प्रकार से बतलाया । उस अध्ययन का अध्ययन करना मुझे कल्याणकारी है, क्योंकि वह धर्म-प्रज्ञप्तिरूप है ।

टीका—उक्त गुरु-शिष्यों के प्रश्नोत्तर से यह बात भली-भाँति सिद्ध हो जाती है कि शिष्य अपनी अहंवृत्ति को छोड़कर विनयपूर्वक गुरु के निकट अपनी शङ्काओं को कहे और गुरु को भी उचित है कि वे विनीत शिष्य की शङ्काओं का समाधान भलीप्रकार कर दें । इतना ही नहीं, बल्कि गुरु को उचित है कि वे विनीत शिष्य को और सब प्रकार से योग्य बनाने के लिये सदैव लक्ष्य देते रहें ।

उत्थानिका—गुरु फिर इस प्रकार कहने लगे कि :—

तं जहा—पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया । पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । तं जहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, बीयरुहा, संमुच्छिमा, तणलया,

वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥४॥

तद्यथा—पृथिवीकायिकाः, अप्कायिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, वनस्पतिकायिकाः, त्रसकायिकाः । पृथिवी चित्तवत्याख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः । आपः चित्तवत्यः आख्याताः अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्रपरिणताभ्यः । तेजः चित्तवदाख्यातम् अनेकजीवम् पृथक्सत्त्वम् अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । वायुः चित्तवानाख्यातः अनेकजीवः पृथक्सत्त्वः अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । वनस्पतिः चित्तवानाख्यातः अनेकजीवः पृथक्सत्त्वः अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । तद्यथा—अग्रबीजाः, मूलबीजाः, पर्वबीजाः, स्कन्धबीजाः, बीजरुहाः, संमूर्च्छिमाः, तृणलताः, वनस्पतिकायिकाः सबीजाः चित्तवन्तः आख्याताः अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्रपरिणतेभ्यः ॥४॥

पदार्थान्वयः—**तं जहा**—जैसे कि **पुढवीकाइया**—पृथिवी-काय के जीव **आउकाइया**—अप्-काय के जीव **तेउकाइया**—तेजस्काय के जीव **वाउकाइया**—वायु-काय के जीव **वणस्सइकाइया**—वनस्पति-काय के जीव **तसकाइया**—त्रस-काय के जीव **पुढवी चित्तमंतमक्खाया**—पृथिवी सचित्त कही गई है **अणेगजीवा**—अनेक जीव वाली है **पुढोसत्ता**—पृथक् २ सत्त्व वाली है **सत्थपरिणएणं**—शस्त्र-परिणत के **अन्नत्थ**—विना **आऊ**—अप्कायिक **चित्तमंतमक्खाया**—चेतना लक्षण वाले कथन किये गये हैं **अणेगजीवा**—अनेक-जीव हैं **पुढोसत्ता**—पृथक्-सत्त्व हैं **सत्थपरिणएणं**—शस्त्र-परिणत को **अन्नत्थ**—छोड़कर **तेऊ**—तेजस्कायिक **चित्तमंतमक्खाया**—चेतना लक्षण वाले कथन किये गये हैं **अणेगजीवा**—अनेक-जीव हैं **पुढोसत्ता**—पृथक्-सत्त्व

हैं सत्थपरिणएणं—शस्त्र-परिणत को **अन्नत्थ**—छोड़कर **वाऊ**—वायु-काय के जीव **चित्तमंतमक्खाया**—चेतना लक्षण वाले कथन किये गये हैं **अणेगजीवा**—अनेक-जीव हैं, किन्तु **पुढोसत्ता**—पृथक्-सत्त्व हैं **सत्थपरिणएणं**—शस्त्र-परिणत को **अन्नत्थ**—छोड़कर **वणस्सई**—वनस्पति-काय के जीव **चित्तमंतमक्खाया**—चेतना लक्षण वाले कथन किये गये हैं **अणेगजीवा**—अनेक-जीव हैं **पुढोसत्ता**—किन्तु पृथक् २ सत्त्व हैं **सत्थपरिणएणं**—शस्त्र-परिणत को **अन्नत्थ**—छोड़कर **तं जहा**—जैसे कि **अग्गबीया**—अग्र भाग पर बीज **मूलबीया**—मूल भाग मे बीज **पोरबीया**—पर्व में बीज **खंधबीया**—स्कन्ध में बीज **बीयरुहा**—बीज बोने से बीज उत्पन्न होते हैं **संमुच्छिमा**—सम्मूर्च्छिम—अपने आप होने वाले **तण**—तृण **लया**—लतादि **वणस्सइकाइया**—वनस्पतिकायिक हैं **सबीया**—बीज के साथ **चित्तमंतमक्खाया**—चेतना लक्षण वाले कथन किये गये हैं **अणेगजीवा**—अनेक-जीव हैं **पुढोसत्ता**—किन्तु पृथक् २ सत्त्व हैं **सत्थपरिणएणं**—शस्त्र-परिणत को **अन्नत्थ**—छोड़कर ।

मूलार्थ—**जैसे कि—१ पृथिवीकायिक, २ अप्कायिक, ३ तेजस्कायिक, ४ वायुकायिक, ५ वनस्पतिकायिक, और ६ त्रसकायिक । पृथिवीकायिक जीव चेतना वाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूप से उसमें आश्रित हैं, शस्त्र-परिणत को छोड़कर । अप्कायिक जीव चेतना वाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूप से उसमें आश्रित हैं, शस्त्र-परिणत को छोड़कर । तेजस्काय के जीव चेतना वाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूप से उसमें आश्रित हैं, शस्त्र-परिणत को छोड़कर । वायु-काय के जीव चेतना वाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूप से उसमें आश्रित हैं, शस्त्र-परिणत को छोड़कर । वनस्पतिकाय के जीव चेतना वाले कहे गये हैं, अनेक जीव पृथक् २ रूप से उसमें आश्रित हैं, शस्त्र-परिणत को छोड़कर । जैसे कि—१ अग्र-बीज, २ मूल-बीज, ३ पर्व-बीज, ४ स्कन्ध-बीज, ५ बीज-रुह, ६ सम्मूर्छिम, ७ तृण, और ८ लता । वनस्पतिकायिक जीव बीज के साथ वनस्पति-चेतना वाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूप से उसमें आश्रित हैं, शस्त्र-परिणत को छोड़कर ।**

टीका—सूत्र में के 'चित्तमंतमक्खाया'—शब्द की संस्कृत छाया 'चित्त-मात्राख्याता' भी होती है और इसका अभिप्राय, पाँचों स्थावरों में चेतना अल्प मात्रा

में बतलाने का है। क्योंकि 'मात्र' शब्द अल्पवाचक है। तथा च टीकाकारः—'अत्र मात्रशब्दः स्तोकवाची। यथा—सर्पपत्रिभागमात्रमिति। ततश्च चित्तमात्रा—स्तोकचित्तेत्यर्थः।' अर्थात् यहाँ पर 'मात्र' शब्द स्तोक—अल्प—का वाचक है। जैसे कि 'सरसों का तिहाई हिस्सामात्र' यहाँ पर 'मात्र' शब्द अल्पवाचक है। इसलिये 'चित्तमात्र' का अर्थ 'अल्प चेतना वाले' है। मोहनीय कर्म के प्रबलोदय से एकेन्द्रिय जीव अत्यन्त अल्प चेतना वाले होते हैं। उससे कुछ अधिक विकसित-चेतनक द्वीन्द्रिय जीव होते हैं। इसी तरह आगे भी उत्तरोत्तर जीवों को विकसित-चेतनक समझना चाहिये।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि सूत्र में षट्काय के जीवों में से सब से पहले पृथ्वी-काय का वर्णन क्यों किया? तथा उसके बाद में अप्काय आदि का वर्णन क्यों किया? इसका समाधान यह है कि पृथ्वी सर्व भूतों का आधार और सब से अधिक है। इसलिये सब से पहले पृथ्वी-काय का वर्णन है। पृथ्वी पर आश्रयरूप से ठहरा हुआ और उससे कम जल है। इसलिये उसके बाद अप्काय का वर्णन है। जलका प्रतिपक्षी तेजः—अग्नि—है। इसलिये उसके बाद तेजस्काय का वर्णन है। तेजस्काय के जीवन का साधनभूत वायु है। वायु अग्नि का सखा माना जाता है। क्योंकि वायु की वजह से अग्नि वृद्धिगत और प्रज्वलित होती है। इसलिये उसके बाद वायु-काय का वर्णन है। वायु के कारण से प्रकम्पित होने वाली वनस्पति है, वायु का प्रबल प्रभाव वनस्पति पर ही होता है। इसलिये उसके बाद वनस्पति-काय का वर्णन है। वनस्पति-काय का ग्राहक त्रस-काय है, इसलिये उसके बाद त्रस-काय का वर्णन है। काठिन्य लक्षण वाली पृथिवी है; द्रवीभूत लक्षण वाला जल है; उष्ण लक्षण वाली अग्नि है, चलन लक्षण वाली वायु है; लतादिरूप वनस्पति है, त्रसनशील त्रस हैं। 'अणेयजीवा' शब्द का अर्थ है कि 'ये काय, जीवों का समूहरूप हैं।' 'पुढोसत्ता'—'पृथक्सत्त्वा' का अर्थ है कि वे जीव परस्पर में भिन्न शरीर धारण करने वाले हैं। जैसे कि—एक तिल-पापड़ी में जो अनेक तिल होते हैं, वे परस्पर में भिन्न होते हैं। उसी तरह एक सर्षप-प्रमाण मिट्टी में असंख्यात जीव पृथक् २ शरीर धारण करने वाले होते हैं।

१ 'पृथक् भूता सत्त्वा—आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा। अङ्गुलासंख्येयमात्रावगाहनया पारमार्थिक्या अनेकजीवसमाश्रितेति भावः।'

यहाँ पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि पृथ्वी जब जीवों का पिण्डरूप ही है, तब संयम-क्रिया किस तरह पालन की जा सकती है। क्योंकि सर्व क्रियाएँ पृथ्वी पर ही तो की जाती हैं? इसका समाधान यह है कि सूत्र में सूत्रकर्ता ने इसी लिये 'शस्त्रपरिणत' शब्द रक्खा है। जो काय-शस्त्र के द्वारा खण्डित—विदारित—हो जायगी, वह अचित्त—जीव-रहित—हो जायगी। द्रव्य-शस्त्र तीन प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसे कि—१. किञ्चित्-स्वकाय-शस्त्र—काली मिट्टी का संयोग यदि नीलादि मिट्टियों से हो जाय तो वे दोनों मिट्टियाँ परस्पर मर्दन करने से अचित्त हो जाती हैं। यह उदाहरण मिट्टी के वर्ण-गुण की अपेक्षा से है। ठीक इसी प्रकार गन्ध, रस और स्पर्श के भेदों की अपेक्षा से भी शस्त्र की योजना कर लेनी चाहिये। २. किञ्चित्-परकाय-शस्त्र—मिट्टी को यदि अप्काय, तेजस्काय आदि का भी स्पर्श हो जाय तो फिर वह भी अचित्त हो जाती है। और इस तरह से अचित्त हुए काय को परकाय द्वारा अचित्त हुआ कहा जाता है। ३. किञ्चित्-तदुभय-शस्त्र—कभी-कभी उपरोक्त दोनों स्वकाय और परकाय के शस्त्र से पृथिवी अचित्त हो जाती है। और उसे तदुभय-शस्त्र द्वारा अचित्त हुआ कहा जाता है। इस प्रकार अनेक शस्त्रों की योजना कर लेनी चाहिये। कारण कि परस्पर गन्ध, रस और स्पर्शादि द्वारा अनेक प्रकार के स्पर्श स्पर्शित होने से पृथिवी-काय के जीव च्युत हो जाते हैं। फिर यत्नपूर्वक संयम-क्रियाएँ उस अचित्त पृथिवी पर भली प्रकार से पालन की जा सकती हैं, और अहिंसादि व्रत भी सुखपूर्वक पालन किये जा सकते हैं। जिस प्रकार पृथिवी-काय का वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के विषय में भी जानना चाहिये[1]। वनस्पति-काय में अन्य पाँचों कायों की अपेक्षा कुछ विशेष वक्तव्य है, इसलिये सूत्रकार ने उसका दुबारा विशेष वर्णन भी किया है। जैसे कि—कोरण्ट-

१ कुछ विद्वानों ने इनको अनुमान से सचेतन सिद्ध किया है। यथा—'सात्मकं जलम्, भूमिखातस्वाभाविकसंभवात्, दर्दुरवत्। सात्मकोऽग्निः, आहारेण वृद्धिदर्शनात्, बालकवत्। सात्मकः पवनः, अपरप्रेरिततिर्यग्नियमितदिग्गमनाद्, गोवत्। सचेतनास्तरवः, सर्वत्वगपहरणे मरणाद्, गर्भवत्। अर्थात्—जल सचेतन है, क्योंकि वह भूमि से स्वयमेव पैदा होता है, मेंढक की भाँति। अग्नि सचेतन है, क्योंकि वह आहार करने से बढ़ती है, बालक की भाँति। वायु सचेतन है, क्योंकि वह बिना किसी दूसरे की प्रेरणा से निश्चित दिशा में गमन करती है, गौ की भाँति। वृक्ष सचेतन है, क्योंकि उनकी सम्पूर्ण छाल उतार देने से वे मर जाते हैं, गर्भ की भाँति।

कादि वृक्षों के अग्रभाग में बीज होता है, उत्पन्न कंदादि के मूल में बीज होता है, इक्षु आदि के पर्व में बीज होता है, शल्लकी आदि के स्कन्ध में बीज होता है, शाली आदि के बीज के बोने से बीज उत्पन्न होते हैं, वर्षादि के हो जाने से बीज के अभाव होने पर भी तृणादि सम्मूर्च्छिम उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि दग्ध-भूमि पर भी वर्षा के कारण तृणादि उत्पन्न होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार वनस्पति के ग्रहण करने से सूक्ष्म बादरादि अशेष वनस्पति का ग्रहण किया गया है। ये उपर्युक्त सब प्रकार के वनस्पति-काय सचित्त वर्णन किये गये हैं। यद्यपि यह वनस्पति, एक जीव से लेकर संख्यात, असंख्यात वा अनन्त जीवों की राशि है। किन्तु स्वकाय वा परकाय तथा दोनों कायों के प्रतिकूल स्पर्श होने से वह अचित्त हो जाती है।

यदि यहाँ शङ्का की जाय कि—सूत्रकार को जब वनस्पति-काय का पूर्ण विवरण करना था तो फिर साधरण वनस्पति-काय का वर्णन क्यों नहीं किया? सूत्र में 'अणेगजीवा पुढोसत्ता' जो पद दिया है, उससे साधारण वनस्पति-काय का ग्रहण नहीं होता? इसका समाधान यह है कि वह पाठ सामान्यरूप से वर्णन किया है। यदि सामान्यरूप से उक्त पाठ को वर्णन किया हुआ न माना जाय तो सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्तादि भेदों का वर्णन न होने से वह पाठ अपूर्ण मानना पड़ेगा। अथवा ऐसा मानना चाहिये कि अविशेष नाम के नियमानुसार इन सूत्रों की रचना की गई है। अविशेष नाम के ग्रहण से विशेष नाम का ग्रहण भी किया जाता है, इसलिये सामान्यरूप से यहाँ उसका भी ग्रहण किया हुआ समझना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार क्रमागत त्रस-काय का वर्णन करते हैंः—

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा। तं जहा—अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेइमा, संमुच्छिमा, उब्भिया, उववाइया, जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं, रुयं, भंतं, तसियं, पलाइयं, आगइगइविन्नाया, जे य कीडपयंगा, जा य

कुंथुपिपीलिया, सव्वे बेइंदिया, सव्वे तेइंदिया, सव्वे चउरिंदिया, सव्वे पंचिंदिया, सव्वे तिरिक्खजोणिया, सव्वे नेरइया, सव्वे मणुया, सव्वे देवा, सव्वे पाणा परमाहम्मिया। एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसका-उत्ति पवुच्चइ ॥५॥

अथ ये पुनरिमे अनेके बहवः त्रसाः प्राणिनः। तद्यथा—अण्डजाः, पोतजाः, जरायुजाः, रसजाः, संस्वेदजाः, संमूर्च्छनजाः, उद्भिज्जाः, औपपातिकाः, येषां केषाञ्चित् प्राणिनाम् अभिक्रान्तम्, प्रतिक्रान्तम्, संकुचितम्, प्रसारितम्, रुतम्, भ्रान्तम्, त्रस्तम्, पलायितम्, आगतिगतिविज्ञातारः, ये च कीटपतङ्गाः, याश्च कुन्थुपिपीलिकाः, सर्वे द्वीन्द्रियाः, सर्वे त्रीन्द्रियाः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे तिर्यग्योनयः, सर्वे नैरयिकाः, सर्वे मनुजाः, सर्वे देवाः, सर्वे प्राणिनः परमधर्माणः। एष खलु षष्ठो जीवनिकायः त्रसकाय इति प्रोच्यते ॥५॥

पदार्थान्वयः—से—अथ जे—जो इमे—ये—वक्ष्यमाण तसा पाणा—त्रस प्राणी हैं, वे पुण—फिर अणेगे—अनेक, तथा बहवे—बहुत हैं तं जहा—जैसे कि अंडया—अंडे से उत्पन्न होने वाले पोयया—पोत से उत्पन्न होने वाले जराउया—जरायु से उत्पन्न होने वाले रसया—रस से उत्पन्न होने वाले संसेइमा—प्रस्वेद से उत्पन्न होने वाले संमुच्छिमा—स्त्री-पुरुष के संयोग के विना उत्पन्न होने वाले उब्भिया—भूमि को भेदकर उत्पन्न होने वाले उववाइया—'उपपाद शैय्या' से पैदा होने वाले जेसिं केसिंचि—कोई-कोई पाणाणं—प्राणी अभिक्कंतं—संमुख आने पडिक्कंतं—पीछे हट जाने संकुचियं—शरीर के संकोचने पसारियं—पसार देने रुयं—शब्द करने भंतं—भ्रमण करने तसियं—दुःख से उद्वेग प्राप्त

करने पलाइयं-भागने आगइगइ-आने जाने के विन्नाया-जानने वाले हैं य-पुनः जे-जो कीड-कीट पयंगा-पतंगिया य-और जा-जो कुंथुपिपीलिया-कुंथु और पिपीलिका सव्वे-सब वेइंदिया-दो इन्द्रिय जीव सव्वे-सब तेइंदिया-तीन इन्द्रिय जीव सव्वे-सब चउरिंदिया-चार इन्द्रिय जीव सव्वे-सब पंचिंदिया-पाँच इन्द्रिय जीव सव्वे-सब तिरिक्खजोणिया-तिर्यञ्च सव्वे-सब नेरइया-नारकी जीव सव्वे-सब मणुया-मनुष्य सव्वे-सब देवा-देव सव्वे-सब पाणा-प्राणी परमाहम्मिया-परम सुख के चाहने वाले हैं एसो-यह खलु-निश्चय छट्ठो-छठा जीवनिकाओ-जीवों का समूह तसकाउ-'त्रसकाय' त्ति-इस प्रकार पवुच्चइ-कहा जाता है ।

मूलार्थ—इनके [स्थावर-काय के] अतिरिक्त अनेक प्रकार के बहुत से त्रस प्राणी हैं । जैसे कि—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज, औपपातिक । इनमें से कोई-कोई प्राणी सन्मुख आता है, कोई-कोई प्रतिक्रान्त होता है, कोई-कोई संकुचित होता है, कोई-कोई पसर जाता है, कोई-कोई शब्द करता है, कोई-कोई भ्रमण करता है, कोई-कोई त्रास पाता है, कोई-कोई भागता है, कोई-कोई आने-जाने के ज्ञान को जानने वाले हैं; जो कीट-पतङ्ग और जो कुन्थु-पिपीलिका, सब द्वीन्द्रिय, सब त्रीन्द्रिय, सब चतुरिन्द्रिय, सब पञ्चेन्द्रिय, सब तिर्यञ्च, सब नारकीय, सब मनुष्य, और सब देव हैं, ये सब प्राणी परम सुख के चाहने वाले हैं । सो यह छठा जीवों का समूह 'त्रसकाय' नाम से कहा जाता है ।

टीका—मागधी भाषा के व्याकरणानुसार यहाँ पर 'अथ' शब्द को 'से' आदेश हो गया है । यद्यपि 'अथ' शब्द के अनेक[1] अर्थ होते हैं, लेकिन फिर भी वह 'अनन्तर' अर्थ में अधिक प्रसिद्ध है । यहाँ पर भी उसी अर्थ में आया हुआ है । अर्थात् सूत्रकार कहते हैं कि स्थावर-काय के अनन्तर अब त्रस-काय का वर्णन करते हैं । त्रसकाय के जीव उत्पत्ति-स्थान की अपेक्षा आठ प्रकार के होते हैं । जैसे कि—१. अण्डे से पैदा होने वाले जीव 'अण्डज' कहलाते हैं, जैसे पक्षी, मछली आदि । २. गर्भ से पोत-गुथली-सहित पैदा होने वाले जीव 'पोतज' कहलाते हैं, जैसे हस्ती, चर्म-जलौका आदि । ३. गर्भ से जरायु-सहित निकलने

१. 'अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमंगलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु ।'

वाले जीव 'जरायुज' कहलाते हैं, जैसे गौ, भैंस, मनुष्य आदि । ये जीव जब गर्भ से बाहर आते हैं, तब इनके शरीर के ऊपर मां के पेट में से एक झिल्ली आती है, उसी को 'जरायु' कहते हैं । ४. दूध, दही, मठा, घी आदि तरल पदार्थ 'रस' कहलाते हैं । उनके विकृत हो जाने पर उनमें जो जीव पड़ जाते हैं, वे 'रसज' कहलाते हैं । ५. पसीने–देहमल–के निमित्त से पैदा होने वाले जीव 'संस्वेदज' कहलाते हैं, जैसे जूँ, खटमल आदि । ६. शीत, उष्ण आदि के निमित्त मिलने पर इधर-उधर के–आस-पास के–परमाणुओं से जो जीव पैदा हो जाते हैं, वे 'संमूर्छिम' कहलाते हैं, जैसे शलभ, पिपीलिका, पतङ्ग आदि । ७. भूमि को फाड़कर जो जीव पैदा होते हैं, वे 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं, जैसे वनस्पति आदि । ८. उपपाद शैय्या आदि से उत्पन्न होने वाले जीव 'औपपातिक' कहलाते हैं, जैसे देव और नारकी ।

यदि यहाँ पर यह शंका की जाय कि यह तो त्रस-काय के जीवों के उनके उत्पत्ति-स्थान की अपेक्षा से भेद हैं । वास्तव में उनका सामान्य लक्षण-स्वरूप क्या है ? तो उसके उत्तर में सूत्रकार ने 'अभिकंतं' इत्यादि पाठ पढ़ा है । अर्थात् उनमें से किसी जीव की आदत सन्मुख आने की है तो किसी जीव की आदत पीछे हट जाने की है । किसी जीव की आदत अपने शरीर को संकोच लेने की है तो किसी जीव की आदत अपने शरीर को पसार–फैला–देने की है । कोई जीव शब्द करता है तो कोई जीव भयभीत होकर इधर-उधर चक्कर लगाता है । कोई जीव दुःख से त्रास पाता रहता है तो कोई जीव दुःख को देखकर भाग जाता है । तथा कितने ही जीव गमनागमन का ज्ञान भली-भाँति रखते हैं ।

यदि यहाँ पर यह शंका की जाय कि सूत्र में जब 'अभिकंतं-पडिकंतं'–'अभिक्रान्त-प्रतिक्रान्त' पद दे दिये गये हैं तब फिर 'आगइगइ'–'आगतिगति' देने की क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर यह है कि जैसे घोड़े हैं, वे भूलकर कहीं चले गये हों तो लौटकर अपने घर पर वापिस भी आ जाते हैं । तथा यदि उन्हें पीछे हटाया जाय या आगे चलाया जाय तो वे यह भी जानते हैं कि हमें पीछे हटाया जा रहा है या आगे बढ़ाया जा रहा है । इसके अतिरिक्त त्रस जीवों में जो 'ओघ' संज्ञा होती है, उससे वे धूप से अरुचि होने पर छाया में और

छाया से अरुचि होने पर धूप में चले जाते हैं। इस तरह से त्रस-जीवों का विशिष्ट विज्ञान बतलाने के लिये 'आगइगइविन्नाया' पद सूत्रकार ने दिया है।

यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि सूत्रकार को आगे जब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीव ग्रहण करने ही थे तो फिर उससे पहले 'कीडपयंगा' और 'कुंथुपिपीलिया'—'कीटपतङ्गाः' और 'कुन्थुपिपीलिकाः' क्यों दिये ? इसका समाधान यह है कि सूत्र की गति विचित्र होती है—वह क्रम से अतन्त्र भी रहती है। सूत्र में जो 'परमाहम्मिआ' पद दिया गया है, उसका अर्थ है 'परमधर्माणः—परम-सुखाभिलाषिण इत्यर्थः' अर्थात् 'उत्कृष्ट सुख के अभिलाषी'। यहाँ पर 'परमा' में मकार को दीर्घ 'अतः समृद्ध्यादौ वा' हैमसूत्र से हुआ है।

उत्थानिका—ऊपर के सूत्र में कहा गया है कि पाँचों ही स्थावर और छठे त्रस, ये सब प्राणी अपने अपने सुखों के इच्छुक हैं। कोई भी प्राणी दुःख की मात्रा को नहीं चाहता। अतएव सब प्राणी रक्षा के योग्य हैं। इसलिये किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये। सो अब सूत्रकार इसी विषय में कहते हैं:—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥६॥

इत्येतेषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत्, नैवान्यैः दण्डं समारम्भयेत्, दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न

समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥६॥

पदार्थान्वयः—**इच्चेसिं**-इन **छण्हं**-छः **जीवनिकायाणं**-जीवों के काय के विषय में **सयं**-आप ही **दंडं**-हिंसारूप दण्ड को **नेव समारंभिज्जा**-न समारम्भ करे **नेव**-नाहीं **अन्नेहिं**-औरों से **दंडं**-हिंसारूप दण्ड **समारंभाविज्जा**-समारम्भ करावे **दंडं**-हिंसारूप दण्ड को **समारंभंतेऽवि**-समारम्भ करते हुए भी **अन्ने**-अन्य जीवों को **न समणुजाणिज्जा**-भला न समझे **जावज्जीवाए**-जीवन पर्यन्त **तिविहं**-त्रिविध—कृत, कारित और अनुमोदना से **तिविहेणं**-तीन योग से **मणेणं**-मन से **वायाए**-वचन से **काएणं**-काय से **न करेमि**-न करूँ **न कारवेमि**-न कराऊँ **अन्नं**-अन्य **करंतंपि**-करते हुए को भी **न समणुजाणामि**-भला न समझूँ **भंते**-हे भदन्त! **तस्स**-उस दण्ड को **पडिक्कमामि**-प्रतिक्रमण करता हूँ **निंदामि**-निन्दा करता हूँ **गरिहामि**-गर्हणा करता हूँ **अप्पाणं**-आत्मा को **वोसिरामि**-छोड़ता हूँ।

मूलार्थ—इन छः काय के जीवों को जीव स्वयं दण्ड समारम्भ न करे, न औरों से दण्ड समारम्भ करावे, दण्ड समारम्भ करते हुए अन्य जीव को भला भी न समझे। जब तक इस शरीर में जीव है तब तक तीन करण—कृत, कारित और अनुमोदना से तथा तीन योग—मन, वचन और काय से, हिंसादि क्रियाएँ न करूँ, न औरों से कराऊँ, और न करते हुए अन्य की अनुमोदना ही करूँ। हे भगवन्! मैं उस वक्ष्यमाण दण्ड से प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्म-साक्षी-पूर्वक निन्दा करता हूँ, गुरु की साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूँ, और अपनी आत्मा को उस पाप से पृथक् करता हूँ।

टीका—इस सूत्र में षट्-काय का 'दण्ड' विषय कथन किया गया है। जैसे कि—जीव, उक्त षट्-काय को स्वयमेव दण्डित न करे और न औरों से दण्डित करावे। इतना ही नहीं, किन्तु जो षट्-काय के जीवों की हिंसा करते हैं, उनकी अनुमोदना भी न करे। हिंसा मन से, वचन से और काय से कदापि न करे। इस प्रकार श्रीभगवान् की शिक्षा को शिष्य ने श्रवण किया, तब उसने कहा कि—हे भगवन्! मैं जीवन पर्यन्त तीन करण और तीन योग से हिंसादि दण्ड स्वयं न

करूँ और न औरों से कराऊँ, तथा जो हिंसादि कार्य करते हैं उनकी अनुमोदना भी नहीं करूँ। हे भगवन्! मैं उक्त दण्ड से प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्म-साक्षी से उसकी निन्दा करता हूँ, गुरु की साक्षी से उस पाप की गर्हणा करता हूँ और अपनी आत्मा को उस पाप से पृथक् करता हूँ अर्थात् पापरूप आत्मा का परित्याग करता हूँ। सूत्र में सूत्रकार ने जो 'पडिक्कमामि'–'प्रतिक्रामामि' क्रिया पद दिया है, उसका तात्पर्य भूतकाल-सम्बन्धी पापों का प्रायश्चित्त करना है। क्योंकि वर्तमान काल के पापों का प्रायश्चित्त करने को 'संवर' और भविष्यत्काल के पापों के प्रायश्चित्त करने को 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। तब फिर यहाँ यह शङ्का पैदा होती है कि भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन पापों के प्रायश्चित्त का बोधक सूत्र में कौन-सा शब्द है? इसका समाधान यह है कि 'अप्पाणं वोसिरामि'–'आत्मानं व्युत्सृजामि' यह पद तो भविष्यत्कालीन पापों के प्रायश्चित्त के लिये है और 'न करेमि'–'न करोमि' पद वर्तमानकालीन पापों के प्रायश्चित्त के लिये है। सूत्र में आये हुए 'भंते!' शब्द की तीन छाया होती है—'भदन्त! भवान्त! और भयान्त!'। इनमें से यहाँ पर चाहे कोई भी छाया ग्रहण की जा सकती है, क्योंकि वे तीनों गुरु के निमन्त्रण करने वाले हैं, जो कि गुरु की विनय करने के सूचक हैं। 'इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं' शब्द में जो षष्ठी विभक्ति दी गई है, उस जगह 'सुपां सुपो भवति' सूत्र से सप्तमी भी मानी जा सकती है। कुछ लोग केवल मन से ही कर्म का बन्ध होना मानते हैं[1]। उसके खण्डन के लिये सूत्रकार ने 'तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं—त्रिविधं त्रिविधेन मनसा, वाचा, कायेन' पद दिये हैं। अर्थात् कर्म का बन्ध सिर्फ मन से ही नहीं होता, बल्कि मन, वचन और काय, तीनों से होता है।

उत्थानिका—त्रिकरण और त्रियोग से पाँचों पापों के त्याग करने से पाँच महाव्रत हो जाते हैं। इसलिये अब उन्हीं का स्वरूप कहते हैं। उनमें से सब से पहला जो 'अहिंसा महाव्रत' है, सूत्रकार उसी का वर्णन करते हैं:—

पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि। से सुहुमं वा,

१ 'मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः।'

बायरं वा, तसं वा, थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाइज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायंतेवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥१॥ [सूत्र ॥७॥]

प्रथमे भदन्त! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणम्। सर्वं भदन्त! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि। अथ सूक्ष्मं वा, बादरं वा, त्रसं वा, स्थावरं वा, नैव स्वयं प्राणानतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणानतिपातयामि, प्राणानतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि। प्रथमे भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥१॥ [सूत्र ॥७॥]

पदार्थान्वयः—भंते-हे भदन्त! पढमे-पहले महव्वए-महाव्रत में पाणाइवायाओ-प्राणातिपात से वेरमणं-निवृत्ति करना है भंते-हे भदन्त! सव्वं-सर्व प्रकार पाणाइवायं-प्राणातिपात का पच्चक्खामि-मैं प्रत्याख्यान करता हूँ से-जैसे कि सुहुमं वा-सूक्ष्म शरीर वाले जीव के, अथवा तसं वा-त्रस जीव के, अथवा थावरं वा-स्थावर जीव के पाणे-प्राणों को नेव सयं अइवाइज्जा-स्वयं

अतिपात–हनन–नहीं करूँ **नेव**–नहीं **अन्नेहिं**–औरों से **पाणे**–प्राणों का **अइवाया-विज्जा**–हनन कराऊँ, तथा **पाणे**–प्राणों के **अइवायंतेवि अन्ने**–हनन करते हुए औरों को भी **न समणुजाणामि**–भला नहीं समझूँ **जावज्जीवाए**–जीवन पर्यन्त **तिविहं**–त्रिविध **तिविहेणं**–त्रिविध से **मणेणं**–मन से **वायाए**–वचन से **काएणं**–काय से **न करेमि**–नहीं करूँ **न कारवेमि**–औरों से नहीं कराऊँ **करंतंपि अन्नं**–करते हुए औरों को भी **न समणुजाणामि**–भला नहीं समझूँ **तस्स**–उससे **भंते**–हे गुरो ! **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूँ **निंदामि**–निन्दा करता हूँ **गरिहामि**–गर्हणा करता हूँ, तथा **अप्पाणं**–अपनी आत्मा को **वोसिरामि**–छोड़ता हूँ–हटाता हूँ **भंते**–हे गुरो ! **पढमे**–प्रथम **महव्वए**–महाव्रत में, जो कि **सव्वाओ पाणाइवायाओ**–सर्व प्रकार के प्राणातिपात से **वेरमणं**–निवृत्तिरूप है **उवट्ठिओमि**–उपस्थित होता हूँ ।

मूलार्थ—हे भगवन् ! प्रथम महाव्रत प्राणातिपात से विरमणरूप है । अतः हे भगवन् ! मैं सर्व प्रकार से प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ । जैसे कि—सूक्ष्म, वादर, त्रस और स्थावर प्राणियों की मैं हिंसा न करूँ, न औरों से उनकी हिंसा कराऊँ, और जो प्राणियों की हिंसा करते हैं, उन्हें भला भी नहीं समझूँ । जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत, कारित और अनुमोदना से और तीन योग—मन, वचन और काय से, न करूँ, न कराऊँ और करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करूँ । मैं उस हिंसारूप दण्ड से पीछे हटता हूँ, आत्म-साक्षी-पूर्वक उसकी निन्दा करता हूँ, और गुरु की साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूँ तथा अपनी आत्मा को पाप से पृथक् करता हूँ । इस तरह से हे भगवन् ! अब मैं प्रथम महाव्रत अर्थात् प्राणातिपात-विरमण के विषय में उपस्थित होता हूँ ।

टीका—पूर्व के सूत्र में भी अहिंसा का ही वर्णन है—हिंसा का निषेध है । लेकिन वह सामान्य है । इस सूत्र में उसका विशेष वर्णन है । उस अहिंसा की रक्षा के लिये जीव को पाँच महाव्रत धारण करना चाहिये ।

यदि यहाँ यह शङ्का की जाय कि इन व्रतों को 'महाव्रत' क्यों कहा जाता है ? तो उसका उत्तर यह है कि—१. इन व्रतों को धारण करने वाली आत्मा अति उच्च हो जाती है । यहाँ तक कि इन्द्र और चक्रवर्ती तक उसको मस्तक झुकाते हैं,

इसलिये ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। २. अथवा संसार का सर्वोच्च ध्येय जो मोक्ष है, उसके ये अति निकट साधक हैं, इसलिये ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। ३. अथवा बड़े २ राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, वीर ही इनको धारण कर सकते हैं—पाल सकते हैं, इसलिये ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। ४. अथवा श्रावकों के लिये जो व्रत कहे गये हैं, वे 'अणु' हैं। उनको धारण करते हुए श्रावक अपनी गृहस्थी के काम भी साध सकता है; शरीर के भोगोपभोग भी भोग सकता है, लेकिन इनमें उसकी रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं है; पाप के आने का एक भी छिद्र कहीं से बाकी नहीं रह जाता है; सकलरूप से ये धारण किये जाते हैं; इसलिये भी इनको 'महाव्रत' कहा है। अर्थात् इनमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाँच पापों का जो त्याग किया जाता है, वह सम्पूर्ण द्रव्यों की अपेक्षा से, सम्पूर्ण क्षेत्रों की अपेक्षा से, सम्पूर्ण कालों की अपेक्षा से और सम्पूर्ण भावों की अपेक्षा से किया जाता है। इन व्रतों की समस्त सूक्ष्मताओं का वर्णन शास्त्रकार स्वयं आगे करने वाले हैं।

एक शंका यहाँ यह और हो सकती है कि पाँचों महाव्रतों में से पहले 'अहिंसा-महाव्रत' ही क्यों कहा जाता है ? इसका समाधान यह है कि सब पापों में से मुख्य पाप एक हिंसा ही है, इसलिये उसकी निवृत्ति करने वाला 'अहिंसा-महाव्रत' भी सब से मुख्य है। शेष चार महाव्रत 'अहिंसा-महाव्रत' की रक्षा के लिये धारण किये जाते हैं।

सूत्र के आरम्भ में जो 'पढमे भंते ! पाणाइवायाओ वेरमणं' इतना पाठ है, वह गुरु की ओर का वचन है। शेष सब शिष्य की ओर के वचन हैं। क्योंकि आगे उसे जो-जो कुछ करना है, उसकी श्रीभगवान् की साक्षीपूर्वक वह प्रतिज्ञा कर रहा है। सूत्र में जो 'पच्चक्खामि' पद आया है, उसकी एक तो संस्कृत छाया होती है—'प्रत्याख्यामि'। इसमें 'ख्या प्रकथने' धातु से प्रति और आङ् उपसर्ग लगाया गया है। 'ख्या' का अर्थ है—'कहना', 'प्रति' का अर्थ है—'प्रतिषेध–निषेध', और 'आङ्' का अर्थ है—'अभिविधि'। कुल मिलाकर अर्थ हुआ—'हिंसा को सर्वथा छोड़ना'। 'पच्चक्खामि' की दूसरी संस्कृत छाया 'प्रत्याचक्षे' भी हो सकती है। इसका अर्थ होता है—'संवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्यादरेणाभिधानं करोमि'।

अर्थात् संवृतात्मा—सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान सहित—अब मैं आदरपूर्वक आगामी त्याग को—हिंसादि पापों के निषेध को—उद्यत होता हूँ। इससे यह बात विल्कुल स्पष्ट हो गई कि जिस तरह काले कपड़े पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता, उसी तरह सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान से रहित आत्मा सम्यक्-चारित्र को धारण नहीं कर सकती। प्रथम महाव्रत को पालने के लिये जीव को सूक्ष्म और बादर तथा त्रस और स्थावर जीवों के स्वरूप को भली-भाँति जान लेना चाहिये। सूक्ष्म त्रस–कुन्थ्वादि–जानने चाहियें, न तु सूक्ष्म नाम-कर्मोदय से सूक्ष्म जीव।

यहाँ यदि यह कहा जाय कि सूत्र में जहाँ 'प्राणातिपात' शब्द ग्रहण किया गया है, वहाँ 'जीवातिपात' क्यों नहीं ग्रहण किया गया ? इसका समाधान यह है कि जीव का तो अतिपात–नाश–होता ही नहीं। वह तो सदा नित्य है। अतिपात–वियोग–केवल प्राणों का होता है। किन्तु प्राणों के वियोग से ही जीव को अत्यन्त दुःख उत्पन्न होता है। इसी लिये उसका निषेध किया गया है और सूत्र में 'प्राणातिपात' शब्द रक्खा गया है।

यदि यहाँ यह शंका की जाय कि सूत्र के 'नेव सयं पाणे अइवाइज्जा' वाक्य में क्रियापद लेट् लकार का दिया गया है और वह भी अन्य पुरुष का। सो इसका अर्थ यहाँ घटित नहीं होता ? इसका समाधान यह है कि यह प्राकृत भाषा है। इस भाषा में 'व्यत्ययश्च' सूत्र के अनुसार कई जगह तिङ्प्रत्ययों, पुरुषों एवं वचनों का भी व्यतिक्रम हो जाता है। इसलिये 'अइवाइज्जा' पद को लट् लकार के उत्तम पुरुष का एकवचन समझना चाहिये। अथवा 'वर्तमानाभविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा' इस हैम सूत्र के द्वारा वर्तमान और भविष्यत् के सर्व पुरुषों और सर्व वचनों में भी 'ज्ज ज्जा' प्रत्यय होते हैं।

सूत्र में 'भदंत' शब्द जो अनेक वार आया है, वह यह सूचित करता है कि शिष्य को प्रत्येक कार्य के लिये गुरु से वार-वार विनयपूर्वक आज्ञा लेनी चाहिये। हिंसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से तथा द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा के भेद से एवं इनके अनेकानेक मिश्रितामिश्रित भेद से अनेक प्रकार की होती है। सम्पूर्ण पाठ का सारांश इतना ही है कि हे भगवन् ! मैं सर्व प्रकार से प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ और इस महाव्रत में उपस्थित होता हूँ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार प्रथम महाव्रत के पश्चात् द्वितीय महाव्रत के विषय में कहते हैं:—

अहावरे दुच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि। से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वइज्जा, नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। दुच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥२॥ [सूत्र ॥८॥]

अथापरस्मिन् द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त ! मृषावादं प्रत्याख्यामि। अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हास्याद्वा, नैव स्वयं मृषा वदामि, नैवाऽन्यैर्मृषा वादयामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि। द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् मृषावादाद्विरमणम् ॥२॥ [सूत्र ॥८॥]

पदार्थान्वयः—अह—अब भंते—हे भदन्त ! मुसावायाओ—मृषावाद से अर्थात् असत्य से वेरमणं—निवृत्तिरूप अवरे—अन्य दुच्चे—द्वितीय महव्वए—

महाव्रत के विषय में श्रीभगवान् ने कथन किया है, अतः **भंते**-हे गुरो ! **सव्वं**-सब **मुसावायं**-मृषावाद का **पच्चक्खामि**-मैं प्रत्याख्यान करता हूँ **से**-जैसे कि **कोहा वा**-क्रोध से, अथवा **लोहा वा**-लोभ से, अथवा **भया वा**-भय से, अथवा **हासा वा**-हास्य से **नेव**-नहीं **सय**-स्वयं मैं **मुसं**-मृषावाद **वइज्जा**-बोलूँ **नेव**-नहीं **अन्नेहिं**-औरों से **मुसं**-मृषावाद **वायाविज्जा**-बुलाऊँ **मुसं वयंतेऽवि अन्ने**-असत्य बोलते हुए भी औरों को **न समणुजाणामि**-भला नहीं समझूँ **जावज्जीवाए**-जीवन पर्यन्त **तिविहं**-त्रिविध **तिविहेणं**-त्रिविध से **मणेणं**-मन से **वायाए**-वचन से **काएणं**-काय से **न करेमि**-न करूँ **न कारवेमि**-न कराऊँ **करंतंपि अन्नं**-करते हुए औरों को भी **न समणुजाणामि**-न भला समझूँ **भंते**-हे भगवन् ! **तस्स**-उसका—असत्यरूप दण्ड का **पडिक्कमामि**-मैं प्रतिक्रमण करता हूँ **निंदामि**-निन्दा करता हूँ **गरिहामि**-गर्हणा करता हूँ **अप्पाणं**-अपने पापरूप आत्मा का **वोसिरामि**-परित्याग करता हूँ **भंते**-हे भगवन् ! **दुच्चे**-द्वितीय **महव्वए**-महाव्रत के विषय में, जो कि **सव्वाओ**-सर्व प्रकार से **मुसावायाओ**-मृषावाद से **वेरमणं**-निवर्तनरूप है **उवट्ठिओमि**-मैं उपस्थित होता हूँ ।

मूलार्थ—अब हे भगवन् ! मृषावाद से विरमणरूप जो द्वितीय महाव्रत है, उसे श्रीभगवान् ने प्रतिपादन किया है । इसलिये हे भगवन् ! उस मृषावाद का मैं प्रत्याख्यान करता हूँ । अर्थात् क्रोध से, लोभ से, भय से और हास्य से, न तो स्वयं मैं असत्य बोलूगा, न औरों से बुलवाऊँगा और न औरों के असत्य बोलने की अनुमोदना ही करूँगा । अर्थात् मैं जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदना से और तीन योग—मन-वचन-काय से असत्य बोलने का पाप न करूँ, न औरों से कराऊँ और औरों के करने की अनुमोदना भी न करूँ । उस पापरूप दण्ड से हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूँ, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूँ और पापरूप आत्मा का परित्याग करता हूँ । इस तरह हे भगवन् ! द्वितीय महाव्रत, जो कि सर्व प्रकार के मृषावाद से विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूँ ।

टीका—गुरु-शिष्य के संवादपूर्वक जैसे पहले महाव्रत का वर्णन सूत्रकार ने किया है, उसी प्रकार इस दूसरे महाव्रत का भी वर्णन उन्होंने किया है । और

इसी प्रकार शेष तीनों महाव्रतों का वर्णन आगे करेंगे। क्रोध, मान, माया और लोभ, इस तरह कषाय चार हैं। उनमें से उक्त सूत्र में आदि का क्रोध और अन्त का लोभ, ये दो कषाय ग्रहण किये गये हैं। वे आदि और अन्त के कषाय हैं, इसलिये प्रत्याहार-परिपाटी से बीच के मान और माया का भी वहाँ ग्रहण समझना चाहिये। और उपलक्षण से प्रेम, द्वेष और कलह का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। मृषावाद–असत्य–के चार भेद हैं—१. सद्भाव-प्रतिषेध, २. असद्भावोद्भावन, ३. अर्थान्तर और ४. गर्हा। १. सद्भावप्रतिषेध-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें विद्यमान वस्तु का निषेध किया जाय। जैसे कि 'आत्मा का अस्तित्व है ही नहीं,' 'पुण्य-पापादि हैं ही नहीं' इत्यादि। २. असद्भावोद्भावन-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व सिद्ध किया जाय। जैसे कि 'ईश्वर जगत् का कर्ता है,' 'आत्मा सर्वत्र व्यापक है' इत्यादि। ३. अर्थान्तर-असत्य उसको कहते हैं, जिसमें कि पदार्थ का स्वरूप विपरीत प्रतिपादन किया जाय। जैसे कि 'अश्व को गौ और गौ को हस्ति कहना' इत्यादि। ४. गर्हा-असत्य उसे कहते हैं, जिसके बोलने से दूसरों को कष्ट हो। जैसे कि 'काने को काना कहना', 'रोगी को रोगी कहकर संबोधन करना' इत्यादि। एक दूसरी तरह से चार भेद असत्य के और भी होते हैं—१. द्रव्य-असत्य, २. क्षेत्र-असत्य, ३. काल-असत्य, और ४. भाव-असत्य। ये चारों ही प्रकार के असत्य महाव्रती को त्यागने चाहियें। इसके अतिरिक्त इनके परस्पर संयोग से भी असत्य के अनेक भेद होते हैं। वे भी उसे त्यागने चाहियें। असत्य महाव्रत को धारण करने वाले अर्थात् सर्वथा सत्यवादी पुरुष को प्रत्येक समय बड़ी सावधानी से बोलना चाहिये। बोलते समय सदैव उपयोग को सावधान रखना चाहिये। तभी वह अपने व्रत की रक्षा कर सकता है। अन्यथा व्रत की रक्षा असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार तृतीय महाव्रत के विषय में कहते हैं:—

अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि। से गामे वा, नगरे वा, रण्णे वा, अप्पं वा, बहुं वा, अणुं

वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ९ ॥]

अथापरस्मिंस्तृतीये भदन्त ! महाव्रतेऽदत्तादानाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि । यथा ग्रामे वा, नगरे वा, अरण्ये वा, अल्पं वा, बहु वा, अणु वा, स्थूलं वा, चित्तवद्वा, अचित्तवद्वा, नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । तृतीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माददत्तादानाद्विरमणम् ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ९ ॥]

पदार्थान्वयः—अहावरे—अव भंते—हे भदन्त ! तच्चे—तृतीय महव्वए—महाव्रत के विषय में अदिन्नादाणाओ—अदत्तादान से वेरमणं—निवर्त्तना है भंते—हे भदन्त ! सव्वं—सब अदिन्नादाणं—अदत्तादान का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ से—जैसे कि गामे वा—ग्राम के विषय, अथवा नगरे वा—नगर के विषय,

अथवा **रण्णे वा**–अटवी के विषय, अथवा **अप्पं वा**–अल्प मूल्य वाला पदार्थ, अथवा **बहुं वा**–बहु मूल्य वाला पदार्थ, अथवा **अणुं वा**–सूक्ष्म पदार्थ, अथवा **थूलं वा**–स्थूल पदार्थ, अथवा **चित्तमंतं वा**–सचित्त पदार्थ, अथवा **अचित्तमंतं वा**–अचित्त पदार्थ **अदिन्नं**–जो कि विना किसी का दिया हुआ हो **नेव सयं गिण्हिज्जा**–मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँ **अन्नेहिं**–औरों से **अदिन्नं**–अदत्तादान को **नेव गिण्हाविज्जा**–ग्रहण न कराऊँ, और **अदिन्नं**–अदत्तादान को **गिरहंते वि**–ग्रहण करते हुए भी **अन्ने**–औरों को **न समणुजाणामि**–भला नहीं समझूं **जावज्जीवाए**–जीवन पर्यन्त **तिविहं**–त्रिविध **तिविहेणं**–त्रिविध से **मणेणं**–मन से **वायाए**–वचन से **काएणं**–काय से **न करेमि**–न करूँ **न कारवेमि**–न कराऊँ **करंतंपि**–करते हुए भी **अन्नं**–औरों को **न समणुजाणामि**–भला न समझूँ **तस्स**–उस पापरूप दण्ड से **भंते**–हे भगवन्! **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूँ **निंदामि**–निन्दा करता हूँ **गरिहामि**–गर्हणा करता हूँ **अप्पाणं**–आत्मा को **वोसिरामि**–अलग करता हूँ **भंते**–हे भगवन्! **सव्वाओ**–सर्व प्रकार के **अदिन्नादाणाओ**–अदत्तादान से **वेरमणं**–विरमणरूप **तच्चे**–तृतीय **महव्वए**–महाव्रत में **उवट्ठिओमि**–मैं उपस्थित होता हूँ।

मूलार्थ—अब हे भगवन्! तृतीय महाव्रत, जो कि अदत्तादान से निवर्त्तनारूप है, उसे श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया है। हे भगवन्! मैं सब प्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। अर्थात् मैं ग्राम में, नगर में, अरण्य में, विना दिये हुए अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल, चेतन, अचेतन पदार्थ ग्रहण नहीं करूँगा, औरों से ग्रहण नहीं कराऊँगा, और ग्रहण करते हुओं का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। शेष वर्णन प्रागवत् जानना चाहिये। हे भगवन्! मैं अब तृतीय महाव्रत में उपस्थित होता हूँ।

टीका—ग्राम, नगर, जंगल, जलाशय, पर्वत, आकाश, पाताल आदि किसी जगह, दिन, रात, सुबह, शाम आदि किसी भी समय; चेतन या अचेतन, थोड़ी या बहुत, छोटी या बड़ी विना दी हुई किसी भी चीज को; मन से, वचन से और काय से न ग्रहण करना, न ग्रहण कराना और न ग्रहण करते हुए को भला मानना, इसका नाम 'अदत्तादान' तीसरा महाव्रत है। पूर्व की तरह इसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा मिश्रामिश्र के विकल्प से अनेक भेद हो जाते हैं।

उत्थानिका—अब चौथे महाव्रत का वर्णन करते हैं :—

अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि । से दिव्वं वा, माणुसं वा, तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥४॥ [सूत्र ॥१०॥]

अथापरस्मिंश्चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते मैथुनाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! मैथुनं प्रत्याख्यामि । अथ दैवं वा, मानुषं वा, तैर्यग्योनं वा, नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवान्यैर्मैथुनं सेवयामि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान् न समनुजानामि, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मान्मैथुनाद्विरमणम् ॥४॥ [सूत्र ॥१०॥]

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् ! अहावरे–अब चउत्थे–चतुर्थ महव्वए–महाव्रत में मेहुणाओ–मैथुन से वेरमणं–निवर्त्तन होना है भंते–हे भगवन् !

सव्वं–सर्व प्रकार के मेहुणं–मैथुन का पच्चक्खामि–मैं प्रत्याख्यान करता हूँ से–जैसे कि देवं वा–देव-सम्बन्धी, अथवा माणुसं वा–मानुष-सम्बन्धी, अथवा तिरिक्खजोणियं वा–तिर्यग्योनि-सम्बन्धी मेहुणं–मैथुन का सयं–स्वयं नेव सेविज्जा–मैं सेवन नहीं करूं अन्नेहिं–औरों से मेहुणं–मैथुन का नेव सेवाविज्जा–सेवन नहीं कराऊँ मेहुणं–मैथुन का सेवंतेऽवि अन्ने–सेवन करते हुए औरों को भी न समणुजाणामि–भला नहीं समझूं जावज्जीवाए–जीवन पर्यन्त तिविहं–त्रिविध तिविहेणं–त्रिविध से मणेणं–मन से वायाए–वचन से काएणं–काय से न करेमि–न करूँ न कारवेमि–न कराऊँ करंतंपि–करते हुए भी अन्नं–अन्य की न समणुजाणामि–अनुमोदना नहीं करूँ भंते–हे भगवन् ! तस्स–उसका पडिक्कमामि–मैं प्रतिक्रमण करता हूँ निंदामि–निन्दा करता हूँ गरिहामि–गर्हणा करता हूँ, और अप्पाणं–आत्मा का वोसिरामि–परित्याग करता हूँ भंते–हे भगवन् ! चउत्थे–चतुर्थ महव्वए–महाव्रत के विषय में सव्वाओ–जो कि सर्व प्रकार से मेहुणाओ–मैथुन से वेरमणं–निवृत्तिरूप है उवट्ठिओमि–मैं उपस्थित होता हूँ ।

मूलार्थ—हे भगवन् ! मैथुन से विरमण करने का चतुर्थ महाव्रत श्री-भगवान् ने प्रतिपादन किया है । इसलिये हे भगवन् ! मैं सर्व मैथुन का प्रत्या-ख्यान करता हूँ । तथा च—देव-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी और तिर्यग्योनि-सम्बन्धी मैथुन कर्म मैं स्वयं सेवन नहीं करूँ, औरों से सेवन नहीं कराऊँ और सेवन करते हुए अन्य जीवों की अनुमोदना भी नहीं करूँ । जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदना से और तीन योग—मन-वचन-काय से न करूँ, न कराऊँ और न करते हुओं की अनुमोदना ही करूँ । हे भगवन् ! मैं उस पापरूप दण्ड से प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूँ, गुरु-साक्षी-पूर्वक गर्हणा करता हूँ और पापरूप आत्मा का परित्याग करता हूँ । हे भगवन् ! चतुर्थ महाव्रत, जो कि सर्व प्रकार से मैथुन से विरतिरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूँ ।

टीका—चार गतियों में से स्त्री-जाति तीन ही गतियों में होती है—देव, मनुष्य और तिर्यञ्च में । नरक-गति में स्त्री जाति नहीं होती । इन तीनों स्त्री-सम्बन्धी मैथुन का साधु को परित्याग कर देने से स्त्रीमात्र का परित्याग हो जाता है । केवल

रति-कर्म का ही नाम मैथुन नहीं है। बल्कि रतिभाव–रागभावविशेष–पूर्वक जीव की जितनी भर चेष्टाएँ हैं, वे सभी मैथुन हैं। इसी लिये शास्त्रकारों ने मैथुन के अनेक भेद किये हैं। यद्यपि चित्त में इसके उत्पन्न करने वाले अनेक कारण हैं, फिर भी उनमें से 'रूप' एक मुख्य कारण है। उस रूप के दो भेद हैं—एक रूप और दूसरा रूपसहगत द्रव्य। रूप अचित्त कारण है और रूपसहगत द्रव्य सचित्त कारण है। अथवा भूषण-विकल सौन्दर्य को 'रूप' और भूषण-सहित सौन्दर्य को 'रूपसहगत' कहते हैं। शेष वर्णन पूर्ववत् यहाँ भी समझ लेना चाहिये। जैसे कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तथा इनके मिश्रामिश्र भेद से इसके भी अनेक भेद होते हैं। यों तो चारित्र-धर्म की प्रत्येक क्रियाएँ अपना-अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं; क्योंकि चारित्र-धर्म की महिमा ही अपरम्पार है। मोक्ष के सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान तो साधक हैं, लेकिन चारित्र साधकतम है। अस्तु। चारित्र-धर्म के समस्त भेदों में से मैथुन-परित्याग नाम का महाव्रत अत्यन्त अद्भुत शक्ति रखता है। इसके प्रताप से अनेक अकल्पित कार्य सुतरां सिद्ध हो जाते हैं। इसके विना समस्त जप, तप अकार्यकारी हो जाते हैं। इसके पालन में भी मुनियों को भारी कठिनता का सामना करना पड़ता है, जैसा कि द्वितीयाध्ययन में वर्णन किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके पूर्ण-विशुद्धरूप से पालन करने से मुनि परम पूज्य और मोक्षाधिकार के सर्वथा योग्य बन जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार पञ्चम महाव्रत के विषय में कहते हैं :—

अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि। से अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा; नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि; जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए,

काएणं; न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥५॥ [सूत्र ॥११॥]

अथापरस्मिन् पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! परिग्रहं प्रत्याख्यामि । अथ अल्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, स्थूलं वा, चित्तवन्तं वा, अचित्तवन्तं वा; नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि; यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन; न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् परिग्रहाद्विरमणम् ॥५॥ [सूत्र ॥११॥]

पदार्थान्वयः—अहावरे-अब भंते-हे भदन्त ! पंचमे-पाँचवें महव्वए-महाव्रत के विषय में परिग्गहाओ-परिग्रह से वेरमणं-निवृत्त होना है भंते-हे भगवन् ! सव्वं-सर्व प्रकार के परिग्गहं-परिग्रह का पच्चक्खामि-मैं प्रत्याख्यान करता हूँ से-जैसे कि अप्पं वा-अल्प मूल्य वाले, अथवा बहुं वा-बहु मूल्य वाले, अथवा अणुं वा-सूक्ष्म आकार वाले, अथवा थूलं वा-स्थूल आकार वाले, अथवा चित्तमंतं वा-चेतना वाले, अथवा अचित्तमंतं वा-अचेतना वाले परिग्गहं-परिग्रह को सयं-स्वयं नेव परिगिण्हिज्जा-ग्रहण न करूँ नेव-नहीं अन्नेहिं-औरों से परिग्गहं-परिग्रह को परिगिण्हाविज्जा-ग्रहण कराऊँ न-नहीं परिग्गहं-परिग्रह को परिगिण्हंते वि-ग्रहण करते हुए भी अन्ने-औरों को समणुजाणामि-भला समझूँ

जावज्जीवाए–जीवन पर्यन्त **तिविहं**–त्रिविध **तिविहेणं**–त्रिविध से **मणेणं**–मन से **वायाए**–वचन से **काएणं**–काय से **न करेमि**–न करूँ **न कारवेमि**–न कराऊँ **न**–नहीं **करंतंपि**–करते हुए भी **अन्नं**–औरों की **समणुजाणामि**–अनुमोदना करूँ **भंते**–हे भगवन्! **तस्स**–उसका **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूँ **निंदामि**–निन्दा करता हूँ **गरिहामि**–गर्हणा करता हूँ **अप्पाणं**–आत्मा को **वोसिरामि**–छोड़ता हूँ **भंते**–हे भगवन्! **पंचमे महव्वए**–पाँचवे महाव्रत में, जो कि **सव्वाओ**–सर्व प्रकार के **परिग्गहाओ**–परिग्रह से **वेरमणं**–निवर्त्तनरूप है, उसमें **उवट्ठिओमि**–मैं उपस्थित होता हूँ।

मूलार्थ—अब हे भगवन्! परिग्रह से निवृत्त होने को पंचम महाव्रत श्रीभगवान् ने प्रतिपादन किया है। इसलिये हे भगवन्! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि—अल्प वा बहुत, सूक्ष्म वा स्थूल, चेतना वाले पदार्थ वा चेतनारहित पदार्थ; इन सब को मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँ, न औरों से ग्रहण कराऊँ, और न ग्रहण करते हुए औरों की अनुमोदना भी करूँ; जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदना से और तीन योग—मन-वचन-काय से; न करूँ, न कराऊँ, न करते हुए औरों को भला ही समझूँ। हे भगवन्! इस पापरूप दण्ड का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूँ, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूँ, और पापरूप आत्मा का परित्याग करता हूँ। हे भगवन्! पाँचवाँ महाव्रत, जो कि सब प्रकार के परिग्रह से विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूँ।

टीका—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा इनके मिश्रामिश्र की अपेक्षा से परिग्रह-त्याग के अनेक भेद होते हैं। जैसे कि साधु जो परिग्रह रखते हैं, वह 'द्रव्य-परिग्रह के धारी' कहला सकते हैं, भाव-परिग्रह के नहीं। और कोई द्रव्य से तो परिग्रह न रक्खे अर्थात् बाह्य में परिग्रह उसके पास न दीखे, किन्तु अन्तरङ्ग में परिग्रह रखने के भाव हों—परिग्रह से ममत्व-परिणाम हो—तो वह व्यक्ति 'भाव-परिग्रह का धारी' कहला सकता है, द्रव्य-परिग्रह का नहीं। तथा किसी के पास द्रव्य-परिग्रह भी विद्यमान है और भावों में भी परिग्रह के प्रति ममत्व-परिणाम है, तो वह व्यक्ति 'उभय-परिग्रह का धारी' कहलायेगा। और जिस महात्मा के पास न तो किसी प्रकार का बाह्य परिग्रह है और न किसी प्रकार का ममत्व-परिणाम

अन्तरङ्ग मे परिग्रह के प्रति है, वह 'उभयपरिग्रह-रहित' कहलायेगा। इस प्रकार उभयपरिग्रह-रहित आत्मा निज-आत्मगुणों को विकसित करके शीघ्र परमात्म-पद को प्राप्त करती है। शेष वर्णन पूर्ववत्।

उत्थानिका—पाँच महाव्रतों के अनन्तर अब सूत्रकार छठे रात्रिभोजन-विरमण व्रत के विषय में वर्णन करते हैं:—

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! राइभोयणं पच्चक्खामि। से असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा; नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि; जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं; न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ॥६॥ [सूत्र ॥१२॥]

अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि। अथ अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा; नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यैः रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान् न समनुजानामि; यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन; न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि। षष्ठे भदन्त ! व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् रात्रिभोजनाद्विरमणम् ॥६॥ [सूत्र ॥ १२॥]

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् ! अहावरे–अब छट्ठे–छठे वए–व्रत के विषय में राइभोयणाओ–रात्रि-भोजन से वेरमणं–निवृत्त होना है भंते–हे भगवन् ! राइभोयणं–रात्रि-भोजन का सव्वं–सर्व प्रकार से पच्चक्खामि–मैं प्रत्याख्यान करता हूँ से–जैसे कि असणं वा–अन्नादि, अथवा पाणं वा–पानी, अथवा खाइमं वा–खाद्य पदार्थ, अथवा साइमं वा–स्वाद्य पदार्थ सयं–स्वयं राइं–रात्रि के समय नेव भुंजिज्जा–नहीं भोजन करूँ नेव–नहीं अन्नेहिं–औरों से राइं–रात्रि मे भुंजाविज्जा–भोजन कराऊँ न–नहीं राइं भुंजंतेवि–रात्रि-भोजन करते हुए भी अन्ने–औरों को समणुजाणामि–अनुमोदना करूँ जावज्जीवाए–जीवन पर्यन्त तिविहं–त्रिविध तिविहेणं–त्रिविध से मणेणं–मन से वायाए–वचन से काएणं–काय से न करेमि–न करूँ न कारवेमि–न कराऊँ न–नहीं करंतंपि अन्नं–करते हुए अन्य की भी समणुजाणामि–अनुमोदना करूँ तस्स–उसका भंते–हे भगवन् ! पडिक्कमामि–मैं प्रतिक्रमण करता हूँ निंदामि–निन्दा करता हूँ गरिहामि–गर्हणा करता हूँ अप्पाणं–आत्मा का वोसिरामि–परित्याग करता हूँ भंते–हे भगवन् छट्ठे–छठे वए–व्रत के विषय में, जो कि सव्वाओ–सर्व प्रकार से राइभोयणाओ–रात्रि-भोजन से वेरमणं–विरमणरूप है, उसमें उवट्ठिओमि–मैं उपस्थित होता हूँ ।

मूलार्थ—हे भगवन् ! पाँच महाव्रतों के बाद छठा व्रत जो रात्रि-भोजन से विरमणरूप है, श्रीभगवान् ने प्रतिपादन किया है । इसलिये हे भगवन् ! मैं सर्व प्रकार से रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ । जैसे कि—१ अन्न, २ पानी, ३ खाद्य और ४ स्वाद्य, इन पदार्थों को स्वयं मैं रात्रि में भोजन नहीं करूँ, न औरों से रात्रि में भोजन कराऊँ, और न रात्रि में भोजन करने वालों की अनुमोदना ही करूँ; जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदना से और तीन योग—मन-वचन-काय से न करूँ, न कराऊँ और न करते हुए अन्य की अनुमोदना ही करूँ । हे भगवन् ! उस पापरूप दण्ड से मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूँ, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूँ और पापरूप आत्मा का परित्याग करता हूँ । हे भगवन् ! छठे व्रत के विषय में, जो कि सर्व प्रकार से रात्रि-भोजन से विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूँ ।

टीका—यह रात्रि-भोजन-विरमण नाम का व्रत प्रथम अहिंसा-महाव्रत की

रक्षा के लिये प्रतिपादन किया गया है। इसमें अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, इन चारों प्रकार के आहार का त्याग रात्रि के लिये सर्वथा किया जाता है।

यदि यहाँ यह शङ्का की जाय कि इस रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को 'व्रत' क्यों कहा जाता है, 'महाव्रत' क्यों नहीं कहा जाता? इसका समाधान यह है कि महाव्रतों का पालना जितना कठिन है, इसका पालना उतना कठिन नहीं है। इसलिये यह व्रत 'व्रत' कहलाता है, 'महाव्रत' नहीं कहलाता। इसी लिये इसको मूल-गुणों में भी नहीं गिना जाता, बल्कि उत्तर-गुणों में गिना जाता है। तो फिर इसका सूत्र महाव्रतों के ही पश्चात् क्यों पढ़ा गया है? उत्तर-गुणों में उसको पढ़ना चाहिये था? इसका समाधान यह है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के समय जो ऋजु-जड़ और वक्र-जड़ लोग पैदा हो जाते हैं, उनके लिये इसका पाठ महाव्रत के पाठ के पश्चात् ही रक्खा गया है। और इस पाठ्यक्रम से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि यह रात्रि-भोजन-विरमण व्रत महाव्रत नहीं है, तो भी महाव्रत की भाँति ही इसका पालन करना चाहिये।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा इनके मिश्रामिश्र की दृष्टि से इसके भी अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे कि—द्रव्य से अशनादि, क्षेत्र से अढ़ाई द्वीपों में, काल से रात्रि में, और भाव से रागद्वेष-रहित होकर इसका पालन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त इसके भेद और तरह से भी हो सकते हैं। जैसे कि— १. रात्रि में अशनादि ग्रहण करना और रात्रि में खाना, २. रात्रि में ग्रहण करना और दिन में खाना, ३. दिन में ग्रहण करना और रात्रि में खाना, ४. दिन में ग्रहण करना और दिन में ही खाना। इन चारों भङ्गों में से प्रथम के तीन भङ्ग साधु के लिये अशुद्ध–अग्राह्य–हैं और अन्त का चौथा एक शुद्ध–ग्राह्य–है। द्रव्य और भाव की अपेक्षा से भी रात्रि-भोजन के चार भङ्ग होते हैं। जैसे कि—१. केवल द्रव्य से, २. केवल भाव से, ३. द्रव्य-भाव उभय से, ४. द्रव्य-भाव उभय रहित से। १. सूर्योदय या सूर्यास्त का सन्देह रहते हुए जो भोजन किया जाता है, वह केवल द्रव्य से रात्रि-भोजन है, भाव से नहीं। २. 'मैं रात्रि में भोजन करूँ' ऐसा विचार

१ 'अश्यत इत्यशन मोदकादि; पीयत इति पान जल-दुग्धादि, खाद्यत इति खाद्य खर्जूरादि, स्वाद्यत इति स्वाद्यं ताम्बूलादि।

तो हो जाय परन्तु खाये नहीं, वह केवल भाव से रात्रि-भोजन है, द्रव्य से नहीं। ३. बुद्धिपूर्वक रात्रि में भोजन कर लेना, द्रव्य और भाव उभय–दोनों–से रात्रि-भोजन है। ४. और न रात्रि में भोजन करना और न करने की अभिलाषा रखना, यह द्रव्य और भाव उभय से–दोनों से–रहित भङ्ग है। सूत्र में 'असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा' पद देकर सूत्रकार ने मद्य-मांस का सर्वथा निषेध सूचित कर दिया है, क्योंकि रात्रि मे भोजन करने का निषेध उक्त चारों ही प्रकार के आहार का किया है। मद्य-मांस उक्त चारों प्रकार के आहार में नहीं है। इसलिये इन दो महा अपवित्र पदार्थों का त्याग तो मनुष्य को सर्वथा और सर्वदा के लिये कर रखना चाहिये। क्योंकि ये मनुष्य के किसी भी प्रकार के आहार में ही नहीं गिने जाते। ये मनुष्य-जाति के लिये सर्वथा अयोग्य वस्तु हैं।

इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि ॥१३॥

इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि आत्महितार्थाय उपसम्पद्य विहरामि ॥१३॥

पदार्थान्वयः—इच्चेयाइं–इन अहिंसादि पंच महव्वयाइं–पाँच महाव्रतों, तथा राइभोयणवेरमणछट्ठाइं–रात्रि-भोजन-विरमणरूप छठे व्रत को अत्तहियट्ठियाए–आत्महित के लिये उवसंपज्जित्ता णं[1]–अंगीकार करके विहरामि–विचरता हूँ।

मूलार्थ—इन अहिंसादि पाँच महाव्रतों और रात्रि-भोजन-विरमणरूप छठे व्रत को मैं आत्म-हित के लिये अंगीकार करके विचरता हूँ।

टीका—मनुष्य को उक्त रात्रि-भोजन-त्यागरूप व्रत, तप तथा पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिये करना चाहिये। इसी लिये सूत्र में शिष्य कहता है कि हे भगवन्! पाँच महाव्रत और छठा रात्रिभोजनत्याग-व्रत मैं आत्महित अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिये ग्रहण करके विचरता हूँ।

उत्थानिका—चारित्र-धर्म की रक्षा के लिये षट्-काय के जीवों की रक्षा

१ यहाँ पर यह 'णं' वाक्यालंकार में है।

सदैव यत्न से करना चाहिये । इस विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार प्रथम पृथ्वी-काय के यत्न करने के विषय में कहते हैं :—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा; से पुढवीं वा, भित्तिं वा, सिलं वा, लेलुं वा, ससरक्खं वा कायं, ससरक्खं वा वत्थं; हत्थेण वा, पाएण वा, कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, अंगुलियाए वा, सिलागाए वा, सिला-गहत्थेण वा; न आलिहिज्जा, न विलिहिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा; अन्नं न आलिहाविज्जा, न विलिहाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा; अन्नं आलिहंतं वा, विलिहंतं वा, घट्टंतं वा, भिंदंतं वा न समणुजाणिज्जा; जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं; न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥१॥ [सूत्र ॥१४॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा; दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा; स पृथिवीं वा, भित्तिं वा, शिलां वा, लेष्टुं वा,

१ प्राचीनकाल में छात्रों को प्राथमिक दशा में भूमि पर ही लेखन का अभ्यास कराया जाता था, यह उक्त पद से स्पष्टत: प्रतिभासित होता है ।

सरजस्कं वा कायम्, सरजस्कं वा वस्त्रम्; हस्तेन वा, पादेन वा, काष्ठेन वा, कलिञ्जेन वा, अङ्गुल्या वा, शलाकया वा, शलाका-हस्तेन वा; नालिखेत्, न विलिखेत्, न घट्टयेत्, न भिन्द्यात्; अन्येन नालेखयेत्, न विलेखयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्; अन्यमालिखन्तं वा, विलिखन्तं वा, घट्टयन्तं वा, भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात्; यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन; न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१॥ [सूत्र ॥१४॥]

पदार्थान्वयः—**से**—वह पूर्वोक्त पाँच महाव्रतों के धारण करने वाला **भिक्खू वा**—भिक्षु, अथवा **भिक्खुणी वा**—भिक्षुणी—साध्वी, जो कि **संजय**—निरन्तर यत्नशील **विरय**—नाना प्रकार के व्रतों में रत **पडिहय**—कर्मों की स्थिति को प्रतिहत करने वाले **पच्चक्खायपावकम्मे**—तथा जिन्होंने पापकर्म के हेतुओं का प्रत्याख्यान कर दिया है ऐसे **दिआ वा**—दिन के विषय, अथवा **राओ वा**—रात्रि के विषय, अथवा **एगओ वा**—अकेले हों, अथवा **परिसागओ वा**—परिषत् में बैठे हुए हों, अथवा **सुत्ते वा**—सोते हुए हों, अथवा **जागरमाणे वा**—जागते हुए हों **से**—जैसे कि **पुढवीं वा**—पृथिवी को, अथवा **भित्तिं वा**—नदी के तट की मिट्टी को, अथवा **सिलं वा**—शिला को, अथवा **लेलुं वा**—शिलापुत्र को, अथवा **ससरक्खं वा कायं**—सचित्त रज से भरे हुए शरीर को, अथवा **ससरक्खं वा वत्थं**—सचित्त रज से भरे हुए वस्त्र को, **हत्थेण वा**—हाथ से, अथवा **पाएण वा**—पगों से, अथवा **कट्ठेण वा**—काष्ठ से, अथवा **किलिंचेण वा**—काठ के खंड से, अथवा **अंगुलियाए वा**—अंगुलि से, अथवा **सिलागाए वा**—लोहे की शलाका से, अथवा—**सिलागहत्थेण वा**—शलाका के समुदाय से **न आलिहिज्जा**—सचित्त पृथिवी पर लिखे नहीं **न विलिहिज्जा**—विशेष लिखे नहीं, **न घट्टिज्जा**—स्पर्श करे नहीं **न भिंदिज्जा**—सचित्त पृथिवी को भेदन करे नहीं **अन्नं**—औरों से **न आलिहाविज्जा**—सचित्त पृथिवी पर लिखावे नहीं **न विलिहाविज्जा**—

विशेष लिखावे नहीं न घट्टाविज्जा–सचित्त पृथिवी अन्य से स्पर्श करावे नहीं न भिंदाविज्जा–औरों से भेदन करावे नहीं अन्नं–औरों को आलिहंतं वा–आलेखन करते हुए को, अथवा विलिहंतं वा–विशेष आलेखन करते हुए को, अथवा घट्टंतं वा–स्पर्श करते हुए को, अथवा भिंदंतं वा–भेदन करते हुए को न समणुजाणिज्जा–अनुमोदन करे नहीं जावज्जीवाए–जीवन पर्यन्त तिविहं–त्रिविध तिविहेणं–त्रिविध से मणेणं–मन से वायाए–वचन से काएणं–काय से न करेमि–न करूँ न कारवेमि–न कराऊँ करंतंपि–करते हुए भी अन्नं–औरों को न समणुजाणामि–भला न समझूँ भंते–हे भगवन् ! तस्स–उसकी पडिक्कमामि–मैं प्रतिक्रमणा करता हूँ निंदामि–निन्दा करता हूँ गरिहामि–गर्हणा करता हूँ, और अप्पाणं–आत्मा को वोसिरामि–हटाता हूँ ।

मूलार्थ—वे भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत हैं, विरत हैं, प्रतिहत हैं और पापकर्मों का प्रत्याख्यान कर चुके हैं; दिन-रात में, अकेले-दुकेले, सोते-जागते; पृथ्वी को, भीत को, शिला को, पत्थर को, सरजस्क शरीर को, सरजस्क वस्त्र को; हाथ से, पाँव से, लकड़ी से, लकड़ी के टुकड़े से, अंगुली से, सलाई से, सलाई की नोक से; न थोड़ा लिखे, न बहुत लिखे, न छूवे, न छेदे; न औरों से थोड़ा लिखावे, न औरों से बहुत लिखावे, न छुवावे, न छिदवावे; और न औरों के थोड़ा लिखने पर, न औरों के बहुत लिखने पर, न औरों के छूने पर, न औरों के छेदने पर अनुमोदना करे; हे भगवन् ! मैं जीवन पर्यन्त तीन करण–कृत-कारित-अनुमोदना से और त्रिविध–मन-वचन-काय से न करूँ, न कराऊँ, और न करते हुए की अनुमोदना ही करूँ । हे भगवन् ! मैं उस पाप की प्रतिक्रमणा करता हूँ, आत्म-साक्षीपूर्वक निन्दा करता हूँ, गुरु-साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूँ और उस पाप से अपनी आत्मा को हटाता हूँ ।

टीका—पाँच महाव्रत और छठे रात्रि-भोजन-त्याग व्रत का वर्णन करने के बाद अब चारित्र-धर्म का विशेष वर्णन करना सूत्रकार को इष्ट है । लेकिन जब तक षट्काय के जीवों की यत्नपूर्वक रक्षा न की जायगी, तब तक चारित्र-धर्म निर्दोष-पूर्वक नहीं पाला जा सकता । अत एव सूत्रकार ने षट्काय जीवों की रक्षा का प्रकार बतलाने के लिये आगे छः सूत्र कहे हैं । उनमें से पृथिवी-काय की रक्षा का

यह पहला सूत्र है। साधु और साध्वी सकल परिग्रह का तो त्याग ही कर चुके हैं। केवल काय की पालना करने के लिये वे भिक्षणशील-भिक्षु-हैं। सूत्र में जो विशेषण भिक्षु के लिये हैं, वे ही भिक्षुणी के लिये भी हैं। लेकिन वे सब हैं पुँल्लिङ्ग, 'भिक्खू' का पूर्व निपात है, इससे पुरुप की प्रधानता सिद्ध होती है। तप-कर्म में रत, कर्मों की दीर्घ स्थिति को जिसने ह्रस्व अर्थात् कम कर लिया हो, कर्मों को बाँधने वाले एवं बढ़ाने वाले कारणों का अभाव कर जिसने पापकर्म का प्रत्याख्यान कर लिया हो, इत्यादि विशेषणों से युक्त मुनि कभी भी सूत्र में कही हुई अर्थात् सचित्त मिट्टी का स्पर्श न करे, अपना वस्त्रादि उपकरण का उससे स्पर्श न होने दे, उसपर कुछ लिखे नहीं, उसे इधर से उधर आदि करे नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसा दूसरों से कभी करावे नहीं और ऐसा करने पर दूसरे की अनु-मोदना भी करे नहीं। क्योंकि ऐसा करने पर ही उसका चारित्र-धर्म निर्दोष हो सकता है। और जिस स्थान पर अर्थात् मोक्ष-स्थान पर पहुँचने की तैयारी वह कर रहा है, वहाँ वह पहुँच सकता है।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि सूत्रकार पहले भी पृथ्वीकाय का वर्णन कर आये हैं और यहाँ पर फिर भी उन्होंने उसका वर्णन किया है। यह दुवारा उसी विषय का वर्णन 'पुनरुक्ति' नाम का एक दूषण है। शास्त्र में यह नहीं होना चाहिये। इसका समाधान यह है कि पहले पृथ्वी का जो वर्णन किया गया है, वह उसका सामान्य कथन है। और यह सूत्र उसके भेदों का वर्णन करने वाला है। इसलिये उससे यह विशेष है। दोनों वर्णन एक नहीं हैं। पृथ्वी के उत्तर भेद, जो शास्त्रकारों ने सात लाख बतलाये हैं, उन सब का भी इन्हीं में समावेश हो जाता है। इन भेदों का कथन करने से शास्त्रकार का यह अभिप्राय है कि जिन चीजों से मुनि को बचना है, उनका पूरा-पूरा ज्ञान उन्हें हो जाय। ताकि अपने क्रियाचरण पालने में उन्हें सुगमता हो जाय और कोई बाधा उपस्थित न हो।

सूत्र में 'आलिहिज्जा-विलिहिज्जा'—'आलिखेत्-विलिखेत्' पद 'लिख' धातु के हैं, जिसका अर्थ-उकेरना, कुरेदना आदि होता है।

उत्थानिका-अब शास्त्रकार पृथिवीकाय के अनन्तर अप्काय का वर्णन करते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा; से उदगं वा, ओसं वा, हिमं वा, महियं वा, करगं वा, हरतणुगं वा, सुद्धोदगं वा, उदउल्लं वा कायं, उदउल्लं वा वत्थं, ससिणिद्धं वा कायं, ससिणिद्धं वा वत्थं; न आमुसिज्जा, न संफुसिज्जा, न आवीलिज्जा, न पवीलिज्जा, न अक्खोडिज्जा, न पक्खोडिज्जा, न आयाविज्जा, न पयाविज्जा; अन्नं न आमुसाविज्जा, न संफुसाविज्जा, न आवीलाविज्जा, न पवीलाविज्जा, न अक्खोडाविज्जा, न पक्खोडाविज्जा, न आयाविज्जा, पयाविज्जा; अन्नं आमुसंतं वा, संफुसंतं वा, आवीलंतं वा, पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा, पक्खोडंतं वा, आयावंतं वा, पयावंतं वा न समणुजाणिज्जा; जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं; न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रातिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा; दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा; स उदकं वा, अवश्यायं वा, हिमं वा, मिहिकां वा,

करकं वा, हरतनुकं वा, शुद्धोदकं वा, उदकार्द्रं वा कायम्, उदकार्द्रं वा वस्त्रम्, सस्निग्धं वा कायम्, सस्निग्धं वा वस्त्रम्; नामृषेत्, न संस्पृशेत्, नापीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नास्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नातापयेत्, न प्रतापयेत्; अन्येन नामर्षयेत्, न संस्पर्शयेत्, नापीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नास्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नातापयेत्, न प्रतापयेत्; अन्यमामृषन्तं वा, संस्पृशन्तं वा, आपीडयन्तं वा, प्रपीडयन्तं वा, आस्फोटयन्तं वा, प्रस्फोटयन्तं वा, आतापयन्तं वा, प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयात्; यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन; न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

पदार्थान्वयः—से—वह भिक्खू वा—साधु, अथवा भिक्खुणी वा—साध्वी, जो कि संजय—निरन्तर यत्नशील हैं विरय—नाना प्रकार के तप-कर्म मे रत हैं पडिहय—प्रतिहत हैं पच्चक्खायपावकम्मे—पापकर्म को छोड़ चुके हैं दिआ वा—दिन में, अथवा राओवा—रात्रि में, अथवा समओ वा—अकेले हों, अथवा परिसागओ वा—परिषद् में बैठे हुए हों, अथवा सुत्ते वा—सोये हुए हों, अथवा जागरमाणे वा—जागते हुए हों से—जैसे कि उदगं वा—कूपादि का पानी, अथवा ओसं वा—ओस का पानी, अथवा हिमं वा—वर्फ का पानी, अथवा महियं वा—धुंध का पानी, अथवा करगं वा—गढों का (ओले का) पानी, अथवा हरतणुगं वा—भूमि को उद्भेदन कर तृणादि पर स्थित हुआ पानी, अथवा सुद्धोदगं वा—वर्षा का पानी, इत्यादि से उदउल्लं वा कायं—गीले हुए शरीर को, अथवा उदउल्लं वा वत्थं—गीले हुए वस्त्र को, अथवा ससिणिद्धं वा कायं—स्निग्ध काय को, अथवा ससिणिद्धं वा वत्थं—स्निग्ध वस्त्र को न आमुसिज्जा—एक वार स्पर्श न करे न संफुसिज्जा—वार वार स्पर्श

न करे न आवीलिज्जा—थोड़ा भी दवावे नहीं न पवीलिज्जा—वार वार दवावे नहीं न अक्खोडिज्जा—एक वार भी झाड़े नहीं न पक्खोडिज्जा—वार वार झाड़े नहीं न आयाविज्जा—एक वार भी सुखावे नहीं न पयाविज्जा—वार वार सुखावे नहीं अन्नं—औरों से न आमुसाविज्जा—एक वार भी स्पर्श करावे नहीं न संफुसाविज्जा—वार वार स्पर्श करावे नहीं न आवीलाविज्जा—एक वार भी दवावे नहीं न पवीलाविज्जा—वार वार दवावे नहीं न अक्खोडाविज्जा—एक वार झड़कावे नहीं न पक्खोडाविज्जा—वार वार झड़कावे नहीं न आयाविज्ञा—एक वार भी औरों से सुखवावे नहीं न पयाविज्ञा—वार वार औरों से सुखवावे नहीं अन्नं आमुसंतं वा—एक वार भी स्पर्श करने पर और की, अथवा संफुसंतं वा—वार वार स्पर्श करने पर और की, अथवा आवीलंतं वा—एक वार भी दवाने पर और की, अथवा पवीलंतं वा—वार वार दवाने पर और की, अथवा अक्खोडंतं वा—एक वार भी झड़कारने पर और की, अथवा पक्खोडंतं वा—वार वार झड़कारने पर और की, अथवा आयावंत वा—एक वार सुखाने पर और की, अथवा पयावंतं वा—वार वार सुखाने पर और की न समणुजाणिज्जा—अनुमोदना करे नहीं जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त तिविहं—त्रिविध तिविहेणं—तीन प्रकार से, अर्थात् मणेणं—मन से वायाए—वचन से काएणं—काय से न करेमि—न करूँ न कारवेमि—न कराऊँ करंतंपि—करते हुए भी अन्नं—औरों की न समणुजाणामि—अनुमोदना न करूँ भंते—हे भगवन्! तस्स—उसकी पडिक्कमामि—मैं प्रतिक्रमणा करता हूँ निंदामि—निन्दा करता हूँ गरिहामि—गर्हणा करता हूँ, और अप्पाणं—आत्मा को वोसिरामि—पृथक् करता हूँ।

मूलार्थ—वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत हो, विरत हो, प्रतिहत हो, और पाप-कर्मों को जिसने छोड़ दिया हो; वह दिन में, रात्रि में, अकेले-दुकेले, सोते-जागते; कूपादि के, ओस के, वर्फ के, धुंध के, गड़ों के (ओलों के), तृणादि के, और वर्षादि के पानी से यदि शरीर भीग जाय, अथवा वस्त्र भीग जाय, अथवा शरीर गीला हो जाय, अथवा वस्त्र गीला हो जाय, तो उनको एक वार भी थोड़ा भी स्पर्श करे नहीं, अथवा वार वार और अत्यधिक स्पर्श करे नहीं, थोड़ा सा भी और एक वार भी उसे मरोड़े नहीं, वार वार और अत्यधिक मरोड़े नहीं, थोड़ा सा भी और एक वार भी उसे झड़कावे नहीं, वार वार

और अत्यधिक झड़कावे नहीं, एक वार भी और थोडा सा भी धूपादि में सुखावे नहीं, वार वार और अत्यधिक सुखावे नहीं; सो उक्त क्रियाएँ अन्यसे करावे नहीं और अन्य करने वालों की अनुमोदना भी करे नहीं। शेष अर्थ प्राग्वत् यहाँ भी लगा लेना चाहिए।

टीका—सूत्र मे 'उदउल्ल'–'उदकार्द्रम्' और 'ससिणिद्धं'–'सस्निग्धम्' जो दो पद दिये गये हैं, उनमें यह अन्तर है कि 'स्निग्ध' का अर्थ तो केवल 'गीला होना' है और 'उदकार्द्र' का अर्थ ऐसा गीला होना है कि 'जिसमें से जल की बूंदें टपक रही हों'। सूत्रमें 'आवीलिज्जा, पवीलिज्जा'—'आपीडयेत्, प्रपीडयेत्' आदि पदों में जो 'आ' और 'प्र' उपसर्ग लगे हुए हैं, उनमें यह अन्तर है कि 'आ' उपसर्ग का अर्थ तो 'एक वार तथा थोड़ा' होता है और 'प्र' उपसर्ग का अर्थ 'वार-वार तथा बहुत' होता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'प्र' उपसर्ग का जो 'वार-वार तथा बहुत' अर्थ किया गया है, वह तो ठीक है। क्योंकि 'प्र' का अर्थ कोषकारों ने 'प्रकर्ष' किया है। 'वार-वार तथा बहुत' ये दोनों ही अर्थ प्रकर्षार्थ के द्योतक ही हैं। लेकिन 'आ' उपसर्ग का जो 'एक वार तथा थोड़ा' अर्थ किया गया है, वह यहाँ कैसे घटे ? क्योंकि 'आ' उपसर्ग 'अभिविधि और मर्यादा' अर्थों में आता है। इसका समाधान यह है कि 'एक वार तथा थोड़ा' जो अर्थ हमने 'आ' उपसर्ग का किया है, वह 'अभिविधि तथा मर्यादा' ही तो हुई। यदि यहाँ यह शङ्का की जाय कि श्री भगवान् ने ऐसी आज्ञा क्यों दी ? तो इसका समाधान यह है कि अप्काय के जीव अति सूक्ष्म होते हैं। वे थोड़े से स्पर्श से ही प्राणच्युत हो जाते हैं। अतः श्री भगवान् ने उनकी रक्षा के लिये यह यत्नारूप उपदेश दिया है। शेष वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार अप्काय के अनन्तर तेजस्काय की यत्ना के विषय में कहते हैं:—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिआ वा, राओ वा, एगओ वा,

परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा; से अगणिं वा, इंगालं वा, मुम्मुरं वा, अच्चिं वा, जालं वा, अलायं वा, सुद्धागणिं वा, उक्कं वा; न उंजिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, न उज्जालिज्जा, न पज्जालिज्जा, न निव्वाविज्जा; अन्नं न उंजाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, न उज्जालाविज्जा, न पज्जालाविज्जा, न निव्वाविज्जा; अन्नं उज्जंतं वा, घट्टंतं वा, भिदंतं वा, उज्जालंतं वा, पज्जालंतं वा, निव्वावंतं वा न समणुजाणिज्जा; जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं; न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा; दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा; सोऽग्निं वा, अङ्गारं वा, मुर्मुरं वा, अर्चिर्वा, ज्वालां वा, अलातं वा, शुद्धाग्निं वा, उल्कां वा; नोत्सिञ्चेत्, न घट्टयेत्, न भिन्द्यात्, न उज्ज्वालयेत्, न प्रज्वालयेत्, न निर्वापयेत्; अन्येन नोत्सेचयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न प्रज्वालयेत्, न निर्वापयेत्; अन्यमुत्सिञ्चन्तं वा, घट्टयन्तं वा, भिन्दन्तं वा, उज्ज्वालयन्तं वा, प्रज्वाल-

यन्तं वा, निर्वापयन्तं वा न समनुजानीयात्; यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन; न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥३॥

[सूत्र ॥१६॥]

पदार्थान्वयः—**से**-वह **भिक्खू वा**-साधु, अथवा **भिक्खुणी वा**-साध्वी, जो कि **संजय**-संयत **विरय**-विरत **पडिहय**-प्रतिहत, और **पच्चक्खायपावकम्मे**-पापकर्म जिसने छोड़ दिये हैं **दिआ वा**-दिन में, अथवा **राओ वा**-रात्रि में, अथवा **एगओ वा**-अकेले, अथवा **परिसागओ वा**-परिषद् में स्थित, अथवा **सुत्ते वा**-सोता हुआ, अथवा **जागरमाणे वा**-जागता हुआ **से**-वह **अगणिं वा**-अग्नि को, अथवा **इंगालं वा**-ज्वाला-रहित अङ्गारों की अग्नि को, अथवा **मुम्मुरं वा**-बकरी आदि के मैंगनों की अग्नि को, अथवा **अच्चिं वा**-मूल अग्नि से टूटती हुई ज्वाला को, अथवा **जालं वा**-ज्वाला को, अथवा **अलायं वा**-भट्ठे की अग्नि को, अथवा **सुद्धागणिं वा**-काष्ठादि-रहित शुद्ध अग्नि को, अथवा **उक्कं वा**-उल्का को **न उंजिज्जा**-सिंचन न करे **न घट्टिज्जा**-संघट्टन न करे **न भिंदिज्जा**-भेदन न करे **न उज्जालिज्जा**-पंखादि की थोड़ी सी भी हवा से प्रज्वलित न करे **न पज्जालिज्जा**-पंखादि द्वारा विशेष प्रज्वलित न करे **न निव्वाविज्जा**-न बुझावे **अन्नं**-अन्य के द्वारा **न उंजाविज्जा**-सिंचन करावे नहीं **न घट्टाविज्जा**-संघट्टन करावे नहीं **न भिंदाविज्जा**-भेदन करावे नहीं **न उज्जालाविज्जा**-पंखादि द्वारा थोड़ा सा भी प्रज्वलित करावे नहीं **न पज्जालाविज्जा**-पवन के द्वारा विशेष प्रज्वलित करावे नहीं **न निव्वाविज्जा**-बुझवावे नहीं **उज्जंतं वा**-उत्सिञ्चन करते हुए, अथवा **घट्टंतं वा**-संघट्टन करते हुए, अथवा **भिंदंतं वा**-भेदन करते हुए, अथवा **उज्जालंतं वा**-पंखादि द्वारा प्रचण्ड करते हुए, अथवा **पज्जालंतं वा**-पवन से विशेष प्रचण्ड करते हुए, अथवा **निव्वावंतं वा**-बुझाते हुए **अन्नं**-और की **न समणुजाणिज्जा**-अनुमोदना करे नहीं **जावज्जीवाए**-जीवन पर्यन्त **तिविहं**-त्रिविध **तिविहेणं**-त्रिविध से **मणेणं**-मन से **वायाए**-वचन से **काएणं**-काय से **न करेमि**-करूँ नहीं **न कारवेमि**-

कराऊँ नहीं; और करंतंपि–करते हुए भी अन्नं–अन्य की न समणुजाणामि–अनुमोदना करूँ नहीं भंते–हे भगवन्! तस्स–उसकी पडिक्कमामि–मैं प्रतिक्रमणा करता हूँ निंदामि–निन्दा करता हूँ गरिहामि–गर्हणा करता हूँ, और अप्पाणं–आत्मा को वोसिरामि–पृथक् करता हूँ।

मूलार्थ—वह पञ्चमहाव्रतधारी भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत, विरत और प्रतिहत है, तथा जिसने पाप कर्म छोड़ दिये हैं; दिन में, रात्रि में, अकेले-दुकेले, सोते-जागते; अग्नि को, अङ्गारों को, मैंगनों की अग्नि को, टूटी हुई ज्वाला को, ज्वाला को, कुँभारादि के भट्ठे की अग्नि को, शुद्धाग्नि को और उल्का को; लकडी आदि देकर उत्सिञ्चन न करे, संघट्टन न करे, भेदन न करे, प्रज्वलित न करे, विशेष प्रज्वलित न करे, और बुझावे भी नहीं; एवं दूसरे से भी इंधनादि द्वारा उत्सिञ्चन न करावे, संघट्टन न करावे, भेदन न करावे, प्रज्वलित न करावे, विशेष प्रज्वलित न करावे और बुझवावे भी नहीं; किन्तु अन्य जो कोई उक्त क्रियाएँ करते हों तो उनकी अनुमोदना भी न करे; [शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि—] मैं जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदना और तीन योग—मन-वचन-काय से अग्नि का आरम्भ न करूँ, न कराऊँ, और न करते हुए की अनुमोदना ही करूँ। हे भगवन्! मैं उस पाप से प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्म-साक्षीपूर्वक उसकी निन्दा करता हूँ, गुरु-साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूँ और अपनी आत्मा को उस पाप से पृथक् करता हूँ।

टीका—आगम में अग्नि-काय के सब मिलाकर जो सात लाख भेद वर्णन किये गये हैं, उक्त सूत्र में उनका दिग्दर्शनमात्र है। सूत्रोक्त सब अग्नियाँ सचित्त हैं। उनका व्यवहार साधु के लिये वर्जित है। अग्नियों में केवल 'तेजोलेश्या' ही अचित्त है। अग्नि के समान प्रकाश गुण पृथिवी में भी पाया जाता है। क्योंकि जिस प्रकार विद्युत् प्रकाश करती है, ठीक उसी प्रकार मणि आदि पार्थिव पदार्थ भी प्रकाश करते हैं। इसी लिये शास्त्रकारों ने कहा है कि पृथ्वी प्रकाशकत्व वा अप्रकाशकत्व, दोनों गुणों से युक्त है।

उत्थानिका—सूत्रकर्ता अग्नि-काय की यत्ना के पश्चात् अब वायु-काय की यत्ना के विषय में कहते हैं:—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा; से सिएण वा, विहुयणेण वा, तालिअंटेण वा, पत्तेण वा, पत्तभंगेण वा, साहाए वा, साहाभंगेण वा, पिहुणेण वा, पिहुण-हत्थेण वा, चेलेण वा, चेलकण्णेण वा, हत्थेण वा, मुहेण वा; अप्पण्णो वा कायं, बाहिरं वा वि पुग्गलं, न फुमिज्जा, न वीएज्जा; अन्नं न फुमाविज्जा, न वीयाविज्जा; अन्नं फुमंतं वा, वीअंतं वा न समणु-जाणिज्जा; जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं; न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥४॥ [सूत्र ॥१७॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा; दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा; स सितेन वा, विधवनेन वा, तालवृन्तेन वा, पत्रेण वा, पत्रभङ्गेन वा, शाखया वा, शाखाभङ्गेन वा, पेहुणेन वा, पेहुणहस्तेन वा, चेलेन वा, चेलकर्णेन वा, हस्तेन वा, मुखेन वा; आत्मनो वा कायम्, बाह्यं वाऽपि पुद्गलम्, न फूत्कुर्यात्, न व्यजेत्; अन्येन न फूत्कारयेत्, न व्याजयेत्;

अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा, व्यजन्तं वा न समनुजानीयात्; यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन; न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १७ ॥]

पदार्थान्वयः—से-वह भिक्खू वा-साधु, अथवा भिक्खुणी वा-साध्वी, जो कि संजय-निरन्तर यत्नशील है विरय-नाना प्रकार के तप-कर्मों में रत है पडिहय-प्रतिहत है पच्चक्खायपावकम्मे-पाप-कर्म को छोड़ चुका है दिआ वा-दिन में, अथवा राओ वा-रात्रि में, अथवा एगओ वा-अकेले हो, अथवा परिसागओ वा-परिषद् में बैठा हुआ हो, अथवा सुत्ते वा-सोया हुआ हो, अथवा जागरमाणे वा-जागता हुआ हो से-वह सिएण वा-श्वेत चमर से, अथवा विहुयणेण वा-पंखे से, अथवा तालिअंटेण वा-ताड़-वृक्ष के पंखे से, अथवा पत्तेण वा-पत्तों से, अथवा पत्तभंगेण वा-पत्तों के टुकड़ों से, अथवा साहाए वा-शाखा से, अथवा साहाभंगेण वा-शाखाओं के टुकड़ों से, अथवा पिहुणेण वा-मयूर के पंखों से, अथवा पिहुणहत्थेण वा-मयूरादि की पिच्छी से, अथवा चेलेण वा-वस्त्र से, अथवा चेलकण्णेण वा-वस्त्र के टुकड़ों से, अथवा हत्थेण वा-हाथ से, अथवा मुहेण वा-मुख से अप्पणो वा कायं-अपने शरीर को, अथवा बाहिरं वा वि पुग्गलं-शरीर से बाहर के पुद्गलों को न फुमिज्जा-फूँक मारे नहीं न वीएज्जा-पंखादि से वयार करे नहीं अन्नं-अन्य से न फुमाविज्जा-फूँक लगवावे नहीं न वीयाविज्जा-पंखादि से वयार करवावे नहीं, और फुमंतं वा-फूँक लगाते हुए, अथवा वीअंतं वा-पंखादि से वयार करते हुए अन्नं-अन्य किसी व्यक्ति की न समणुजाणिज्जा-अनुमोदना करे नहीं जावज्जीवाए-जीवन पर्यन्त तिविहं-त्रिविध तिविहेणं-त्रिविध से मणेणं-मन से वायाए-वचन से काएणं-काय से न करेमि-न करूँ न कारवेमि-न कराऊँ करंतंपि-करते हुए भी अन्नं-औरों की न समणुजाणामि-अनुमोदना न करूँ भंते-हे भगवन् ! तस्स-उसकी

पडिक्कमामि–मैं प्रतिक्रमणा करता हूँ निंदामि–निन्दा करता हूँ गरिहामि–गर्हणा करता हूँ अप्पाणं–आत्मा को वोसिरामि–हटाता हूँ।

मूलार्थ—पूर्वोक्त पाँच महाव्रत-सहित वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत है, विरत है, प्रतिहत है और पाप-कर्म से रहित है; दिन में, रात्रि में, अकेले-दुकेले, सोते-जागते; श्वेत चमर से, पंखे से, ताड-वृक्ष के पङ्खे से, पत्ते से, पत्तों के टुकड़ों से, शाखा से, शाखाओं के टुकड़ों से, मयूरपिच्छी से, मयूरपिच्छी की पूँजनी से, वस्त्र से, वस्त्र के टुकड़े से, हाथ से, मुख से; अपने शरीर को वा बाहर के पुद्गल को, न फूँक लगावे, न पंखा करे; अन्य से न फूँक लगवावे, न पंखा करवावे; और न फूँक लगाते हुए या पंखा करते हुए अन्य किसी व्यक्ति की अनुमोदना करे; जीवन-पर्यन्त त्रिविध—कृत-कारित-अनुमोदना से तथा त्रियोग—मन-वचन-काय से [इसके अनन्तर शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि] हे भगवन्! अग्नि-काय का आरम्भ न मैं स्वयं करूँ, न कराऊँ और न करते हुए अन्य किसी व्यक्ति की अनुमोदना ही करूँ। और जो आज तक किया हो उसका मैं प्रत्याख्यान करता हूँ, आत्मा की साक्षी-पूर्वक उसकी मैं निन्दा करता हूँ, गुरु की साक्षी-पूर्वक उसकी मैं गर्हणा करता हूँ तथा उससे मैं अपने आप को हटाता हूँ।

टीका—मानव-जीवन में वायु-काय का प्रतिपल व्यवहार होता है। उठते-बैठते हर हालत में वायु-काय का चक्र चलता रहता है। इसलिये वायु-काय के जीवों की रक्षा के लिये बड़ी सावधानी से वर्तना चाहिये। सूत्र से सिद्ध होता है कि वायु-काय के अधिष्ठाता देवों की यदि यत्नपूर्वक आराधना की जाय तो वे भी सिद्ध किये जा सकते हैं। शेष वर्णन प्राग्वत् समझना चाहिये।

उत्थानिका—शास्त्रकार अब वायु-काय के पश्चात् वनस्पति-काय की यत्ना के विषय में कहते हैं:—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा; से बीएसु

वा, बीयपइट्ठेसु वा, रूढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपइट्ठेसु वा, हरिएसु वा, हरियपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा, छिन्नपइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा, सचित्त-कोलपडिनिस्सिएसु वा; न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा, न निसीइज्जा, न तुअट्टिज्जा; अन्नं न गच्छाविज्जा, न चिट्ठाविज्जा, न निसीयाविज्जा, न तुअट्टाविज्जा; अन्नं गच्छंतं वा, चिट्ठंतं वा, निसीयंतं वा, तुअट्टंतं वा न समणुजाणिज्जा; जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं; न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडि-क्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥५॥ [सूत्र ॥ १८ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा; दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा; स बीजेषु वा, बीजप्रतिष्ठितेषु वा, रूढेषु वा, रूढप्रतिष्ठितेषु वा, जातेषु वा, जातप्रतिष्ठितेषु वा, हरितेषु वा, हरिप्रततितिष्ठितेषु वा, छिन्नेषु वा, छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा, सचित्तेषु वा, सचित्तकोलप्रतिनिःश्रितेषु वा; न गच्छेत्, न तिष्ठेत्, न निषीदेत्, न त्वग्वर्तेत (स्वप्यात्); अन्यं न गमयेत्, न स्थापयेत्, न निषादयेत्, न त्वग्वर्तयेत् (स्वापयेत्);

अन्यं गच्छन्तं वा, तिष्ठन्तं वा, निषीदन्तं वा, त्वग्वर्तमानं (स्वपन्तं) वा न समनुजानीयात्; यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन; न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥५॥ [सूत्र ॥१८॥]

पदार्थान्वयः—से–वह भिक्खू वा–साधु, अथवा भिक्खुणी वा–साध्वी, जो कि संजय–संयत विरय–विरत पडिहय–प्रतिहत, और पच्चक्खायपावकम्मे–पाप-कर्म को जिसने छोड़ दिया हो दिआ वा–दिन में, अथवा राओ वा–रात्रि में, अथवा एगओ वा–अकेले, अथवा परिसागओ वा–परिषद् में बैठा हुआ, अथवा सुत्ते वा–सोता हुआ, अथवा जागरमाणे वा–जागता हुआ से–यथा बीएसु वा–बीजों पर, अथवा बीयपइट्ठेसु वा–बीज के ऊपर भक्षण करने योग्य अन्नादि पदार्थ जो रखे हुए हों उन पर, अथवा रूढेसु वा–बीज फूटकर जो अंकुरित हुए हों उन पर, अथवा रूढपइट्ठेसु वा–रूढ-प्रतिष्ठित पदार्थों पर, अथवा जाएसु वा–जो उगकर पत्रादि से युक्त हो गये हों उन पर, अथवा जायपइट्ठेसु वा–जात-प्रतिष्ठित पदार्थों पर, अथवा हरिएसु वा–हरित दूर्वादि पर, अथवा हरियपइट्ठेसु वा–हरित-प्रतिष्ठित पदार्थों पर, अथवा छिन्नेसु वा–परशु आदि द्वारा छेदन की हुई वृक्षादि की शाखाओं पर, अथवा छिन्नपइट्ठेसु वा–छिन्न-प्रतिष्ठित अशनादि पदार्थों पर, अथवा सचित्तेसु वा–सचित्त अण्डकादि पर, अथवा सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा–सचित्त घुणादि से प्रतिष्ठित काष्ठादि पर अर्थात् जिन काठों को घुण लगा हुआ हो उन पर न गच्छेज्जा–न चले न चिट्ठेज्जा–न खड़ा हो न निसीइज्जा–न बैठे न तुअट्टिज्जा–न लेटे—न करवट बदले अन्नं–अन्य व्यक्ति को न गच्छाविज्जा–चलावे नहीं न चिट्ठाविज्जा–खड़ा करावे नहीं न निसीयाविज्जा–बैठावे नहीं न तुअट्टाविज्जा–शयन करावे नहीं गच्छंतं वा–गमन करते हुए, अथवा चिट्ठंतं वा–खड़े होते हुए, अथवा निसीयंतं वा–बैठते हुए, अथवा तुअट्टंतं वा–शयन करते हुए अन्नं–अन्य किसी की न समणुजाणिज्जा–अनुमोदना करे नहीं जावज्जीवाए–जीवन पर्यन्त तिविहं–त्रिविध तिविहेणं–त्रिविध से मणेणं–मन से वायाए–वचन से काएणं–

काय से **न करोमि**–मैं नहीं करूँ **न कारवेमि**–औरों से नहीं कराऊँ **करंतंपि**–करते हुए भी **अन्नं**–अन्य की **न समणुजाणामि**–अनुमोदना नहीं करूँ **भंते**–हे भगवन् ! **तस्स**–उसकी **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमणा करता हूँ **निंदामि**–निन्दा करता हूँ **गरिहामि**–गर्हणा करता हूँ, और **अप्पाणं**–आत्मा को **वोसिरामि**–पृथक् करता हूँ ।

मूलार्थ—पूर्वोक्त पाँच महाव्रत-युक्त वह भिक्षु अथवा भिक्षुकी, जो कि संयत है, विरत है, प्रतिहत है, और पाप-कर्मों का जिसने त्याग कर दिया है; दिन में, रात्रि में, अकेले-दुकेले, सोते-जागते; बीजों पर, बीजों पर रक्खे हुए पदार्थों पर, अंकुरों पर, अंकुरों पर रक्खे हुए पदार्थों पर, पत्रादि-संयुक्त अंकुरों पर, उन पर रक्खे हुए पदार्थों पर, हरितों पर, हरित-प्रतिष्ठित पदार्थों पर, वृक्षादि की छेदन की हुई शाखाओं पर, उन पर रक्खे हुए पदार्थों पर, अण्डादि सचित्त पदार्थों पर, सचित्त-कोल-घुणादि से प्रतिष्ठित पदार्थों पर: न चले, न खड़ा हो, न बैठे, न सोवे; अन्य को उक्त पदार्थों पर न चलावे, न खड़ा करे, न बैठावे, न सुलावे; और जो उक्त क्रियाएँ करते हों उनकी अनुमोदना भी न करे । शेष प्राग्वत् ।

टीका—यह बात शास्त्र-सम्मत है कि मनुष्य जिस प्रकार के जीव की हिंसा करता है, प्रायः उसको उसी प्रकार का जन्म धारण करके उसी प्रकार से मरना पड़ता है । अतएव वनस्पति-काय आदि की हिंसा अपने से न हो जाय, इस बात की पूरी सावधानी मनुष्य को करनी चाहिये । इस प्रकार सावधानी से प्रवृत्ति करते हुए मनुष्य जब संपूर्ण जीवों का पूर्ण - रक्षक बन जायगा, तभी उसे निर्वाण-पद की प्राप्ति हो सकेगी । कृत, कारित और अनुमोदन, इन तीनों करणों–कारणों–से जीव के कर्म-बन्ध होता है । इसलिये इन तीनों के निरोध करने से ही जीव के आते हुए कर्म रुकेंगे, इसी लिये यहाँ पर तथा पूर्व में अनेक जगह पर इन तीनों से ही सावधान रहने का आदेश शास्त्रकार ने दिया है । शेष वर्णन यहाँ पर भी प्राग्वत् ही समझना चाहिये ।

उत्थानिका—वनस्पति-काय की यत्ना के पश्चात् शास्त्रकार अब त्रस-काय की यत्ना के विषय में वर्णन करते हैं :—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा; से कीडं वा, पयंगं वा, कुंथुं वा, पिपीलियं वा; हत्थंसि वा, पायंसि वा, बाहुंसि वा, उरुंसि वा, उदरंसि वा, सीसंसि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहंसि वा, कंबलंसि वा, पायपुंछणंसि वा, रयहरणंसि वा, गुच्छगंसि वा, उंडगंसि वा, दंडगंसि वा, पीढगंसि वा, फलगंसि वा, सिज्जंसि वा, संथारगंसि वा, अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरण-जाए, तओ संजयामेव पडिलेहिअ पडिलेहिअ, पमज्जिअ, पमज्जिअ, एगंतमवणिज्जा, नो णं संघाय-मावज्जिज्जा ॥६॥ [सूत्र ॥१९॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा; दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा; स कीटं वा, पतङ्गं वा, कुन्थुं वा, पिपीलिकां वा; हस्ते वा, पादे वा, बाहौ वा, ऊरौ वा, उदरे वा, शीर्षे वा, वस्त्रे वा, प्रतिग्रहे वा, कम्बले वा, पादप्रोञ्छनके वा, रजोहरणे वा, गुच्छके वा, उन्दुके वा, दण्डके वा, पीठके वा, फलके वा, शय्यायां वा, संस्तारके वा, अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते, ततः संयतमेव प्रतिलिख्य प्रति-

लिख्य, प्रमृज्य प्रमृज्य, एकान्तमपनयेत्, नैनं संघातमापादयेत् ॥६॥ [सूत्र ॥१९॥]

पदार्थान्वयः—से-वह **भिक्खू** वा-साधु, अथवा **भिक्खुणी** वा-साध्वी, जो कि **संजय**-निरन्तर यत्नशील है **विरय**-नाना प्रकार के तप-कर्मों में रत है **पडिहय**-प्रतिहत है **पच्चक्खायपावकम्मे**-पाप-कर्म को छोड़ चुका है **दिआ** वा-दिन में, अथवा **राओ** वा-रात्रि में, अथवा **एगओ** वा-अकेला हो, अथवा **परिसागओ** वा-परिषद् में बैठा हुआ हो, अथवा **सुत्ते** वा-सोया हुआ हो, अथवा **जागरमाणे** वा-जागता हुआ हो **से**-यथा **कीडं** वा-कीटक को, अथवा **पयंगं** वा-पतङ्गे को, अथवा **कुंथुं** वा-कुन्थुए को, अथवा **पिपीलियं** वा-पिपीलिका को **हत्थंसि** वा-हाथ पर, अथवा **पायंसि** वा-पाँव पर, अथवा **बाहुंसि** वा-भुजा पर, अथवा **उरुंसि** वा-गोडे पर, अथवा **उदरंसि** वा-पेट पर, अथवा **सीसंसि** वा-शिर पर, अथवा **वत्थंसि** वा-वस्त्र पर, अथवा **पडिग्गहंसि** वा-पात्र पर, अथवा **कंबलंसि** वा-कम्बल पर, अथवा **पायपुंछणंसि** वा-पादप्रोक्षण—आसनादि—पर, अथवा **रयहरणंसि** वा-रजोहरण पर, अथवा **गुच्छगंसि** वा-गोच्छग[1] पर, अथवा **उडगंसि** वा-मूत्रपात्र[2] पर, अथवा **दंडगंसि** वा-दंडे पर, अथवा **पीढगंसि** वा-चौकी पर, अथवा **फलगंसि** वा-पट्टे पर, अथवा **सिज्जंसि** वा-शय्या पर, अथवा **संथारगंसि** वा-बिछौने पर, अथवा **अन्नयरंसि** वा-अन्य **तहप्पगारे**-इसी प्रकार के **उवगरणजाए**-किसी उपकरण पर चढ़ जाने के **तओ**-बाद **संजयामेव**-यत्नपूर्वक **पडिलेहिअ पडिलेहिअ**-देख-देखकर **पमज्जिअ पमज्जिअ**-पोंछ-पोंछकर **एगंतमवणिज्जा**-एकान्त स्थान मे रख देवे **नो णं संघायमाविज्जिज्जा**-घात न करे—एकत्रित न करे—पीड़ा न पहुँचावे ।

मूलार्थ—पञ्चमहाव्रत-युक्त वह भिक्षु अथवा भिक्षुकी, जो कि संयत है, विरत है, प्रतिहत है, और पाप-कर्मों को जिसने त्याग दिया है; दिन में, रात्रि में, अकेले-दुकेले, सोते-जागते; यदि कीट, पतंगे, कुन्थुए, पिपीलिका आदि जीव; हाथ पर, पाँव पर, भुजा पर, गोड़े पर, पेट पर, सिर पर, वस्त्र पर, पात्र पर,

१ पात्रों के पोंछने का जो वस्त्र होता है, उसे 'गोच्छग' कहते हैं ।
२ 'उडग'-'उन्दक' स्थण्डिलं शय्या संस्तारिको वसतिर्वा' इति टीकायाम् ।

कम्बल पर, आसन पर, रजोहरण पर, गोच्छग पर, पात्रों के पोंछने के वस्त्र पर, मूत्र के पात्र पर, दण्डे पर, चौकी पर, पट्टे पर, शय्या पर, बिछौने पर तथा साधु के इसी प्रकार के किसी और उपकरण पर चढ जायँ तो उन्हें देख-भालकर, तथा झाड-पोंछकर अलग एकान्त स्थान में पहुँचा दे, उनका घात न करे—पीड़ा न पहुँचावे।

टीका—सूत्र का सारांश यह है कि साधु के किसी भी शरीरावयव पर अथवा उसके किसी भी उपकरण पर यदि कोई त्रस-जीव चढ़ आवे तो वह उसे भलीभाँति देख-भालकर तथा पोंछकर किसी ऐसे एकान्त स्थान में रख दें, जहाँ पर उसे किसी भी प्रकार की तकलीफ न होने पावे। वह स्थान ऐसा भी न हो जहाँ पर कि और अनेक जीव मौजूद हों और वे उसकी विराधना के कारण बन जावें। इसी लिये सूत्र में 'एगंतमवणिज्जा'—'एकान्तमपनयेत्' पद दिया है। सूत्र में 'अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए'—'अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते' जो पद दिया है, उसका तात्पर्य यह है कि साधु को जिस-जिस काल में धर्म-साधन के लिये जिस उपकरण की आवश्यकता हो, वह उसे निस्पृह-भाव से रख सकता है। जैसे कि—उक्त उपकरणों में पुस्तकों का नामोल्लेख नहीं है, किन्तु आधुनिक समय में साधु, धर्म-साधन की आशा से पुस्तक अपने पास रखते अवश्य हैं। इसी प्रकार अन्य उपकरणों के विषय में भी जानना चाहिये। लेकिन यह याद रखना चाहिये कि उपकरण उसी का नाम है, जिसके द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की पूर्णतया आराधना की जा सके। हाँ ! इस पर यह शङ्का अवश्य की जा सकती है कि यदि उक्त वक्तव्य का यह तात्पर्य निकाला जाय, जैसा कि ऊपर कहा गया है, तो फिर मान लीजिये कि किसी समय किसी साधु को धर्म-साधन के लिये द्रव्यादि के पास रखने की आवश्यकता पड़ गई तो क्या वह उसे ग्रहण करले ? इसका समाधान यह है कि द्रव्यादि का तो साधु पाँचवें महाव्रत में संपूर्णरूप से त्याग कर चुका है। उसे वह ग्रहण कभी भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार द्रव्यादि का सर्वथा त्याग सूत्रों में प्रतिपादन किया गया है, उस प्रकार उपकरणों का सर्वथा त्याग कहीं भी नहीं बतलाया गया है। हाँ ! उपकरणों का परिमाण कर लेना अवश्य बतलाया गया

है, जो कि युक्तियुक्त है। इस तरह से ज्ञान-साधन के लिये पुस्तकों का रखना साधुओं के लिये सूत्रानुसार सिद्ध है। और जिस तरह पुस्तकों का रखना उनके लिये सिद्ध है, उसी प्रकार तत्सम्बन्धी काष्ठ आदि के मषीपात्र रखना भी साधु के लिये अयुक्त नहीं है।

श्रीदशवैकालिकसूत्र का एक संस्करण 'आगमोदय-समिति' की ओर से भी प्रकाशित हुआ है। उक्त सूत्र का वह संस्करण 'टीका' और 'दीपिका' सहित प्रकाशित हुआ है१ उस संस्करण मे 'सीसंसि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहंसि वा, कंवलंसि वा, पायगुच्छगंसि वा' ये पद मूल में तो दिये हैं, लेकिन टीकाकार ने इन पदों की टीका नहीं की है। साथ ही दीपिकाकार ने उन पदों का अर्थ किया है। इससे टीकाकार और दीपिकाकारों में परस्पर पाठविषयक मतभेद प्रतीत होता है। उक्त संस्करण के संशोधक विद्वान् ने इसी आशय से इस पर पाद-टिप्पणी में एक यह टिप्पणी कि 'नैतानि व्याख्यातानि टीकायां, दीपिकायां तु व्याख्यातानि' जोड़कर टीकाकार और दीपिकाकार के मतभेद का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। उक्त संस्करण के अतिरिक्त श्रीदशवैकालिकसूत्र का एक संस्करण 'भीमसिंह माणिक' की ओर से भी प्रकाशित हुआ है। उसमें उक्त पद सब दिये हैं और गुजराती भाषा में उन सब का अर्थ भी दिया है। उक्त संस्करणों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ का एक संस्करण स्वामीरत्नचन्द्रजी-कृत हिन्दी-अर्थ-सहित भी हुआ है। उसमें 'सीसंसि वा' और 'वत्थंसि वा' पदों के बीच में एक 'मूहे मूहपत्तिसि वा' पद और छपा हुआ मिलता है। जिसका अर्थ होता है 'मुख पर बँधी हुई मुखपत्ति में।' श्री संघ में 'मुँहपत्ति' के 'मुख पर बँधी हुई' के अर्थ पर थोड़ा-सा विवाद है। विवाद मुँहपत्ति की आवश्यकता पर नहीं है, मुँहपत्ति की आवश्यकता तो जीव-रक्षा के उद्देश्य से दोनों को मान्य है। विवाद

१ इसी प्रकार का पाठभेद पहिले भी एक जगह आ चुका है। जैसे कि 'आगमोदय-समिति' द्वारा प्रकाशित इसी दशवैकालिकसूत्र के तेजस्काय की रक्षा वाले सूत्र में 'न भिंदिज्जा, न पज्जालिज्जा' ये दो पद नहीं दिये हैं। इस तरह के पाठभेदों का होना अनुचित है। इधर श्रीसंघ को अपना लक्ष्य अवश्य देना चाहिये। इसके लिये एक 'सूत्रमाला' इस प्रकार की प्रकाशित करनी चाहिये कि जिसमें समस्त प्रतियों के विभिन्न पाठों के संकलन के अतिरिक्त उन प्रतियों के सवतों का भी उसमें उल्लेख हो। तथा सूत्र और पदों की संख्या भी निश्चित कर देनी चाहिये, जिससे कि भविष्य में उनमें कोई घटा-बढ़ी न कर सके।

केवल 'मुख पर बाँधने न बाँधने' के विषय में है। संवेगी साधु मुख पर मुँहपत्ति बाँधते नहीं हैं, हाथ में लिये रहते हैं। केवल बोलते समय उसे मुँह के आड़े लगा लेते हैं और स्थानक-वासी साधु उसे हर समय मुँह पर बाँधे ही रहते हैं। शतावधानी पण्डित मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी स्वामी के बनाये हुए 'जैनागम-शब्द-संग्रह' —अर्द्धमागधी-गुजराती-कोष में लिखा है:—"मुहणंतक—न० (मुखानन्तक) मुखनुं वस्त्र—मुहपत्ति, मुहपत्ती—स्त्री० (मुखपत्री) मुहपत्ती, मुखवस्त्रिका; मुहपोत्ति—स्त्री० (मुखपोत्ति) मुखे बांधवानुं कपडुं मुहपत्ति, मुहपोत्तिया—स्त्री० (मुखपोत्तिका) मुखवस्त्रिका, मुखे बांधवानुं एक वेंतने चार आंगुलनुं वस्त्र मुहपत्ति।" उक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि मुहपत्ति का अर्थ ही यह है कि जो मुख पर बाँधी जाय। मूल-पाठ में 'मुहे मुहपत्तिसि वा' पाठ यदि न भी होता, जैसा कि कई प्रतियों में नहीं भी मिलता है, तो भी काम चल जाता। क्योंकि 'अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए' पाठ से मुँहपत्ति का ग्रहण किया ही जाता। अस्तु। इस स्थान पर तो केवल इसी बात का प्रकरण है कि त्रस-काय के जीवों की साव-धानतापूर्वक रक्षा करनी चाहिये, जिससे प्रथम अहिंसा-व्रत सुखपूर्वक पालन किया जा सके।

उत्थानिका—सूत्रकार यत्नाधिकार के पश्चात् अब उपदेश देते हैं:—

अजयं चरमाणो उ, पाणभूयाइ हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥१॥

अयतं चरंस्तु, प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—अजयं—अयत्न से चरमाणो—चलता हुआ जीव पाणभूयाइं—प्राणी—द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत—एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसइ—हिंसा करता है पावयं—ज्ञानावरणादि पाप कम्मं—कर्म को बंधइ—बाँधता है तं से—जिससे फिर उसको कडुयं फलं—कटुक फल होइ—होता है उ—तु—परन्तु, निश्चय आदि।

मूलार्थ—अयत्न से चलता हुआ जीव, प्राणि-भूतों की हिंसा करता है और पाप-कर्म को बाँधता है, जिससे फिर उसको कटुक फल प्राप्त होता है।

टीका—गमन-क्रिया में अयत्न करने का अर्थ ईर्या समिति से नहीं चलने का है। उपयोगपूर्वक देख-भालकर गमन करने को 'ईर्या-समिति' कहते हैं। विना उपयोग के गमन करने से प्राणियों की हिंसा हो जाना सहज संभव है। इसलिये सारांश यह निकला कि ईर्या-समिति को छोड़कर जो जीव गमन करता है, वह द्वीन्द्रियादि जीवों की अथवा उनके प्राणों की हिंसा करता है। जिससे कि उसके ज्ञानावरणादि पाप-कर्मों का वन्ध होता है। और फिर उस वन्ध का कटुक फल उसको प्राप्त होता है। गाथा में जो 'पाणभूयाइ' पद है; उसके दो अर्थ होते हैं—१. 'पाण'–'प्राणी'—द्वीन्द्रियादि जीव, और 'भूयाइ'–स्थावर जीव; २. 'पाण'–'प्राण'—इन्द्रिय, वल, आयु आदि प्राण और 'भूयाइ'–स्थावर जीव। जिस प्रकार इस गाथा मे गमन-क्रिया के विषय मे उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार आगे की गाथाओं में भी ठहरने, वैठने, सोने, खाने और बोलने रूप क्रियाओं के विषय में भी उपदेश दिया गया है। इत्यादि क्रियाओं को अयत्न पूर्वक करने से न केवल पाप-कर्म का वन्ध ही होता है, किन्तु अपने शरीर की कभी-कभी भारी हानि हो जाती है। प्रत्येक क्रिया का यत्न–विवेक–भिन्न २ प्रकार का होता है। उसकी योजना यथास्थान स्वयं कर लेनी चाहिये। यदि सब क्रियाएँ विवेकपूर्वक शास्त्रप्रमाणानुसार की जायँगी तो, न तो किसी प्रकार का वन्ध होगा और न किसी प्रकार की शरीर-सम्वन्धी वाधा ही उपस्थित होगी, अर्थात् यत्नपूर्वक क्रिया करने वाले जीव, आत्म-विराधना और पर-विराधना, दोनों से वच सकते हैं। गाथा के प्रथम चरण में कतिपय प्रतियों में 'उ' की जगह 'अ' भी पाठ देखा जाता है जो अव्यय है, व्याकरणानुसार उसकी संस्कृत छाया 'च' होती है, वह 'च'–और–अर्थ मे और पादपूर्ति में आता है। यहाँ पर यह दोनों अर्थों मे घटित हो सकता है। 'उ' की संस्कृत छाया तीन होती हैं—एक 'उत्', दूसरी 'उ' और तीसरी 'तु'। 'उत्'—विपरीत, अभाव, और विशेष अर्थ में; 'उ'—उपयोग रखने के अर्थ में, और 'तु'—निश्चय, वितर्क और परन्तु अर्थ में आता है। इनमें से यहाँ पर 'परन्तु' अर्थ अच्छा घटता है। इसलिये 'उ' की यहाँ पर 'तु' संस्कृत छाया की गई है। गाथा के चतुर्थ चरण में 'तं' अव्यय है। उसकी संस्कृत छाया 'तत्' होती है। 'तत्' वाक्या-

लंकार और हेतु-अर्थ में आता है। यहाँ पर उसे हेतु-अर्थ में मानकर ही उसका अर्थ किया गया है। वही अर्थ यहाँ पर सुघटित होता है। गाथा के चतुर्थ चरण में 'तं' के अतिरिक्त एक 'से' अव्यय भी है। अथ के स्थान पर उसका निपात होता है। वह 'अथ' किसी प्रकरण के प्रारम्भ में मंगल-अर्थ में, अनन्तर-अर्थ में प्रश्न-अर्थ में और अधिकार-अर्थ में आता है। प्रकरणानुसार यहाँ पर 'से' का अर्थ 'अनन्तर' अच्छा घटता है। अथवा 'वेदं तदेतदो ङसाम्भ्यां से सिमौ' इस हैम सूत्र से तद् शब्द को षष्ठी-एकवचन में 'से' आदेश हो जाता है। अतः संस्कृत छाया में 'तस्य' का प्रयोग किया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार गमन-क्रिया के प्रतिकूल स्थिति-क्रिया के विषय में कहते हैं:—

अजयं चिट्ठमाणो उ, पाणभूयाइ हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥२॥
अयतं तिष्ठंस्तु, प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥२॥

पदार्थान्वयः—**अजयं**-अयत्न से **चिट्ठमाणो**-स्थित होता हुआ **पाणभूयाइ**-प्राणी—द्विन्द्रियादि जीवों और भूत—एकेन्द्रिय जीवों की **हिंसइ**-हिंसा करता है **पावयं**-ज्ञानावरणादि पाप **कम्मं**-कर्म को **बंधइ**-बाँधता है **तं से**-अतएव पीछे उसको **कडुअं फलं**-कटुक फल **होइ**-होता है।

मूलार्थ—अयत्न से खड़ा हुआ जीव, प्राणी और भूतों की हिंसा करता है और पाप-कर्म को बाँधता है, जिस कारण से पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है।

टीका—जिस प्रकार गमन-क्रिया विना यत्न से पाप-कर्म के उपार्जन करने का एक हेतु बन जाती है, ठीक उसी प्रकार स्थिति-क्रिया भी विना यत्न से की हुई पाप-कर्म के उपार्जन करने का कारण बन जाती है। शेष पूर्ववत्।

उत्थानिका—सूत्रकार अब बैठने रूप क्रिया के विषय में कहते हैं:—

अजयं आसमाणो उ, पाणभूयाइ हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥३॥
अयतमासीनस्तु, प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥३॥

पदार्थान्वयः—अजय–अयत्न से आसमाणो–बैठता हुआ पाणभूयाइ–प्राणी–द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत–एकेन्द्रिय जीवों की हिंसइ–हिंसा करता है पावयं–ज्ञानावरणादि पाप कम्मं–कर्म को बंधइ–बाँधता है तं से–अतएव पीछे उसको कडुयं फलं–कटुक फल होइ–होता है।

मूलार्थ—अयत्न से बैठता हुआ जीव, प्राणी और भूतों की हिंसा करता है और पाप-कर्म को बाँधता है, जिस कारण से पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है।

टीका—सुगम।

उत्थानिका—इसी तरह सूत्रकार अब शयन-क्रिया के विषय में कहते हैं:—

अजयं सयमाणो उ, पाणभूयाइ हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥४॥
अयतं शयानस्तु, प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥४॥

पदार्थान्वयः—अजयं–अयत्न से सयमाणो–शयन करता हुआ पाणभूयाइ–प्राणी–द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत–एकेन्द्रिय जीवों की हिंसइ–हिंसा करता है पावयं–ज्ञानावरणादि पाप कम्मं–कर्म को बंधइ–बाँधता है तं से–अतएव पीछे उसे कडुयं फलं–कटुक फल होइ–होता है।

मूलार्थ—अयत्न से शयन करता हुआ जीव, प्राणी और भूतों की हिंसा करता है और पाप-कर्म को बाँधता है, जिसकी वजह से पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है।

टीका—सुगम ।

उत्थानिका—उसी प्रकार सूत्रकार अब भोजनरूप क्रिया के विषय में कहते हैं :—

अजयं भुंजमाणो उ, पाणभूयाइ हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥५॥

अयतं भुञ्जानस्तु, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥५॥

पदार्थान्वयः—अजयं-अयत्नपूर्वक भुंजमाणो-भोजन करता हुआ पाण-भूयाइ-प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत-एकेन्द्रिय जीवों की हिंसइ-हिंसा करता है पावयं-ज्ञानावरणादि पाप कम्मं-कर्म को बंधइ-बाँधता है तं से-अतएव पीछे उसे कडुयं फलं-कटुक फल होइ-होता है ।

मूलार्थ—अयत्न से आहार-पानी करता हुआ जीव, प्राणी और भूतों की हिंसा करता है और पाप-कर्म को बाँधता है, जिसकी वजह से पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ।

टीका—यों तो पाँचों ही इन्द्रियाँ जीव को अपने-अपने विषय में घसीट ले जाती हैं—वशीभूत करती रहती हैं । और इन पाँचों ही इन्द्रियों के वशीभूत हुआ जीव इस भव के तथा पर-भव के अनेक दुःख प्राप्त करता है । इनमें से जिह्वा-इन्द्रिय एक बहुत ही प्रबल इन्द्रिय है । इस इन्द्रिय के वशीभूत हो जाने से जीव बड़ी जल्दी गलती कर बैठता है । इसलिये इसका विषय जो भोजन है, उसमें जीव को बड़ी सावधानी से प्रवृत्ति करनी चाहिये । भोजन करते समय जीव को यह ख्याल रखना चाहिये कि भोजन शुद्ध और प्रमाणपूर्वक हो । भोजन करते समय साधु को केवल उदर-पूर्ति का ध्यान रखना चाहिये, स्वाद का नहीं । और भोजन को साधु इस तरह से ग्रहण करे, जिससे कि बाद में उसे झूठे गेरने की आवश्यकता न पड़े । इस तरह से यत्नपूर्वक आहार ग्रहण करने वाला साधु कर्म का बन्ध नहीं करता और किसी प्रकार की शारीरिक बाधा को भी नहीं प्राप्त करता ।

उत्थानिका—शास्त्रकार अब भाषाविषयक यत्नाचार का उपदेश करते हैं:—

अजयं भासमाणो उ, पाणभूयाइ हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥६॥

अयतं भाषमाणस्तु, प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥६॥

पदार्थान्वयः—अजयं-अयत्नपूर्वक भासमाणो-बोलता हुआ पाणभूयाइ-द्वीन्द्रियादि जीवों और एकेन्द्रिय जीवों की हिंसइ-हिंसा करता है पावयं-ज्ञानावरणादि पाप कम्मं-कर्म को बंधइ-बाँधता है तं से-अतएव पीछे उसे कडुयं फलं-कटुक फल होइ-होता है।

मूलार्थ—अयत्नपूर्वक बोलता हुआ जीव, प्राणी और भूतों की हिंसा करता है और पाप-कर्म को बाँधता है, जिसकी वजह से पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है।

टीका—इस गाथा में भाषाविषयक उल्लेख किया गया है। जो साधु गृहस्थ के समान कठिन और आक्रोशयुक्त वचन का प्रयोग करता है, वह पाप-कर्म को अवश्यमेव बाँधता है, जिसका कि परिणाम उसके लिये अवश्यमेव दुःखप्रद होता है। वाणी के वाण से व्यथित हुए प्राणी कभी-कभी अपने पवित्र जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं। अतः वचन बोलते समय अवश्य सावधानी रखनी चाहिये। ताकि कोई वचन ऐसा न निकल जाय जो पर-पीड़ा-कारक हो। असावधानी से बोले गये वचनों से सत्य की रक्षा होनी कठिन है। तथा वचन-समाधारणा से दर्शन की विशेष शुद्धि होती है, जिससे आत्मा अध्यात्म में प्रविष्ट हो जाती है। अतः वचन का प्रयोग विना यत्न के कदापि न होना चाहिये। जीवों को जितने कष्ट होते हैं, उनमें अधिकांश कष्ट असावधानी–अयत्न–से बोले गये वचनों के द्वारा होते हैं।

उत्थानिका—इस प्रकार गुरु के उपदेश को सुनकर शिष्य ने प्रश्न किया कि जब पाप-कर्म का बन्ध इस प्रकार से होता है तो फिर क्या करना चाहिये और कैसे वर्तना चाहिये, ताकि पाप-कर्म का बन्ध न हो:—

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥७॥

कथं चरेत् कथं तिष्ठेत्, कथमासीत कथं स्वपेत्।
कथं भुञ्जानो भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥७॥

पदार्थान्वयः—**कहं**–किस प्रकार से **चरे**–चले **कहं**–किस प्रकार से **चिट्ठे**–खड़ा हो **कहं**–किस प्रकार से **आसे**–बैठे **कहं**–किस प्रकार से **सए**–सोवे **कहं**–किस प्रकार से **भुंजंतो**–भोजन करता हुआ, और **भासंतो**–भाषण करता हुआ **पावकम्मं**–पाप-कर्म को **न बंधइ**–नहीं बाँधता है।

मूलार्थ—हे भगवन् ! जीव किस प्रकार से चले ? किस प्रकार से खड़ा हो ? किस प्रकार से बैठे ? किस प्रकार से सोवे ? किस प्रकार से भोजन करे ? और किस प्रकार से बोले ? जिससे कि उसे पाप-कर्म का बन्ध न हो।

टीका—चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोना-जागना, खाना-पीना आदि क्रियाएँ ऐसी हैं कि यदि इन्हें जीव न करे तो मृत्यु को प्राप्त हो जाय और यदि करता है तो कर्म का बन्ध होता है। तो फिर क्या किया जाय ? यह बड़ा विकट प्रश्न है, जिसका उत्तर होना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्रकार इसका उत्तर आगे स्वयं ही करने वाले हैं और एक विधि ऐसी बतलाने वाले हैं, जिससे ये क्रियाएँ भी होती रहें, जीव मौत का ग्रास भी न बने और पाप-कर्म का बन्ध भी उसको न हो।

इन उपरोक्त गाथाओं में 'चरे, चिट्ठे' आदि केवल क्रियापद ही दिये गये हैं, उनके कर्ता का वाचक कोई पद नहीं दिया गया है। व्याकरण का एक नियम है कि जिस क्रिया का कर्ता उपलब्ध न हो उसका कर्ता क्रिया के पुरुषवचनानुरूप ऊपर से अध्याहृत कर लेना चाहिये। इस नियम के अनुसार गाथाओं के अर्थ में यहाँ पर प्रथम पुरुष का एकवचनरूप कोई कर्ता अध्याहृत किया जा सकता है। तदनुसार उनका कर्ता 'जीव' मानकर ऊपर गाथाओं का अर्थ लिखा गया है। यद्यपि प्रकरण साधु का है, इसलिये 'साधु' पद ही यहाँ अध्याहृत होना चाहिये। लेकिन उपदेश का पात्र–अधिकारी–जीवमात्र होता है। इसीलिये

यहाँ पर 'जीव' ही उक्त क्रियाओं का कर्ता मानकर उक्त गाथाओं का अर्थ किया गया है।

उत्थानिका—अब शास्त्रकार उक्त प्रश्नों के उत्तर देते हैं:—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥८॥

यतं चरेत् यतं तिष्ठेत्, यतमासीत यतं स्वपेत्।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥८॥

पदार्थान्वयः—**जयं**—यत्नपूर्वक **चरे**—चले **जयं**—यत्नपूर्वक **चिट्ठे**—खड़ा होवे **जयं**—यत्नपूर्वक **आसे**—बैठे **जयं**—यत्नपूर्वक **सए**—सोवे **जयं**—यत्नपूर्वक **भुंजंतो**—भोजन करता हुआ, और **भासंतो**—भाषण करता हुआ **पावकम्मं**—पाप-कर्म को **न बंधइ**—नहीं बाँधता है।

मूलार्थ—जीव यत्नपूर्वक चले, यत्नपूर्वक खड़ा होवे, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोवे, यत्नपूर्वक भोजन करे और यत्नपूर्वक भाषण करे तो वह पाप-कर्म को नहीं बांधता है।

टीका—पूर्व गाथाओं में शिष्य ने जिस प्रकार से प्रश्न किये हैं, शास्त्रकार ने इन गाथाओं में उसी क्रम से उनका उत्तर दिया है। उनका आशय यह है:—

प्रश्न—हे भगवन्! चलना किस प्रकार चाहिये? उत्तर—हे शिष्य! सूत्रोक्त विधि से-ईर्यासमिति यत्नपूर्वक-चलना चाहिये। प्रश्न—हे भगवन्! खड़ा किस प्रकार होना चाहिये? उत्तर—हे शिष्य! यत्नपूर्वक-समाहितहस्त-पादादि-अविक्षेपता से साथ खड़ा होना चाहिये। प्रश्न—हे भगवन्! बैठना किस प्रकार चाहिये? उत्तर—हे शिष्य! यत्नपूर्वक-आकुञ्चनादि से रहित होकर-बैठना चाहिये। प्रश्न—हे भगवन्! शयन किस प्रकार करना चाहिये? उत्तर—हे शिष्य! समाधिमान होकर प्रकाम-शय्यादि का परित्याग कर फिर रात्रि की प्रथम पौरुषी में स्वाध्यायादि करके पश्चात् यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये। प्रश्न—हे भगवन्! भोजन किस प्रकार करना चाहिये? उत्तर—हे शिष्य!

प्रयोजन के उपस्थित हो जाने पर अप्रणीत आहार यत्नपूर्वक खाना चाहिये, किन्तु प्रतरसिंह भक्षिनादि भोजन बलवृद्धि करने वाला न करना चाहिये। प्रश्न—हे भगवन्! भाषण किस प्रकार करना चाहिये? उत्तर—हे शिष्य! साधु भाषा से मृदु और काल प्राप्त जानकर यत्नपूर्वक भाषण करना चाहिये; अर्थात् समय को जानकर मृदुभाषी बनना चाहिये। प्रश्न—हे भगवन्! पाप-कर्म का बन्ध किस प्रकार से प्रवृत्ति करने पर नहीं होता? उत्तर—हे शिष्य! यत्नपूर्वक क्रियाओं के करने से आत्मा पाप-कर्म का बन्ध नहीं करती।

सारांश यह है कि यत्नपूर्वक यदि क्रियाएँ की जायँ तब आत्मा पाप-कर्म का बन्ध नहीं करती। और अयत्नपूर्वक क्रियाएँ यदि की जायँ तो पाप-कर्म का बन्ध अवश्यमेव होता है।

उत्थानिका—अब शास्त्रकार पूर्वोक्त विषय को ही दृढ़ करते हैं:—

सव्वभूयप्पभूअस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ ॥९॥

सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यक् भूतानि पश्यतः।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य, पापकर्म न बध्नाति ॥९॥

पदार्थान्वयः—**सव्वभूयप्पभूअस्स**—सब जीवों को अपने समान जानने वाले को **सम्मं भूयाइ पासओ**—सम्यक् प्रकार से सब जीवों को देखने वाले को **पिहियासवस्स**—सब प्रकार के आस्रवों का निरोध करने वाले को, और **दंतस्स**—पाँचों इन्द्रियों के दमन करने वाले को **पावकम्मं**—पाप-कर्म **न बंधइ**—नहीं बाँधता।

मूलार्थ—जो जगत् के जीवों को अपने समान समझता हो, जो जगत् के जीवों को सम भाव से देखता हो, कर्मों के आने के मार्ग को जिसने रोक दिया हो, और जो इन्द्रियों का दमन करने वाला हो, ऐसे साधु को पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता।

टीका—जो मुनि अपनी आत्मा के समान अनन्तशक्तिशाली, दुःखभीरु और सुखाभिलाषी संपूर्ण जीवों की आत्मा को समझता है; जो मुनि जीवों के

स्वरूप को उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार कि श्रीसर्वज्ञ भगवान् ने कहा है; जिस मुनि ने पाँचों इन्द्रियों और मन को अपने वश में कर लिया है और जिस मुनि ने क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों को एवं प्राणातिपातादिरूप आस्रव को शुभ भावनाओं द्वारा रोक दिया है, उसके पाप-कर्मों का बन्ध नहीं होता। अतः उसको मोक्ष प्राप्त कर लेना स्वाभाविक है।

यहाँ पर यह शङ्का की जा सकती है कि मोक्ष तो सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र, इन तीनों की एकता से मिलता है। जैसा कि शास्त्रों में वर्णन है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'। तो फिर उपरोक्त से—केवल चारित्र से—मोक्ष कैसे मिल सकता है ? इसका समाधान यह है कि—ठीक है, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र से ही मोक्ष प्राप्त होता है। उपरोक्त गाथा में भी तो इन्हीं तीनों का वर्णन है। देखिये 'सव्वभूयप्पभूअस्स'—'सर्वभूतात्मभूतस्य' पद से सम्यक्-ज्ञान का, 'सम्मं भूयाइ पासओ'—'सम्यग्भूतानि पश्यतः' पद से सम्यक्-दर्शन का और 'पिहियासवस्स दंतस्स'—'पिहितास्रवस्य दान्तस्य' पद से सम्यक्-चारित्र का यहाँ पर निरूपण किया गया है। शास्त्रकार ने जिस प्रकार उपरोक्त गाथा के तीन चरणों से तीनों उपायों को बतलाया है, उसी प्रकार चौथे चरण से उक्त तीनों उपायों का फल जो मोक्ष-प्राप्ति है, उसका भी वर्णन कर दिया है। यथा 'पावकम्मं न बंधइ'—'पापकर्म न बध्नाति'।

यहाँ पर यह शङ्का की जा सकती है कि चौथे चरण में तो यह बतलाया है कि उसके केवल पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता। लेकिन इससे पुण्य-कर्म के बन्ध का निषेध नहीं होता। जब तक आत्मा के पुण्य-कर्म का बन्ध होता है तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, स्वर्गादि की प्राप्ति भले ही हो जाय। इसलिये गाथा के चौथे चरण में मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन कहाँ हुआ ? इसका समाधान यह है कि शुद्ध-आत्मा के लिये पाप जितना हानिकर है, पुण्य भी उतना ही हानिकर है। पाप लोहे की बेड़ियाँ हैं तो पुण्य सुवर्ण की बेड़ियाँ हैं। बेड़ियाँ दोनों हैं। शुद्ध आत्मा की दृष्टि से—शुद्ध निश्चयनय से—अबद्ध आत्मा की अपेक्षा पाप तो पाप है ही, पुण्य भी पाप ही है। क्योंकि आत्मा को सिवाय अपने स्वरूप के और सब हेय हैं। यहाँ पर 'हेय' अर्थ में ही 'पाप' शब्द आया हुआ है।

'पाप-कर्म' में 'पाप' शब्द को 'कर्म' का विशेषण न समझना चाहिये, बल्कि यहाँ पर वे दोनों एक अर्थ के ही बोधक हैं। और उनका समास 'पाप एव कर्म इति पाप-कर्म' करना चाहिये। अथवा उपलक्षण से यहाँ पर पाप के साथ पुण्य का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। जैसा कि 'वीतराग' शब्द में 'राग' शब्द से 'द्वेष' भी ग्रहण कर लिया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि उक्त गाथा का चौथा चरण मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन करने वाला है। इस तरह से उक्त गाथा में त्रयात्मक मोक्ष-पद का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा को उसे प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

उत्थानिका—प्रायः लोग शङ्का किया करते हैं कि दया ही केवल पाप-कर्म के बन्ध को रोक देती है। तब दया ही करना चाहिये। ज्ञानाभ्यास के झंझट में जीव को क्यों पड़ना चाहिये? इसके लिये शास्त्रकार कहते हैं :—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही?, किं वा नाही सेयपावगं? ॥१०॥

प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्वसंयतः।
अज्ञानी किं करिष्यति?, किं वा ज्ञास्यति श्रेयःपापकम्? ॥१०॥

पदार्थान्वयः—पढमं-प्रथम नाणं-ज्ञान तओ-तब दया-दया है एवं-इस प्रकार—ज्ञानपूर्वक दया करने से सव्वसंजए-सब संयत चिट्ठइ-ठहरा हुआ है अन्नाणी-अज्ञानी किं काही-क्या करेगा? किं वा-और क्या सेयपावगं-पुण्य और पाप को नाही-जानेगा?

मूलार्थ—पहले ज्ञान है, पीछे दया है। इसी प्रकार से सब संयत-वर्ग स्थित है अर्थात् मानता है। अज्ञानी क्या करेगा? और पुण्य और पाप के मार्ग को वह क्या जानेगा?

टीका—इस गाथा में ज्ञान का माहात्म्य दिखलाया गया है और क्रिया को अन्धरूप कहा गया है। ठीक भी है। क्योंकि जीव जब जीवाजीव के स्वरूप को जानेगा ही नहीं तो फिर दया करेगा किसके ऊपर? अज्ञानी जीव जब साध्य

के उपाय को जानेगा ही। नहीं तो फिर उसको सिद्ध किस प्रकार कर सकेगा ? नहीं कर सकेगा। वह सर्वत्र अन्ध-तुल्य होने से प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप मार्ग में तत्पर ही नहीं हो सकता। अज्ञानी जीव न मोक्ष के मार्ग को जान सकता है, न पाप के मार्ग को। जब वह जिन बातों से अनभिज्ञता रखता है तो भला फिर उनमें वह प्रवृत्ति वा निवृत्ति किस प्रकार से कर सकेगा ? अतएव वह 'अन्ध-प्रदीप्तपलायनघुणाक्षरकरणवत्' कुछ भी नहीं कर सकता। अतः सिद्ध हुआ कि ज्ञान का अभ्यास अवश्यमेव करना चाहिये। तभी सम्यक्-चारित्र हो सकता है। ज्ञान स्व और पर का प्रकाशक है। क्रिया—दयारूप क्रिया—कर्मों के नष्ट करने में समर्थ है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया ही मोक्ष का साधक है। और वही क्रिया चारित्र कहलाती है। क्योंकि सम्यक्-ज्ञान सम्यक्-चारित्र का कारण बतलाया गया है। गाथा के दूसरे चरण में जो 'चिट्ठइ' पद है, वह 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' से बना है। और वह वर्तमानकाल के प्रथमपुरुष का एकवचन है। उसका अर्थ वास्तव में 'ठहरता है, ठहरा है, ठहरा हुआ है' यही होता है। और जब, 'समस्त संयत-वर्ग इसी सिद्धान्त पर ठहरा हुआ है' यह अर्थ हुआ तो उसका तात्पर्य यही तो हुआ कि 'इस प्रकार सब संयत-वर्ग मानता है', इसी लिये मूलार्थ में वैसा लिखा गया है। गाथा के 'सेयपावगं' की जगह 'छेयपावगं' पाठ भी कहीं कहीं मिलता है। 'छेय'—'छेक' शब्द के तीन अर्थ हैं—'छेकं निपुणं हितं कालोचितम्'—निपुण, हित और समयोचित। प्रकरणानुसार यहाँ पर उसका 'हित' अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

उत्थानिका—सूत्रकार फिर भी उसी विषय को दृढ़ करते हैं:—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥११॥

श्रुत्वा जानाति कल्याणम्, श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यत् श्रेयस्तत् समाचरेत् ॥११॥

पदार्थान्वयः—सोच्चा—सुनकर ही कल्लाणं—कल्याण को जाणइ—जानता है सोच्चा—सुनकर ही पावगं—पाप को जाणइ—जानता है, और सोच्चा—सुनकर

ही उभयं पि–दोनों को जाणइ–जानता है जं–जो सेयं–हितकारी हो त–उसे समायरे–ग्रहण करे।

मूलार्थ—मनुष्य सिद्धान्त को सुनकर ही कल्याणकारी कर्म को जानता है, सुनकर ही पापकारी कर्म को जानता है, सुनकर ही पुण्य-पाप को पहचानता है, और तभी उसमें जो आत्मा का हितकारी मार्ग है, उसे वह ग्रहण करता है।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि श्रुत-ज्ञान ही परमोपकारी है। क्योंकि सुनकर ही जीव मोक्ष के स्वरूप को जानता है और सुनकर ही जीव पाप (संसार) के स्वरूप को जानता है, तथा संयमासंयमरूप श्रावक-धर्म को भी जीव सुनकर ही जानता है। फिर जो उसको हितकारी प्रतीत होता है, उसे वह ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि श्रुतधर्म सर्वोत्कृष्ट है। अतएव श्रवण करना प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य होना चाहिये। इस गाथा से यह भी ध्वनि निकलती है कि 'जो पढ़ नहीं सकता, उसे शास्त्र-श्रवण अवश्य करना चाहिये'। गाथा के चतुर्थ चरण से धर्मादि क्रियाओं में जीव की स्वतन्त्रता सिद्ध की गई है। इसी लिये शास्त्रकार ने यह कथन किया है कि जो उसे योग्य हो, उसी का वह समाचरण करे। 'कल्याण' अर्थात् दया[1] से संयम-वृत्ति, 'पाप' से असंयम-वृत्ति, उभय से संयमासंयम-रूप श्रावक-वृत्ति, इस तरह इन तीनों वृत्तियों का यहाँ निर्देश किया गया है। इनमें से अपनी शक्ति के अनुसार साधु अथवा श्रावक वृत्ति जिसको जो उपादेय प्रतीत हो, उसे वह ग्रहण करे।

उत्थानिका—शास्त्रकार फिर भी उसी विषय में कहते हैं:—

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ?॥१२॥

यो जीवानपि न जानाति, अजीवानपि न जानाति।
जीवाजीवानजानन्, कथमसौ ज्ञास्यति संयमम् ॥१२॥

---

१ 'कल्याण' शब्द से दया का ग्रहण इसलिये किया गया है कि—दया—कल्याण—मोक्ष को पहुँचाती है। तथा चाहान्यत्र—'कल्याणम्'—कल्यो मोक्षस्तमणति प्रापयतीति कल्याणं दयाख्यसंयमस्वरूपम्।

पदार्थान्वयः—जो—जो जीवे वि—जीवों को भी न याणेइ—नहीं जानता, और अजीवे वि—अजीवों को भी न याणइ—नहीं जानता जीवाजीवे—जीव और अजीव को अयाणंतो—न जानता हुआ सो—वह संजमं—संयम को कहं—किस प्रकार नाहीइ—जानेगा ?

मूलार्थ—जो जीव, न तो जीव-पदार्थ को जानता है और न अजीव-पदार्थ को, और जीवाजीव को भी नहीं जानता, वह संयम को किस प्रकार जान सकेगा ?

टीका—यहाँ यदि यह कहा जाय कि उक्त गाथा के प्रथम चरण में 'जीव' का ग्रहण है और दूसरे चरण में 'अजीव' का ग्रहण है, इस तरह जब दोनों का ग्रहण हो ही गया तो फिर तीसरे चरण में 'जीवाजीव' क्यों ग्रहण किया है ? इसका समाधान यह है कि पहले चरण के 'जीवे' पद से यहाँ पर केवल शुद्ध जीव अर्थात् मोक्षात्मा का ग्रहण करना चाहिये। और दूसरे चरण के 'अजीवे' पद से धर्मास्तिकायादि का ग्रहण करना चाहिये। ये दोनों शब्द शुद्ध जीव और शुद्ध अजीव के बोधक हैं, जो कि परद्रव्य से सर्वथा अलिप्त हैं। तीसरे चरण के 'जीवाजीवे' पद से संसारी जीव का, जो कि पुद्गल-द्रव्य की वर्गणाओं से लिप्त—मिश्रित—हो रहा है, ग्रहण करना चाहिये[1]।

उत्थानिका—तब फिर संयम को कौन जान सकता है ? इसका उत्तर शास्त्रकार आगे की गाथा से करते हैं:—

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥१३॥

यो जीवानपि विजानाति, अजीवानपि विजानाति।
जीवाजीवान् विजानन्, स हि ज्ञास्यति संयमम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—जो—जो जीवे वि—जीव को भी वियाणेइ—जानता है अजीवे वि—अजीव को भी वियाणइ—जानता है जीवाजीवे—जीव और अजीव

---

१ 'जीवशब्देन सिद्धा उक्ता, अजीवशब्देन धर्मास्तिकायादयः पञ्चोक्ताः; जीवाजीवशब्देन संसारवासिनः सर्वे चतुरशीतिलक्षयोनिस्था उक्ताः।'—नवतत्त्वप्रकरणम्।

को वियाणंतो–जानता हुआ सो–वह संजमं–संयम को हु–निश्चय से नाहीइ–जानेगा ।

मूलार्थ—जो जीव के, अजीव के और जीवाजीव के स्वरूप को जानता है, वही जीव वास्तव में संयम के स्वरूप को जान सकेगा ।

टीका—'संयम' शब्द का अर्थ आस्रव का निरोध है, सो जब आस्रव का निरोध किया गया तब आत्मा निरास्रवी होकर मोक्ष-पद की प्राप्ति कर लेती है, परन्तु स्मृति रहे कि यावत्काल पर्यन्त जीव, जीवाजीव के स्वरूप को सम्यक्तया जान नहीं लेता, तावत्काल पर्यन्त सर्वथा आस्रव का निरोध भी नहीं किया जा सकता । अतएव ज्ञानाभ्यास अवश्यमेव करना चाहिये, जिससे फिर क्रम से निर्वाण-पद प्राप्त किया जा सके ।

उत्थानिका—ज्ञान का माहात्म्य बतलाकर शास्त्रकार अब ज्ञान से उत्पन्न होने वाली फलपरम्परा का वर्णन करते हैं[1]:—

जया जीवमजीवे अ, दोऽवि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥१४॥

यदा जीवानजीवाँश्च, द्वावप्येतौ विजानाति ।
तदा गतिं बहुविधाम्, सर्वजीवानां जानाति ॥१४॥

पदार्थान्वयः—जया–जिस समय जीवमजीवे अ–जीव और अजीव एए–इन दोऽवि–दोनों को वियाणइ–जान लेता है तया–उस समय सव्वजीवाण–सब जीवों की बहुविहं–बहु भेद वाली गइं–गति को जाणइ–जान लेता है ।

मूलार्थ—जिस समय जीव, जीव और अजीव इन दोनों को जान लेता है, उस समय वह सब जीवों की बहु भेद वाली गति को भी जान लेता है ।

टीका—यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि नारक, तिर्यञ्च, मानुष और देव, गतियाँ तो ये ही चार शास्त्रों में वर्णन की गई हैं । तो यहाँ पर 'गइं बहुविहं' अर्थात् 'बहुत प्रकार की गतियों' ऐसा क्यों कहा ? इसका समाधान यह

1 टीका में यहाँ तक के वर्णन को 'पञ्चम उपदेशाधिकार' और यहाँ से आगे के वर्णन को छठा 'धर्मफलाधिकार' लिखा है ।

है कि वास्तव में मूल गतियाँ तो चार ही हैं, लेकिन तिर्यग्गति में रहने वाले पाँच स्थावरों के उत्पत्ति-स्थान असंख्यात हैं तथा इनकी उत्पत्ति असंख्यात लोक में होती है। इस अपेक्षा से इस जगह गति को बहु भेद वाली लिखा है। अर्थात् उत्तर-भेदों के सम्मिलित कर लेने पर गतियाँ असंख्यात मानी जा सकती हैं।

उत्थानिका—जीवाजीव के स्वरूप को जान लेने का फल गतियों का जान लेना है। तो फिर गति जान लेने का क्या फल है? सो शास्त्रकार कहते हैं:—

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ॥१५॥

यदा गतिं बहुविधाम्, सर्वजीवानां जानाति।
तदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ॥१५॥

पदार्थान्वयः—**जया सव्वजीवाण बहुविहं गइं जाणइ**—जिस समय सर्व जीवों की बहु भेद वाली गति को जान लेता है **तया**—उस समय **पुण्णं च पावं च**—पुण्य और पाप को, तथा **बंधं च मुक्खं च**—बन्ध और मोक्ष को भी **जाणइ**—जान लेता है।

मूलार्थ—जिस समय जीव, सब जीवों की बहु भेद वाली गति को जान लेता है, उस समय वह पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को भी जान लेता है।

टीका—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, जैन-शासन में ये नव तत्त्व हैं। इनमें से जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं। शेष सात तत्त्व इन दोनों की संयोग-वियोगरूप अवस्था, उसके तारतम्य तथा कारण की अपेक्षा से निष्पन्न होते हैं। तथा च—जिस प्रकार लोह-पिण्ड में अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, अथवा गर्म लोह-पिण्ड में यदि वह जल में पटक दिया जाय तो जिस प्रकार उसके अन्दर पानी समा जाता है; अथवा जिस प्रकार दूध में पानी एकमेक हो जाता है; अथवा जिस प्रकार गर्म नुक़ती को चासनी में डाल देने पर उसके अन्दर चासनी प्रविष्ट हो जाती है; उसी प्रकार कषाय-सहित हो जाने पर आत्मा में कर्म प्रविष्ट हो जाते हैं। यही 'बन्ध-तत्त्व' कहलाता है। कर्म जिस मार्ग—

कारण—से आत्मा में आते हैं, उस कर्मागम-द्वार को शास्त्र में 'आस्रव-तत्त्व' कहा गया है। जब जीव अपने मन-वचन-काय के निरोध से कर्मों के आगमन को रोकने लगता है, तब वही 'संवर-तत्त्व' कहलाता है। जितने समय के लिये कर्म आत्मा से बँधते हैं, उतने समय के बीत जाने पर जब वे कर्म आत्मा से अलग होने लगते हैं, कर्मों की उस अवस्था को 'निर्जरा-तत्त्व' कहते हैं। संवर और निर्जरा होते-होते आत्मा जब बिल्कुल अलिप्त—नीरजस्क—परिशुद्ध हो जाती है, आत्मा का वह अवस्थाविशेष 'मोक्ष-तत्त्व' कहलाता है।

उत्थानिका—पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष के जान लेने से जीव को फिर क्या फल प्राप्त होता है? सो कहते हैं:—

जया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ।
तया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे ॥१६॥

यदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति।
तदा निर्विन्ते भोगान्, यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जया पुण्णं च पावं च बंधं मुक्खं च जाणइ—जिस समय पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष को जान लेता है तया—उस समय जे—जो दिव्वे—देवों के जे अ—और जो माणुसे—मनुष्यों के भोए—भोग हैं, उनको निव्विंदए—जान लेता है—उनसे विरक्त हो जाता है।

मूलार्थ—जिस समय जीव, पुण्य और पाप को तथा बन्ध और मोक्ष को जान लेता है, उस समय वह देव और मनुष्यों के भोगने योग्य भोगों को जान लेता है अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है।

टीका—इस गाथा में ज्ञान का सार चारित्र बतलाया गया है। जैसे कि—जिस समय आत्मा पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष, इनके स्वरूप को जान लेती है, तब वह देवों के जो काम-भोग हैं या जो मनुष्यों के काम-भोग हैं, उनसे विरक्त हो जाती है। कारण कि फिर वह आत्मा ज्ञान द्वारा उन भोगों को पाप-कर्म के बन्ध करने वाले मानने लग जाती है, और फिर उनसे वह छूट जाने की बुद्धि करती है। जैसे कि—कोई सम्यक् विचार वाला व्यक्ति मृत्यु के लिये

विष-भक्षण नहीं करता तथा बालू आदि असार पदार्थों का संग्रह नहीं करता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा विषय-विकारों से अपने को पृथक् कर लेती है। क्योंकि फिर वह उन भोगों को दुःखप्रद समझने लग जाती है।

उत्थानिका—दिव्य और मानवीय भोगों से विरक्त हो जाने के अनन्तर जीव क्या करता है ? सो कहते हैं :—

जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं ॥१७॥

यदा निर्विन्ते भोगान्, यान् दिव्यान् याँश्च मानुषान्।
तदा त्यजति संयोगम्, साभ्यन्तरबाह्यम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—जया जे दिव्वे जे अ माणुसे भोए निव्विंदए—जिस समय दिव्य और मानवीय भोगों से विरक्त हो जाता है तया—उस समय सब्भिंतरबाहिरं—अभ्यन्तर और बाहर के संजोगं—संयोग को चयइ—छोड़ देता है।

मूलार्थ—जिस समय जीव, दिव्य और मानवीय भोगों से विरक्त हो जाता है, उस समय वह आन्तरिक और बाह्य संयोग का परित्याग कर देता है।

टीका—यहाँ पर अन्तरङ्ग संयोग—क्रोध, मान, माया, लोभ और बाह्य संयोग—माता-पिता आदि का सम्बन्ध ग्रहण करना चाहिये। ये संयोग ही वास्तव में जीव को बन्धन में डाले हुए हैं और उसके लिये अनेक दुःखों के कारण बने हुए हैं। हाँ, यहाँ पर इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि संयोग दो तरह के होते हैं—एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। इनमें से अप्रशस्त संयोगों को छोड़कर जीव को प्रशस्त संयोग ग्रहण करना चाहिये।

उत्थानिका—बाह्याभ्यन्तर संयोगों को त्याग देने के बाद जीव फिर क्या करता है ? सो कहते हैं :—

जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं।
तया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥१८॥

यदा त्यजति संयोगम्, साभ्यन्तरबाह्यम् ।
तदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारताम् ॥१८॥

पदार्थान्वयः—जया सब्भिंतरबाहिरं संजोगं चयइ–जिस समय बाह्य और अन्तरङ्ग संयोग को छोड़ देता है तया–उस समय मुंडे भवित्ताणं–मुण्डित होकर अणगारियं–अनगार-वृत्ति को पव्वइए–ग्रहण करता है ।

मूलार्थ—जिस समय जीव, बाह्य और अन्तरङ्ग संयोग को छोड़ देता है, उस समय वह द्रव्य और भाव से मुण्डित होकर अनगार-वृत्ति को प्राप्त करता है ।

टीका—मुण्डन दो प्रकार का होता है—एक द्रव्य-मुण्डन और दूसरा भाव-मुण्डन । केश-लुञ्चनादि द्रव्य-मुण्डन है और इन्द्रिय-निग्रहादि भाव-मुण्डन है । 'अगार' अर्थात् घर, 'अनगार' अर्थात् घर-रहित अवस्था अर्थात् साधु-वृत्ति । जब तक जीव को बाह्याभ्यन्तर संयोग बना रहता है, तब तक वह मोक्ष-पद की साक्षात्साधिका साधु-वृत्ति ग्रहण नहीं करता । वह उसका विरोधक है । और ज्यों ही जीव उन संयोगों से रहित हुआ नहीं, कि त्यों ही वह उस साधु-वृत्ति को धारण कर लेता है ।

उत्थानिका—मुण्डित होकर और अनगार-वृत्ति को प्राप्तकर जीव फिर क्या करता है ? सो कहते हैं :—

जया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१९॥

यदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारताम् ।
तदा संवरमुत्कृष्टम्, धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—जया मुंडे भवित्ताणं अणगारियं पव्वइए–जिस समय मुण्डित होकर अनगार-भाव को प्राप्त हो जाता है तया–उस समय उक्किट्ठं संवरं–उत्कृष्ट संवर के अणुत्तरं–सब से श्रेष्ठ धम्मं–धर्म का फासे–स्पर्श करता है ।

मूलार्थ—जिस समय जीव, मुण्डित होकर साधु-वृत्ति को ग्रहण कर लेता है, उस समय वह उत्कृष्ट संयम और अनुपम धर्म का स्पर्श करता है ।

टीका—गाथा के उत्तरार्द्ध में आये हुए 'उक्किट्ठं' को 'संवरं' का और 'अणुत्तरं' को 'धम्मं' का विशेपण मानकर ऊपर अर्थ किया गया है । लेकिन 'उक्किट्ठं' और 'अणुत्तरं' इन दोनों पदों को 'संवरं' का विशेषण करके उसे फिर 'धम्मं' का विशेपण भी किया जा सकता है । उस समय उत्तरार्द्ध का अर्थ होगा—'सब से श्रेष्ठ और उत्कृष्ट संवररूप धर्म का जीव उस समय स्पर्श करता है' । होने को तो गृहस्थावस्था में भी संवर हो सकता है, लेकिन वास्तव में उत्कृष्टरूप से वह साधु-अवस्था में ही होता है । उस अवस्था में कर्मों के आगमन का द्वार भलीभाँति रुक जाता है और उसी का नाम संवर है । संवर धर्म है । जीव को जो उत्कृष्ट स्थान में रक्खे उसका नाम धर्म है । वह धर्म गृहस्थावस्था में भी धारण किया जा सकता है । लेकिन एकदेशरूप ही—अणुव्रतस्वरूप ही—धारण किया जा सकता है । महाव्रतरूप—पूर्णरूप से—धर्म तो वास्तव में साधु-अवस्था में ही धारण किया जाता है ।

उत्थानिका—उत्कृष्ट संवर और अनुपम धर्म को पाकर साधु फिर क्या करता है ? सो कहते हैं :—

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥२०॥

यदा संवरमुत्कृष्टम्, धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।
तदा धुनोति कर्मरजः, अबोधिकलुषं कृतम् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—**जया संवरमुक्किट्ठं अणुत्तरं धम्मं फासे**—जिस समय सब से श्रेष्ठ उत्कृष्ट संवररूप धर्म का स्पर्श करता है **तया**—उस समय **अबोहिकलुसं कडं**—मिथ्यादृष्टि-भाव से किये हुए **कम्मरयं**—कर्मरज को **धुणइ**—झाड़ देता है—दूर कर देता है ।

मूलार्थ—जिस समय जीव, सब से श्रेष्ठ और उत्कृष्ट संवररूप धर्म का स्पर्श करता है, उस समय वह मिथ्यादृष्टि-भाव से लगे हुए कर्मरज को आत्मा से झाड़ देता है—पृथक् कर देता है ।

टीका—कर्मरज आत्मा को रंगता है, सो जब संवररूपी पवित्र जल से आत्मा का स्पर्श हुआ, तब वह कर्मरज स्वयमेव आत्मा से पृथक् हो जाता है। गाथा में जो 'धुणइ'–'धुनोति' क्रियापद दिया है उससे इस स्थान पर 'धातूनामनेकार्थत्वात्' अर्थात् धातु अनेकार्थ होने से 'पातयति' क्रिया का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। तथा जो 'कम्मरयं'–'कर्मरजः' कहा गया है, उसमें 'कर्मैव आत्मरञ्जनाद्रज इव रजः' अर्थात् आत्मा को रञ्जायमान करने से कर्म ही रज कहलाते हैं।

उत्थानिका—मिथ्यादर्शनजन्य कर्मरज को दूर कर देने के बाद जीव को क्या फल प्राप्त होता है ? सो कहते हैं:—

जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥२१॥
यदा धुनोति कर्मरजः, अबोधिकलुषं कृतम्।
तदा सर्वत्रगं ज्ञानम्, दर्शनं चाभिगच्छति ॥२१॥

पदार्थान्वयः—**जया अबोहिकलुसं कडं कम्मरयं धुणइ**–जिस समय मिथ्यादृष्टि-भाव से संचय किया हुआ कर्मरज आत्मा से पृथक् कर देता है **तया**–उस समय **सव्वत्तगं**–सर्व लोक में व्याप्त होने वाले **नाणं**–ज्ञान **च**–और **दंसणं**–दर्शन को **अभिगच्छइ**–प्राप्त करता है।

मूलार्थ—जिस समय जीव, मिथ्यादृष्टि-भाव से संचित किये हुए कर्मरज को आत्मा से पृथक् कर देता है, उस समय वह लोकालोक के प्रकाश करने वाले केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त करता है।

टीका—जिस समय जीव किसी कारणवश आकुल हो जाता है, उस समय उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। स्मरणशक्ति निर्बल पड़ जाती है। और हेयोपादेय का विशेष ज्ञान उसे नहीं रहता। निराकुलता में मनुष्य का दिमाग सही रहता है। स्मरणशक्ति अपना काम बदस्तूर करती है और कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान उस समय जीव को विशेषरूप से रहता है। यह बात अनुभवसिद्ध है। इस अनुभव से यह बात भलीभाँति जानी जा सकती है कि ज्ञान आत्मा में हमेशा

मौजूद रहता है । आकुलता आदि कारणों से वह सिर्फ ढँक जाता है । ज्यों ही वे कारण दूर हुए नहीं कि वह ज्ञान आत्मा में ज्यों का त्यों प्रगट हो जाता है । ठीक इसी भाँति यहाँ यह बात कही गई है कि मिथ्यादर्शन आदि कारणों से जो कर्म-रज आत्मा से लग गया था, संवर के द्वारा वह ज्यों ही हटा नहीं कि त्यों ही झट केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन जो कि आत्मा में स्वभाव से ही सदा से मौजूद रहते हैं, प्रगट हो जाते हैं; बादलों के हट जाने से जैसे देदीप्यमान सूर्य प्रगट हो जाता है ।

उत्थानिका—सर्वत्र व्यापकस्वरूप केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के प्राप्त हो जाने पर जीव को फिर क्या फल प्राप्त होता है ? सो कहते हैं :—

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥२२॥

यदा सर्वत्रगं ज्ञानम्, दर्शनं चाभिगच्छति ।
तदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ॥२२॥

पदार्थान्वयः—**जया सव्वत्तगं नाणं च दंसणं अभिगच्छइ**—जिस समय सर्वव्यापी ज्ञान और दर्शन को प्राप्त हो जाता है **तया**—उस समय **जिणो**—राग-द्वेष को जीतने वाला जिन **केवली**—केवल-ज्ञान का धारी **लोगं**—लोक **च**—और **अलोगं**—अलोक को **जाणइ**—जान लेता है ।

मूलार्थ—जिस समय जीव, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है, उस समय राग-द्वेष का जीतने वाला वह केवली, लोक और अलोक को जान लेता है ।

टीका—आत्मा का वह केवल-ज्ञान तीनों लोकों की बातों को इस तरह जानता है जैसे हाथ पर रक्खे हुए आँवले को हम और आप जानते हैं । केवली जिन 'लोकालोक' को जानते हैं, यह बात इस गाथा में कही गई है । इसलिये 'लोकालोक' का संक्षिप्त स्वरूप यहाँ कह देना उचित है—'लोक' असंख्यात योजन आयाम और विष्कम्भ वाला प्रतिपादन किया गया है । अर्थात् लोक चतुर्दशरज्वात्मक-प्रमाण माना जाता है । अर्थात् स्वर्गलोक, मध्यलोक और पाताललोक, इस प्रकार तीनों लोक चतुर्दशरज्जुप्रमाण सिद्ध होते हैं ।

यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि—रज्जु किसे कहते हैं ? तो इसका समाधान यह है कि—मान लीजिये कि यदि सौधर्म देवलोक से हजार मन के लोहे का गोला नीचे गेरा जाय, तो वह गोला षट्-मास षट्-दिन और षट्-मुहूर्त्त में मध्य-लोक की भूमि पर आकर गिरेगा। इतने काल में यावन्मात्र क्षेत्र उस गोले ने अतिक्रम किया है, वह क्षेत्र एक रज्जुप्रमाण होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वरज्जु, तिर्यग्रज्जु और अधोरज्जु का प्रमाण किया जाता है। जैसे कि—मध्य (मृत्यु) लोक की भूमि से सौधर्म देवलोक एक रज्जुप्रमाण है। द्वितीय रज्जु माहेन्द्रनामक चतुर्थ देवलोक तक है। तृतीय रज्जु छठे देवलोक तक है। चतुर्थ रज्जु आठवें देवलोक तक है। पञ्चम रज्जु बारहवें देवलोक तक है। छठा रज्जु इक्कीसवे देवलोक तक है। सातवाँ रज्जु सिद्धशिला पर्यन्त है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक सात रज्जुप्रमाण कहा जाता है। इसी प्रकार अधोलोक भी सात रज्जुप्रमाण है। क्योंकि नरक सात ही हैं। प्रत्येक नरक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है। तिर्यग्लोक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है। जैसे कि—जम्बूद्वीपस्थ मेरु से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र की सीमा पर्यन्त एक रज्जुप्रमाण तिर्यग्लोक का क्षेत्र वर्णन किया गया है। सो केवली भगवान् लोकालोक को हस्तामलकवत् अपने ज्ञान में देखते हैं।

उत्थानिका—लोकालोक को जान लेने के बाद केवली जिन फिर क्या करते हैं ? सो कहते हैं:—

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥२३॥

यदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली।
तदा योगान्निरुध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥२३॥

पदार्थान्वयः—**जया लोगमलोगं च केवली जिणो जाणइ**—जिस समय लोक और अलोक को केवल-ज्ञानी जिन जान लेता है **तया**—उस समय **जोगे**—योगों को **निरुंभित्ता**—निरोध कर **सेलेसिं**—पर्वतराज को—निश्चयभाव को **पडिवज्जइ**—प्राप्त होता है।

मूलार्थ—जिस समय केवल-ज्ञानी जिन, लोक और अलोक को जान लेते हैं, उस समय वे मन, वचन और काय रूप योगों का निरोधकर पर्वत की तरह स्थिर परिणाम वाले बन जाते हैं।

टीका—मन, वचन और काय के द्वारा आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्दन होता है, उसे 'योग' कहते हैं। यह योग जब शुभ कार्य में प्रवृत्त होता है, तब वह शुभ कर्मों का आस्रव करता है और जब वह अशुभ कार्य में प्रवृत्त होता है, तब वह अशुभ कर्म का आस्रव करता है। लेकिन केवली जिन ऐसा नहीं करते, वे योगों का निरोध करते हैं। निरोध वे इसलिये करते हैं कि चार अघातिया—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र रूप जो कर्म नष्ट करने से अभी तक बाकी बचे हुए हैं, उनको भी नष्ट कर दे। योगों से जब कर्मों का आस्रव होता है, तब उसके निरोध से कर्मों का अभाव होना स्वाभाविक है। वे 'भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय' अर्थात् अनेक भवों का संचित जो कर्मांश है, उसके क्षय करने के लिये योग का निरोध करते हैं। योगों की चपलता ही आकुलता है, आकुलता ही वास्तव में दुःख है। दुःख को कोई जीव पसंद नहीं करता। सब सुख के अभिलाषी हैं। दुःख दूर निराकुलता से होता है। निराकुलता योगनिरोध से होती है। निराकुलता ही वास्तव में पूर्ण सुख है। संसार-परिभ्रमण से अकुताये हुए और अनन्तकालीन स्थायीस्वरूप अपनी आत्मिक संपत्ति को चाहने वालों को धर्म और शुक्ल ध्यान तथा व्युत्सर्ग तप आदि द्वारा अपने शुभाशुभ कर्मों के क्षय करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

उत्थानिका—योग-निरोधजन्य स्थिरता प्राप्त हो जाने पर केवली जिन को फिर क्या फल प्राप्त होता है? सो कहते हैं:—

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥२४॥

यदा योगान्निरुद्ध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते।
तदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥२४॥

पदार्थान्वयः—**जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ**—जिस समय योगों को निरोधकर पर्वतराजवत् स्थिर हो जाता है **तया**—उस समय **नीरओ**—रज-रहित होकर **कम्म**—कर्म को **खवित्ताणं**—क्षय करके **सिद्धिं**—सिद्ध-गति को **गच्छइ**—चला जाता है ।

मूलार्थ—जिस समय केवली जिन, योगों का निरोधकर सुमेरु पर्वत की भाँति निश्चल हो जाता है, उस समय वह भवोपग्रही कर्मों का क्षय करके कर्मरज से रहित होता हुआ सिद्ध-गति को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—कषायों का अभाव तो मुनि के पहले ही—बारहवें गुणस्थान में हो गया । कषायों के और ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से तो उन्हें केवल-ज्ञान ही प्राप्त हुआ है । अब जैन मुनि को योगों का भी अभाव करना पड़ता है । तभी उनके पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो सकते हैं और तभी उन्हें सिद्धि अर्थात् सिद्ध-गति की प्राप्ति हो सकती है । इससे यह बात सिद्ध हो गई कि अजीवसम्बन्धजन्य ईर्यापथिक और साम्परायिक क्रिया से सर्वथा रहित होने पर ही जीव को सिद्ध-गति प्राप्त होती है । क्योंकि जीव से क्रिया कराने वाली दो ही चीजें हैं । एक मन-वचन-कायरूप योग और दूसरी क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषाय । जब देवाधिदेव श्रीजिनेन्द्र भगवान् ने इन दोनों कारणों का अभाव कर दिया तो क्रिया कैसे होसकती है ? कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती । यह बात सर्वसम्मत है । और इसी लिये सिद्धावस्था में भी जीव अक्रिय ही रहता है । बल्कि यों कहना चाहिये कि सर्वथा अक्रिय दशा का नाम ही 'सिद्धि' या 'मोक्ष' है । इससे जो लोग 'क्रियावान् रहते हुए भी मोक्ष हो जाता है' या 'सिद्ध जीव क्रिया करते हैं' यह मानते हैं, उनके निषेध करने का शास्त्रकार का आशय है ।

उत्थानिका—कर्मों का नाशकर सिद्ध-गति को प्राप्त कर लेने पर निष्कर्म जीव को फिर क्या फल प्राप्त होता है ? सो कहते हैं :—

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥२५॥

यदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः।
तदा लोकमस्तकस्थः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥२५॥

पदार्थान्वयः—**जया कम्मं खवित्ताणं नीरओ सिद्धिं गच्छइ**—जिस समय कर्म-क्षय करके और नीरज होकर सिद्ध-गति को जाता है **तया**—उस समय **लोगमत्थयत्थो**—लोक के मस्तक पर स्थित होता हुआ **सासओ**—शाश्वत पद वाला **सिद्धो**—सिद्ध **हवइ**—हो जाता है।

मूलार्थ—**जिस समय जीव, कर्म-क्षयकर—कर्म-रज से रहित होकर—सिद्ध-गति को प्राप्त करता है, उस समय वह लोक के मस्तक पर जाकर विराजता है और शाश्वतरूप से सिद्ध हो जाता है।**

टीका—यहाँ पर सिद्ध को 'शाश्वत' का विशेषण दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि कुछ लोग सिद्धावस्था से जीव को लौटता हुआ मानते हैं, यह ठीक नहीं है। जब संसार-परिभ्रमण के कारणीभूत कर्म आत्मा से सर्वथा अलग हो गये, तब उस शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-निर्लेप-निष्कलङ्क-अलिप्त परमेश्वर को संसार में फिर से लाने वाला पदार्थ कौन है ? कोई नहीं। बीज की सत्ता रहने पर ही अंकुर के प्रादुर्भूत होने की आशङ्का रहती है। बीज नष्ट हो जाने पर अंकुर का प्रादुर्भाव कोई नहीं कर सकता। वैसा हो ही नहीं सकता। अतः उनके खण्डनार्थ यहाँ सिद्ध के लिये 'शाश्वत' विशेषण शास्त्रकार ने दिया है। दूसरी बात एक और है। और वह यह है कि न्यायशास्त्र का यह नियम है कि जो पदार्थ सादि-अनन्त होता है, उसका पुनः प्रादुर्भाव नहीं होता। जैसे कि प्रध्वंसाभाव। प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है, उसका प्रादुर्भाव नहीं होता। अतः उक्त न्यायशास्त्र के नियमानुसार सिद्ध भगवान् पुनर्जन्म-मरण के संकट कभी नहीं उठाते। इसलिये शास्त्रकार ने उनके लिये 'शाश्वत' विशेषण प्रदान किया है।

यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि सिद्ध भगवान् जब लोक के अग्रभाग तक पहुँच गये, तब फिर अलोक में भी क्यों न चले गये ? वहीं क्यों स्थिर हो गये ? इसका समाधान यह है कि मिट्टी-लगा पानी में डूबा हुआ तूंबा मिट्टी के हट जाने पर—निर्लेप हो जाने पर—जिस तरह ऊपर आकर ठहर जाता है और

स्थल पर या आकाश में अधर वह नहीं पहुँचता, क्योंकि उसकी गति जल के आश्रित है, ठीक उसी प्रकार सिद्ध जीवों की गति 'धर्मास्तिकाय' के आश्रित है। जहाँ धर्मास्तिकाय था, वहाँ तक वे पहुँचे। अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय नहीं था, इसलिये वे आगे गमन न कर सके और वहीं पर स्थिर हो गये।

यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि सिद्ध भगवान् अनन्त-शक्तिशाली, अचिन्त्य-प्रभाववान् और पूर्ण-वीर्यवान् हैं। इतने पर भी क्या वे धर्मास्तिकाय के अधीन ही वने रहे, जो कि उसके अभाव में आगे गमन न कर सके? इसका समाधान यह है कि अवश्य ही वे अनन्त-शक्तिशाली, अचिन्त्य-प्रभाववान् और पूर्ण-वीर्यवान् हैं, लेकिन वस्तु-स्वरूप को अन्यथा कोई भी नहीं कर सकता। वस्तु के स्वभाव को पलटने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। वस्तु का स्वभाव दरअसल पलटता नहीं है। यदि वस्तु-स्वभाव पलट जाया करे तो सर्वसाङ्कर्य हो जाय। सर्व वस्तु एकमेक हो जायँ। भिन्न-भिन्न पदार्थों की व्यवस्था-सत्ता-जो सर्व मतावलम्बियों को स्वीकृत है, वह न रहे। सिद्ध भगवान् को जो अनन्त शक्ति प्राप्त हुई है, वह अपने स्वरूप में है। पर पदार्थों को अपने रूप परिणमाने में नहीं है। इसलिये धर्मास्तिकाय के अभाव से अलोकाकाश में न जाकर सिद्ध भगवान् लोक के ही अग्रभाग में विराजमान होते हैं।

उत्थानिका—पूर्वोक्त धर्म-फल जिसको दुर्लभ है, शास्त्रकार अब उसका वर्णन करते हैं:—

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोअस्स, दुलहा सुगई तारिसगस्स ॥२६॥

सुखस्वादकस्य श्रमणस्य, साताकुलस्य निकामशायिनः।
उत्सोलनाप्रधाविनः, दुर्लभा सुगतिस्तादृशस्य ॥२६॥

पदार्थान्वयः—**सुहसायगस्स**—सुख के स्वाद को चाहने वाले **सायाउलगस्स**—साता के लिये आकुल **निगामसाइस्स**—अत्यन्त शयन करने वाले **उच्छोलणापहोअस्स**—विना यत्न के हाथ-पैर धोने वाले **तारिसगस्स**—ऐसे **समणस्स**—साधु को **सुगई**—उत्तम गति **दुलहा**—दुर्लभ है।

मूलार्थ—सुख के स्वाद को चाहने वाले, आगामी काल की साता के लिये चित्त में अत्यन्त व्याकुलता धारण करने वाले, सूत्रोक्त विधि को छोड़कर शयन करने वाले, एवं विना यत्न के हाथ-पैर आदि अवयवों को धोने वाले मुनि को मोक्ष-गति का प्राप्त होना दुर्लभ है।

टीका—जो स्वाद और इन्द्रिय-सुख की लालसा रखता है, उसके लिये आकुलित रहता है, सोने का प्रेमी है, हाथ-पैर-मुँह आदि अवयवों को धोने में यत्नायत्न का भी जो विवेक नहीं रखता है, वह द्रव्यलिङ्गी साधु है; भावलिङ्गी नहीं। सो इस प्रकार के द्रव्य-साधु को मोक्ष-गति का प्राप्त होना दुर्लभ है। क्योंकि जो श्रीभगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला है, वह उक्त सुगति को प्राप्त नहीं कर सकता। कारण कि ज्ञान और क्रिया द्वारा जीव को मोक्षरूपी सुगति की प्राप्ति हो सकती है। सो जब किसी साधु ने सूत्रोक्त क्रियाओं का परित्याग कर दिया हो, और वह केवल शारीरिक सुख में ही निमग्न हो गया हो, तो भला फिर वह सुगति किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? भोजन, शयन, हस्त-पादप्रक्षालन आदि क्रियाएँ तो यथावसर सभी मुनि को करनी पड़ती हैं, लेकिन एक तो शारीरिक सुख के लिये क्रियाएँ की जाती हैं और एक शरीर के निर्वाह के लिये। सो इस स्थान पर शारीरिक सुख की इच्छा से उक्त क्रियाओं को करने वाले साधु को सुगति का अनधिकारी कहा गया है।

उत्थानिका—तो अब सुगति किसको प्राप्त हो सकती है? सो कहते हैं:—

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥२७॥

तपोगुणप्रधानस्य, ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य।
परीषहान् जयतः, सुलभा सुगतिस्तादृशस्य ॥२७॥

पदार्थान्वयः—तवोगुणपहाणस्स—तपरूपी गुण से प्रधान उज्जुमइ—जिसकी मोक्ष-मार्ग में मति है खंतिसंजमरयस्स—क्षमा और संयम में रक्त परीसहे—परिषहों के जिणंतस्स—जीतने वाले तारिसगस्स—ऐसे की सुगई—सुगति—मोक्ष सुलहा—सुलभ है।

मूलार्थ—जो तप-गुण में प्रधान हैं, मोक्ष-मार्ग में जिनकी बुद्धि प्रवृत्त हो रही है, क्षमा और संयम के पालने में जो तत्पर हैं और जो परिषहों के जीतने वाले हैं, ऐसे मुनि को मोक्षरूपी सुगति प्राप्त होनी सुलभ है।

टीका—'उज्जुमइ'-'ऋजुमतेः' के दो अर्थ हैं—एक 'मोक्ष में बुद्धि रखने वाले' और दूसरा 'सरलाशय वाले'। यहाँ पर दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। 'खंतिसंजमरयस्स'-'क्षान्तिसंयमरतस्य' के भी दो अर्थ हैं—एक 'क्षमा और संयम में रत' और दूसरा 'क्षमाप्रधान संयम में रत'। क्योंकि क्षमा संयम का मूल है। ये दोनों ही अर्थ यहाँ पर ग्रहण किये जा सकते हैं। मोक्षरूपी सुगति आत्मिक गुणों के आश्रित है, न तु शारीरिक सुख के आश्रित। अतः शारीरिक सुख को छोड़कर सुगति की प्राप्ति के लिये उक्त गुणों का आश्रय अवश्य लेना चाहिये। तथा सूत्रकर्ता ने उक्त गुणों का जो वर्णन किया है, उसमें तप और संयम शब्दों द्वारा चारित्र का निर्देश कर दिया है। यद्यपि चारित्र में ज्ञान ही कारण है, लेकिन मोक्ष-प्राप्ति का साक्षात्कारण चारित्र है। इसलिये सूत्रकर्ता ने सुगति का मुख्य कारण चारित्र ही प्रतिपादन किया है। अतएव इसी क्रम से प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञानपूर्वक चारित्र से मोक्ष प्राप्त करना चाहिये।

उत्थानिका—सूत्रकार अब इस विषय में कहते हैं कि यदि किसी जीव को मोक्ष प्राप्त न हो सके तो फिर क्या हो:—

पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो अ खंती अ बंभचेरं च ॥२८॥

पश्चादपि ते प्रयाताः, क्षिप्रं गच्छन्ति अमरभवनानि।
येषां प्रियः तपः संयमश्च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यंञ्च ॥२८॥

पदार्थान्वयः—**जेसिं**-जिनको **तवो**-तप **अ**-और **संजमो**-संयम **अ**-तथा **खंती**-क्षमा **च**-और **बंभचेरं**-ब्रह्मचर्य **पिओ**-प्रिय हैं **ते**-वे **पच्छावि**-पिछली अवस्था में भी—वृद्ध हो जाने पर भी **पयाया**-संयम-मार्ग में चलते हुए **खिप्पं**-शीघ्र **अमरभवणाइं**-देवों के आवासों के प्रति **गच्छंति**-जाते हैं।

मूलार्थ—जिन पुरुषों को तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे पिछली अवस्था में भी दीक्षित हो जाने पर तथा संयम-मार्ग में न्यायपूर्वक चलने से शीघ्र ही देवलोक में चले जाते हैं।

टीका—इस गाथा के कथन करने का यह भाव प्रतीत होता है कि यदि कोई ऐसे कहे कि—अब तो मेरी वृद्धावस्था आ गई है। इसलिये मैं अब संयम के योग्य नहीं रहा हूँ। इस प्रकार से कहने वालों के प्रति सूत्रकार का यह उपदेश है कि—यदि तप, संयम तथा क्षमा और ब्रह्मचर्य से प्रेम है तो वृद्धावस्था में भी संयम धारण कर लेने पर बहुत ही शीघ्र देवलोक के विमानों की प्राप्ति हो जाती है, जिससे फिर वह आत्मा दुर्गति के दुःखों के भोगने से छूट जाती है। अतएव जीव को तप और संयम तथा क्षमा और ब्रह्मचर्य से प्रेम प्रत्येक अवस्था में होना चाहिये। जो आत्मा उक्त वृत्ति को धारण करती है, वह अवश्यमेव सुखों की अनुभव करने वाली हो जाती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं:—

इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए।
दुल्लहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ॥२९॥
त्ति बेमि।

चउत्थं छज्जीवणिया अज्झयणं सम्मत्तं।

इत्येतां षड्जीवनिकाम्, सम्यग्दृष्टिः सदा यतः।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यम्, कर्मणा न विराधयेत् ॥२९॥
इति ब्रवीमि।

चतुर्थं षड्जीवनिकाऽध्ययनं समाप्तम्।

पदार्थान्वयः—सया-सदा जए-यत्न करने वाला सम्मद्दिट्ठी-सम्यग्दृष्टि जीव दुल्लहं-दुर्लभ सामण्णं-मुनित्व को लहित्तु-प्राप्त करके इच्चेयं-इस प्रकार

छज्जीवणियं-षट्काय की **कम्मुणा**-मन, वचन और काय की क्रिया से **न विराहिज्जासि**-विराधना न करे। **त्ति बेमि**-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—सदा यत्न से प्रवृत्ति करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव, दुर्लभ श्रामण्यभाव को प्राप्त करके इन षड्जीव-निकाय के जीवों की मन, वचन और काय से विराधना कदापि न करे।

टीका—इस गाथा में जो 'दुल्लहं लहित्तु सामण्णं' पद दिया है, इसका भाव यह है कि संसारी प्रत्येक पदार्थ सुलभतापूर्वक प्राप्त हो सकता है, किन्तु ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र की प्राप्ति दुर्लभता से होती है। सो यदि किसी आत्मा को पूर्व क्षयोपशमभाव के कारण अत्यन्त दुर्लभ श्रामण्यभाव प्राप्त हो गया हो तो फिर वह प्रमादादि द्वारा वा मन, वचन और काय से कदापि उस दुर्लभ चारित्र की विराधना न करे। साथ ही इस गाथा में इस बात का भी प्रकाश किया गया है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा सदैव यत्न करने वाली होती है तथा यत्न करने वाली सम्यग्दृष्टि बन जाती है—मेघकुमारवत्। अतः षट्काय के जीवों की विराधना कदापि न करनी चाहिये। यदि यहाँ ऐसे कहा जाय कि—यहाँ पर 'षट्काय' ही शब्द क्यों दिया गया है? इसका समाधान यह है कि—संसारी जीवों के रहने के षट् ही स्थान हैं। यद्यपि सिद्धात्मा भी जीव हैं, परन्तु उनकी संज्ञा अकायिक है। इसलिये वे षट्काय के जीवों की गणना में नहीं लिये गये।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में—१. जीवाजीवाभिगम, २. आचार, ३. धर्म-प्रज्ञप्ति, ४. चारित्र-धर्म, ५. यत्न (चरण) विषय और ६. उपदेशाधिकार (धर्माधिकार), इन छः विषयों का वर्णन अधिकाररूप से किया गया है। जब तक जीव को, जीव और अजीव का सम्यक्तया अवबोध नहीं होता, तब तक वह आचार-धर्मविषय-में प्रविष्ट हो ही नहीं सकता। जब तक जीव आचार-धर्म से अपरिचित है, तब तक वह धर्म-प्रज्ञप्ति किस प्रकार कर सकता है? जब तक जीव धर्म-प्रज्ञप्ति से अपरिचित है, तब तक वह चारित्र-धर्म का अधिकारी किस प्रकार माना जायगा? जब तक जीव चारित्र-धर्म का अधिकारी नहीं है, तब तक वह यत्न-विषय में उद्यत किस प्रकार हो सकेगा? और जब तक वह यत्न-विषय में उद्यत ही नहीं है तब तक वह उपदेश करने वा सुनने का अधिकारी किस प्रकार

माना जा सकता है ? इसलिये जीव को सब से पहले जीवाजीव का अवबोध सम्यक्तया प्राप्त करना चाहिये। तत्पश्चात् उपरोक्त सकल फलपरम्पराएँ उसे अनायास ही प्राप्त होती जायँगी।

'इस प्रकार श्रीसुधर्मास्वामी श्रीजम्बूस्वामीजी के प्रति कहते हैं कि—हे जम्बू ! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीजी से षड्जीव-निकाय नामक अध्ययन का अर्थ श्रवण किया है, उसी प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति कहा है, अपनी बुद्धि से मैंने इसमे कुछ भी नहीं कहा है।'

षड्जीवनिकाध्ययन समाप्त।

अह पिंडेसणा पंचमज्झयणं ।

अथ पिण्डैषणा पञ्चमाध्ययनम् ।

चतुर्थ अध्ययन में साधु के मूल गुणों के विषय में कुछ वर्णन किया गया था । महाव्रत मूल गुणों के अन्दर गर्भित हैं । अब इस पञ्चम अध्ययन में उत्तर गुणों के विषय में कुछ कहा जायगा ।

चतुर्थ अध्ययन में षड्जीव-निकाय की रक्षारूप धर्माचार साधु के लिये कहा गया है । लेकिन साधु, धर्माचार स्वशरीर की रक्षा करते हुए ही पाल सकता है । शरीर की रक्षा में आहार एक मुख्य कारण है । इस पञ्चम अध्ययन में उसी का वर्णन है । अर्थात् साधु अपने गृहीत व्रतों की रक्षा करता हुआ किस प्रकार से आहार ग्रहण करे, इस बात का वर्णन इस अध्ययन में है ।

जिसके ग्रहण करने में साधु के व्रतों में रञ्चमात्र भी दोष न लगने पावे, ऐसे आहार को निरवद्य आहार, और जिसके ग्रहण करने में उनके व्रतों में दोष लगे, उसे सावद्य आहार कहते हैं । साधु को सावद्य आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये । आहार के ग्रहण करने में किस-किस तरह से दोष आते हैं और किस-किस तरह से उनका निराकरण होता है इत्यादि बातों का वर्णन इस अध्ययन में है । इसी लिये इसका नाम 'पिण्डैषणा अध्ययन' है । क्योंकि 'पिंडेसणा'–'पिण्डैषणा' शब्द का अर्थ है—'पिण्ड' अर्थात् आहार और 'एषणा' अर्थात् दोषादोषनिरीक्षण ।

उत्थानिका—उसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है :—

संपत्ते भिक्खकालंमि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेणं, भत्तपाणं गवेसए ॥१॥

संप्राप्ते भिक्षाकाले, असंभ्रान्तः अमूर्च्छितः।
अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेषयेत् ॥१॥

पदार्थान्वयः—**भिक्खकालंमि**—भिक्षा का समय **सपत्ते**—हो जाने पर **असंभंतो**—चित्त की व्याकुलता को छोड़कर **अमुच्छिओ**—आहारादि में मूर्च्छित न होता हुआ **इमेण कमजोगेणं**—इस विधि से **भत्तपाणं**—अन्न-पानी को **गवेसए**—खोजे—ढूंढे।

मूलार्थ—भिक्षा का समय हो जाने पर साधु, चित्त की व्याकुलता को छोड़कर आहारादि में मूर्च्छित न होता हुआ इस क्रम से—आगे कहे जाने वाले तरीके से—अन्न-पानी की गवेषणा—खोज—करे।

टीका—साधु की दिन-चर्या सब विभाजित की हुई है। जैसे कि—सूर्योदय के पश्चात् विधिपूर्वक प्रतिलेखनादि कर लेने के बाद साधु दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे। तदनु ध्यान करें। तृतीय प्रहर में उपयोगपूर्वक भिक्षा का समय जानकर किसी भी जीव का अन्तराय न लेते हुए और अपने चित्त की वृत्ति को ठीक करते हुए अर्थात् अलाभादि के भय से चित्तवृत्ति को व्याकुल न करते हुए तथा आहार वा शब्दादि विषयों में मूर्च्छित न होते हुए साधु इस वक्ष्यमाण क्रम से अन्न और पानी की गवेषणा करे।

शास्त्र में जो जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, काल और आकाश, ये छः द्रव्य कहे गये हैं, उनमें से जीव-द्रव्य सब से श्रेष्ठ है। यह चेतन है, और सब अचेतन हैं। यह सब को जानने वाला है, और इसे कोई नहीं जान सकता। यह जीव-द्रव्य सब का पथ-प्रदर्शक है, मार्ग-भ्रष्ट को सन्मार्ग सुझा देने वाला है, सब का कल्याणकारी है; सब का शासक है, त्रिजगद्वन्द्य है, सर्वोच्च सुखों का केन्द्र है। लेकिन जब तक इसकी शक्तियाँ और-और कामों में—भोगोपभोगों के भोगने में—लगी रहती हैं—फँसी रहती हैं, तब तक इसके स्वभाव—स्वरूप—का पूर्ण

विकाश नहीं हो पाता । और-और कामों में यह अपनी मूर्खता से फँसा रहता है । और वह मूर्खता इसकी सिर्फ इतनी-सी ही है कि इसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है —ज्ञान नहीं है । यह नहीं पहचानता कि मैं कैसी अद्भुत–अचिन्त्य–शक्ति वाली चीज़ हूँ । यही इसकी ज़बरदस्त ग़लती है ।

और जब इसको अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, अपनी अद्भुत, परमोत्कृष्ट, आनन्दघन, त्रिजगद्वन्द्य चेतनशक्ति का पता लग जाता है, तब वह बड़ा प्रसन्न होता है । अब तक जो वह गलती में फँस रहा था? उसका उसे बड़ा पछतावा रहता है । फिर तो बस वह उसी में मग्न रहना चाहता है । अपना स्वरूप उसे इतना रुचिर और प्रिय प्रतीत होता है कि उससे वह क्षण भर भी अलग नहीं रहना चाहता । उसी में वह अनन्तकाल के लिये निमग्न हो जाना चाहता है । उसको फिर भोगोपभोगों में एवं संसार के और-और कामों में थोड़ा भी समय बिताना और अपनी शक्ति उधर लगाना अच्छा नहीं लगता । संसार के समस्त विषय उसे विष-तुल्य मालूम होते हैं । इस समय वह अनुभव करता है कि यह मुझे एक ऐसे उत्तम एवं समीचीन पदार्थ का दिग्दर्शन हुआ है, जिसका पता तक मुझे अब तक न था । यही जीव का सम्यग्-दर्शन कहलाता है ।

जीव की यह सम्यग्दृष्टि हालत, अन्तरङ्ग कारण—मोहनीय-कर्म के एकदेश दर्शनमोहनीय के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम के हो जाने से होती है । और बहिरङ्ग कारण—शास्त्रश्रवण, सत्समागम, तीर्थङ्करादि के दर्शन आदि अनेक हैं । ये बहिरङ्ग कारण कभी-कभी किसी जीव के सम्यग्दर्शन होने के लिये नहीं भी होते । लेकिन अन्तरङ्ग कारण—जो मोहनीय का क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम है, उसका होना आवश्यक है ।

जीव की परिणति जब ऐसी वैराग्यमयी हो जाती है, तभी वह साधु-वृत्ति को धारण करता है । इस सम्यग्दर्शन की अवस्था में तो जीव को सिर्फ अपने स्वरूप का भान हुआ है, विश्वास हुआ है । अब उसे प्राप्त करने की कोशिश में वह लगता है । इसी लिये वह साधु-अवस्था धारण करता है । साधु-अवस्था चारित्र की अवस्था है । चारित्र क्रियाप्रधान होता है और क्रिया ही किसी कार्य की सिद्धि करती है । इसी लिये शास्त्र में लिखा है कि पहले सम्यग्दर्शन होता है, बाद में

सम्यक्चारित्र । ठीक ही है, पहले किसी कार्य की रुचि हो जाने के वाद ही जीव को उसके प्राप्त करने की चेष्टा पैदा होती है । साधु-वृत्ति के धारण करने के पहले यदि जीव की ऐसी वैराग्यमयी परिणति न हुई होती तो भला वह राजा, महाराजा, एवं चक्रवर्ती के भोगों को या संसार में कहे जाने वाले सुखों को छोड़कर यह साधु-वृत्ति क्यों ग्रहण करता, जिसमें अनेक परीषह और उपसर्ग हमेशा आते रहते हैं । साधु-वृत्ति को चाहने वाले सम्यग्-दृष्टि जीव के इतने प्रकर्ष वैराग्यमय परिणाम होते हैं कि वह भोगोपभोगों की तो क्या वात है उनका आश्रय जो अपना शरीर है उसे भी एकदम त्याग देता, यदि शास्त्र ने वैसा करने का निषेध न किया होता । क्योंकि ऐसा करने से कर्म का वन्ध नहीं कटता जो कि पुनर्भव धारण कराता है[1] । जव यह वात है, तव आप जान सकते हैं कि मुनि आहार-पानी के ग्रहण करने में कितनी अरुचि रखते हैं । वे सिर्फ शासनाज्ञा को शिरोधार्य करके ही उसकी गवेषणा के लिये नगर में जाते हैं, और इसी लिये उसके लाभालाभ में उन्हें समभाव रहता है । इसी लिये साधु के लिये शास्त्र में जैसे ध्यान, स्वाध्याय, प्रतिलेखन आदि करने के लिये आदेश दिया गया है और उसके लिये भिन्न-भिन्न समय निश्चित किया गया है, वैसे ही आहार-पानी के लिये गवेषणा करने के लिये भी आदेश दिया गया है और उसके लिये समय निश्चित किया गया है । अन्यान्य कर्तव्यों के अतिरिक्त आहार-पानी की गवेषणा करना भी शासन में साधु का एक कर्तव्य वतलाया गया है । यदि साधु, गवेषणा का जो समय निश्चित है, उसमें न जाकर पहले या वाद में उसके लिये जाय तो उसे अनेक दोष लगेंगे, जिनका कि वर्णन आगे शास्त्रकार स्वयं करेंगे । अतएव भिक्षा के काल में ही भिक्षा के लिये साधु को प्रवृत्ति करनी चाहिये । साधु जव तक पिण्डैषणा में अर्थात् आहार-पानी की गवेषणा में असंभ्रान्त और अमूर्छित न होंगे, तव तक वे उसमें लगने वाले दोषों का परिहार–वचाव–नहीं कर सकते । इसी लिये शास्त्रकार ने गाथा में 'असंभंतो, अमुच्छिओ' ये दो पद दिये हैं ।

उत्थानिका—साधु किस स्थान पर भिक्षा की गवेषणा करे, और उसके लिये किस प्रकार से गमन करे ? सूत्रकार अव इसी विषय में कहते हैं :—

१ 'यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः'—आत्मानुशासन ।

से गामे वा नगरे वा, गोअरग्गगओ मुणी ।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥२॥

स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः ।
चरेद् मन्दमनुद्विग्नः, अव्याक्षितेन चेतसा ॥२॥

पदार्थान्वयः—**गोअरग्गगओ**—गोचराग्र में गया हुआ **से**—वह **मुणी**—साधु **गामे वा**—ग्राम में, अथवा **नगरे वा**—नगर में, अथवा अन्य खेटकादि में **अणुव्विग्गो**—उद्वेगरहित **अव्वक्खित्तेण**—अविक्षिप्त **चेयसा**—मन से **मंदं**—शनैः शनैः **चरे**—जावे ।

मूलार्थ—गोचराग्र में गया हुआ वह असंभ्रान्त मुनि ग्राम में, नगर में या अन्य खेटकादि में उद्वेगरहित और अव्याक्षिप्त चित्त से शनैः शनैः गमन करे।

टीका—गाथा के प्रथम चरण से शास्त्रकार ने गोचरी के योग्य स्थान का और शेष तीन चरणों से गोचरी के लिये किये गये गमन का प्रकार बतलाया है । 'गोचरी के लिये साधु अव्याक्षिप्त चित्त से तथा अनुद्विग्नमना होकर गमन करे' यह इसलिये कहा गया है कि गमन में उसे किसी प्रकार का दोष न लगे । उद्विग्नमना और व्याक्षिप्त चित्त से गमन करने से दोषों की शुद्धि नहीं की जा सकती । 'गोचरी' शब्द 'गो' और 'चर' शब्द से बना है । इसका तात्पर्य यह है कि—साधु गोवत् भिक्षाचरी में जावे अर्थात् जैसे गौ जहाँ पर तृणादि का योग होता है उसी स्थान पर चली जाती है, ठीक उसी तरह साधु भी उत्तम, मध्यम और निम्न कुलों का विचार न करता हुआ तथा सरस वा नीरस आहार का विचार न करता हुआ समभाव से गोचरी में जावे । गाथा में 'गोचर' शब्द देकर भी एक 'अग्र' शब्द और दिया है—यथा 'गोअरग्गगओ'—'गोचराग्रगतः' । इसका तात्पर्य यह है कि गौ की चर्या सावद्य है, किन्तु मुनि की चर्या आधाकर्मादि दोषों से सर्वथा रहित है[1]। उत्तम, मध्यम और निम्न कुलों के विषय मे कतिपय आचार्यों का मन्तव्य धनादि की अपेक्षा से है और कतिपय आचार्यों का मन्तव्य जाति की

---

१ यथा—'गोचराग्रगतः' इति गोरिव चरणं गोचरः—उत्तमाधममध्यमकुलेषु अरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्, अग्र'—प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन, तद्गत.—तद्वर्ती मुनिः—भावसाधुः चरेत्—गच्छेत् ।

अपेक्षा से है। साधु, लोक-व्यवहार की शुद्धि रखता हुआ गोचराग्र में प्रवेश करे। 'मन्द-मन्द चले' ऐसा जो कथन किया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि शीघ्र गति से गमन करने मे ईर्या-समिति की तथा आत्मा की विराधना होने की भी संभावना है।

उत्थानिका—सूत्रकार गोचरी के लिये किये गये गमन के विषय में कुछ और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं :—

पुरओ जुंगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे अ दगमट्टियं ॥३॥

पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत्।
वर्जयन् बीजहरितानि, प्राणिनश्चोदकमृत्तिकाम् ॥३॥

पदार्थान्वयः—**जुगमायाए**—युगमात्रा अर्थात् शरीरप्रमाण से **पुरओ**—आगे **पेहमाणो**—देखता हुआ **बीयहरियाइं**—बीज और हरितकाय को **पाणे**—प्राणियों को **दगमट्टियं**—सचित्त पानी और मृत्तिका को **वज्जंतो**—छोड़ता हुआ **महिं**—पृथिवी पर **चरे**—गमन करे **अ**—च—शब्द से तेजस्कायादि को वर्जता हुआ भी पृथिवी पर गमन करे।

मूलार्थ—साधु, शरीरप्रमाण अर्थात् अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ प्रमाण आगे देखता हुआ और बीज, हरितकाय, प्राणी, उदक और मृत्तिका को छोड़ता हुआ—बचाता हुआ—पृथिवी पर चले।

टीका—हर एक काल में प्रत्येक मनुष्य का शरीर अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ प्रमाण हुआ करता है यह एक मानी हुई बात है। इसी लिये शरीर-प्रमाण का मूलार्थ में 'अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ प्रमाण' अर्थ लिखा गया है। इसी को 'शकट का जूड़ा (जूला) प्रमाण' भी कहते हैं। साधु साढ़े तीन हस्त प्रमाण वा शकट के जूड़े प्रमाण आगे पृथिवी को सिर्फ देखता हुआ ही गमन न करे किन्तु बीज, हरित, प्राणी, द्वीन्द्रियादि जीव, उदक और पृथिवीकाय तथा 'च' शब्द से तेजस्कायादि की रक्षा करता हुआ भी गमन करे। 'पृथिवी को देखता

हुआ चले' इसका सारांश यह है कि चलते समय प्रमाणपूर्वक भूमि को ही देखता हुआ चले, अन्य दिशादि का अवलोकन करता हुआ न चले। क्योंकि ईर्या-समिति में फिर उपयोग नहीं रहेगा। उपयोगपूर्वक गमन करने से ही ईर्या-समिति का पालन भलीभाँति किया जा सकेगा।

उत्थानिका—गमन करते हुए साधु को संयम-विराधना के परिहारार्थ कहे जाने के पश्चात् शास्त्रकार अब आत्म-विराधना के परिहारार्थ कहते हैं:—

ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥

अवपातं विषमं स्थाणुम्, विजलं परिवर्जयेत्।
संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रमे ॥४॥

पदार्थान्वयः—**ओवायं**—गर्त्तादि **विसमं**—विषम स्थान **खाणुं**—ठूँठ **विज्जलं**—कीचड़ **परिवज्जए**—छोड़ देवे **परक्कमे**—अन्य मार्ग के **विज्जमाणे**—विद्यमान होने पर **संकमेण**—जलादि में काष्ठादि रखकर संक्रमण करके **न गच्छिज्जा**—न जावे।

मूलार्थ—साधु खड्डादि स्थान, विषम स्थान वा खीलादि के ऊपर होकर न जाय तथा कीचड़ के मार्ग को छोड़ देवे। तथा अन्य मार्ग के विद्यमान होने पर नदी आदि को संक्रमण करके न जावे।

टीका—इस गाथा में मुख्यतया आत्म-विराधना के परिहारार्थ कथन किया गया है। जैसे कि—जिस मार्ग में विशेष खड्डादि हों तथा वह विशेष ऊँचा वा नीचा हो, तथा उस मार्ग में कीलें विशेष हों वा काष्ठादि रखे हुए हों, तो उन पर होकर न जावे। क्योंकि इस प्रकार करने से आत्म-विराधना वा संयम-विराधना होने की सम्भावना की जा सकती है। तथा सूत्र में जो 'विज्जमाणे' पद दिया है इसके कथन करने का यह आशय है कि—यदि अन्य मार्ग विद्यमान न होवे तो साधु यत्न द्वारा उक्त कथन किये हुए मार्गों से भी गमन कर सकता है। यद्यपि उत्सर्ग मार्ग से तो उक्त मार्गों का उल्लंघन न करना चाहिये, किन्तु अपवाद मार्ग के आश्रित होकर यत्नपूर्वक उक्त मार्गों से भी जा सकते हैं। विषम स्थान के कथन करने से सब प्रकार के विषम मार्गों का ग्रहण किया गया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस बात का उपदेश करते हैं कि अवपातादि मार्गों में जाने से क्या दोष उत्पन्न होते हैं :—

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥

प्रपतन् वा स तत्र, प्रस्खलन् वा संयतः।
हिंस्यात्प्राणिभूतानि , त्रसानथवा स्थावरान् ॥५॥

पदार्थान्वयः—से-वह संजए-साधु तत्थ-उनमें पवडंते-गिरता हुआ व-अथवा पक्खलंते-स्खलित होता हुआ पाणभूयाइं-प्राणि और भूतों की त्रसे-त्रसों अदुव-अथवा थावरे-स्थावरों की हिंसेज्ज-हिंसा करता है।

मूलार्थ—वह साधु उन गर्तादि स्थानों में गिरता हुआ तथा स्खलित होता हुआ, द्वीन्द्रियादि जीवों की तथा एकेन्द्रियादि जीवों की अथवा त्रसों की वा स्थावरों की हिंसा करता है।

टीका—इस गाथा में आत्म-विराधना और संयम-विराधना दोनों का दिग्दर्शन कराया गया है। प्राणि-भूत और त्रस-स्थावर ये दोनों परस्पर पर्यायवाची नाम जानने चाहियें। अपने शरीर को क्लेश पहुँचाना द्रव्य-विराधना है और श्री-भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करना तथा त्रस-स्थावर जीवों को क्लेश पहुँचाना भाव-विराधना कहलाती है।

उत्थानिका—यदि इस प्रकार की विराधना होती है तो फिर साधु को क्या करना चाहिये ? अब इसी विषय में कहते हैं :—

तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥

तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः।
सत्यन्यस्मिन् मार्गे, यतमेव पराक्रामेत् ॥६॥

पदार्थान्वयः—**तम्हा**-इसलिये **सुसमाहिए**-भलीभाँति से समाधि रखने वाला **संजए**-साधु **अन्नेण मग्गेण**-अन्य मार्ग के सद्-होने पर **तेण**-पूर्वोक्त मार्ग से **न गच्छिज्जा**-न जावे, यदि अन्य मार्ग न होवे तो **जयमेव**-यत्नपूर्वक उक्त मार्गो मे ही **परक्कमे**-गमन करे।

मूलार्थ—इसलिये श्रीभगवान् की आज्ञा पालन करने वाला साधु, अन्य मार्गों के होने पर उक्त मार्गों से न जावे। यदि अन्य मार्ग न हो तो यत्नपूर्वक उक्त मार्ग में गमन करे।

टीका—इस गाथा में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग पूर्वक गमन का वर्णन किया गया है। जैसे कि—पूर्वोक्त दोषों को जानता हुआ मुनि उक्त मार्गों में गमन न करे, यदि अन्य कोई मार्ग विद्यमान होवे तो। यदि अन्य मार्ग कोई दृष्टिगोचर नहीं हो तो यत्नपूर्वक और विशेष उपयोग रखता हुआ पूर्वोक्त मार्गो से गमन करे। कारण कि यदि विना यत्न से उक्त मार्गों में गमन करेगा तो आत्म-विराधना और संयम-विराधना दोनों के होने की सम्भावना की जा सकेगी। अतएव अन्य मार्ग के अभाव में ही यत्नपूर्वक पूर्वोक्त मार्गों से ही गमन करने को कहा गया है। गाथा के दूसरे चरण में जो 'सुसमाहिए'-'सुसमाहितः' पद दिया है, उसका अर्थ वास्तव में 'भलीभाँति समाधि रखने वाला' होता है। लेकिन भलीभाँति समाधि वही रख सकता है, जो कि श्रीभगवान् की आज्ञा भलीभाँति पालता हो। इसलिये मूलार्थ में 'सुसमाहिए' पद का अर्थ 'श्रीभगवान् की भलीभाँति आज्ञा पालने वाला' किया गया है। गाथा के तीसरे चरण में 'अन्नेण मग्गेण' जो पद दिये हैं, वे देखने में तृतीयान्त दीखते हैं, लेकिन हैं असल में वे सप्तम्यन्त पद। छान्दस होने से प्राकृत भाषा में इस तरह का विभक्ति-व्यत्यय हो जाया करता है। इसलिये उनका अर्थ 'अन्यस्मिन् मार्गे' करना चाहिये।

उत्थानिका—सूत्रकार अब पृथिवी-काय की यत्ना के विषय में विशेष उल्लेख करते हैं:—

इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं।
ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ तं नइक्कमे ॥७॥

आङ्गारं क्षारराशिम्, तुषराशिं च गोमयम्।
सरजस्काभ्यां पद्भ्याम्, संयतस्तं नातिक्रामेत् ॥७॥

पदार्थान्वयः—संजओ-संयत-मुनि इंगालं-कोयलों की राशि छारियं रासिं-क्षार की राशि तुसरासिं-तुष की राशि च-तथा गोमयं-गोबर की राशि तं-उसको ससरक्खेहिं-रज से भरे हुए पाएहिं-पगों से नइक्कमे-अतिक्रम न करे।

मूलार्थ—साधु कोयलों की राशि, क्षार की राशि, तुष की राशि और गोबर की राशि को सचित्त रज से भरे हुए पगों से अतिक्रम न करे।

टीका—यहाँ पर कोयलों की राशि आदि तो साधारणरूप से नाम गिना दिये हैं, पर वस्तुतः यहाँ पर सभी प्रकार की वस्तुओं से-राशियों से-आचार्य का अभिप्राय है और उपलक्षण से उन सब का यहाँ ग्रहण भी किया जा सकता है। अथवा गाथा के दूसरे चरण में जो 'च' शब्द दिया है, उससे अन्य समस्त राशियों का ग्रहण किया जा सकता है। तब इस गाथा का अर्थ हुआ—मुनि, सचित्त रज से भरे हुए पगों से उक्त किसी भी राशि को उल्लंघन करके आगे न जावे। कारण कि उन पदार्थों के स्पर्श से जो पगों को सचित्त रज लगी हुई है उन जीवों की विराधना हो जानी सम्भव है। अतः मुनि किसी भी राशि को यदि उसके पगादि सचित्त रज आदि से भरे हुए हों तो अतिक्रम न करे। कारण कि साधु-वृत्ति में अत्यन्त विवेक की आवश्यकता है। तभी यह वृत्ति सुखपूर्वक पालन की जा सकती है, अन्यथा नहीं।

उत्थानिका—इसके अनन्तर शास्त्रकार अब अप्-कायादि के विषय में यत्न करने के लिये कहते हैं:—

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥८॥
न चरेद्वर्षे वर्षति, मिहिकायां वा पतन्त्याम्।
महावाते वा वाति, तिर्यक्-संपातिकेषु वा ॥८॥

पदार्थान्वयः—वासे-वर्षा के वासंते-वर्षने पर वा-अथवा महियाए-

धुंध के पडंतिए-पड़ने पर व-अथवा महावाए-महावायु के वायंते-वजने—चलने पर वा-अथवा तिरिच्छसंपाइमेसु-तिर्यक्-गति वाले अर्थात् पतङ्गे आदि के उड़ने पर न चरेज्ज-न जावे ।

मूलार्थ—वर्षा के बरसने पर, धुंध के पड़ने पर, महावायु-आँधी-के चलने पर, तथा पतङ्गे आदि के उड़ने पर साधु गोचरी आदि के लिये न जावे।

टीका—गाथोक्त परिस्थिति उपस्थित हो जाने पर साधु गमन न करे। क्योंकि इस प्रकार करने से आत्म-विराधना तथा संयम-विराधना दोनों के होने की सम्भावना है। तथा लोक-पक्ष में भी अपवाद का हेतु वह गमन करने वाला मुनि बन जायगा। अतएव उक्त पदार्थों के होते हुए मुनि गोचरी के लिये न जावे। गोचरी के लिये ही साधु उक्त परिस्थिति के उपस्थित होने पर गमन न करे, यही बात नहीं है; बल्कि उपलक्षण से 'अन्य क्रियाओं के लिये भी साधु न जावे' यह भी अर्थ यहाँ ग्रहण करना चाहिये। हाँ, यदि शारीरिक कोई क्रियाएँ करनी हों तो उन क्रियाओं के निरोध करने का उल्लेख शास्त्र में नहीं है। जैसे कि—मल-मूत्रादि की चिन्ता दूर करने के लिये जाना पड़ जाय तो उक्त समय में साधु को गमन करने का निषेध नहीं पाया जाता। कारण कि उन क्रियाओं के निरोध करने से असाध्य रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना की जा सकती है, जिससे फिर बहुत से कारणों—विघ्नों—के उपस्थित हो जाने का समय उपलब्ध हो जायगा।

उत्थानिका—इसी प्रकार से शास्त्रकार और भी कहते हैं:—

न चरेज्ज वेससामंते, बंभचेरवसाणु-(णा)-ए।
बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसुत्तिआ ॥९॥

न चरेद्वेश्यासामन्ते, ब्रह्मचर्यवशानयने।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य, भवेदत्र विस्रोतसिका ॥९॥

पदार्थान्वयः—**बंभचेरवसाणुए**-ब्रह्मचर्य को स्ववश में करने वाले अर्थात् नाश करने वाले **वेससामंते**-वेश्या के समीप के स्थानों में **न चरेज्ज**-न जाय **तत्थ**-वहाँ **दंतस्स**-जितेन्द्रिय **बंभयारिस्स**-ब्रह्मचारी को **विसुत्तिया**-अपध्यान-संयमरूप धान्य के सुखाने वाला मनोविकार **हुज्जा**-उत्पन्न हो जायगा।

सूलार्थ—साधु, ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले वेश्या के समीप के स्थानों में न जावे। क्योंकि इन्द्रियों के दमन करने वाले ब्रह्मचारी को वहाँ पर संयम-रूपी धान्य के सुखाने वाला मनोविकार उत्पन्न हो जायगा।

टीका—यद्यपि यह नियम नहीं है कि वेश्या के मुहल्लों में होकर निकल जाने से या उनके मुहल्ले में जाने से ब्रह्मचर्य का नाश नियम से हो ही जाय। कभी-कभी ब्रह्मचर्य का नाश वहाँ जाने से या उधर होकर निकल जाने से नहीं भी होता है। कभी-कभी क्यों, प्रायः नहीं होता है। वल्कि यों कहना चाहिये कि होता है तो कभी-कभी होता है। अर्थात् संयोगवश तीव्र कर्मोदय से कभी किसी साधु से इस प्रकार की अनर्थकारी घटना घटी हो तो घटी हो। इतने पर भी शास्त्रकार ने वहाँ जाने का अथवा उधर से जाने का जो सर्वथा निषेध किया है, उसका यह मतलब है कि शास्त्रकार उस संसर्ग का भी निषेध किया करते हैं, जिससे संयम के विगड़ जाने की सम्भावनामात्र हो। इसलिये साधु का उस स्थान पर जाना या उस स्थान के पास होकर निकल जाना भी निषिद्ध है, जहाँ पर जाने से उनके त्रिलोकवन्द्य ब्रह्मचर्य के विगड़ जाने की सम्भावना भी हो। शास्त्र-कार का ऐसे सम्भवनीय स्थानों का निषेध करना उचित भी है। क्योंकि यदि व्रत-भङ्ग न हुआ तव तो कुछ वात ही नहीं है, और यदि व्रत-भङ्ग हो गया तो सर्वस्व नष्ट हो जायगा। सर्वस्व तो व्रत ही है। इसलिये ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये इस प्रकार के मार्गों से पृथक् रहने की संयमी ब्रह्मचारी के लिये अत्यन्त आवश्यकता है।

उत्थानिका—इस प्रकार सूत्रकर्ता ने एक वार गमन-क्रिया के करने का फल तो वर्णन कर दिया, अव पुनः पुनः गमन-क्रिया के करने का फल दिखलाते हुए कहते हैं:—

अणाय[य]णे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं।
हुज्ज वयाणं पीला, सामण्णंमि अ संसओ ॥१०॥

अनायतने चरतः, संसर्गेणा-(सांसर्गिक्या)-ऽभीक्ष्णम्।
भवेद् व्रतानां पीडा, श्रामण्ये च संशयः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—अणायणे-अस्थान में चरंतस्स-चलने वाले साधु को अभिक्खणं-वारम्बार के संसग्गीए-संसर्ग से वयाणं-व्रतों को पीला-पीड़ा हुज्ज-होगी अ-फिर सामएणंमि-संयम के विषय में संसओ-संशय उत्पन्न होगा।

मूलार्थ—अस्थान-वेश्यादि के मुहल्लों-में चलने वाले साधु को वार-वार के संसर्ग से व्रतों को पीडा उत्पन्न होगी और श्रामण्यभाव में संशय उत्पन्न हो जायगा।

टीका—इस गाथा में वेश्यादि के स्थानों में जाने से जो फल उत्पन्न होता है वह दिखलाया गया है। जैसे कि—जिन मार्गों में साधु के लिये चलने का निषेध है, यदि वह उन मार्गों में—वेश्यादि के मुहल्लों में—वारम्बार जायगा तो वेश्यादि के संसर्ग से उसके व्रतों को पीड़ा उत्पन्न हो जायगी और पवित्र चारित्र में संशय उत्पन्न हो जायगा। जिसका परिणाम यह निकलेगा कि वह ब्रह्मचारी अपने धारण किये हुए ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जायगा। सूत्रकर्ता ने 'वयाणं'-'व्रतानाम्' जो बहुवचनान्त पद दिया है, उसका यह आशय है कि वैसा करने से पीड़ा केवल ब्रह्मचर्य को ही नहीं है किन्तु षड्व्रतों को भी पीड़ा होगी। जैसे कि—अनुपयोग-पूर्वक चलने से हिंसा-व्रत को पीड़ा; पूछने पर असत्य वचन बोला कि मैं उस मार्ग से नहीं गया हूँ तो द्वितीय महाव्रत को पीड़ा; श्रीभगवान् की आज्ञा न होने से अदत्तादान-व्रत को पीड़ा, ब्रह्मचर्य-व्रत को पीड़ा तो है ही, साथ ही पुनः पुनः गमन करने से ममत्वभाव बढ़ जाने के कारण पञ्चम महाव्रत को पीड़ा और रात्रि-भोजन की अभिलाषा हो जाने से छठे व्रत को पीड़ा हो सकती है। इस प्रकार पुनः पुनः गमन-क्रिया के करने से छहों व्रतों को भी पीड़ा हो सकती है। और संयमभाव में संशय—अश्रद्धा—का भाव उत्पन्न हो जायगा, वह अलग।

उत्थानिका—इसलिये साधु को अब क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं :—

तम्हा एयं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वज्जए वेससामंतं, मुणी एगंतमस्सिए ॥११॥

तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम्।
वर्जयेद्वेश्यासामन्तम्, मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥११॥

पदार्थान्वयः—तम्हा–इसलिये एगंतमस्सिए–एकान्त में रहने वाला मुणी–मुनि एयं–इस प्रकार दुग्गइवड्ढणं–दुर्गति के बढ़ाने वाले दोसं–दोष को विआणित्ता–जानकर वेससामंतं–वेश्या के समीप भाग को वज्जए–छोड़ देवे।

मूलार्थ—इसलिये एकान्त में रहने वाला अर्थात् मोक्ष-मार्ग के आश्रय में रहने वाला मुनि, इस प्रकार दुर्गति के बढ़ाने वाले दोषों को जानकर वेश्या के समीप के मार्ग को भी छोड़ दे।

टीका—इस गाथा में प्रस्तुत प्रकरण का निगमन किया गया है। जैसे कि—उक्त गाथा से सिद्धान्त यह निकलता है कि चतुर्थ महाव्रत की रक्षा के लिये साधु को शङ्कनीय मार्गों में भी जाना योग्य नहीं है।

यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि प्रथम-व्रत-विराधना के अनन्तर एकदम चतुर्थ-व्रत-विराधना के विषय में क्यों कहा गया है? तो इसका समाधान यह है कि—चतुर्थ की प्रधानता दिखलाने के लिये ऐसा कहा गया है। कारण कि चतुर्थ व्रत के न पालने से साधु को अनेक प्रकार के असत्यादि का भी प्रयोग करना पड़ेगा। अतएव चतुर्थ व्रत की रक्षा के लिये उपदेश दे देने से शेष व्रतों की रक्षा का उपदेश स्वयमेव हो जाता है। इस पर दूसरी शङ्का यहाँ यह पैदा हो सकती है कि—क्या चतुर्थ व्रत की रक्षा के वास्ते साधु असत्यादि का प्रयोग कर सकता है? तो इसका समाधान यह है कि—प्रथम महाव्रत की रक्षा के लिये ही शेष व्रत कथन किये गये हैं। अर्थात् असत्यादि से रक्षा नहीं होती किन्तु सत्यादि के प्रयोग से रक्षा हो सकती है।

जीव का उपयोग एकान्त अर्थात् निर्जन स्थान में जितना स्थिर होता है, बहुजनाकीर्ण और कोलाहल वाली जगह में उतना नहीं होता। विना उपयोग के स्थिर हुए जीव का कोई भी काम भलीभाँति सफल नहीं होता। सामायिक, स्वाध्याय, जप, तप, मनन, ध्यान आदि कामों में तो उपयोग के स्थिरता की अत्यन्त आवश्यकता है। और मुनि-वर्ग का यह कार्य प्रधानतम है[1]। इसलिये उन्हें एकान्त अर्थात् निर्जन स्थान की अत्यन्त आवश्यकता है। इसी लिये वे प्रायः एकान्त स्थान में ही रहते हैं। और इसी लिये 'एगंत' का अर्थ यहाँ पर 'एकान्त–

१ 'ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते।'

निर्जन स्थान' है, अनेकान्त का विरोधी 'एकान्त नय' नहीं है। 'एकान्त' शब्द के दोनों अर्थ होते हैं। जहाँ पर जो अर्थ संभव हो, वहाँ पर वह अर्थ लगाना चाहिये। यह एकान्त स्थान भी मोक्ष तक पहुँचने के लिये एक प्रधान कारण है। इसलिये मूलार्थ में 'एगंतमस्सिए' का अर्थ 'मोक्षमार्ग के आश्रय में रहने वाला मुनि' किया गया है।

उत्थानिका—शास्त्रकार अब गमन-क्रिया के यत्न के विषय में और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं:—

साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं [ब्भं] कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥

श्वानं सूतां गाम्, दृप्तं गां हयं गजम्।
संडिम्भं कलहं युद्धम्, दूरतः परिवर्जयेत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—साणं-कुत्ते को सूइयं गाविं-नव-प्रसूता गौ को दित्तं-दर्पित गोणं-बलीवर्द को हयं-अश्व को गयं-हाथी को संडिब्भं-बालकों के क्रीडास्थान को कलहं-कलह को जुद्धं-युद्ध को दूरओ-दूर से परिवज्जए-छोड़ देवे।

मूलार्थ—साधु को मार्ग में यदि कुत्ता, नव-प्रसूता गौ, मदोन्मत्त बैल, अश्व, हस्ती, बालकों के क्रीडा का स्थान, कलह का स्थान, युद्ध का स्थान मिल जायँ तो उन्हें छोड़कर गमन करे।

टीका—यहाँ पर 'साणं'-'श्वानम्' में जो एकवचन है, वह जाति-वाचक है। इससे यहाँ पर 'एक कुत्ता और अनेक कुत्ते' का भी अर्थ समझना चाहिये। उसी तरह से 'सूइयं गाविं'-'सूतां गाम्' 'ब्याई हुई गाय' का अर्थ भी उपलक्षण-सहित करना चाहिये, जिससे ब्याई हुई ऊटनी, भैंस, बकरी आदि भी ग्रहण की जा सकती हैं। अथवा 'गो' शब्द गाय-वाचक भी है और सामान्य पशु-वाचक भी, इसलिये यहाँ पर उसे सामान्य पशु-वाचक भी मानकर अर्थ किया जा सकता है। 'दित्तं'-'दृप्तम्'-'मदोन्मत्त' विशेषणवाचक शब्द सिर्फ 'गोणं'-'गाम्'-'बैल' के साथ ही न लगाना चाहिये, बल्कि शेष दो 'हयं गयं'-

'हयं गजम्'–'घोड़ा और हाथी' के शब्द के साथ भी लगाना चाहिये। गाथा के तीसरे चरण में 'संडिब्भं'–'संडिम्भं' शब्द का तो अर्थ 'बालकों के खेलने का स्थान' होता है। लेकिन 'कलहं जुद्धं'–'कलहं युद्धम्' का शुद्ध अर्थ सिर्फ 'कलह और युद्ध' ही होता है, 'कलह का स्थान और युद्ध का स्थान' नहीं होता। इसलिये यहाँ पर 'गङ्गायां घोषः' की भाँति ध्वनि मानकर 'कलह और युद्ध' का अर्थ 'कलह-स्थान और युद्ध-स्थान' भी करना चाहिये। साधु के लिये गमन करते समय इनका संयोग इसलिये वर्जित है कि ये संयोग आत्म-विराधना और संयम-विराधना दोनों के ही कारण हैं।

उपरोक्त विवेचन का सम्मिलित अर्थ इस प्रकार करना चाहिये:—'जिस स्थान पर कुत्ता बैठा हुआ हो वा श्वानमण्डली लगी हुई हो, इसी प्रकार नव-प्रसूता गौ, मदोन्मत्त बैल, मदोन्मत्त अश्व, मदोन्मत्त हाथी आदि खड़े हों; बालकों का क्रीड़ा-स्थान हो, परस्पर वचन-युद्ध होता हो तथा खड्गादि से युद्ध होता हो तो साधु ऐसे स्थानों को दूर से ही छोड़ देवे।' कारण कि उक्त स्थानों में गमन करने से आत्म-विराधना वा संयम-विराधना दोनों संभव हैं। जैसे कि—श्वानादि पशु तो आत्म-विराधना करने में अपनी सामर्थ्य रखते ही हैं, और जहाँ पर बालकों के खेलने का स्थान है, यदि उस स्थान पर से जाया जायगा तो वे बालक भी उपहासादि द्वारा वा भंडनादि द्वारा संयम-विराधना करने में विलम्ब नहीं करेंगे। अतएव उक्त दोनों विराधनाओं के भय से साधु उक्त स्थानों में गमन ही न करे।

उत्थानिका—शास्त्रकार अभी उसी विषय का वर्णन कर रहे हैं:—

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाणि जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे॥१३॥

अनुन्नतो नावनतः, अप्रहृष्टः अनाकुलः।
इन्द्रियाणि यथाभागम्, दमयित्वा मुनिश्चरेत्॥१३॥

पदार्थान्वयः—मुणी–मुनि अणुन्नए–न उन्नत होकर नावणए–न अवनत होकर अप्पहिट्ठे–न हर्षित होकर अणाउले–न आकुलित होकर इंदियाणि–इन्द्रियों

को जहाभागं—अपने-अपने हिस्से में—विषय में दमइत्ता—वश में करके चरे—गोचरी आदि में जावे।

मूलार्थ—साधु, चलते हुए न तो अति ऊँचे को देखे, न अति नीचे को देखे, न हर्षित हो, न व्याकुल हो किन्तु इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में वश करता हुआ गोचरी आदि में जावे।

टीका—गाथा में कहा गया है कि साधु गमन करते समय उन्नतपने से गमन न करे। उन्नतपने से गमन दो तरह का है—एक द्रव्य से, दूसरा भाव से। ईर्या-समिति को छोड़कर आकाशादि को निहारते हुए गमन करना, द्रव्यरूप उन्नतपने से गमन करना है। और अपनी श्रेष्ठ जाति आदि का अभिमान-भाव मन में रखते हुए गमन करना, भावरूप उन्नतपने से गमन करना है। जिस तरह उन्नतपने से गमन करना दो तरह का है, उसी तरह नीचेपने से गमन करना भी दो तरह का है—एक द्रव्य से, दूसरे भाव से। अत्यन्त नीची दृष्टि करके चलना, इतनी नीची दृष्टि करके कि साधु के लिये शास्त्र में साढ़े तीन हाथ प्रमाण आगे देखकर चलने की जो आज्ञा है, उतना भी आगे देखकर न चलना द्रव्यरूप अवनतपने से गमन करना है। और आहार-पानी की प्राप्ति न होने पर मन में नीचैर्वृत्ति धारण करते हुए गमन करना, भावरूप अवनतपने से गमन करना है।

पदार्थ के मिल जाने पर हर्षित होना और नहीं मिलने पर आकुलता—क्रोधादि—प्रदर्शित करना भी साधु के लिये अनुचित है। उक्त प्रकार से गमन करने पर साधु के लिये उपहासादि अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे कि—यदि साधु द्रव्यरूप अत्यन्त उन्नतपने से चलेगा तो वह लोक में उपहास के योग्य हो जायगा, यदि वह भावरूप से अत्यन्त उन्नतपने से चलेगा तो सूत्रोक्त ईर्या-समिति की पालना न कर सकेगा; यदि द्रव्यरूप से अत्यन्त अवनतपने से चलेगा तो वह लोक में वक्र-वृत्ति से गमन करने वाला कहा जायगा, यदि भावरूप से अत्यन्त नीचेपने से चलेगा तो लोक में क्षुद्र सत्त्व वाला कहा जायगा; यदि हर्षित होकर चलेगा तो लोग कहेंगे कि स्त्रियों के दर्शन से आनन्दित होता हुआ जा रहा है; यदि आकुलित होता हुआ चलेगा तो लोग यह कहेंगे कि यह साधु दीक्षा के योग्य नहीं है—इत्यादि अनेक दोषों की सम्भावना

की जा सकती है। इसलिये साधु को उचित है कि वह विवेकपूर्वक इन बातों का ख्याल करते हुए गवेषणा आदि के लिये गमन करे। इतना ही नहीं, किन्तु पाँचों इन्द्रियों के विषयों से अपने मन को हटाकर और राग-द्वेष से रहित होकर ही मुनि गोचरी आदि में गमन करे।

स्पर्शेन्द्रिय का विषय है—स्पर्श करना; जिह्वेन्द्रिय का विषय है—चखना, घ्राणेन्द्रिय का विषय है—सूँघना, चक्षुरिन्द्रिय का विषय है—देखना, और श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है—सुनना। इस तरह पाँचों इन्द्रियों के विषय अलग-अलग विभाजित हैं—बँटे हुए हैं। इसी लिये गाथा के 'जहाभागं' शब्द का अर्थ 'अपने-अपने हिस्से में—विषय में' किया गया है।

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी विषय में कुछ और विशेष प्रतिपादन करते हैं:—

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो अ गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥१४॥

द्रुतं द्रुतं न गच्छेत्, भाषमाणश्च गोचरे।
हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा ॥१४॥

पदार्थान्वयः—**गोयरे**—गोचरी के लिये **दवदवस्स**—जल्दी-जल्दी **अ**—और **भासमाणो**—भाषण करता हुआ **न गच्छेज्जा**—न जावे **हसंतो**—हँसता हुआ **उच्चावयं कुलं**—ऊँच वा नीच कुल में **सया**—सदा—कभी भी **नाभिगच्छेज्जा**—न जावे।

मूलार्थ—**साधु, गोचरी के लिये कभी भी जल्दी-जल्दी गमन न करे; बात-चीत करता हुआ एवं हँसता हुआ ऊँच-नीच कुल में गमन न करे।**

टीका—जल्दी-जल्दी बात-चीत करते हुए ऊँच-नीच कुल में गमन करने से साधु की अयोग्यता प्रदर्शित होती है और ईर्या-समिति का पालन भी नहीं होता। संयमरूप तथा आत्मरूप विराधनाओं के और लोकापवादादि दोषों के होने की भी सम्भावना रहती है। ऊँच-नीच कुल के भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो-दो भेद हैं। जैसे कि गृहवासी द्रव्य से उच्च कुल और उच्च-जात्यादियुक्त-भाव से

उच्च कुल माना जाता है, उसी प्रकार कुटीरवासी द्रव्य से नीच कुल और हीन-जात्यादियुक्त-भाव से नीच कुल माना जाता है। 'उच्चावयं' शब्द के—१. उच्च-नीच, २. अनुकूल-प्रतिकूल, ३. अव्यवस्थित, ४. विविध, ५. अति उत्तम, ६. महाव्रत और ७. महाव्रतधारी, ये सात अर्थ होते हैं। लेकिन यहाँ पर उसके संग में शास्त्रकार ने 'कुलं' विशेषण दिया है। इसलिये उसका अर्थ यहाँ पर 'ऊँच-नीच कुल' ही किया गया है।

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी विषय में कुछ और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं:—

आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि अ।
चरंतो न विणिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ॥१५॥

आलोकं चितं द्वारम्, संधिमुदकभवनानि च।
चरन्न विनिध्यायेत्, शङ्कास्थानं विवर्जयेत् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—**चरंतो**—गोचरी में चलता हुआ **आलोअं**—गवाक्षादि—झरोखे **थिग्गलं**—चिना हुआ वा भित्ति **दारं**—द्वारादि **संधिं**—चौरादि के द्वारा किया हुआ ऐंड़ा **अ**—और **दगभवणाणि**—पानी के गृहादि को **न विणिज्झाए**—न देखे **संकट्ठाणं**—शङ्का के स्थानों को **विवज्जए**—छोड़ देवे।

मूलार्थ—गोचरी के लिये जाता हुआ साधु झरोखादि को, भित्ति को, द्वारादि को, सेंधको-ऐंडे को, और पानी के भवनों को मार्ग में न देखे तथा शङ्का के सब स्थानों को छोड़ देवे।

टीका—उक्त स्थानों को साधु इसलिये न देखे कि उनके वार-वार अवलोकन करने से कदाचित् लोगों के मन में यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि यह भिक्षु उक्त स्थानों को पुनः पुनः क्यों देख रहा है? क्या यह चोर आदि है? या, क्या इसी ने चोरी आदि की है? इसी लिये शास्त्रकार ने गाथा में 'संकट्ठाणं'—'शङ्का-स्थानम्' पद दिया है अर्थात् ये स्थान शङ्कास्पद हैं। लेकिन उपरोक्त अर्थ तभी घट सकता है, जब कि 'संकट्ठाणं' पद को 'आलोअं' आदि पदों का विशेपण माना

जाय। लेकिन एक प्रकार से 'संकट्ठाणं', 'आलोअं' आदि पदों का विशेषण नहीं भी हो सकता। क्योंकि एक तो वह दूर—चौथे चरण में पड़ा हुआ है। दूसरे बीच में 'चरंतो न विणिज्झाए'—'चरन्तं न विनिध्यायेत्' अपूर्ण और पूर्ण क्रियापद भी पड़े हुए हैं, जिनसे कि 'आलोअं' आदि पूर्व पदों का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। ऐसी हालत में 'संकट्ठाणं' को पूर्व में कहे हुए 'आलोअं' आदि पदों का विशेषण न मानकर स्वतन्त्र माना जा सकता है और उसका सम्बन्ध केवल 'विवज्जए' क्रिया से किया जा सकता है। तब उसका अर्थ होगा 'शङ्का के स्थानों को छोड़ दे'। यही अर्थ सुगम है, इसलिये यही अर्थ अन्वयार्थ और मूलार्थ में लिखा गया है। यह याद रखना चाहिये कि उक्त स्थानों को साधु के वार-वार अथवा विशेषरूप से देखने ही का निषेध है। और इसी लिये शास्त्रकार ने 'न विणिज्झाए' में 'वि' उपसर्ग लगाया है, जिसका भाव है 'विशेषेण न पश्येत्'। 'आलोअ' शब्द के—१. प्रकाश, २. देखना, ३. विशेषरूप से देखना, ४. समान भूभाग, ५. झरोखा, ६. संसार और ७. रूपी पदार्थ, ये सात अर्थ होते हैं। इनमें से यहाँ पर जो-जो अर्थ घटित हों, उन्हें घटा लेना चाहिये।

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी प्रकार के और भी कुछ स्थान गिनाते हैं:—

रण्णो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण य।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥१६॥

राज्ञो गृहपतीनां च, रहस्यमारक्षकाणां च।
संक्लेशकरं स्थानम्, दूरतः परिवर्जयेत् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—**रण्णो**—राजा के **गिहवईणं**—गृहपतियों के **च**—और **आरक्खियाण**—कोटपालादि के **रहस्स**—गुप्त वार्त्तादि करने के स्थान को **य**—तथा **संकिलेसकरं ठाणं**—क्लेशकारक स्थानों को **दूरओ**—दूर से **परिवज्जए**—छोड़ दे।

मूलार्थ—राजा, नगरसेठ, कोतवाल आदि के गुप्त वार्तालापादि करने के स्थानों को और दुःखदायी स्थानों को साधु दूर से ही छोड़ दे।

टीका—गाथा में 'रण्णो'—'राजा', 'गिहवईणं'—'गृहपति' और 'आरक्खियाणं'—'आरक्षकाणाम्' जो पद दिये हैं, उन्हें उपलक्षण समझना चाहिये।

और उससे तत्सदृश राज्य के अन्य उच्च कर्मचारी तथा अन्य प्रतिष्ठित नागरिकों का भी ग्रहण करना चाहिये । अथवा 'च' से उन सब का समुच्चय कर लेना चाहिये। 'संकिलेसकरं ठाणं'—'संक्लेशकरं स्थानम्' पद से असद् इच्छा की प्रवृत्ति करने के स्थान, मन्त्रभेद करने के स्थान, विचार करने के स्थान, कर्षण-क्रियाएँ करने के स्थान और उपलक्षण से काम-क्रीड़ा के स्थान ग्रहण करना चाहिये ।

पिण्डैषणा आदि के लिये गमन करता हुआ साधु, उक्त स्थानों को दूर से ही इसलिये छोड़ देवे कि उक्त स्थानों में गमन करने से शासन की लघुता तथा आत्म-विराधना होने की सम्भावना है ।

यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि गमन करते हुए साधु को यदि इन स्थानों का पता ही न लगे और वह भूल से वहाँ तक पहुँच जाय तो फिर वह वहाँ क्या करे ? इसका समाधान यह है कि यदि भूल से कदाचित् ऐसा हो जाय तो साधु को वहाँ खड़ा बिल्कुल न होना चाहिये । अथवा जिस प्रकार से उन लोगों के अन्तःकरण में किसी प्रकार की शङ्का उत्पन्न न हो सके, उस प्रकार से साधु को वर्तना चाहिये, क्योंकि शङ्का के उत्पन्न हो जाने से कई प्रकार की आपत्तियों के उत्पन्न होने की सम्भावना है ।

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी प्रकार के और भी स्थान बतलाते हैं :—

पडिकुट्ठं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए ।
अचिअत्तं कुलं न पविसे, चिअत्तं पविसे कुलं ॥१७॥

प्रतिक्रुष्टं कुलं न प्रविशेत्, मामकं परिवर्ज्जयेत् ।
अप्रीतं कुलं न प्रविशेत्, प्रीतं प्रविशेत्कुलम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—**पडिकुट्ठं**—निषिद्ध **कुलं**—कुल में **न पविसे**—प्रवेश न करे **मामगं**—जिस घर का स्वामी यह कह दे कि आगे को मेरे घर पर मत आना उस घर को **परिवज्जए**—वर्ज दे **अचिअत्तं कुलं**—जिस कुल में जाने से उस कुल के मनुष्यों को अप्रीति उत्पन्न हो उस कुल में **न पविसे**—प्रवेश न करे **चिअत्तं**—जिस कुल में मुनि की प्रीति हो उसी **कुलं**—कुल में **पविसे**—प्रवेश करे ।

मूलार्थ—साधु निन्दनीय-समाज से वर्जित-घर में, 'आगे को मेरे घर पर मत आना' इस तरह की सूचना दे देने वाले कुल में, जिस कुल में जाने से अप्रीति उत्पन्न हो जाय उस कुल में, आहार-पानी लेने के लिये न जाय किन्तु जिस कुल में जाने से प्रसन्नता प्रगट हो उसी कुल में जाय।

टीका—'पडिकुट्ठं'–'प्रतिक्रुष्टम्'—'निषिद्ध–निन्दित' कुल दो प्रकार के हैं—एक अल्पकालिक और दूसरा यावत्कालिक। थोड़े से समय के लिये अर्थात् सावधि समय के लिये समाज ने जिन कुलों को छेक दिया है वे 'अल्पकालिक कुल' हैं। और जिनको हमेशा के लिये समाज ने छेक दिया है वे 'यावत्कालिक कुल' कहलाते हैं। ऐसे कुलों में से आहार-पानी लेने का साधु के लिये इसलिये निषेध है कि लोक-व्यवहार की स्थिति जो कि दुराचार को हटाने और सदाचार को जारी रखने के उद्देश्य से की जाती है, यथावत् बनी रहे। साधु को निषिद्ध कुलों से किसी प्रकार का द्वेष नहीं है। जिन लोगों ने यह कह दिया हो कि 'महात्मन्! आयन्दा से आप मेरे यहाँ मत आना' उनके यहाँ साधु इसलिये न जायं कि यदि निषेध करने पर भी वहाँ वह जायगा तो वहाँ पर अनेक प्रकार के भंण्डनादि प्रसङ्ग उपस्थित होने की सम्भावना है। 'अचियत्तं कुलं'–अप्रीतं कुलम्'—'साधु का जाना जिन घरों में अच्छा न लगता हो', इसके दो अर्थ हैं—एक तो यह कि 'जिन घर वालों को साधु का अपने यहाँ आना अच्छा न लगता हो', दूसरा यह कि 'जिन घरों मे जाने से साधु औरों को अच्छा न लगता हो—साधु की-उसमें प्रतिष्ठा जाती हो, जैसे कि वेश्या आदि के घर। इन कुलों में साधु इसलिये न जाय कि वहाँ पर जाने से संक्लेश आदि के उत्पन्न होने का प्रसङ्ग आ जायगा। साधु उन्हीं कुलों में आहार-पानी के लिये गमन करे, जिनमें जाने से उन पर भक्ति-भाव उत्पन्न हो जाय। वृद्ध-व्याख्या से उक्त पद का अर्थ यह भी सुना जाता है कि—जिन कुलों की प्रतीति नहीं है उन कुलों में मुनि प्रवेश न करें, कारण कि वहाँ पर जाने से साधु की भी अप्रतीति लोगों में हो जायगी।

उत्थानिका—मार्ग और कुलों के विषय में कथन करने के बाद शास्त्रकार अब यह कहते हैं कि घर पर पहुँच जाने के बाद साधु को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये:—

साणीपावारपिहियं , अप्पणा नावपंगुरे ।
कवाडं नो पणुल्लिज्जा, उग्गहंसि अजाइया ॥१८॥
शाणीप्रावारपिहितम् , आत्मना नापवृणुयात् ।
कपाटं न प्रणोदयेत्, अवग्रहमयाचित्वा ॥१८॥

पदार्थान्वयः—साणीपावारपिहियं-सन की बनी हुई चिक से अथवा वस्त्रादि से ढँके हुए द्वार को उग्गहंसि-आज्ञा अजाइया-विना माँगे अप्पणा-स्वयमेव नावपंगुरे-न खोले कवाडं-गृह के कपाटों को नो पणुल्लिज्जा-न खोले ।

मूलार्थ—सन की बनी हुई चिक से अथवा कपड़े से ढँके हुए द्वार को गृहपति की आज्ञा के विना साधु अपने-आप न खोले ।

टीका—गृहपति की आज्ञा विना साधु किसी द्वार आदि आवरण को इसलिये नहीं खोले कि न जाने अन्दर गृहस्थी की कौन-सी क्रिया हो रही हो ? गृहस्थ उसे उन्हें बतलाना न चाहता हो, या वह क्रिया इनके बतलाने योग्य न हो तो यदि मुनि अचानक उसके यहाँ पहुँच जायँगे तो घर वालों को क्रोधादि उत्पन्न होने की सम्भावना है । 'साणी' की संस्कृत छाया जैसे 'शाणी' की गई है, वैसी ही 'शुनी' भी होती है, जिसका अर्थ होता है 'कुतिया' । लेकिन आगे 'पावार' जो शब्द पड़ा हुआ है उसके संयोग से यहाँ पर 'शाणी' ही छाया करना ठीक है, जिसका कि अर्थ 'सन से बना हुआ वस्त्र अर्थात् चिक' है । 'उग्गह'-'अवग्रह' के अर्थ भी 'अवग्रह' नामक मतिज्ञान-विशेष, उपकार, आज्ञा, नियम, परिग्रह, निवासस्थान, अन्तर, निश्चय, उपकरणविशेष, योनिद्वार, ग्राह्य, और अपनी वस्तु, इतने होते हैं । प्रकरणवश यहाँ पर 'आज्ञा' अर्थ ही उचित है । इस गाथा में शास्त्रकर्ता ने उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों मार्गों का दिग्दर्शन करा दिया है । समय के जानने वाले विवेकशील साधु जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखें वैसा ही व्यवहार करें । और जो क्रिया करें उसमें उत्सर्ग-मार्ग वा अपवाद-मार्ग का आश्रय वे अवश्य ले लें ।

उत्थानिका—गोचरी के लिये साधु जब जाय, तब पहिले ही वह मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त हो ले। यदि कदाचित् गृहस्थ के घर जाकर बाधा उपस्थित हो जाय तो वहाँ पर साधु क्या करे ? सो कहते हैं:—

गोयरग्गपविट्ठो अ, वच्चमुत्तं न धारए।
ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे ॥१९॥

गोचराग्रप्रविष्टश्च , वर्चोमूत्रं न धारयेत्।
अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—**गोयरग्गपविट्ठो**—गोचराग्र में गया हुआ **अ**—फिर **वच्च**—पुरीष—बड़ी नीत **मुत्तं**—मूत्र की बाधा—लघु नीत **न धारए**—धारण करके न जाय **फासुअं**—प्रासुक—निरवद्य **ओगासं**—जगह **नच्चा**—जानकर, और **अणुन्नविअ**—गृहस्थ की आज्ञा लेकर **वोसिरे**—व्युत्सर्जन करे।

मूलार्थ—अव्वल तो मल-मूत्र की बाधापूर्वक साधु गोचरी के लिये जावे ही न। यदि वहाँ जाने पर बाधा हो जाय, तब प्रासुक मल-मूत्र का स्थान जानकर और गृहस्थ की आज्ञा लेकर ही मल-मूत्र का परित्याग करे।

टीका—गोचरी का समय मध्याह्न के कुछ ही पूर्व है। मूत्र-पुरीष की बाधा की निवृत्ति का समय प्रातःकाल का है। इस तरह से यद्यपि गोचरी के समय से पूर्व मुनि मूत्र-पुरीष से निवृत्त हो ही लेते हैं, तो भी गोचरी को जाते समय साधुओं को विचार लेना चाहिये कि शरीर को किसी प्रकार की—मूत्र-पुरीषादि की—बाधा तो नहीं है। यदि मालूम दे तो उससे स्व-स्थान पर ही निवृत्त हो लेना चाहिये। इसके बाद भी—गृहस्थ के घर पहुँच जाने पर भी—यदि कदाचित् बाधा प्रतीत हो तो साधु को उचित है कि वे गृहस्थ की आज्ञा लेकर और प्राशुक स्थान देखकर वहाँ मूत्र-पुरीष का उत्सर्जन करें। ऐसा न करने से अनेक रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। जैसे कि—मूत्रावरोध से नेत्ररोग और पुरीपावरोध से अनेक रोग तथा जीवोपघात आदि होते हैं। इसी लिये सूत्रकर्ता ने इस प्रकार की आज्ञा प्रदान की है।

इसके बाद यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि—जब मुनि उक्त शुद्ध स्थान पर मल-मूत्रादि का परित्याग कर दें, तब वहाँ वे अपनी शुद्धि किस प्रकार से करें ? इसका समाधान यह है कि—यदि उनके पास अन्य साधु हों तो वे साधु कहीं से प्रासुक जल लाकर उन्हें दे दें। यदि अन्य साधु उनके समीप न हों तो वे प्रथम प्रासुक मृत्तिका से शुद्धि कर फिर स्व-उपाश्रय में आकर जलादि से शुद्धि कर सकते हैं। इस प्रकार जैन-ग्रन्थों में प्रतिपादन किया गया है[1]। सो उक्त विधि से बाधा से रहित होकर फिर प्रस्तुत विषय में प्रवृत्त हो जावें।

उत्थानिका—शास्त्रकार अब घरों की बनावट के आधार पर किस-किस प्रकार के घरों को साधु छोड़ दे, यह कहते हैं:—

णीअदुवारं तमसं, कुट्ठगं परिवज्जए।
अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥२०॥

नीचद्वारं तमस्विनम्, कोष्ठकं परिवर्जयेत्।
अचक्षुर्विषयो यत्र, प्राणिनो दुष्प्रतिलेख्याः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—**णीअदुवारं**–नीचे द्वार वाले को **तमसं**–घोर अन्धकार-युक्त **कुट्ठगं**–कोठे को **जत्थ**–जिस स्थान पर **अचक्खुविसओ**–चक्षु स्व-विषय का ग्रहण नहीं कर सके उसको **पाणा**–द्वीन्द्रियादि प्राणी **दुप्पडिलेहगा**–भली प्रकार से देखे न जा सकें उसको **परिवज्जए**–छोड़ दे।

मूलार्थ—जिस घर का दरवाजा बहुत नीचा हो, अथवा जिस कोठे में घोर अन्धकार हो, जहाँ पर कि नेत्रेन्द्रिय कुछ काम न देती हो और जहाँ पर त्रस जीव दिखलाई न पड़ते हों, साधु ऐसे घरों को छोड़ दें अर्थात् आहार-पानी लेने के लिये वहाँ वे न जायँ।

टीका—साधु को उपरोक्त प्रकार के मकान इसलिये छोड़ देने चाहियें कि वहाँ पर जाने से ईर्या की शुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये संयम-विराधना

---

१ 'अत संघाटकाय स्वकभाजनानि समर्प्य प्रतिश्रयात् पानीयं गृहीत्वा संघभूमौ विधिना व्युत्सृजेत्। विस्तरतो यथा ओघनिर्युक्तौ'।

होगी तथा स्वशरीर-विराधना का होना भी संभव है। 'दुप्पडिलेहगा' की जगह पर कहीं-कहीं 'दुप्पडिलेहा' भी पाठ देखने में आता है। पर संस्कृत छाया और अर्थ दोनों पाठों का एक ही होता है।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि गृहस्थ लोग इस प्रकार के मकान क्यों बनवाते हैं, तथा ऐसे अन्धकारादियुक्त मकान गृहस्थों को उनके स्वास्थ्यादि को भी नुकसान पहुँचाने वाले हैं? इसका समाधान यह है कि गृहस्थ अपनी इच्छानुसार गृह बनाते हैं, उन पर किसी तरह का प्रतिबन्ध तो है नहीं, हाँ, साधु का अपना कर्तव्य है कि वह उन मकानों को वर्ज दे। हर एक शास्त्र का विषय अलग-अलग होता है। और जिस शास्त्र का जो विषय होता है, वह उसे प्रतिपादन करता है। यह शास्त्र–यह अध्ययन–साधुओं की 'पिण्डैषणा' के विषय का प्रतिपादक है। इसलिये इसमें वही विषय है। गृहस्थों के मकान बनाने का प्रतिपादन करने वाला यह शास्त्र नहीं है। उस विषय के शास्त्रों से उस विषय को जानना चाहिये।

उत्थानिका—मकान की बनावट के अतिरिक्त और किन-किन बातों को देखकर साधु को मकान छोड़ देना चाहिये? सो कहते हैं :—

जत्थ पुप्फाइं बीयाइं, विप्पइन्नाइं कोट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं, दट्ठूणं परिवज्जए ॥२१॥

यत्र पुष्पाणि बीजानि, विप्रकीर्णानि कोष्ठके।
अधुनोपलिप्तमार्द्रम्, दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—जत्थ–जिस कोट्ठए–कोठे में पुप्फाइं–पुष्प बीयाइं–बीज विप्पइन्नाइं–बिखरे हुए हों, उसको अहुणोवलित्तं–तत्काल लीपे हुए उल्लं–गीले को दट्ठूणं–देखकर परिवज्जए–वर्ज दे।

मूलार्थ—जिस स्थान पर फूल और बीज बिखरे हुए हों, तथा जो स्थान अभी ही लीपा-पोता गया हो, अतएव गीला हो, उस स्थान को देखकर साधु दूर से ही छोड़ दे।

टीका—उक्त स्थानों पर जाने से साधु के लिये इसलिये निषेध है कि वहाँ पर गमन करने से साधु को संयम-विराधना होने की सम्भावना है। उक्त गाथा में 'कोट्ठए'–'कोष्ठके' शब्द उपलक्षण है। इससे 'जहाँ कहीं भी फूल और बीज बिखरे हुए हों, और जहाँ कहीं भी लीपा गया हो या गीलापन हो, वे सभी स्थान साधु को वर्जनीय हैं यह अर्थ लेना चाहिये। यह उत्सर्ग-मार्ग प्रतिपादन किया गया है किन्तु अपवाद-मार्ग से यत्नपूर्वक किसी खास कारण के वश साधु उक्त स्थानों पर जा भी सकता है।

उत्थानिका—द्वार पर यदि इतनी चीजें दीखे तो भी साधु को वहाँ न जाना चाहिये :—

एलगं दारगं साणं, वच्छगं वा वि कुट्ठए।
उल्लंघिया न पविसे, विउहित्ताण व संजए ॥२२॥

एडकं दारकं श्वानम्, वत्सकं वाऽपि कोष्ठके।
उल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, व्यूह्य वा संयतः ॥२२॥

पदार्थान्वयः—**कोट्ठए**–कोठे के दरवाजे पर **एलगं**–बकरा **दारगं**–बालक **साणं**–कुत्ता **वा**–अथवा **वच्छगं वि**–वत्सक भी हो तो उन्हें **उल्लंघिया**–उल्लंघन करके **व**–अथवा **विउहित्ताण**–हटा करके **संजए**–साधु **न पविसे**–प्रवेश न करे।

मूलार्थ—कोठे के दरवाजे पर यदि कोई बकरा, बालक, कुत्ता, या बछड़ा भी मिल जाए तो संयमी (साधु) को चाहिये कि वह उन्हें फलांगकर अथवा हटाकर घर में प्रवेश न करे।

टीका—गाथा के 'वि'–'अपि' शब्द से यहाँ पर प्रकरणानुसार अन्य पशु भी ग्रहण कर लेना चाहिये। साधु यदि इन्हें लाँघकर अथवा पैर आदि किसी भी अवयव से उन्हें वहाँ से हटाकर अन्दर जायँगे, तो सम्भव है उसमें किसी भी प्रकार की तकलीफ या तो उन्हें हो जाय अथवा स्वयं को ही हो जाय। इसलिये आत्म-विराधना तथा पर-विराधना से बचे रहने के लिये साधु को उस घर में प्रवेश न करना चाहिये।

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी विषय में और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं :—

असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोअए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥२३॥
असंसक्तं प्रलोकयेत्, नातिदूरादवलोकयेत् ।
उत्फुल्लं न विनिर्ध्यायेत्, निवर्त्तेताऽजल्पाकः ॥२३॥

पदार्थान्वयः—असंसत्तं-असंसक्त होकर पलोइज्जा-प्रलोकन करे नाइदूरावलोअए-अति दूर से अवलोकन न करे उप्फुल्लं-विकसित आँखों से न विणिज्झाए-न देखे अयंपिरो-दीन वचन न बोलता हुआ निअट्टिज्ज-निकले।

मूलार्थ—साधु संसक्त होकर किसी ओर न देखे, अति दूर से किसी चीज़ को न देखे, नेत्रों को फाड़-फाड़कर भी न देखे। यदि किसी घर से आहार न मिले तो दीन वचन या क्रोधयुक्त वचन न बोले और उस घर से निकल आवे।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि जब साधु गृहस्थ के घर में आहार के लिये जाय, तब उसे वहाँ जाकर किस प्रकार वर्तना चाहिये। जब आहार के वास्ते गृहस्थ के घर में जाय तब वह वहाँ आसक्त होकर किसी स्त्री को न देखे, कारण कि इस प्रकार देखने से गृहस्थ को शङ्का, काम-राग की प्राप्ति, लोकोपघात आदि दोषों की प्राप्ति हो सकती है। और न गृहस्थ के घर के पदार्थों को जो दूर पड़े हुए हों उनको देखे। क्योंकि ऐसा करने से गृहस्थ को चोर होने की शङ्का उत्पन्न हो सकती है, तथा यदि उस घर से आहार नहीं मिला हो तब उसे चाहिये कि वह वहाँ दीन वचन तथा क्रोधयुक्त वचन न बोलते हुए उस घर से बाहर आ जाय और उस घर की निन्दादि के वचन कदापि न बोले। कारण कि साधु का तो शास्त्र की आज्ञा के अनुसार—अपनी वृत्ति के अनुसार—याचना करना कर्तव्य है। गृहस्थ की इच्छा है उनको भिक्षा दे अथवा न दे। इसलिये ऐसे अवसर पर साधु का यह कर्तव्य नहीं है कि वह उस घर की किसी भी प्रकार की निन्दा करे। किन्तु उसका कर्तव्य यह है कि वह आसक्त-भाव को छोड़कर सूत्रोक्त विधि के अनुसार अपनी वृत्ति—भिक्षाचरी—में प्रवेश करे।

उत्थानिका—अब फिर भी उसी विषय में कहते हैं:—

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मिअं भूमिं परक्कमे ॥२४॥

अतिभूमिं न गच्छेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मितां भूमिं पराक्रामेत् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—**गोयरग्गगओ**-गोचराग्र में गया हुआ **मुणी**-साधु **अइभूमिं**-अतिभूमि में **न गच्छेज्जा**-न जाय **कुलस्स**-कुल की **भूमिं**-भूमि को **जाणित्ता**-जानकर **मिअं भूमिं**-मर्यादित भूमि पर ही **परक्कमे**-पराक्रम करे अर्थात् जावे ।

मूलार्थ—**गोचराग्र में गया हुआ मुनि, अतिभूमि अर्थात् गृहस्थ की मर्यादित की हुई भूमि को अतिक्रम करके आगे न जाय किन्तु कुल की भूमि को जानकर घर की मर्यादित की हुई भूमि तक ही जाय ।**

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि साधु, कुल की भूमि को जानकर भिक्षाचरी में प्रवेश करें । जैसे कि—जब आहार के लिये जावें तब जिस कुल में प्रवेश करें उस कुल की मर्यादित भूमि को देखकर ही आगे जायँ । यदि वे मर्यादित भूमि को लाँघकर जायँगे तब जिनशासन की वा उन मुनियों की लघुता होने की सम्भावना है । अतएव मुनि को योग्य है कि वह कुल की भूमि को जानकर फिर उस मर्यादित भूमि पर जाने का पराक्रम करें जिससे किसी भी प्रकार की लघुता उत्पन्न होने का प्रसंग न आवे । तथा इस गाथा से यह भी सिद्ध होता है कि भिक्षु को प्रत्येक कुल की मर्यादा का बोध होना चाहिये । क्योंकि नाना प्रकार के कुलों में नाना प्रकार की मर्यादा होती है । साथ ही इस बात का भी ध्यान रहे कि सूत्रकर्ता ने जो 'अइभूमि'-'अतिभूमि' पद दिया है, इसका तात्पर्य यह है कि साधु सामान्य भूमि पर स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकता है ।

उत्थानिका—मर्यादित भूमि के पास पहुँच जाने के बाद मुनि का क्या कर्तव्य है ? सो अब शास्त्रकार कहते हैं:—

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं विअक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥२५॥

तत्रैव प्रतिलिखेत्, भूमिभागं विचक्षणः ।
स्नानस्य च वर्चसः, संलोकं परिवर्जयेत् ॥२५॥

पदार्थान्वयः—विअक्खणो–विचक्षण साधु तत्थेव भूमिभागं–उस मर्यादित भूमि-भाग का पडिलेहिज्जा–प्रतिलेखन करे सिणाणस्स–स्नान-घर का य–तथा वच्चस्स–पाखाने का संलोगं–देखना परिवज्जए–छोड़ दे।

मूलार्थ—भिक्षाचरी में गया हुआ विचक्षण साधु, उस मर्यादित भूमि-भाग का प्रतिलेखन करे और वहाँ खड़ा हुआ स्नान-घर तथा पाखाने की ओर न देखे।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि जब साधु, गृहस्थ के घर में आहार को जावे तब वह वहाँ जाकर क्या करे और किन-किन स्थानों को न देखे। जैसे कि—जब मर्यादित भूमि पर विचक्षण साधु जाकर खड़ा हो जाय तब उस भूमि-भाग को भलीभाँति प्रतिलेखन करे। उस स्थान पर खड़े होकर साधु को चाहिये कि वह गृहस्थ के स्नान-गृह को तथा उसके वर्चस्-गृह (पाखाने) को कदापि अवलोकन न करे। कारण कि उक्त दोनों स्थानों में स्त्री वा पुरुष नग्न-अवस्था में दृष्टिगोचर हो सकते हैं। जिससे कि शासन की लघुता व काम-राग की प्राप्ति होने की सम्भावना हो सकती है तथा गृहस्थ को साधु के ऊपर शङ्कादि दोषों की प्राप्ति हो सकती है। अतएव उक्त दोनों स्थानों को कदापि न देखना चाहिये। कहीं-कहीं पर 'भूमिभागं विअक्खणो' की जगह पर 'भूमिभागविअक्खणो'–'भूमिभागविचक्षणः' ऐसा समस्त पद का भी पाठ मिलता है। तब उसका अर्थ होगा—'मर्यादित भूमि को जानने में विचक्षण अर्थात् कुशल साधु वहाँ खड़ा होकर प्रतिलेखन करे'।

उत्थानिका—गृहस्थ के घर पहुँचकर साधु को कैसे-कैसे स्थानों को छोड़कर आहार के लिये खड़ा होना चाहिये? सो अब शास्त्रकार कहते हैं:—

दगमट्टिअआयाणे , बीआणि हरिआणि अ ।
परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदिअसमाहिए ॥२६॥

उदकमृत्तिकादानम् , बीजानि हरितानि च ।
परिवर्जयंस्तिष्ठेत् , सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥२६॥

पदार्थान्वयः—**दगमट्टिअआयाणे**–पानी और मृत्तिका के लाने के मार्ग को **बीआणि**–बीजादि के लाने के मार्ग को **अ**–और **हरिआणि**–हरितकाय के लाने के मार्ग को **परिवज्जंतो**–वर्जता हुआ **सव्विंदिअसमाहिए**–सर्वेन्द्रियों को समाधि में रखने वाला अर्थात् पाँचों इन्द्रियों को जिसने वश में कर लिया है ऐसा वह मुनि **चिट्ठिज्जा**–खड़ा होवे ।

मूलार्थ—जिस मार्ग से लोग पानी, मृत्तिका, बीज तथा हरितकाय लाते हों, सर्वेन्द्रिय की समाधि वाला साधु उनको वर्जता हुआ उचित प्रदेश में जाकर खड़ा होवे ।

टीका—इस गाथा में मार्ग-शुद्धि का वर्णन किया गया है । जैसे कि—जिस मार्ग से लोग पानी, मिट्टी, बीज तथा हरितकाय लाते हों, यदि वह मार्ग संकुचित हो और उस समय उस स्थान पर जाने से उसके शरीर से सचित्त पदार्थों का संघट्टन हो सकता है, तो वह सर्व इन्द्रियों को वश में रखने वाला मुनि किसी एकान्त में–उचित प्रदेश में–जाकर खड़ा हो जाय । और जब वह मार्ग उक्त पदार्थों से विशुद्ध हो जाय तब मुनि उक्त मार्ग से भिक्षाचरी के लिये कहीं दूसरी जगह जा सकता है । जिस समय वह मार्ग उक्त पदार्थों से संकीर्ण हो रहा हो उस समय मुनि को जीव-रक्षा के लिये किसी एकान्त स्थान में ही खड़े रहना उचित है । जाने के समय से पहले ही साधु को मार्ग का विचार कर लेना चाहिए । और जब साधु वहाँ खड़े हों तब वे वहाँ अनाकुल चित्त से खड़े रहें ।

उत्थानिका—इस प्रकार खड़े होने के बाद साधु जो आहार ले वह किस प्रकार का होना चाहिये ? शास्त्रकार अब इस बात का विवरण करते हैं :—

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं न गिण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥२७॥

तत्र तस्य तिष्ठतः, आहरेत् पानभोजनम्।
अकल्पिकं न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—तत्थ–उस स्थान पर चिट्ठमाणस्स–खड़ा हुआ से–वह साधु पाणभोयणं–पानी और भोजन आहरे–ले, लेकिन अकप्पियं–अकल्पनीय न गिण्हिज्जा–ग्रहण न करे, वल्कि कप्पिअं–कल्पनीय पडिगाहिज्ज–ग्रहण करे।

मूलार्थ—उस स्थान पर खड़ा हुआ साधु पानी और भोजन ले। यदि वह अकल्पनीय हो तो ग्रहण न करे, यदि कल्पनीय हो तो ग्रहण कर ले।

टीका—इस गाथा में आहार लेने की विधि का विधान किया गया है। जैसे कि—जब साधु मार्ग में खड़ा हुआ हो तब गृहस्थ की स्त्री यदि अपने-आप ही पानी और भोजन लेकर आ रही हो और वह मुनि के प्रति यह विज्ञप्ति करे कि 'हे भगवन्! आप यह अन्न और पानी को लेने की कृपा कीजिये!' इस प्रकार की विज्ञप्ति हो जाने पर यदि वह पानी और भोजन निर्दोष और कल्पनीय हो तब उसे मुनि ग्रहण करें, यदि वह आहार-पानी सदोष और अकल्पनीय हो तो उसे ग्रहण न करें। 'आहरे'–'आहरेत्' में आङ्-उपसर्गपूर्वक 'हृ' हरणे धातु है। केवल 'हृ' धातु का अर्थ हरण करना होता है। लेकिन 'आङ्' उपसर्ग लग जाने से उसका अर्थ बदल जाता है—'उपसर्गबलाद्धातुर्बलादन्यत्र नीयते, प्रहाराहार-संहारविहारपरिहारवत्।' इसी लिये आङ्-पूर्वक 'हृ' धातु के चार अर्थ होते हैं—१. दृष्टान्त देना, २. स्वीकार करना, ३. व्यवस्था करना, और ४. ले जाना। प्रकरणवश यहाँ पर 'स्वीकार करना' अर्थ स्वीकार किया गया है। 'आहरे'–'आहरेत्' पद का 'स्वीकार करना' अर्थ स्वीकार कर लेने से 'स्वयमेव लाया हुआ' अर्थ अपने-आप व्यक्त हो जाता है। क्योंकि मँगाये हुए में स्वीकार करने का व्यवहार नहीं होता। स्वीकार शब्द वहीं व्यवहृत होता है जहाँ पर कि कोई व्यक्ति पदार्थ को स्वयं दे रहा हो। इस गाथा के तीसरे चरण के 'गिण्हिज्जा' पद

१ क्वचिदस्य स्थाने 'आहारे' इत्यपि पाठः।

की जगह पर कहीं-कहीं 'इच्छिज्जा' भी पाठ मिलता है। लेकिन उससे यह पाठ सुन्दरतर है। 'कल्पनीय' और 'अकल्पनीय' शब्द की व्याख्या शास्त्रकार स्वयं आगे गाथाओं द्वारा करने वाले हैं, अतः यहाँ पर उक्त शब्दों की व्याख्या नहीं की गई है।

उत्थानिका—आहार-पानी देने वाला व्यक्ति यदि सावधानतापूर्वक मुनि को दान न दे रहा हो तब उस मुनि का क्या कर्तव्य है ? सो शास्त्रकार अब कहते हैं :—

आहरंती सिया तत्थ, परिसाडिज्ज भोयणं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२८॥

आहरन्ती स्यात् तत्र, परिशाटयेद् भोजनम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—आहरंती-देने वाली सिया-कदाचित् तत्थ-वहाँ पर भोयणं-अन्न-पानीरूप भोजन को परिसाडिज्ज-इतस्ततः विक्षेपण करे तो दिंतिअं-देने वाली को पडिआइक्खे-कहे कि मे-मुझे तारिसं-इस प्रकार का आहार-पानी न कप्पइ-नहीं कल्पता है-नहीं लेना है।

मूलार्थ—देने वाली स्त्री कदाचित् इतस्ततः गेरती हुई साधु को भोजन दे तो उसे साधु यह कह दे कि-'यह भोजन मुझे नहीं कल्पता है'-नहीं लेना है।

टीका—इस गाथा में आहार लेने की विधि का विधान किया गया है। जैसे कि—जब साधु गृहस्थ के घर में आहार के लिये जावे तब भोजन तथा पानी को जो स्त्री देने लगे वह स्त्री यदि उस भोजन को देते समय इधर-उधर गेरती हो तो साधु उससे कह दे कि हे भगिनि ! वा हे श्राविके ! इस प्रकार का गिरता हुआ आहार-पानी मुझे लेना नहीं है। कारण कि अयत्ना हो रही है तथा मधुर पदार्थों के गिरने से अनेक जन्तु इस स्थान पर एकत्रित हो जायेंगे। जिससे फिर उन जीवों की विराधना होने की सम्भावना की जा सकेगी। इसलिये

इस प्रकार का आहार मेरे लिये अयोग्य है। इस गाथा में 'आहरंती–'आहरन्ती' जो स्त्री-प्रत्ययान्त पद दिया गया है, उसका कारण यह है कि—'स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम्' अर्थात् आहार प्रायः स्त्री-जाति के हाथों से ही दिया जाता है।

उत्थानिका—इसके अलावा साधु को आहार-पानी देते समय दाता से यदि और भी किसी प्रकार की गलती हो जाय तो उस गलती को देखकर जैन साधु उसके आहार-पानी को ग्रहण नहीं करते, सो शास्त्रकार अब कहते हैं:—

संमद्दमाणी पाणाणि, बीआणि हरिआणि य।
असंजमकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए ॥२९॥

संमर्दयन्ती प्राणिनः, बीजानि हरितानि च।
असंयमकरीं ज्ञात्वा, तादृशीं परिवर्जयेत् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—पाणाणि–प्राणियों को बीआणि–बीजों को य–और हरिआणि–हरितकाय को संमद्दमाणी–संमर्दन करती हुई–कुचलती हुई असंजमकरिं–असंयम करने वाली नच्चा–जानकर तारिसिं–इस प्रकार की (सदोष अन्न-पानी देने वाली) स्त्री को परिवज्जए–छोड़ देना चाहिये।

मूलार्थ—द्वीन्द्रियादि प्राणियों को, शाली आदि बीजों को और दूर्वा आदि हरितकाय को कुचलती हुई–रौंदती हुई, तथा साधु के निमित्त अन्य किसी प्रकार का असंयम करती हुई स्त्री यदि साधु को आहार-पानी देने को आवे तो साधु उसे वर्ज दें–उसके हाथ से आहार-पानी न लें।

टीका—गाथा में 'पाणाणि बीआणि हरिआणि य संमद्दमाणि' और 'असंजमकरिं' ये दो विशेषण-पद हैं। इन दोनों को विधेय विशेषण मानकर तो ऊपर अर्थ किया ही गया है, लेकिन 'पाणाणि बीयाणि हरियाणि य संमद्दमाणि' को उद्देश्य विशेषण और 'असंजमकरिं' को विधेय विशेषण मानकर भी एक अर्थ और किया जा सकता है। वह अर्थ होगा—'प्राणी, बीजों और हरितकाय को कुचलती हुई आने वाली स्त्री को असंयमकरी जानकर साधु उसको वर्ज दें'। इस अर्थ में

'साधु के निमित्त किये गये अन्य असंयमों' के अर्थ को उपलक्षण से ग्रहण करना पड़ेगा। इसी लिये इस अर्थ को गौण समझकर अन्वयार्थ में पहले ही अर्थ को स्थान दिया गया है। 'असंजमकरिं'–'असंयमकरीम्' पद का अर्थ 'साधु के निमित्त असंयम करने वाली' तो ऊपर किया ही गया है; उसके अतिरिक्त 'अपने घर में किसी भी प्रकार का असंयमरूप कार्य उस समय करने वाली' भी अर्थ यहाँ ग्रहण करना चाहिये। साधु यदि असंयमकरी स्त्री के हाथ से आहार-पानी ग्रहण कर लें तो उन्हें इसमें असंयम का दोष तो लगेगा ही, उसके अलावा असंयम की अनुमोदना का भी दोष लगे विना न रहेगा। साधु कृत, कारित और अनुमोदना, तीनों प्रकार से असंयम के त्यागी होते हैं।

उत्थानिका—आहार-पानी देते समय दाता की ओर जो ग़लतियाँ हैं, जिनको देखकर साधु आहार-पानी उसके हाथ से नहीं लेते, शास्त्रकार अब उन्हें दो गाथाओं से कहते हैं:—

साहट्टु निक्खिवित्ताणं, सचित्तं घट्टियाणि य।
तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिया ॥३०॥
ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहरे[1] पाणभोयणं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३१॥ युग्मम्

संहृत्य निक्षिप्य, सचित्तं घट्टयित्वा च।
तथैव श्रमणार्थाय, उदकं संप्रणुद्य ॥३०॥
अवगाह्य चालयित्वा, आहरेत् पानभोजनम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥३१॥ युग्मम्

पदार्थान्वयः—तहेव–इसी तरह समणट्ठाए–साधु के लिये सचित्तं–सचित्त को साहट्टु–मिलाकर निक्खिवित्ताणं–रखकर–सचित्त के ऊपर अचित्त को रखकर घट्टियाणि–रगड़कर उदगं संपणुल्लिया–पानी को हिलाकर य–तथा—ओगाहइत्ता–

---

१ इत्यत्र क्वचित् 'आहारे' इति पाठान्तरम्।

अवगाहन कर चलइत्ता-चलाकर पाणभोयणं-पानी और भोजन को आहरे-दे तो दिंतिअं पडिआइक्खे-देने वाली से कहे कि मे तारिसं न कप्पइ-मुझे इस प्रकार का आहार-पानी कल्पता नहीं है।

मूलार्थ—इसी तरह कोई दाता-स्त्री, साधु के लिये सचित्त और अचित्त को मिलाकर, अचित्त के ऊपर सचित्त को रखकर, अचित्त से सचित्त को स्पर्शित करके अथवा रगड़कर, पानी को हिला-जुलाकर, अथवा स्वयं सचित्त जल से स्नानकर या सचित्त जल को चला करके आहार-पानी दे तो साधु उससे कह दे कि मुझे यह ग्राह्य नहीं है।

टीका—गाथा के 'साहट्टु'-'संहृत्य' पद का अर्थ सचित्त और अचित्त पदार्थों का मिलान होता है। उसके चार भङ्ग होते हैं। यथा—१. सचित्त में सचित्त मिला देना, २. सचित्त में अचित्त मिला देना, ३. अचित्त में सचित्त मिला देना, और ४. अचित्त में अचित्त मिला देना। गाथा में 'समणट्ठाए'-'श्रमणार्थम्' जो पद दिया गया है, उसका अर्थ 'साधु के लिये या साधु के निमित्त से' यह किया गया है। जैसे कि कल्पना करो कि किसी गृहस्थ के घर साधु आहार लेने के लिये गये तो वहाँ आँगन में वर्षा आदि का जल भरा हुआ हो, साधु को अपने यहाँ आता देख गृहस्थ ने उस पानी को मोरी आदि मार्ग से निकाल दिया, तो साधु को यह देखकर वहाँ से वापिस आ जाना चाहिये और उस घर का आहार-पानी उस समय नहीं लेना चाहिये; क्योंकि उस जल के निकालने में जो जीव-विराधना हुई, वह उस साधु के निमित्त से ही हुई।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि उस जल को बाहर निकालने में जो हिंसा होती सो तो हो गई। आहार ले लेने से वह दुगुनी नहीं हो सकती। तो फिर आहार-पानी लेने में क्या दोष है? इसका समाधान यह है कि यदि उस समय साधु आहार-पानी ग्रहण कर लें तो दाता और मुनि दोनों के हृदय में उस जीव-विराधना का पश्चात्ताप न हो सकेगा। आहार-पानी न लेने से दोनों के अन्तःकरण में पश्चात्ताप पैदा होगा। यह पश्चात्ताप कर्म का नाशक है। तथा उस समय आहार ले लेने से आगे को प्रवृत्ति भी बिगड़ जायगी। इसलिये साधु को

ऐसा आहार कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये। उसके लिये ऐसा आहार शास्त्र में अकल्पनीय कहा गया है।

यहाँ पर 'आहरे'-'आहरेत्' क्रिया का अर्थ 'लावे' किया गया है। आङ्-पूर्वक 'हृ' धातु का अर्थ 'लाना' भी होता है यह पहले लिखा जा चुका है। शब्द के अनेक अर्थों में से प्रकरणानुसार अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

उत्थानिका—यदि कोई गृहस्वामिनी पहले ही सचित्त जल से हाथ आदि धोकर आहार-पानी देने लगे तो ऐसी हालत में साधु को क्या करना चाहिये? सो अब शास्त्रकार कहते हैं:—

पुरेकम्मेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३२॥
पुरःकर्मणा हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—**पुरेकम्मेण**-साधु को आहार-पानी देने से पहले ही सचित्त जल से धोये हुए **हत्थेण**-हाथ से **दव्वीए**-कड़छी से **वा**-अथवा **भायणेण**-भाजन से **दिंतिअं**-देने वाली को **पडिआइक्खे**-निषेधपूर्वक कहे कि **मे**-मुझे **तारिसं**-इस प्रकार से **न**-नहीं **कप्पइ**-कल्पता है—ग्रहण नहीं करना है।

मूलार्थ—साधु को आहार-पानी देने से पहले ही सचित्त-अप्राशुक-जल से धोये हुए हाथ, करछुली या किसी अन्य पात्र से आहार-पानी देने वाली स्त्री को साधु यह कह दे कि मुझे इस प्रकार का आहार-पानी ग्रहण नहीं करना है।

टीका—गाथा में 'पुरेकम्मेण'-'पुरःकर्मणा' पद जैनागम का एक पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ—'साधु को आहार-पानी देने से पहले यदि सचित्त जल से हाथ आदि धो लिये हों' यह है। यदि यह क्रिया श्राविका ने घर पर साधु के पहुँचने के पहले ही कर रक्खी हो, और साधु को किसी निमित्त से उसका पता लग गया हो, तब भी साधु को उसका परित्याग कर देना चाहिये। नहीं तो

असंयम की अनुमोदना, असंयम की कारिता और दुष्प्रवृत्ति की वृद्धि का दोष साधु को लगेगा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है ।

उत्थानिका—अब शास्त्रकार इस बात को कहते हैं कि साधु को दिये जाने वाले आहार-पानी को यदि किसी सचित्त पदार्थ से स्पर्श भी हो जाय तो भी साधु को उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये :—

एवं उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिआ ऊसे ।
हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥३३॥
गेरुअ-वन्निय-सेढिअ-, सोरट्ठिअ-पिट्ठ-कुक्कुसकए य ।
उक्किट्ठमसंसट्ठे, संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥३४॥[युग्मम्]

एवमुदकार्द्रः सस्निग्धः, सरजस्कः मृत्तिका ऊषः ।
हरितालो हिङ्गुलकः, मनःशिला अञ्जनं लवणम् ॥३३॥
गैरिक-वर्णिक-सेटिक-, सौराष्ट्रिक-पिष्ट-कुक्कुसकृतेन च ।
उत्कृष्टमसंसृष्टः, संसृष्टश्चैव बोद्धव्यः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—उसी प्रकार **उदउल्ले**—गीले हाथों से, अथवा **ससिणिद्धे**—स्निग्ध हाथों से, वा **ससरक्खे**—सचित्त रज से भरे हुए हाथों से **मट्टिआ ऊसे**—सचित्त मिट्टी वा क्षार से भरे हुए हाथों से, तथा **हरिआले**—हरिताल से भरे हुए हाथों से, वा **हिंगुलए**—हिंगुल से, तथा **मणोसिला**—मनःशिला मिट्टी से, तथा **अंजणे**—अञ्जन से, वा **लोणे**—लवण से **गेरुअ**—गेरु **वन्निअ**—पीली मिट्टी **सेढिअ**—सफ़ेद मिट्टी **सोरट्ठिअ**—फिटकिरी **पिट्ठ**—चून **कुक्कुस**—भुसी **कए**—उक्त पदार्थों से हस्तादि भरे हुए **य**—तथा **उक्किट्ठ**—फलों के टुकड़े, तथा **असंसट्ठे**—व्यञ्जनादि से अलिप्त हस्तादि, वा **संसट्ठे**—संसृष्ट—व्यञ्जनादि से हस्तलिप्त **च**—पुनः **एवं**—इस प्रकार **बोधव्वे**—जानना चाहिये ।

मूलार्थ—उसी प्रकार पानी से गीले हाथों से, स्निग्ध हाथों से, सचित्त रज से भरे हुए हाथों से, मिट्टी और क्षार भरे हुए हाथों से, हरिताल वा

हिंगुल भरे हुए हाथों से, मनःशिला, अञ्जन वा लवण से भरे हाथों से—गेरू, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी, फिटकिरी, चावलों का क्षोद, अनछाना चून आदि से तथा उत्कृष्ट फल वा व्यञ्जनादि से संसृष्ट हाथों से जानना चाहिये।

टीका—इस गाथा में इस विषय का वर्णन किया गया है कि सचित्त पानी से, गीले हाथों से, स्निग्ध हाथों से, तथा सचित्त रज से वा कर्दम से हाथ भरे हुए हों, तब उन हाथों से तथा पांशुक्षार, हरिताल, हिंगुल (सिंगरफ), मनःशिला, मिट्टी, अंजन (सुरमा) तथा लवण से भरे हुए हाथों के द्वारा दाता आहार-पानी देने लगे तो साधु कह देवे कि—'मुझे यह आहार-पानी नहीं कल्पता है'। इस स्थान पर जो गीले हाथ का कथन किया है उसका यह कारण है कि—हाथों से पानी के बिन्दु गिरते हों तो उसे उदकार्द्र कहते हैं, यदि केवल हाथ गीले ही हों तब उसका नाम स्निग्ध हाथ है। उक्त सचित्त पदार्थों के संस्पर्श से आहार-पानी ग्रहण करने से उक्त जीवों की विराधना की अनुमोदना लगती है। उक्त गाथा में सचित्त पानी और मिट्टी के कुछ भेदों के नाम दिये हैं। इसी प्रकार के यावन्मात्र सचित्त पदार्थ हैं। यदि उन जीवों की विराधना की सम्भावना हो तो भी मुनि को आहार-पानी न लेना चाहिये।

दूसरे सूत्र में फिर उक्त विषय का ही वर्णन किया गया है। जैसे कि—गेरू की धातु–इसी प्रकार सर्व जाति की मिट्टी के विषय में सूत्रकार ने वर्णन किया है। यथा—श्वेतिका–शुक्लमृत्तिका, सौराष्ट्रिका–तुवरका, पिष्ट, आम तंडुल का क्षोद, कुक्कुस–प्रतीत अर्थात् अनछाना चून इनसे हाथ भरे हुए हों तथा उत्कृष्ट शब्द से पुष्प-फलादि इनके सूक्ष्म खंडों से हाथ भरे हुए हों, तथा उक्त पदार्थों से अलिप्त होवें। इस गाथा के कथन करने का सारांश यह है कि—जिससे पश्चात्-कर्म लगे उस प्रकार के आहार को भी ग्रहण न करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से हिंसादि अनेक दोषों के लगने की सम्भावना की जा सकेगी। गाथा में गेरुकादि मिट्टियों का वर्णन किया गया है। उसका कारण यह है—जो सचित्त मृत्तिकादि है वह साधु के लिये सर्वथा त्याज्य है। तत्काल के चून का जो निषेध किया गया है उसका भी यही कारण है कि—तत्काल के चून में एकेन्द्रियात्माओं के प्रदेश रहने की सम्भावना की जा सकती है जिसे उसे सचित्त वा मिश्रित

कहा जाता है। जो अनछाना चून है उसमें धान्यादि के रहने की शंका है, इसलिये उसे वर्जित किया गया है। जो फलादि का ग्रहण है उसका यह कारण है कि—फलादि के सूक्ष्म खंड हस्तादि को लगे हुए हों तब भी उस गृहस्थ के हाथ से आहार लेना अकल्पनीय बतलाया गया है। तथा जो व्यञ्जनादि से हाथ संसृष्ट वा असंसृष्ट कथन किया गया है उसका कारण यह है कि—ऐसा न हो कि फिर गृहस्थ को आहारादि देने के पश्चात् हस्तादि धोने पड़ें।

उत्थानिका—पूर्व में संसृष्ट और असंसृष्ट जो दो भेद वर्णन किये हैं, शास्त्रकार अब स्वयं उनका फल वर्णन करते हैं:—

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥३५॥

असंसृष्टेन हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा।
दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥३५॥

पदार्थान्वयः—असंसट्ठेण–असंसृष्ट हत्थेण–हाथ से वा–अथवा दव्वीए–कड़छी से, अथवा भायणेण–भाजन से दिज्जमाणं–देते हुए अन्न-पानी के प्रति न इच्छिज्जा–न चाहे जहिं–जहाँ पर पच्छाकम्मं–पश्चात्-कर्म भवे–होवे।

मूलार्थ—असंसृष्ट हाथ से वा कड़छी तथा भाजन से देते हुए अन्न-पानी को साधु न चाहे, जहाँ पर पश्चात्-कर्म लगे।

टीका—इस गाथा में पश्चात्-कर्म का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि—अन्नादि से हाथ लिप्त हो तथा कड़छी वा भाजनादि लिप्त हों, यदि साधु को अन्न-पानी देकर फिर उसको भाजनादि धोने पड़ें तो साधु उन भाजनादि से आहार ग्रहण न करे। क्योंकि जब वह साधु के निमित्त रखकर सचित्त जल से भाजनादि धो रहा है, तब साधु को पश्चात्-कर्म नामक दोष लगता है। इसलिये इस प्रकार के आहार का साधु परित्याग कर देवे। यदि साधु इस प्रकार के दोष लगने के निश्चय हो जाने पर भी आहार ले ही लेता है, तब उसकी आत्मा उन जीवों की रक्षा के स्थान पर प्रत्युत उनके वध-क्रियाओं के अनुमोदन करने वाली बन जाती है। अतएव इस प्रकार का आहार मुनि को न लेना चाहिये।

उत्थानिका—अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि, किस प्रकार का आहार लेना चाहिये ? इस विषय में सूत्रकार कहते हैं:—

संसट्टेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥३६॥

संसृष्टेन च हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३६॥

पदार्थान्वयः—**संसट्टेण**–संसृष्ट **हत्थेण**–हाथ से **य**–तथा **दव्वीए**–कड़छी से **वा**–अथवा **भायणेण**–भाजन से **दिज्जमाणं**–दिये हुए अन्न-पानी का **पडिच्छिज्जा**–ग्रहण करे **जं**–जो **तत्थ**–वहाँ पर **एसणियं**–एषणीय–निर्दोष **भवे**–होवे तो ।

मूलार्थ—संसृष्ट हाथ, कड़छी तथा भाजन से दिया हुआ अन्न-पानी साधु ग्रहण करे, यदि वहाँ पर वह अन्न-पानी निर्दोष होवे तो ।

टीका—इस गाथा में अन्न-पानी के ग्रहण करने की विधि का विधान किया गया है । जैसे कि—जब साधु आहार के वास्ते जाय तब दाता के हाथ अन्नादि से संसृष्ट हो रहे हैं तथा कड़छी वा अन्य कोई भाजन किसी निर्दोष पदार्थ से लिप्त हो रहा है, तब साधु यदि इस बात का निश्चय कर लेवे कि—'यह अन्न-पानी तथा भाजनादि सर्व निर्दोष हैं, पश्चात्-कर्म वा पूर्व-कर्म के भी दोष की सम्भावना नहीं की जा सकती अतः यह अन्न-पानी ग्राह्य है,' तब उस निर्दोष अन्न-पानी को ले लेवे । कारण कि जब साधु के नवकोटी प्रत्याख्यान है तब उसको प्रत्येक पदार्थ की ओर अत्यन्त विवेक रखने की आवश्यकता है; तभी वह दोषों से बच सकता है । यदि उसको विवेक न रहेगा तो वह दोषों से भी नहीं बच सकेगा ।

यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि जब उसको धर्म-ध्यानादि द्वारा ही समय व्यतीत करना है तब उसको विशेष एषणा की क्या आवश्यकता है ? तो इसका समाधान यह है कि—धर्म-ध्यान की शुद्धि के लिये ही आहार की एषणा की अत्यन्त आवश्यकता है । क्योंकि आहार की विशुद्धि के द्वारा ही धर्म-ध्यान की अत्यन्त विशुद्धि की जा सकती है, अतएव निर्दोष वृत्ति पालन के लिये आहार-एषणा अवश्यमेव करनी चाहिये ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषय में कहते हैं कि, यदि कोई पदार्थ दो व्यक्तियों का सम्मिलितरूप में हो तो उसको किस विधि से ग्रहण करना चाहिये :—

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥३७॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः, एकस्तत्र निमन्त्रयेत्।
दीयमानं नेच्छेत्, छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत् ॥३७॥

पदार्थान्वयः—दुण्हं-दो व्यक्ति भुंजमाणाणं-भोगते हुए हों तत्थ-उनमें से एगो-एक व्यक्ति निमंतए-निमन्त्रण करे तु-तब दिज्जमाणं-देते हुए उस पदार्थ को न इच्छिज्जा-न चाहे, किन्तु से-उस न देने वाले व्यक्ति का छंदं-अभिप्राय के प्रति पडिलेहए-अवलोकन करे अर्थात् उसके अभिप्राय को देखे।

मूलार्थ—यदि एक पदार्थ को दो व्यक्ति भोगने वाले हों तब उनमें से यदि एक व्यक्ति निमन्त्रणा करे, तब साधु न देने वाले व्यक्ति का अभिप्राय अवश्य देखे।

टीका—इस गाथा में साधारण पदार्थों के ग्रहण करने की विधि का विधान किया गया है। जैसे कि—जो पदार्थ दो जनों का साधारण हो, उन दोनों में से एक व्यक्ति भक्तिपूर्वक साधु को किसी पदार्थ की निमन्त्रणा करे, तब साधु जो व्यक्ति दूसरा हो उसकी आज्ञा को देखे, क्योंकि कहीं ऐसा न हो जावे कि यदि साधु दूसरे की विना आज्ञा कोई वस्तु ले ले तब उन दोनों का परस्पर विवाद उपस्थित हो जावे, तथा उनका साधारण भाव फिर न रह सके, वा उनका परस्पर वैमनस्य-भाव उत्पन्न हो जावे जिससे फिर वे परस्पर निन्दादि करने लग जावें। अतएव साधु को साधारण पदार्थ लेते समय अवश्य विचार करना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि दोनों ही व्यक्ति निमन्त्रणा करें तो फिर ग्रहण करना चाहिये या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, दोवि तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥३८॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः , द्वावपि तत्र निमन्त्रयेयाताम् ।
दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३८॥

पदार्थान्वयः—दुण्हं-दो व्यक्ति **भुंजमाणाणं**-भोगते हुए हों **तत्थ**-वहाँ पर-उनमे से **दोवि**-दोनों ही व्यक्ति **निमंतए**-निमंत्रणा करें **तु**-तो **दिज्जमाणं**-उस दीयमान पदार्थ को **पडिच्छिज्जा**-ग्रहण कर ले **जं**-जो-वह पदार्थ **तत्थ**-उस समय वहाँ **एसणियं**-एषणीय-सर्वथा शुद्ध **भवे**-हो तो ।

मूलार्थ—यदि वे संमिलित-एक पदार्थ के भोगने वाले दोनों ही व्यक्ति-निमंत्रणा करें तो, मुनि उस देते हुए पदार्थ को ग्रहण कर ले यदि वह पदार्थ शुद्ध-निर्दोष-हो तो ।

टीका—पूर्व सूत्र में यह कथन किया जा चुका है कि गोचरी के लिये गया हुआ साधु दो व्यक्तियों के स्वामित्व वाले-साझे के-पदार्थ को एक स्वामी की निमंत्रणा से ग्रहण न करे । अव इस सूत्र में यह बतलाया है कि यदि दोनों ही व्यक्ति प्रेमपूर्वक भक्ति-भावना से निमंत्रणा करें तो फिर ग्रहण कर ले, क्योंकि दोनों व्यक्तियों की संमिलितरूप से सप्रेम निमंत्रणा हो जाने पर फिर पूर्व सूत्रोक्त पारस्परिक वैमनस्य आदि दोपों के उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती । हाँ, लेते समय उस पदार्थ की अन्य भिक्षा-सम्बन्धी शुद्धता-अशुद्धता का अवश्य ध्यान रखना चाहिये, केवल निमंत्रणा की शुद्धता पर ही न रहना चाहिये । यदि वह अन्य सभी प्रकार से शुद्ध-निर्दोष-मालूम हो तो ग्रहण करे, नहीं तो नहीं । क्योंकि यदि अन्य भिक्षा-सम्बन्धी दोषों पर पूर्ण ध्यान नहीं रक्खा जायगा तो संयम वास्तविक संयम नहीं रह सकता अर्थात् ऐसी लापरवाही करने से संयम-विराधना अवश्यंभावी है ।

उत्थानिका—अव सूत्रकार, गर्भवती स्त्री के लिये तैयार किये हुए आहार-पानी के लेने न लेने के विषय में कहते हैं :—

गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं ।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥३९॥

गुर्विण्या उपन्यस्तम्, विविधं पानभोजनम्।
भुज्यमानं विवर्जयेत्, भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—गुव्विणीए—गर्भवती स्त्री के लिये उवण्णत्थं—उपन्यस्त—तैयार किये हुए भुंजमाणं—भोजनार्थ लिये हुए विविहं—नाना प्रकार के पाणभोयणं—खाद्य तथा पेय पदार्थ को, साधु विवज्जिज्जा—छोड़ दे—ग्रहण न करे भुत्तसेसं—भुक्तशेप—खाने से बचे हुए को तो पडिच्छए—ग्रहण कर ले।

मूलार्थ—गर्भवती स्त्री के लिये खास तैयार किये गये तथा भोजनार्थ उससे लिये हुए विविध प्रकार के खाद्य तथा पेय पदार्थों को अहिंसा-व्रती मुनि ग्रहण न करे। यदि वे पदार्थ भुक्तशेप हों—भोजन से बचे हुए हों—तो ग्रहण कर ले।

टीका—इस सूत्र में इस विषय का वर्णन है कि; गर्भवती स्त्री के लिये तैयार किये गये नाना प्रकार के खाद्य तथा पेय पदार्थों को यदि वह स्त्री अपने उपभोग में ला रही हो तो मुनि ग्रहण न करे। कारण कि यदि फिर उस अवशिष्ट स्वल्प भोजन से गर्भवती की तृप्ति न हुई तो गर्भपात आदिक हो जाने की संभावना है। अतः साधु, जो भोजन गर्भवती के खाने से बचा हुआ हो उसे ही स्व-योग्य जानकर ग्रहण कर सकता है।

इस ऊपर के कथन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि जैन साधुओं का अहिंसा-व्रत स्थूल दृष्टि से वर्णित नहीं है जो स्थूल बुद्धि वाले ऐरे-गैरे नाम-प्रेमी इसका पालन कर ले। जैन साधुओं के अहिंसा-व्रत का वर्णन अत्यन्त सर्वतोव्यापिनी सूक्ष्म दृष्टि से किया है। अतः इसे सूक्ष्म दृष्टि वाले कार्य-प्रेमी महानुभाव ही पालन कर सकते हैं।

उत्थानिका—अब आचार्य, गर्भवती स्त्री से आहार लेने के विषय में कहते हैं:—

सिआ य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥४०॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४१॥युग्मम्

स्याच्च श्रमणार्थम्, गुर्व्विणी कालमासवती ।
उत्थिता वा निषीदेत्, निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥४०॥
तद्भवेद् भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४१॥

पदार्थान्वयः—य-यदि सिआ-कदाचित् कालमासिणी-पूरे महीने वाली गुव्विणी-गर्भवती स्त्री समणट्ठाए-साधु को दान देने के लिये उट्ठिआ-खड़ी हुई निसीइज्जा-बैठे वा-अथवा निसन्ना-बैठी हुई पुणुट्ठए-फिर खड़ी होवे तु-तो तं-वह भत्तपाणं-आहार-पानी संजयाण-संयतों को-साधुओं को अकप्पिअं-अकल्पनीय-अयोग्य भवे-होता है, अतः दिंतियं-उस देने वाली स्त्री से पडिआइक्खे-कह दे कि मे-मुझे तारिसं-इस प्रकार का आहार-पानी न कप्पइ-नहीं कल्पता है ।

मूलार्थ—यदि कदाचित् गर्भवती स्त्री, साधु को आहार-पानी बहराने के लिये खड़ी हुई बैठे और बैठी हुई फिर खड़ी होवे तो वह आहार-पानी साधु को अग्राह्य है । अतः वह देने वाली स्त्री से कह दे कि इस प्रकार का आहार-पानी लेना मुझे नहीं कल्पता है ।

टीका—इस सूत्र में साधु को आहार-दान के निमित्त उठने-बैठने की क्रिया करने वाली काल-मासिनी (पूरे महीने वाली) गर्भवती स्त्री से आहार-पानी लेने का साधु के लिये निषेध किया है । क्योंकि इस प्रकार की कठोर क्रियाओं के करने से गर्भस्थ जीव को पीड़ा पहुँचने की संभावना है और पीड़ा पहुँचने से प्रथम अहिंसा-महाव्रत दूषित हो जाता है ।

यहाँ पर ध्यान रखना चाहिये कि जो स्थविर-कल्पी मुनि होते हैं, वे तो उक्त दोष का विचार काल-मास पर रखते हैं, किन्तु जो जिन-कल्पी मुनि होते हैं, वे ऐसा काल-मास का विचार नहीं रखते । वे तो गर्भ-धारण के समय से ही-प्रथम मास से ही-उक्त दोष के निवारणार्थ गर्भवती स्त्री से आहार-पानी ग्रहण

करना छोड़ देते हैं। स्थविर-कल्पी मुनि की अपेक्षा जिन-कल्पी मुनि का क्रिया-काण्ड अतीव उग्र होता है। यहाँ यह सूत्र-साररूप ही साम्प्रदायिक मान्यता मानी जाती है कि—स्थविर-कल्पी मुनि, यदि गर्भवती स्त्री बैठी हो वा खड़ी हो तो उससे उसी वर्तमान अवस्था में अहार-पानी ग्रहण कर सकते हैं।

सूत्रकार ने जो इस जनता की दृष्टि में मामूली—नगण्य जँचने वाली—बात को इतना महत्त्व दिया है, सो इसका सारांश यह है:—जो सांसारिक उपाधियों को छोड़कर विरक्त मुनि हो गये हैं, और जिन्होंने पूर्ण अहिंसा की विशाल प्रतिज्ञा ली है, उन्हें बड़ी सावधानी से साधारण से भी साधारण बातों का ध्यान रखके अहिंसा-व्रत की प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिये। व्रती और फिर वह स्वीकृत व्रत के पालन में असावधानी रक्खे, यह बात आत्म-पतन की सूचक है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्तन-पान कराती हुई दातार स्त्री के विषय में कहते हैं:—

थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारिअं।
तं निक्खिवित्तु रोअंतं, आहरे पाणभोयणं ॥४२॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४३॥युग्मम्

स्तनकं पाययन्ती, दारकं वा कुमारिकाम्।
तौ निक्षिप्य रुदन्तौ, आहरेत् पानभोजनम् ॥४२॥
तद्भवेद् भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४३॥

पदार्थान्वयः—दारगं—बालक को वा—अथवा कुमारिअं—बालिका को थणगं—स्तन पिज्जमाणी—पिलाती हुई स्त्री, यदि तं—उन रोअंतं—रुदन करते हुए बालक-बालिका को निक्खिवित्तु—नीचे भूमि आदि पर रखकर पाणभोयणं—आहार-पानी आहरे—देवे तु—तो तं—वह भत्तपाणं—आहार-पानी संजयाण—साधुओं को

अकप्पिअं-अकल्पनीय भवे-होता है, अतः दिंतियं-देने वाली से पडिआइक्खे-कह दे कि मे-मुझे तारिसं-इस प्रकार का आहार-पानी न कप्पइ-नहीं कल्पता है।

मूलार्थ—बालक-बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री, उन रोते हुए बालक-बालिका को नीचे भूमि पर रखकर साधु को आहार-पानी दे तो वह आहार-पानी साधु को अग्राह्य है। अतः देने वाली से कह दे कि इस प्रकार का आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है।

टीका—ऊपर जो आहार-पानी लेने का निषेध किया गया है उसका यह कारण है कि, इस प्रकार करने से बालक के दुग्ध-पान की अन्तराय लगती है तथा भूमि आदि अलग अरक्षित स्थान पर रखने से मार्जार आदि के आक्रमण से पीड़ा पहुँचने की संभावना है।

यहाँ एक बात यह है कि, अपवाद-मार्गावलम्बी स्थविर-कल्पी मुनि, यदि बालक दुग्ध-पान न करता हो, भूमि पर रखने से किसी प्रकार कष्ट हो जाने की संभावना भी न हो और नाहीं वह रखने से रुदन करता हो, तब उस बालक वाली स्त्री से आहार-पानी ग्रहण कर सकता है; परन्तु जो उत्सर्ग-मार्गावलम्वी जिन-कल्पी मुनि हैं, वे ऐसा नहीं करते। वे तो चाहे बालक दुग्ध पीता हो चाहे न पीता हो; कष्ट की संभावना हो न संभावना हो; रोता हो न रोता हो; किसी भी हालत में बच्चे वाली स्त्री से आहार-पानी ग्रहण नहीं करते। विशेष बात यहाँ यह है—अपवाद-मार्गावलम्वी मुनि को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का पूर्ण विचार करके उचित मार्ग का आश्रयण करना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार ग्राह्य-अग्राह्य की शंका वाले पदार्थों के विषय में कहते हैं:—

जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४४॥
यद्भवेद् भक्तपानन्तु, कल्पाकल्पे शङ्कितम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४४॥

पदार्थान्वयः—जं-जो भत्तपाणं-आहार-पानी कप्पाकप्पम्मि-कल्पनीय और अकल्पनीय की संकिअं-शङ्का से शङ्कित भवे-हो तु-तो दिंतिअं-देने वाली से पडिआइक्खे-कह देवे कि मे-मुझे तारिसं-इस प्रकार का शङ्कित आहार-पानी न कप्पइ-नहीं कल्पता है।

मूलार्थ—यह आहार-पानी मेरे को कल्पनीय है या अकल्पनीय है—इस तरह की शङ्का हो जाने पर साधु, देने वाली स्त्री से कह दे कि मुझे ऐसा आहार-पानी कल्पता नहीं है।

टीका—आहार-पानी ग्रहण के उद्गम आदि दोष पहले कहे जा चुके हैं। जिस समय उन दोनों का निश्चय साधु को हो जाता है, उस समय तो साधु आहार-पानी लेते ही नहीं हैं; क्योंकि वह उनके लिये अकल्पनीय है। किन्तु जिस समय उन दोषों में किसी प्रकार का सन्देह भी साधु के हृदय में उत्पन्न हो जाय तो ऐसी हालत में भी साधु को वह आहार-पानी ग्रहण नहीं करना चाहिये। कारण कि शङ्कायुक्त आहार-पानी लेने से आत्मा में एक प्रकार का अयुक्त साहस उत्पन्न हो जाता है। इसलिये शङ्कायुक्त आहार-पानी साधु को कदापि न लेना चाहिये।

उत्थानिका—अब शास्त्रकार, आहार-पानी के विषय में और भी कुछ प्रतिबन्ध कहते हैं:—

दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेण व केणइ ॥४५॥
तं च उब्भिंदिआ दिज्जा, समणट्ठाए व दावए।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४६॥ युग्मम्

उदकवारेण पिहितम्, निःसारिकया पीठकेन वा।
लोष्ठेन वाऽपि लेपेन, श्लेषेण वा केनचित् ॥४५॥
तच्च उद्भिद्य दद्यात्, श्रमणार्थं वा दायकः।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

पदार्थान्वयः—**दगवारेण**–पानी के घड़े से **वा**–अथवा **नीसाए**–पत्थर की पेषणी से **पीढएण**–पीठ–चौंकी से **वावि**–अथवा **लोढेण**–शिलापुत्र से, तथा **लेवेण**–मिट्टी आदि के लेप से, अथवा **सिलेसेण**–लाख आदि से **व**–अथवा **केणइ**–अन्य किसी भी वस्तु से **पिहिअं**–ढका हुआ हो **च**–और **तं**–उस ढके हुए आहार-पानी को **समणट्ठाए**–साधु के वास्ते ही **उब्भिदिआ**–खोलकर **दावए**–देने वाला गृहस्थ **दिज्जा**–देवे, तव **दिंतिअं**–देने वाले के प्रति **पडिआइक्खे**–कहे **मे**–मुझे **तारिसं**–इस प्रकार का अन्न-पानी **न कप्पइ**–नहीं कल्पता है।

मूलार्थ—पानी के घड़े से, पत्थर की पेषणी से, चौंकी से, शिलापुत्र से, मिट्टी के लेप से, लाख आदि की मुद्रा से, अथवा अन्य किसी वस्तु से आहार-पानी यदि ढका हुआ हो और उसको साधु के ही निमित्त से उघाड़कर यदि दाता उस आहार-पानी को दे तो साधु, दाता से कह दे कि इस प्रकार का आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है।

टीका—ऊपर जिन पदार्थों से आहार-पानी ढका हुआ बतलाया गया है, उनमें सचित्त वा अचित्त दोनों ही पदार्थों का ग्रहण है। सो सचित्त तो पहले ही वर्जनीय है, और जो अचित्त पदार्थ हैं वे भी इस गाथा द्वारा वर्जनीय हैं। यद्यपि यहाँ पर सिये हुए पदार्थों का मूल में वर्णन नहीं है, तथापि उपलक्षण से वे भी ग्रहण किये जाते हैं। अस्तु, गृहस्थ जब केवल साधु के वास्ते ही उन भाजनों को खोलकर वा सिये हुओं की सीमन तोड़कर साधु को आहार-पानी देने लगे तब देने वाले गृहस्थ से साधु स्पष्ट कह दे कि–'हे भद्र ! इस प्रकार से आहार-पानी मुझे लेना नहीं योग्य है। क्योंकि जब तुम मेरे निमित्त ही खोलकर अमुक वस्तु मुझे देने लगे हो तो उक्त भाजनों को मृत्तिकादि द्वारा तुम्हें फिर लिप्त आदि करना पड़ेगा, जिससे फिर हिंसा होने की संभावना है। इसके अतिरिक्त सिया हुआ पदार्थ यदि किसी अन्य का निकल आवे तो फिर उनको संक्लेश उत्पन्न हो जाने की संभावना है। इसलिये साधु को उक्त कृत्यों से बचना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि—जिसमे हिंसा, अयत्ना वा विवादादि के कारण उपस्थित हो जाने की आशंका हो तो वह भिक्षा भी साधु को नहीं लेनी चाहिये। यदि किसी प्रकार की आत्म-विराधना वा संयम-विराधना की संभावना न हो, तो कारणवश

अपवाद-मार्ग में इस प्रकार खुलवाकर योग्य पदार्थ लिया जा सकता है; परन्तु लिया जा सकता है अचित्त पदार्थ हटाकर ही, सचित्त नहीं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस विषय का वर्णन करते हैं कि जो भोजन केवल दान के वास्ते ही तैयार किया गया हो, तो उस विषय में साधु को क्या करना चाहिये:—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥४७॥
तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४८॥ युग्मम्

अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा, दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥४७॥
तादृशं भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४८॥

पदार्थान्वयः—असणं—अन्न पाणगं—पानी वावि—अथवा खाइमं—खाद्य—मोदक प्रमुख तहा—तथा साइमं—स्वाद्य—लवंग प्रमुख कोई पदार्थ जं—यदि जाणिज्ज—स्वयमेव जान ले वा—अथवा सुणिज्जा—किसी अन्य से सुन ले कि इमं—यह पदार्थ दाणट्ठा—दान के लिये पगडं—बनाया गया है तु—तो तारिसं—इस प्रकार का भत्तपाणं—आहार-पानी संजयाण—साधुओं को अकप्पियं—अकल्पनीय है, अतः दिंतिअं—देने वाली से पडिआइक्खे—कह दे कि मे—मुझे तारिसं—इस प्रकार का आहार-पानी न—नहीं कप्पइ—कल्पता है।

मूलार्थ—अन्न-पानी, खाद्य वा स्वाद्य पदार्थ को स्वयमेव जान लिया हो अथवा सुन लिया हो कि—यह पदार्थ दान के वास्ते ही तैयार किया गया हो, तो इस प्रकार का अन्न-पानी साधुओं को लेना उचित नहीं है। अतः भावितात्मा साधु देने वाली स्त्री से साफ साफ कह दे कि, इस प्रकार का अन्न-पानी मुझे नहीं कल्पता है।

टीका—जब साधु भिक्षा के वास्ते गृहस्थ के घर पहुँचे तब उसे स्वयमेव या किसी अन्य के द्वारा यह मालूम हो जाय कि—'यह ओदनादि अन्न, द्राक्षादि का पानी, मोदक आदि खाद्य पदार्थ तथा हरीतकी वा इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ अमुक गृहस्थ ने केवल दान के लिये ही तैयार किये हैं' तब साधु को वे पदार्थ कदापि न लेने चाहियें। कारण कि दान लेने वालों का अन्तराय पड़ता है। साधु की वृत्ति गृहस्थ के द्वादश व्रतों में यथासंविभाग व्रत में वर्णन की गई है। साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उक्त चारों प्रकार के आहार प्रासुक ही लेने चाहियें। यहाँ पर तो केवल दान के कारण से वे निषिद्ध कथन किये गये हैं। अस्तु, यदि कोई स्त्री हठात् पूर्वोक्त आहार-पानी साधु को देने ही लगे तो साधु को विना किसी लाग-लपेट के स्पष्ट कह देना चाहिये कि—हे बहन! क्यों हठ करती हो ? इस प्रकार का अन्न पानी मैं कदापि नहीं ले सकता। क्योंकि यह केवल दान के निमित्त तैयार किया गया है। 'स्पष्टभाषी सदा सुखी'।

प्राचीन प्रतियों में उक्त द्वितीय गाथा का प्रथम पद 'तं भवे भत्तपाणं तु' कथन किया है। किन्तु वृहद्वृत्तिकार वा दीपिकाकार उक्त गाथा का प्रथम पद 'तारिसं भत्तपाणं तु' लिखते हैं। लेकिन अगली गाथाओं के देखने से निश्चय होता है कि 'तं भवे भत्तपाणं तु' पद ही समीचीन है। क्योंकि प्रायः प्राचीन प्रतियों में विशेषतया यही पद ग्रहण किया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जो भोजन केवल पुण्य के लिये ही तैयार किया है उसके विषय में वर्णन करते हुए कहते हैं:—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥४९॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५०॥युग्मम्

अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा, पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥४९॥

तद्भवेद् भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५०॥

पदार्थान्वयः—असणं–अन्न पाणगं–पानी वावि–अथवा खाइमं–खाद्य पदार्थ तहा–तथा साइमं–स्वाद्य पदार्थ जं–यदि जाणिज्ज–आमंत्रणादि से स्वयमेव जान ले वा–अथवा सुणिज्जा–किसी अन्य से सुन ले कि इमं–यह पदार्थ पुण्णट्ठा–पुण्य के अर्थ पगडं–बनाया गया है—तु–तो तं–वह भत्तपाणं–भोजन और पानी संजयाण–साधुओं को अकप्पिअं–अकल्पनीय भवे–होता है, अतः दिंतिअं–देने वाली को पडिआइक्खे–कह दे कि मे–मुझे तारिसं–इस प्रकार का अन्न-पानी न कप्पइ–नहीं कल्पता है ।

मूलार्थ—अन्न-पानी, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ, जिसको स्वयमेव वा अन्य किसी से सुनकर साधु यदि यह जान ले कि वह पदार्थ पुण्य के वास्ते बनाया गया है, तो वह अन्न-पानी साधुओं को अग्राह्य है । अतः साधु देने वाली से कह दे कि मुझे इस प्रकार का अन्न-पानी नहीं कल्पता है ।

टीका—इस गाथा-युग्म में इस विषय का प्रकाश किया है कि—जो अशनादि पदार्थ पुण्यार्थ बनाये गये हों, साधु उन्हें ग्रहण न करे और देने वाली से भी स्पष्ट कह दे कि 'मैं यह आहार-पानी नहीं ले सकता । क्योंकि मैं किसी की आत्मा को अन्तराय नहीं करना चाहता । मेरी वृत्ति ऐसी भिक्षा लेने की है ही नहीं । यह बात नहीं कि मैं तुम्हारे यहाँ से ही ऐसे टल रहा हूँ । मैं सभी के यहाँ ऐसा किया करता हूँ' ।

यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि—शिष्ट कुलों में साधु भिक्षा के वास्ते जो जाते हैं, तब वे लोग साधु को पुण्य की भावना से ही भिक्षा देते हैं । तो इस से यह सिद्ध होता है कि साधु को किसी भी कुल में भिक्षा के लिये न जाना चाहिये ? इसका समाधान यह है कि—जो अशनादि पदार्थ केवल पुण्य के अर्थ ही कल्पित किये हुए हैं, सूत्र-कर्ता ने उन्हीं का निषेध किया है । किन्तु जो गृहस्थ लोग साधु को अपने खाने में से संविभाग करता है; जिसके कारण से वह निर्जरा वा पुण्य रूप फल को उपार्जन करता है, उसका निषेध नहीं है । अतः

सिद्ध हुआ कि, केवल पुण्य के अर्थ ही कल्पित किया हुआ पदार्थ मुनि नहीं ले सकता। जैसे कि मृत्यु के समय बहुत से लोग म्रियमाण पुरुष से संकल्प करवाया करते हैं।

यहाँ यदि दूसरी शङ्का यह की जाय कि—दान और पुण्य में क्या अन्तर है जो सूत्रकार ने दोनों को पृथक्-पृथक् लिखा है? तो समाधान में कहना है कि—लोग दान प्रायः यश-कीर्ति आदि के वास्ते करते हैं और पुण्य प्रायः परलोक के वास्ते करते हैं। एतदर्थ सूत्रकार ने भी लौकिक प्रथा के अनुसार दोनों को पृथक्-पृथक्रूप से ग्रहण किया है। वैसे तो ये दोनों नाम पर्याय-वाची ही हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मुख्यतया याचकों के वास्ते ही जो भोजन तैयार किया गया है, उसके विषय में कहते हैं :—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ॥५१॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५२॥ युग्मम्

अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा, वनीपकार्थं प्रकृतमिदम् ॥५१॥
तद्भवेद् भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५२॥

पदार्थान्वयः—असणं-अन्न पाणगं-पानी वावि-अथवा खाइमं-खाद्य पदार्थ तहा-तथा साइमं-स्वाद्य पदार्थ जं-यदि जाणिज्ज-आमंत्रणादि से स्वयमेव जान ले वा-अथवा सुणिज्जा-किसी अन्य से सुन ले कि इमं-यह पदार्थ वणिमट्ठा-याचकों के लिये पगडं-बनाया गया है तु-तो तं-वह भत्तपाणं-भोजन और पानी संजयाण-साधुओं को अकप्पिअं-अकल्पनीय भवे-होता है, अतः दिंतिअं-देने वाली से पडिआइक्खे-कह दे कि मे-मुझे तारिसं-इस प्रकार का भोजन-पानी न कप्पइ-नहीं कल्पता है।

मूलार्थ—अन्न-पानी, खाद्य और स्वाद्य पदार्थों के विषय में साधु स्वयमेव या किसी से सुनकर यह जान ले कि ये पदार्थ याचकों के वास्ते तैयार किये गये हैं तो वे पदार्थ साधु को अकल्पनीय हैं। अतः देने वाली स्त्री से स्पष्ट कहे कि—ये भोजन-पानी मेरे योग्य नहीं हैं, अतः मैं नहीं ले सकता।

टीका—उक्त दोनों गाथाओं में याचकों के लिये जो भोजन तैयार किया गया हो, साधु को उसके लेने के लिये निषेध किया गया है। कारण वे ही हैं जो पूर्व गाथाओं के विवरण में कहे जा चुके हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जो भोजन श्रमणों के लिये तैयार किया गया है उसके विषय में निर्णयात्मक कथन करते हैं:—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥५३॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५४॥ युग्मम्

अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥५३॥
तद्भवेद् भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५४॥

पदार्थान्वयः—असणं—अन्न पाणगं—पानी वावि—अथवा खाइमं—खाद्य पदार्थ तहा—तथा साइमं—स्वाद्य पदार्थ जं—यदि जाणिज्ज—आमंत्रणादि से स्वयमेव जान ले वा—अथवा सुणिज्जा—किसी अन्य से सुन ले कि इमं—यह पदार्थ समणट्ठा—श्रमणों के अर्थ पगडं—बनाया गया है तु—तो तं—वह भत्तपाणं—भोजन और पानी संजयाण—साधुओं को अकप्पिअं—अकल्पनीय भवे—होता है, अतः दिंतिअं—देने वाली से पडिआइक्खे—कह दे कि मे—मुझे तारिसं—इस प्रकार का भोजन-पानी न कप्पइ—नहीं कल्पता है।

मूलार्थ—अन्न-पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ को साधु स्वयमेव वा अन्य किसी से सुनकर यह जान ले कि ये पदार्थ श्रमणों के वास्ते बनाये गये हैं, तो वे पदार्थ साधु को अकल्पनीय होते हैं। अतः साधु देने वाली स्त्री से कह दे कि ये पदार्थ मुझे लेने नहीं कल्पते हैं।

टीका—उक्त दोनों गाथाओं में—श्रमणों के लिये जो भोजन तैयार किया गया है, उसको ग्रहण करने के लिये जैन साधुओं को निषेध किया है। यद्यपि 'श्रमण' शब्द जैन भिक्षुओं के लिये भी प्रायः जैन सूत्रों में व्यवहृत होता है, तथापि 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं के लिये उनके शास्त्रों में व्यवहृत होता है। क्योंकि वे अपने-आपको 'श्रमण' कहते हैं। इसी लौकिक दृष्टि से यहाँ पर भी 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं के लिये ही प्रयुक्त किया है। अतः शाक्यादि श्रमणों के वास्ते बनाये गये भोजन को सदा प्रसन्नात्मा साधु कष्ट से कष्ट के समय में भी ग्रहण नहीं करे। कारण कि उसके ग्रहण करने से अनेक दोषों के उत्पन्न होने की संभावना है। जैसे कि—कोई अज्ञानी पुरुष स्वाभाविकता से अपने हृदय में यह बात अङ्कित कर बैठता है कि, प्रत्येक साधु के लिये बना हुआ भोजन प्रत्येक मुनि ले सकता है। अतः अब आगे को इनके लिये भी तैयार करके भोजन इनको दे दिया जायगा। तथा उनके अन्तराय वा परस्पर वैमनस्यभाव के भी उत्पन्न होने की आशङ्का है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इसी अशङ्का को मुख्य रखते हुए फिर इसी आहार-विधि के विषय में प्रकरणोचित वर्णन करते हैं:—

उद्देसियं कीअगडं, पूइकम्मं च आहडं।
अज्झोअरपामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥५५॥
औद्देशिकं क्रीतकृतम्, पूतिकर्म च आहृतम्।
अध्यवपूरकं प्रामित्यम्, मिश्रजातं विवर्जयेत् ॥५५॥

पदार्थान्वयः—उद्देसियं-साधु का निमित्त रखकर तैयार किया हुआ कीअगडं-साधु के निमित्त मोल लिया हुआ च-और पूइकम्मं-निर्दोष आहार में

आधा-कर्मी का संयोग मिला हुआ, तथा आहडं–ग्रामादि से साधु के निमित्त लाया हुआ अज्झोअर–मूल आहार में साधु का निमित्त रखकर उसमें और प्रक्षेप किया हुआ पामिच्चं–निर्बल से छीनकर साधु को देना च–तथा मीसजायं–साधु के और अपने वास्ते साधारण–संमिलित–रूप से तैयार किया हुआ आहार-पानी विवज्जए–साधु छोड़ दे–ग्रहण न करे।

मूलार्थ—औद्देशिक आहार, क्रीतकृत आहार, पूतिकर्म आहार, आहृत आहार, अध्यवपूरक आहार, प्रामित्य आहार, और मिश्रजात आहार इत्यादि प्रकार के आहारों को साधु वर्ज देवे।

टीका—इस सूत्र में इस बात का प्रकाश किया गया है कि—साधु को निम्नलिखित सात प्रकार का आहार नहीं लेना चाहिये। १. औद्देशिक आहार—केवल साधु का ही निमित्त रखकर तैयार किया हुआ आहार। २. क्रीतकृत—साधु के लिये मोल लिया हुआ–खरीदा हुआ–आहार। ३. पूतिकर्म—आधाकर्मी आहार के स्पर्श से दूषित निर्दोष आहार। ४. आहृत—साधु के उपाश्रय में लाकर देना वा साधु के लिये अन्य ग्रामादि से मँगवा कर देना। ५. अध्यवपूरक—साधु की याद आ जाने पर अपने लिये बनाते हुए आहार को और मिलाकर बढ़ा देना। ६. प्रामित्य—साधु के लिये निर्बल से छीना हुआ आहार। ७. मिश्रजात—अपने और साधु के लिये संमिलितरूप से तैयार किया हुआ आहार।

उपर्युक्त आहार इसलिये नहीं लेने चाहियें कि—इस प्रकार के आहार लेने से साधु की वृत्ति भंग हो जाती है और साथ ही जो अहिंसादि व्रत ग्रहण किये हुए हैं उनमें शिथिलता आ जाती है।

उत्थानिका—अब उद्गमादि दोषों की शंका दूर करने के लिये कहते हैं:—

उग्गमं से अ पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं।
सुच्चा निस्संकियं सुद्धं, पडिग्गाहिज्ज संजए ॥५६॥

उद्गमं तस्य च पृच्छेत्, कस्यार्थं केन वा कृतम्।
श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धम्, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥५६॥

पदार्थान्वयः—**संजए**—साधु **अ**—फिर सन्देह होने पर **से**—उस शङ्कित अन्न-पानी की **उग्गमं**—उत्पत्ति के विषय में **पुच्छिज्जा**—पूछे कि—यह आहार **कस्सट्टा**—किसके लिये **वा**—और **केण**—किसने **कडं**—तैयार किया है **सुच्चा**—यदि दातार का उत्तर सुनकर वह आहार **निस्संकियं**—निःशंकित, और **सुद्धं**—शुद्ध मालूम पड़े तो **पडिगाहिज्ज**—ग्रहण करे—नहीं तो नहीं।

मूलार्थ—पूर्वोक्त आहारादि में शङ्का हो जाने पर साधु, दातार से उस शङ्कित आहार की उत्पत्ति के विषय में पूछे कि यह आहार किस लिये और किसने तैयार किया है ? इस प्रकार पूछने पर यदि वह आहार शंकारहित एवं निर्दोष जान पड़े तो साधु ग्रहण करे—अन्यथा नहीं।

टीका—इस गाथा में बतलाया गया है कि—आहार लेते समय साधु को आहार के विषय में किसी प्रकार की अशुद्धि की आशङ्का हो जाय तो साधु बिना दातार से पूछ-ताछकर निर्णय किये उस आहार को कदापि न ग्रहण करे। यदि गृहस्वामी दातार से पूर्णतया निर्णय न हो सके तो अन्य नासमझ बालक-बालिका आदि से पूछकर निर्णय करे। मतलब यह है कि सर्वथा निःशंकित होने की चेष्टा करे। क्योंकि शंकायुक्त आहार का लेना साधु के लिये सर्वथा अयोग्य है। क्यों अयोग्य है ? इस प्रश्न के विषय में यह बात है कि—इस प्रकार संदेहयुक्त पदार्थों को लेने से साधु की आत्मा में दुर्बलता आ जाती है। जब आत्मा में दुर्बलता—प्रतिज्ञाहीनता—आ गई तो फिर साधुता कहाँ ? दुर्बलता और साधुता का तो परस्पर महान् विरोध है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, बीजादि-मिश्रित अशनादि पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं :—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
पुप्फेसु हुज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥५७॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५८॥युग्मम्

अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रम् , वीजैर्हरितैर्वा ॥५७॥
तद्भवेद् भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५८॥

पदार्थान्वयः—असणं–अन्न पाणगं–पानी वावि–अथवा खाइमं–खाद्य तहा–तथा साइमं–स्वाद्य पदार्थ, यदि पुप्फेसु–पुष्पों से वीएसु–वीजों से वा–अथवा हरिएसु–हरित–दुर्वादिकों से उम्मीसं–उन्मिश्र–मिला हुआ हो तु–तो तं–वह भत्तपाणं–अन्न-पानी संजयाणं–साधुओं को अकप्पिअं–अकल्पनीय भवे–होता है, अतः दिंतिअं–देने वाली से पडिआइक्खे–कह दे कि तारिसं–इस प्रकार का आहार-पानी मे–मुझे न–नहीं कप्पइ–कल्पता है।

मूलार्थ—यदि अन्न-पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ पुष्पों-से, वीजों से तथा हरित दूर्वा आदि से मिश्रित हों तो वह अन्न-पानी साधुओं के अयोग्य होता है। अतः देने वाली से साधु साफ कह दे कि यह पदार्थ मुझे लेना नहीं कल्पता है।

टीका—इस सूत्र-युग्म में यह वर्णन है कि–यदि कोई दातार, साधु को पुष्पादि सचित्त पदार्थों से मिश्रित आहार-पानी देने लगे तो साधु उस आहार-पानी को ग्रहण न करे और देने वाले गृहस्थ से स्पष्टतया कह दे कि—यह आहार-पानी मेरे योग्य नहीं है, अतः मैं नहीं ले सकता। नहीं लेने का कारण यह है कि—साधु पूर्ण अहिंसावादी होता है। अतः वह न तो स्वयं पुष्पादि सचित्त पदार्थों का स्पर्श करता है और न उन सचित्त पदार्थों से स्पर्शित आहार-पानी आदि पदार्थ ग्रहण कर सकता है। दातार को आहार लेने से नहीं कहने का कारण यह है कि—जब दातार गृहस्थ को इस प्रकार दोष को बतलाकर स्पष्टतः नहीं न कर दी जायगी, तब एक तो उसको—साधु ने मेरे से आहार क्यों नहीं लिया? क्या कारण हुआ? मैं बड़ा अभागी हूँ। भला मेरे जैसे पापियों से साधु आहार कैसे ले सकते हैं? इत्यादि विचारों से दुःख होता है। दूसरे उसको साधु-विधि का भलीभाँति वोध हो जाता है।

प्रथम 'असणं पाणगं वा' सूत्र में 'पुप्फेसु बीएसु' आदि शब्दों में जो सप्तमी विभक्ति ग्रहण की गई है, वह तृतीया विभक्ति के अर्थ में है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सचित्त जल-प्रतिष्ठित पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं :—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
उदगम्मि हुज्ज निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥५९॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६०॥युग्मम्

अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
उदके भवेत् निक्षिप्तम्, उत्तिङ्गपनकेषु वा ॥५९॥
तद्भवेद् भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६०॥

पदार्थान्वयः—असणं-अन्न पाणगं-पानी वावि-अथवा खाइम-खाद्य तहा-तथा साइमं-स्वाद्य पदार्थ उदगम्मि-जल पर वा-अथवा उत्तिंगपणगेसु-कीड़ी प्रमुख के नगर पर निक्खित्तं-रक्खा हुआ हुज-हो—तु-तो तं-वह पदार्थ संजयाण-साधुओं को अकप्पिअं-अकल्पनीय भवे-होता है, अतः साधु दिंतिअं-देने वाली से पडिआइक्खे-कह दे कि मे-मुझे तारिसं-इस प्रकार का आहार-पानी न कप्पइ-लेना नहीं कल्पता है।

मूलार्थ—अन्न-पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ, यदि सचित्त जल पर या कीड़ी आदि के नगर पर रक्खे हुए हों—तो वे पदार्थ साधु को अग्राह्य होते हैं। अतः मुनि, देने वाली स्त्री से कह दे कि यह आहार मेरे योग्य नहीं है; मैं नहीं ले सकता।

टीका—जैन साधु अहिंसा की पूर्ण प्रतिज्ञा वाला होता है। अतः उसे अपनी प्रत्येक क्रियाओं में सर्वतोव्यापिनी सूक्ष्म दृष्टि से अहिंसा की महती प्रतिज्ञा

का पालन करना चाहिये। अस्तु, जो अशनादि चतुर्विध आहार कच्चे जल पर या कीड़ी प्रमुख के नगर पर रक्खा हुआ हो तो साधु उसे न ले और देने वाले को साफ लेने से नहीं कर दे। नहीं लेने का कारण यह है कि—इस प्रकार आहार लेने से जीवों की विराधना होती है। जीवों की विराधना से संयम की विराधना स्वयं-सिद्ध ही है। जब संयम की ही विराधना हो गई तो संयमपना कहाँ रहा! प्रतिज्ञा के विषय में असावधानी रखना प्रतिज्ञा वाले के लिये बहुत बुरी बात है। मामूली-सी असावधानी का परिणाम 'अन्ततो-गत्वा' बड़ा कटु होता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अग्नि-प्रतिष्ठित पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं:—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिया दए ॥६१॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६२॥ युग्म

अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
तेजसि भवेत् निक्षिप्तम्, तं च संघट्य दद्यात् ॥६१॥
तद्भवेद् भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६२॥

पदार्थान्वयः—असणं-अन्न पाणगं-पानी वावि-अथवा खाइमं-खाद्य तहा-तथा साइमं-स्वाद्य पदार्थ तेउम्मि-तेजस्काय अग्नि पर निक्खित्तं-रक्खा हुआ हुज्ज-हो च-वा तं-उस अग्नि को संघट्टिया-संघट्टा करके दए-दे तु-तो तं-वह भत्तपाणं-अन्न-पानी संजयाण-साधुओं को अकप्पिअं-अकल्पनीय भवे-होता है, अतः दिंतिअं-देने वाली से पडिआइक्खे-कह दे कि मे-मुझे तारिसं-इस प्रकार का आहार-पानी न-नहीं कप्पइ-कल्पता है।

मूलार्थ—यदि अशनादि चतुर्विध आहार अग्नि पर रक्खा हुआ हो, अथवा दातार अग्नि से संघट्टा करके देवे तो साधु को वह पदार्थ नहीं लेना चाहिये और दातार से कह देना चाहिये कि—यह आहार मेरे अयोग्य है, अतः मैं नहीं लेता।

टीका—यदि कोई महानुभाव अग्नि पर रक्खे हुए अन्न आदि पदार्थ को तथा अग्नि से संघट्टित पदार्थ को देवें तो साधु को वह ग्रहण नहीं करना चाहिये। जैन शास्त्रकारों का अटल सिद्धान्त है कि–अग्नि सचित्त है–सजीव है। अतः पूर्ण अहिंसा को लक्ष्य में रखते हुए अग्निकाय के जीवों की रक्षा के लिये सूत्रकार ने यह निषेध किया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर अग्नि के सम्बन्ध में ही कहते हैं :—

एवं उस्सक्किया ओसक्किया, उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया
उस्सिंचिया निस्सिंचिया, ओवत्तिया ओयारिया दए॥६३॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥६४॥ यु०

एवमुत्ष्वष्क्यावष्वष्क्य , उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य, अपवर्त्य अवतार्य दद्यात् ॥६३॥
तद्भवेद् भक्तपानन्तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६४॥

पदार्थान्वयः—एवं–इसी प्रकार कोई श्राविका **उस्सक्किया**–चूल्हे में इंधन डालकर, वा **ओसक्किया**–चूल्हे मे से इंधन काढ़कर, वा **उज्जालिया**–स्तोकमात्र चूल्हे में इंधन डालकर, अथवा **पज्जालिया**–बहुत सा इंधन चूल्हे में डालकर, अथवा **निव्वाविया**–अग्नि को बुझाकर, या **उस्सिंचिया**–अग्नि पर रक्खे हुए पात्र मे से थोड़ा सा अन्न काढ़कर, या **निस्सिंचिया**–अग्नि पर रक्खे हुए पात्र में पानी का छींटा देकर, वा **ओवत्तिया**–अग्नि पर का अन्न अन्य पात्र में डालकर, अथवा

ओयारिया–अग्नि पर से पात्र उतारकर साधु को आहार **दए**–देवे **तु**–तो **तं**–वह **भत्तपाणं**–आहार-पानी **संजयाण**–साधुओं को **अकप्पिअं**–अकल्पनीय **भवे**–होता है, अतः साधु **दितिअं**–देने वाली से **पडिआइक्खे**–कह दे कि **मे**–मुझे **तारिसं**–इस प्रकार का आहार-पानी **न कप्पइ**–नहीं कल्पता है।

मूलार्थ—इस प्रकार यदि कोई दातार श्राविका—चूल्हे में इंधन डालकर, चूल्हे में से इंधन काढ़कर, स्तोकमात्र इंधन चूल्हे में डालकर, बहुत-सा इंधन चूल्हे में डालकर, जलती हुई अग्नि को बुझाकर, अग्नि-स्थित पात्र में से थोड़ा-सा अन्न काढ़कर, अग्नि-स्थित पात्र में जल का छींटा डालकर, अग्नि पर के अन्न को अन्य पात्र में काढ़कर, तथा अग्नि पर से पात्र उतारकर साधु को आहार-पानी देवे—तो वह आहार-पानी साधु के योग्य नहीं होता; अतः साधु देने वाली से कह दे कि—बहन ! यह आहार मेरे अयोग्य है, इसलिये मैं नहीं ले सकता।

टीका—इस सूत्र में यह वर्णन किया है कि—जब कोई साधु आहारार्थ गृहस्थ के घर पर जाय, तब गृहस्थ साधु को आते देखकर या स्वभावतः चूल्हे में अग्नि सिलगाकर इन्धन डाल दे या अधिक जानकर चूल्हे में से निकाल ले; तथा थोड़ा या बहुत इन्धन चूल्हे में डालकर अग्नि प्रज्वलित करे अथवा जल से या अन्य किसी मिट्टी आदि से अग्नि बुझा दे, तथा अग्नि पर रक्खे हुए पात्र में से अधिक जानकर अन्न निकाल ले या उफणता हुआ जानकर पात्र में जल के छींटे देकर शान्त करे; तथा अग्नि पर जो पात्र रक्खा हुआ हो उसमें से अन्नादि पदार्थ निकालकर अन्य पात्र में रख दे या दग्ध होने के भय से पात्र को ही अग्नि पर से उतार ले, सारांश यह है कि दातार इत्यादि क्रियाएँ करके साधु को आहार-पानी बहराने लगे तो साधु को नहीं लेना चाहिये। क्योंकि इत्यादि क्रियाओं से अयत्ना की वृद्धि होती है और साधु की जो निर्दोष आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा है, उसका भंग होता है। इतना ही नहीं, किन्तु उक्त क्रियाएँ शीघ्रतापूर्वक करने से आत्म-विराधना और संयम-विराधना होने की भी पूरी-पूरी संभावना है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विशेष विधि के विषय में कहते हैं:—

हुज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया ।
ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ॥६५॥
ण तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदिअसमाहिए ॥६६॥ युग्म

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि, इष्टिका वाऽपि एकदा ।
स्थापितं संक्रमार्थम्, तच्च भवेत् चलाचलम् ॥६५॥
न तेन भिक्षुर्गच्छेत्, दृष्टस्तत्र असंयमः ।
गम्भीरं शुषिरं चैव, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥६६॥

पदार्थान्वयः—एगया—कभी वर्षा आदि के समय पर कट्ठं—काष्ठ वावि—अथवा सिलं—शिला वावि—अथवा इट्टालं—ईंट संकमट्ठाए—संक्रमण के वास्ते ठवियं—स्थापित किया हुआ हुज्ज—हो च—और तं—वह काष्ठादि चलाचलं—चलाचल—अस्थिर होज्ज—हो तो भिक्खू—साधु तेण—उस काष्ठादि द्वारा ण गच्छेज्जा—न जावे, क्योंकि तत्थ—वहाँ पर गमन करने से असंजमो—असंयम दिट्ठो—देखा गया है, तथा सव्विंदिअसमाहिए—सम्पूर्ण इन्द्रियों द्वारा समाधिभाव रखने वाला मुनि चेव—अन्य भी गंभीरं—प्रकाशरहित, तथा झुसिरं—अन्तःसाररहित—पोले—मार्ग से भी गमन न करे ।

मूलार्थ—वर्षा आदि के समय काष्ठ, शिला वा ईंट आदि वस्तु संक्रमण के लिये रक्खी हुई हों और वे अस्थिर हों तो—साधु उस मार्ग से गमनागमन न करे, क्योंकि ऐसा करने से असंयम की संभावना है । तथा समस्त इन्द्रियों द्वारा समाधित मुनि, अन्य भी अन्धकारमय और पोले आदि मार्गों से गमन न करे ।

टीका—वर्षा आदि के समय पर मार्ग प्रायः कीचड़ से दुर्गम्य—खराब—हो जाते हैं । अतः लोग कीचड़ से बचने के उद्देश्य से मार्ग के संक्रमण के लिये काष्ठ, शिला अथवा ईंट आदि चीजें मार्ग में स्थापित कर दिया करते हैं । अस्तु,

यदि वह स्थापित काष्ठ आदि पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित–स्थिर–हों तो साधु उनके ऊपर से चला जाय। कोई दोष नहीं। और यदि वे अच्छी तरह स्थिर न हों–डगमगाते हों–तो फिर भूलकर भी न जाय। क्योंकि इस प्रकार के गमन में अपने गिरने से अन्य जीवों के उपमर्दन से असंयम होने की सम्भावना है। इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों से समाधिभाव रखने वाला मुनि, अन्य भी प्रकाशरहित तथा जिनके नीचे पोल हों ऐसे दोषदूषित मार्गों से गमन न करे। क्योंकि यहाँ पर भी पूर्वोक्त दोषों की आशङ्का है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, निश्रेणी के विषय में कहते हैं:—

निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठा एव दावए ॥६७॥

निश्रेणिं फलकं पीठम्, उत्सृत्य आरोहेत् ।
मञ्चं कीलं च प्रासादम्, श्रमणार्थमेव दायकः ॥६७॥

पदार्थान्वयः—यदि, दावए–दान देने वाला व्यक्ति समणट्ठा एव–केवल साधु के लिये ही निस्सेणिं–निसेणी को फलगं–फलक–पाटिया–को पीढं–पीठ–चौंकी–को मंचं–मंच–पलंग–को च–तथा कीलं–कीलक को उस्सवित्ताणं–ऊँचा करके पासायं–प्रासाद के ऊपर आरुहे–चढ़े।

मूलार्थ—यदि कोई व्यक्ति केवल साधु के ही लिये निश्रेणी, फलक, पीठ, मंच और कीलक को ऊँचा करके प्रसाद पर चढ़े, (और साधु को आहार दे तो साधु न ले)।

टीका—इस सूत्र में इस बात का कथन है कि—जब साधु भिक्षार्थ गृहस्थ के घर पर जाय, तब कोई गृहस्थ यदि केवल साधु के लिये ही दातव्य वस्तु उतारने के लिये उपर्युक्त निश्रेणी–सीढ़ी–आदि वस्तुओं को ऊँची करके–खड़ी करके–प्रासाद पर चढ़कर आहारादि देने लगे तो साधु को वह आहार नहीं लेना चाहिये। क्यों नहीं लेना चाहिये ? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र में सूत्रकार स्वयं ही देने वाले हैं, अतः यहाँ कुछ नहीं कहते।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस प्रकार चढ़ने से जो दोष होते हैं उनका वर्णन करते हैं :—

दुरूहमाणी पवडेज्जा, हत्थं पायं व लूसए ।
पुढविजीवे वि हिंसिज्जा, जे अ तन्निस्सिया जगे ॥६८॥

दुरारोहन्ती प्रपतेत्, हस्तं पादं वा लूषयेत् ।
पृथिवीजीवानपि हिंस्यात्, ये च तन्निश्रिता जगति ॥६८॥

पदार्थान्वयः—दुरूहमाणी-आहार देने वाली स्त्री दुःखपूर्वक ऊपर चढ़ती हुई कदाचित् पवडेज्जा-गिर पड़े, जिससे हत्थं-अपने हाथ च-और पायं-पैरों को लूसए-लूषित-खण्डित-करे, साथ ही पुढविजीवे वि-पृथिवी-कायिक जीवों की भी हिंसिज्जा-हिंसा करे अ-च-और भी जे-जो तन्निस्सिया-पृथिवी के आश्रित जगे-संसार में जीव हैं उनकी भी हिंसा करे। (अतः उस आहार को ग्रहण न करे)।

मूलार्थ—पूर्वोक्त निश्रेणी आदि द्वारा दुःखपूर्वक ऊपर चढने से दातार स्त्री के गिर जाने से हाथ-पैर आदिक अङ्ग-भंग हो जाने की तथा पृथ्वीकायिक एवं पृथ्वी-आश्रित जीवों की हिंसा हो जाने की एक निश्चित-सी आशङ्का रहती है। अतः इस अवस्था में साधु आहार-पानी ग्रहण न करे।

टीका—निश्रेणी आदि से आरोहण की क्रिया करने से एक तो कष्ट होता है। दूसरे—अस्थिरता के कारण दातार के गिर जाने की और गिर जाने से हाथ-पैर आदि अंगों के भंग हो जाने की संभावना रहती है। तीसरे—गिरने से सचित्त पृथ्वी के जीवों की और पृथ्वी के आश्रित त्रस जीवों की हिंसा की भी निश्चित आशङ्का है। क्योंकि जिस समय मनुष्य कहीं से गिरता है तो वह अपने वश नहीं रहता। वह बिल्कुल परवश हो जाता है। उसमें हिताहित के ज्ञान से फिर सँभल जाने की शक्ति नहीं रहती। गिरने पर चाहे उसे खुद को किसी प्रकार का कष्ट हो, चाहे किसी तटस्थ प्राणी को कष्ट हो, कष्ट की आशङ्का अवश्य है। सूत्र में जो 'दुरुहमाणी' स्त्रीलिङ्ग का निर्देश किया है, उसका अभिप्राय यह है कि—प्रायः स्त्रियों को ही भिक्षा देने का विशेष अवसर मिला करता है। तथा—पूर्व

६७वीं गाथा में 'दायकः' पुंल्लिङ्ग शब्द का और इस प्रस्तुत ६८वीं गाथा में 'दुरूहमाणी' स्त्रीलिङ्ग का जो निर्देश किया है, सो इस बात का द्योतक है कि चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो, चाहे नपुंसक हो, जो अयत्ना से चढ़ेगा उसी के गिरने की संभावना है। गिरने में किसी लिङ्गविशेष की बात नहीं रहती।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्वयं ही एतत्सम्बन्धी दोषों को दिखलाकर अपने ही शब्दों में स्पष्टतया प्रतिषेध करते हैं:—

एआरिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो।
तम्हा मालोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया ॥६९॥

एतादृशान् महादोषान्, ज्ञात्वा महर्षयः।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षाम्, न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥६९॥

पदार्थान्वयः—**संजया**—शास्त्रोक्त संयम के पालक **महेसिणो**—महर्षि लोग **एआरिसे**—इस प्रकार के **महादोसे**—महादोषों को **जाणिऊण**—जानकर **तम्हा**—दोषों की निवृत्ति के लिये **मालोहडं**—मालापहृत—ऊपर के मकान से निसेणी आदि द्वारा उतारकर लाई हुई **भिक्खं**—भिक्षा को **न पडिगिण्हंति**—नहीं ग्रहण करते।

मूलार्थ—**संयतात्मा—महामुनि, पूर्वोक्त महादोषों को सम्यक्तया जानकर कदापि मालापहृत अर्थात् ऊपर के मकान से सीढ़ी आदि से उतारकर लाई हुई भिक्षा ग्रहण नहीं करते।**

टीका—इस गाथा में यह प्रतिषेध है कि—जो पूर्ण संयम के धारक महर्षि हैं, वे इस प्रकार मालापहृत आहार-पानी ग्रहण नहीं करते। क्योंकि इस प्रकार से लाई हुई अयोग्य भिक्षा, महान् से महान् दोषों की उत्पादिका होती है। महान् दोषों की किस प्रकार उत्पादिका है? यह पहली 'दुरूहमाणी' गाथा मे बतलाया जा चुका है। अतः जिज्ञासु पाठक वहाँ देखे। इस प्रतिषेधक सूत्र की एक बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। वह यह कि—यह सूत्र, उत्सर्ग सूत्र है। अतः उत्सर्ग-मार्गावलम्वी मुनि के लिये ही इस प्रकार मालापहृत आहार लेने का सर्वथा प्रतिषेध है। रहे अपवाद-मार्गावलम्वी मुनि, सो उनके लिये भी निषेध है। परन्तु

सर्वथा नहीं। वे वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विचार से उचित वा अनुचित जैसा जान पड़े वैसा ही कर सकते हैं। शास्त्रकारों ने अपवाद-मार्गियों के लिये किन्हीं विशेष कारणों से प्रतिषेध में भी विधि का विधान किया है। सभी प्रतिषेधों के लिये यह बात नहीं है। किन-किन प्रतिषेधों में किन-किन विधियों का कैसे-कैसे विधान है ? यह ज्ञान जिज्ञासु शिष्य सद्गुरु-सेवा से प्राप्त करें—'गुरु विन ज्ञान की प्राप्ति नाहीं'।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वनस्पति-अधिकार के विषय में कहते हैं :—

कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं च सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए ॥७०॥

कन्दं मूलं प्रलम्बं वा, आमं छिन्नं च सन्निरम्।
तुम्बकं शृङ्गवेरं च, आमकं परिवर्ज्जयेत् ॥७०॥

पदार्थान्वयः—कंदं—कन्द मूलं—मूल वा—अथवा पलंबं—फल आमं—कच्चा च—और सन्निरं—पत्रशाक तुंबागं—तुम्बक—घीया शाक च—तथा सिंगबेरं—अदरख आमगं—अपक—सचित्त छिन्नं—छेदन-भेदन किया हुआ, यदि कोई दे तो साधु परिवज्जए—छोड़ दे।

मूलार्थ—कन्द, मूल, फल, पत्रशाक, तुम्बक और अदरख आदि यदि कच्चे हों, छेदन-भेदन किये हुए हों, परन्तु अग्निप्रमुख तीक्ष्ण शस्त्र से पूर्णतया प्रासुक न हों तो आत्मार्थी मुनि कदापि ग्रहण न करे।

टीका—इस सूत्र में यह कथन है कि—भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर पर गये हुए साधु को यदि कोई साधुओं के आचार-विचार को न जानने वाला गृहस्थ, कच्चे-सचित्त-एवं छिन्न-भिन्न किये हुए कन्द-मूल-फल आदि वनस्पति पदार्थ देने लगे तो साधु कदापि ग्रहण न करे। विना अग्नि आदि विशेष तीक्ष्ण शस्त्र के ऐसे पदार्थों में पूर्ण पक्वता नहीं आती।

ऐसे पदार्थ क्यों नहीं ग्रहण करे ? क्या हानि है ? इसका उत्तर संक्षिप्त शब्दों मे यह है कि ये सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से संख्यात, असंख्यात और

अनन्त जीवों के समूहरूप होने से विना किसी ननु-नच के सचित्त हैं। अतः साधुओं को प्रथम अहिंसा-महाव्रत की पूर्णरूपेण रक्षा के लिये उक्त कच्चे पदार्थ अपने खान-पान आदि के प्रयोग में कदापि नहीं लाने चाहियें। यहाँ उपलक्षण से सभी जाति के कच्चे-सचित्त-फलों का ग्रहण है। अतः सभी के लिये प्रतिषेध है, किसी एक के लिये नहीं। उदाहरण के तौर पर ये विशेष नाम कह दिये हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, बाजार में विकने वाले खाद्य पदार्थों के विषय में कहते हैं:—

तहेव सत्तुचुन्नाइं, कोलचुन्नाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं, अन्नं वावि तहाविहं ॥७१॥
विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७२॥ युग्मम्

तथैव सक्तुचूर्णान्, कोलचूर्णान् आपणे।
शष्कुलिं फाणितं पूपम्, अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥७१॥
विक्रीयमाणं प्रसह्यम्, रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥७२॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी तरह आवणे-बाजार में दुकानों पर विक्कायमाणं वेचने के लिये पसढं-प्रकटरूप से रक्खे हुए रएण-रज से परिफासिअं-सने हुए सत्तुचुन्नाइं-यव आदि सत्तू का चून कोलचुन्नाइं-बेरों का चून सक्कुलिं-तिल-पापड़ी फाणियं-द्रवगुड़-राब पूयं-पूड़ा-रोटी, तथा अन्नं वावि-और भी तहाविहं-तथा विध इसी प्रकार के पदार्थ मोदक आदि, यदि साधु को देने लगे तो साधु दिंतिअं-देने वाली को पडिआइक्खे-कह दे कि मे-मुझे तारिसं-इस प्रकार के पदार्थ लेने न-नहीं कप्पइ-कल्पते हैं।

मूलार्थ—इसी तरह बाजार में दुकानों पर विक्री के लिये प्रकटरूप से रक्खे गये, सचित्त रज से मिश्रित सक्तु-चूर्ण, बदरीफल-चूर्ण, तिल-पापड़ी, ढीला गुड़,

पूड़ा तथा अन्य भी ऐसे ही लड्डू-जलेबी आदि खाद्य पदार्थ यदि साधु को मिलते हों तो साधु न ले और देने वाली से कह दे कि ये पदार्थ मेरे योग्य नहीं हैं।

टीका—इस सूत्र में यह वर्णन है कि—बाजार में बिकते हुए सत्तु, तिल-पापड़ी, गुड़ आदि खाद्य पदार्थ यदि सचित्त धूल से भरे हुए हों तो साधु न ले (यदि साफ–शुद्ध–हों तो साधु-वृत्ति के अनुसार ले सकता है)।

ऊपर के सूत्र-लेख से सिद्ध होता है कि, प्राचीन काल में भी अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते थे और वे बाजार में दुकानों पर ग्राहकों को यथोचित मूल्य से वेचे जाते थे। वेचने वाले दुकानदार प्रायः भव्य एवं भद्र परिणामी होते थे। अतः वे पैसा नहीं रखने वाले संत-महात्माओं को भी कभी-कभी अवसर मिलने पर विना किसी इच्छा के धर्म-बुद्धि से यथायोग्य दान देकर महान् लाभ उठाया करते थे।

यहाँ सूत्रगत एक वात और भी विचारणीय–मननीय–है जो इतिहासज्ञ सज्जनों के लिये वड़ी ही कीमती है। वह यह है कि इसी ७२वें सूत्र में 'दिंतिअं' शब्द आया है, जिसका अर्थ होता है देने वाली। अस्तु, इस शब्द से यह निःसंदेह सिद्ध हो जाता है कि—प्राचीन काल में पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी वाजारों में दुकानों पर कुशलतापूर्वक क्रय-विक्रय किया करती थीं। उस समय उनका यह कार्य समाज में निन्दित नहीं समझा जाता था।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आहार के विषय में और भी विस्तृत विवेचना करते हैं:—

बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं ।
अत्थियं तिंदुअं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥७३॥
अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झियधम्मिए ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७४॥ युग्मम्

बहस्थिकं पुद्गलम्, अनिमिषं वा बहुकण्टकम् ।
अस्थिकं तिन्दुकं विल्वम्, इक्षुखण्डं वा शाल्मलिम् ॥७३॥

अल्पं स्याद् भोजनजातम्, बहूज्झनधर्मकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

पदार्थान्वयः—**बहुअट्ठियं**—बहुत गुठलियों वाला **पुग्गलं**—पुद्गल नामक फलविशेष **अणिमिसं**—अनिमिष नामक फलविशेष **वा**—अथवा **बहुकंटयं**—बहुत काँटों वाला फल **अत्थियं**—अस्थिक वृक्ष का फल **तिंदुअं**—तिन्दुक वृक्ष का फल **बिल्लं**—बिल्व नामक वृक्ष का फल **उच्छुखंडं**—इक्षुखण्ड **व**—तथा **सिंबलिं**—शाल्मली वृक्ष का फल **भोयणजाए**—जिनमें खाने लायक भाग तो **अप्पे**—अल्प **सिया**—हो, और **बहुउज्झियधम्मिए**—गेरने लायक भाग बहुत अधिक हो, ऐसे फल कोई देने लगे तो साधु **दिंतिअं**—देने वाली से **पडिआइक्खे**—कह दे कि **मे**—मुझे **तारिसं**—इस प्रकार का आहार **न कप्पइ**—नहीं कल्पता है ।

मूलार्थ—बहुत अधिक गुठलियों वाले-बीजों वाले-पुद्गल फल, अनिमिष फल, बहुत काँटों वाले फल, अस्थिक फल, तिन्दुक फल, बिल्व फल (बेल), गन्ने की गनेरियाँ, तथा शाल्मली फल आदि—ऐसे पदार्थ जिनमें खाने लायक भाग तो थोड़ा हो और गेरने लायक भाग अधिक हो तो साधु ग्रहण न करे, और देने वाली से स्पष्ट कह दे कि ये पदार्थ मेरे योग्य नहीं, अतः मैं नहीं लेता ।

टीका—इस गाथा में यह वर्णन है कि—अपने और पर के तारने वाले मुनियों को, जिन फलों का भाग खाने में तो थोड़ा आता हो और गेरने में अधिक आता हो ऐसे उपर्युक्त 'पुद्गल फल' आदि फलों का सेवन कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि अखाद्य भाग के परिष्ठापन से अयत्ना होने की बहुत संभावना है। सूत्रकार की विषय-प्रतिपादन-शैली कह रही है कि—यावन्मात्र पदार्थ जो खाने में थोड़े आते हों और गेरने में अधिक आते हों वे सभी अग्राह्य हैं। फलों के नामों का जो उल्लेख किया है वह उदाहरणरूपेण सूचनामात्र है। इससे सूत्रोक्त फल ही अग्राह्य हैं, यह बात नहीं। कच्चे फलों का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। अतः यहाँ साधु ऐसे अधिक गेरने के लायक फल न सही, यदि अधिक खाने में आने लायक कच्चे फल हों, फिर तो लेने में कोई हर्ज नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

प्रस्तुत 'वहुअट्ठियं पुग्गलं' सूत्र मे जो 'अणिमिसं-अनिमिष' शब्द दिया हुआ है, उसका अर्थ मांस नहीं समझना चाहिये। क्योंकि मांस का अर्थ सर्वथा प्रकरण-विरुद्ध है। देखिये, गाथा के उत्तर के दोनों चरणों में वेल ईख आदि फलों के नाम स्पष्टतया परिकथित हैं। अतः निर्भ्रान्त सिद्ध है कि पूर्व के दोनों चरणों में भी वनस्पति का ही स्पष्ट अधिकार है। यह प्रकृतिदेवी का लीला-क्षेत्र संसार बड़ा ही विचित्र है। यहाँ देखने वाले जहाँ देखेंगे, वहाँ विचित्रता ही देखेंगे। यहाँ की कोई भी वात ऐसी नहीं है, जिसमें किसी प्रकार की विचित्रता नहीं हो। परन्तु सब से अधिक विचित्रता जिनमें है, वे नाम हैं। इन नामों की विचित्रता ऐसी वढ़ी हुई है कि, नासमझ जनता तो बहुधा धोखा खा जाया करती है। वह कभी-कभी नामों की भूल में आकर अर्थ का अनर्थ कर डालती है। परन्तु जो विद्वान् सज्जन हैं वे कभी धोखा नहीं खाते। वे तो जो कुछ करते हैं, पूर्वापर का विचार करके ही करते हैं। अस्तु, सूत्रगत 'अनिमिष' शब्द के नामसाम्य से भी विपरीत कल्पना करके विद्वान् पाठक धोखा न खावें। क्योंकि फलों की अनेक जातियाँ होती हैं। कोई फल ऐसे होते हैं जिनमे गुठलियाँ अधिक होती हैं, और कोई फल ऐसे होते हैं जिनमें काँटे अधिक होते हैं। कोई फल ऐसे होते हैं जिनके नाम पशु-पक्षियों के नामों पर होते हैं, और कोई फल ऐसे होते हैं जिनके नाम मनुष्यों के एवं अन्य पदार्थो के नामों पर होते हैं। फलों के इस प्रकार विचित्रतामय नामों के विषय में जिज्ञासु पाठकों को वैद्यक कोषों का-निघण्टुओं का-अवलोकन करना चाहिये। उनमे वहुत-सी वनस्पतियाँ इसी प्रकार की मिलेंगी। जैसे कि—ब्राह्मणी, कुमारी, कन्या, मार्जारी, कापोती आदि आदि।

सूत्रगत 'अनिमिष'—शब्द फल का भी वाचक है, इसके लिये कोषों के प्रमाण भी देखिये :—

'अणिमिस-त्रि०-(अनिमेष)—पलक न मारा हुआ और वनस्पतिविशेष'।

(अर्द्धमागधी-कोष—प्रथम भाग पृष्ठ १८१)

'अणिमिस-त्रि०-(अनिमिष)—आँखनों पलकारो मार्या वगर नुं २ वनस्पतिविशेष'।

(जैनागम-शब्दसंग्रह-अर्द्धमागधी गुजराती-कोष पृष्ठ ४८)

अस्तु, उपर्युक्त कोषों के प्रमाणों से 'अणिमिस' शब्द का अर्थ मांस इस स्थान पर कदापि नहीं हो सकता, किन्तु फलविशेष ही सिद्ध होता है । मांस अर्थ करने से गाथा के अर्थ की परस्पर संगति किसी प्रकार भी नहीं मिलती । एक बात और भी है—इस अध्ययन में कहीं पर भी मांसविषयक अधिकार नहीं आता । जिस प्रकार अकल्पनीय अन्न, पानी, खादिम और स्वादिम नहीं लेने चाहियें, यह विषय बारम्बार आया है और जिस प्रकार उक्त चारों आहारों का विस्तृत वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार मांस-मदिरा का कहीं पर भी विधान नहीं है । क्योंकि यह उक्त दोनों पदार्थ सर्वथा ही अभक्ष्य हैं । फिर भला इनका विधान अहिंसाप्रधान शास्त्र में किस प्रकार किया जा सकता था । इतना तो मन्द से मन्द बुद्धि भी सोच-विचार सकते हैं ।

ऊपर के लंबे विवेचन का संक्षिप्त शब्दों में यह निष्कर्ष है—उक्त 'अणिमिस' आदि पदों का वनस्पति अर्थ ही युक्तियुक्त एवं शास्त्रसम्मत है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जल के विषय में कथन करते हैं :—

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोअणं ।
संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोअं विवज्जए ॥७५॥

तथैवोच्चावचं पानम्, अथवा वारकधावनम् ।
संस्वेदजं तण्डुलोदकम्, अधुनाधौतं विवर्जयेत् ॥७५॥

पदार्थान्वयः—तहेव-उसी प्रकार उच्चावयं-ऊँच-नीच-अच्छा-बुरा पाणं-पीने योग्य पदार्थ-पानी अदुवा-अथवा वारधोअणं-गुड़-घट आदि का धोवन संसेइमं-पिष्टोदक-कठोती का धोवन चाउलोदगं-चावलों का धोवन अहुणाधोअं-सो यदि तत्काल का धौत हो तो विवज्जए-मुनि वर्ज दे-ग्रहण न करे ।

मूलार्थ—जिस प्रकार अशन के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार उच्च-सुस्वादु—द्राक्षादि का पानी, अवच-दुःस्वादु—काँजी आदि का पानी, गुड़-घट के धोवन का पानी, कथरोट के धोवन का पानी, चावलों के धोवन का पानी, इत्यादि तत्काल के धोवन-पानी को मुनि कदापि ग्रहण न करे ।

टीका—इस गाथा में पानी के विषय में वर्णन किया गया है । जिस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के द्वारा अशनादि के विषय में वर्णन किया है, ठीक उसी प्रकार पानी के विषय में भी जानना चाहिये । यथा—उच्च पानी उसे कहते हैं जिसका वर्ण-गन्ध शुभ होता है—जैसे दाख आदि का पानी। नीच पानी उसे कहते हैं जिसका वर्ण-गन्ध शुभ नहीं होता—जैसे कॉंजी आदि का पानी । गुड़ के घड़े का धोवन—ईख-रस के घड़े का धोवन, धान्य-स्थाली का धोवन, पिष्ट आदि का धोवन तथा चावलों के धोवन का पानी, इसी प्रकार अन्य भी धोवन के पानी जो तत्काल के—तुरत के—बने हुए हों न लेने चाहियें । क्योंकि जो धोवन-पानी थोड़े समय के बने हुए होते हैं, उनमें अन्य पदार्थों का स्पर्श पूर्णरूप से नहीं होने पाता । पूर्णरूपेण स्पर्शित शुद्ध जल ही साधु को ग्राह्य है, अन्य नहीं । इसी लिये सूत्रकार ने 'अधुनाधौतं विवर्जयेत्' पद दिया है ।

उत्थानिका—अब फिर इसी जल के विषय में कहा जाता है :—

जं जाणेज्ज चिराधोअं, मइए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकिअं भवे ॥७६॥
यज्जानीयात् चिराद्धौतम्, मत्या दर्शनेन वा ।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा, यच्च निःशङ्कितं भवेत् ॥७६॥

पदार्थान्वयः—जं-यदि मइए-अपनी विचार-बुद्धि से वा-अथवा दंसणेण-देखने से पडिपुच्छिऊण-गृहस्थ से पूछकर वा-या सुच्चा-सुनकर जं-पूर्वोक्त पानी के विषय मे चिराधोअं-यह धोवन चिरकाल का है, इस प्रकार जाणेज्ज-जान ले च-और निस्संकिअं-पूर्ण निःशंकित भवे-हो जाय, तो ग्रहण कर ले ।

मूलार्थ—यदि विचार-बुद्धि से, प्रत्यक्ष दर्शन से, दातार से पूछकर या सुनकर 'यह जल चिरधौत है' ऐसा शङ्कारहित शुद्ध निश्चय हो जाय तो मुनि धोवन-पानी ग्रहण कर ले ।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि—साधु को चाहिये कि जितने भी धोवन-पानी शास्त्रकारों ने साधु को ग्राह्य बतलाये हैं, उन

सब को लेने से पहले दीर्घकालिक धौतसम्बन्धी निर्दूषणता का ज्ञान भलीभाँति प्राप्त करे। यह ज्ञान कई प्रकार से किया जा सकता है:—प्रथम तो सूत्रानुसारिणी सूक्ष्म बुद्धि से विचार करे कि प्रायः धोवन-पानी किस समय तैयार होता है? अब क्या समय हो चला है? गृहस्थ लोग अब किस अवस्था में थे? किधर थे? क्या कर रहे थे? आदि आदि बातों पर पूर्ण ध्यान दे। यदि इससे ठीक तौर से कुछ पता न चले तो फिर धौत जल को देखे। देखकर निर्णय करे कि जल का रूप-रंग किस प्रकार का है? जल में विलोडितता—चलितता—है या नहीं? यदि चलितता है तो वह किस कारण को लिये हुए है? यदि इतने पर भी आशङ्का बनी ही रहे तो दातार गृहस्थ से या अन्य समीपस्थ अबोध बच्चों आदि से प्रश्नोत्तर करके निर्णय करे।

कहने का सारांश यह है कि जब पूर्णरूप से पूछ-ताछ आदि करने पर 'यह धोवन साधु-मर्यादा योग्य प्रासुक—निर्जीव—है और अधिक समय का हो चुका है' यह निश्चय हो जाय, तब तो साधु उस धोवन-पानी को ग्रहण करे, नहीं तो नहीं। तत्काल के धोवन-पानी में प्रासुकता की—जीव-रहितता की—बुद्धि रखनी स्पष्टतः शास्त्र-असम्मत है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जल को चखकर निर्णय करने के विषय में कहते हैं:—

अजीवं परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए।
अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोअए ॥७७॥

अजीवं परिणतं ज्ञात्वा, प्रतिगृह्णीयात् संयतः।
अथ शङ्कितं भवेत्, आस्वाद्य रोचयेत् ॥७७॥

पदार्थान्वयः—प्रासुक जल को पूर्णतया **अजीवं**—अजीव-भाव को **परिणयं**—परिणत हुआ **नच्चा**—जानकर **संजए**—साधु **पडिगाहिज्ज**—ग्रहण करे (अन्यथा नहीं) **अह**—यदि किसी अन्य प्रासुक जल के विषय में अरुचिता आदि की **संकियं**—शङ्का **भविज्जा**—हो जाय तो **आसाइत्ताण**—आस्वादन करके—चख करके **रोअए**—निश्चय करे।

मूलार्थ—साधु, अजीव-भावपरिणत पूर्ण प्रासुक जल ही ग्रहण करे। यदि किसी अन्य प्रासुक जल के विषय में यह शङ्का हो जाय कि यह जल मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ेगा तो चखकर लेने-न-लेने का निश्चय करे।

टीका—इस गाथा में अन्य प्रासुक जल के विषय में वर्णन किया गया है। प्रासुक जल साधु के लिये ग्राह्य है। परन्तु कब ग्राह्य है ? जब कि वह पूरे तौर से जीवरहित–प्रासुक–हो चुका हो तब। इसका निर्णय भी उन्हीं पूर्व सूत्रोक्त बुद्धि-दर्शन-प्रश्न आदि उपायों से करना चाहिये। ग्राह्य-अग्राह्यसम्बन्धी सन्देह की अवस्था में किसी चीज के लेने के लिये हाथ बढ़ाना आत्माभिमानी–व्रताभिमानी–जैन साधु के लिये सर्वतोभावेन वर्जित है।

अब सूत्रकार ने गाथा के पिछले दो चरणों में यह बतलाया है कि जल के विषय में प्रासुकतासम्बन्धी तो किसी प्रकार की शङ्का नहीं रही हो; अच्छी तरह यह निर्णय हो चुका हो कि यह जल प्रासुक है–शुद्ध है। अतः इसके लेने में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु यदि यह शङ्का हो जाय कि यह जल दुःस्वादु–विरस–अरुचिकर है। अतः यह मेरी शारीरिक प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ेगा, तो उस समय दातव्य जल को चख करके अपनी शङ्का की सत्यता-असत्यता का ज्ञान करे। गृहस्थ के यहाँ ही ऐसे चखकर निर्णय करने में साधु को कोई दूषण नहीं लगता। शरीर की उपमा यंत्र से दी जाती है। अतः शरीर के लिये जिस प्रकार अन्न की शुद्धता का ध्यान रक्खा जाता है, उसी प्रकार उससे भी बढ़कर जल की शुद्धता का ध्यान रखना चाहिये। दूषित जल के पीने से स्वास्थ्य में गड़बड़ हुए बिना नहीं रह सकता। जब स्वास्थ्य में गड़बड़ हो गया तो फिर नित्यप्रति की धार्मिक क्रियाओं में गड़बड़ का होना अपने-आप सिद्ध है। अस्तु, इस उत्तरोत्तर के गड़बड़ से बचने के लिये मुनि को अपने खान-पान के कामों में अवश्य ही सदा सतर्क रहना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, चखने के लिये पानी किस तौर से क्या कहकर ले यह कहते हैं:—

थोवमासायणट्ठाए, हत्थगम्मि दलाहि मे।
मा मे अच्चंबिलं पूअं, नालं तिण्हं विणित्तए ॥७८॥

स्तोकमास्वादनार्थम् , हस्तके देहि मे ।
मा मे अत्यम्लं पूति (तं), नालं तृष्णां विनेतुम् ॥७८॥

पदार्थान्वयः—आसायणट्ठाए-आस्वादन के वास्ते थोवं-थोड़ा सा पानी मे-मुझे हत्थगम्मि-हाथ में-अंजली में दलाहि-दे, क्योंकि अच्चंबिलं-अत्यन्त खट्टा, अथवा पूअं-सड़ा हुआ तिण्हं-तृषा को विणित्तए-निवृत्त करने में नालं-असमर्थ पानी मे-मुझे मा-नहीं अनुकूल है ।

मूलार्थ—हे बहन ! चखने के लिये थोड़ा-सा पानी मुझे हाथ में दे । क्योंकि अतीव खट्टा, सड़ा हुआ, प्यास नहीं मिटाने वाला जल मुझे अनुकूल नहीं पड़ता ।

टीका—इस गाथा में यह वर्णन है कि—जिस जल के विषय में यह शङ्का हो जाय कि यह जल खट्टा है-सड़ा हुआ है-प्यास बुझाने लायक नहीं है, तो साधु देने वाली से कह दे कि—हे बहन ! यह जल थोड़ा-सा चखने के लिये मुझे अंजली में दे । ताकि मैं निर्णय करलूँ कि यह जल किसी प्रकार से दूषित तो नहीं है । क्योंकि दूषित पानी पिया हुआ शरीर में विकार करता है । अतः ऐसे पानी को लेकर मैं क्या करूँगा ?

इस ऊपर के कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि—जो पदार्थ अनुपयोगी हो-विकार-जनक हो, उसे मुनि कदापि ग्रहण न करे । शङ्कित पदार्थ की उसी स्थान पर परीक्षा कर ले, जिससे फिर उसे गेरना न पड़े; क्योंकि गेरने में प्रायः अयत्ना हो जाने की संभावना रहती है ।

सूत्रकर्ता ने जो 'आस्वादन' पद दिया है, वह व्यक्त करता है कि—देय पदार्थ की योग्यता-अयोग्यता के निर्णय करने में साधु गृहस्थ के यहाँ किसी प्रकार का लज्जा-भाव एवं संकोच न करे । जिस रीति से निर्णय हो सकता हो, साधु को उसी रीति का अवलम्बन करना चाहिये । सूत्रकार ने सूत्र में केवल पानी के लिये ऐसा कहा है, इससे यह मतलब नहीं निकाल लेना चाहिये कि केवल पानी का ही इस प्रकार निर्णय करे, अन्य का नहीं । यह पानी उपलक्षण है । इससे इसी भाँति के अन्य पदार्थों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई दातार स्त्री आग्रह करके ऐसा पानी देने ही लगे तो फिर साधु क्या करे ? यह कहते हैं :—

तं च अच्चंबिलं पूअं, नालं तिण्हं विणित्तए ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७९॥

तच्च अत्यम्लं पूति (तं), नालं तृष्णां विनेतुम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥७९॥

पदार्थान्वयः—च-फिर तं-उस अच्चंबिलं-अत्यन्त खट्टे पूअं-सड़े हुए तिण्हं-तृषा विणित्तए-शान्त करने के लिये नालं-असमर्थ पानी को दिंतिअं-देने वाली स्त्री से पडिआइक्खे-कहे कि मे-मुझे तारिसं-इस प्रकार का दूषित पानी ग्रहण करना न-नहीं कप्पइ-कल्पता है ।

मूलार्थ—फिर भी यदि दातार स्त्री आग्रह करके इस प्रकार का खट्टा, सड़ा हुआ, प्यास बुझाने के लिये अयोग्य पानी देने लगे, तो साधु उस देने वाली से स्पष्ट कह दे कि इस प्रकार का दूषित पानी मुझे ग्रहण करना नहीं कल्पता है ।

टीका—इस सूत्र में यह वर्णन है कि—यदि कोई अनभिज्ञ दातार स्त्री, ऐसे दूषित पानी के लेने का आग्रह करने लगे तो साधु को चाहिये कि वह उस देने वाली से साफ कह दे कि यह आग्रह समयोचित नहीं है । ऐसा पानी मैं नहीं ले सकता । पानी तृषा मिटाने के लिये लिया जाता है, न कि गेरने के लिये । इसमें कौन-सा लाभ होगा कि मैं तेरे यहाँ से ले जाऊँ और फिर गेरता फिरूँ । इस पानी से पानी की गर्ज पूरी होनी, तू भी जानती है—सर्वथा असम्भव है ।

ऊपर की इस स्पष्टोक्ति का सारांश यही है कि—आहार-पानी के विषय में साधु स्पष्टता से काम ले । किसी प्रकार की दबा-दबी न रक्खे । दबा-दबी के काम में मायाचारी अवश्य करनी पड़ती है । जब मायाचारी आ गई तो फिर साधुता कहाँ ? असावधानता के कारण एक दोष ही आगे चलकर अनेकानेक दोषों का कारण हो जाता है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कभी ऐसा पानी ले ही लिया हो, तो साधु फिर क्या करे ? यह कहते हैं :—

तं च होज्ज अकामेणं, विमणेणं पडिच्छिअं ।
तं अप्पणा न पिबे, नोवि अन्नस्स दावए ॥८०॥

तच्च भवेत्, अकामेन, विमनस्केन प्रतीप्सितम् ।
तदात्मना न पिबेत्, नोऽप्यन्यस्मै दापयेत् ॥८०॥

पदार्थान्वयः—च–यदि **अकामेणं**–विना इच्छा से, अथवा **विमणेणं**–विना मन से **तं**–कदाचित् उक्त पानी को **पडिच्छिअं**–ग्रहण कर लिया हो तो **तं**–उस जल को, साधु **अप्पणा**–स्वयं **न पिबे**–न पीवे, तथा **अन्नस्स वि**–दूसरों को भी **नो दावए**–पीने के लिये न दे अर्थात् नहीं पिलावे ।

मूलार्थ—**यदि पूर्वोक्त अग्राह्य पानी विना इच्छा के और विना मन के अर्थात् असावधानता से ग्रहण कर लिया हो, तो साधु का कर्तव्य है कि उस जल को न तो स्वयं पीवे और न दूसरों को पिलावे ।**

टीका—पूर्व सूत्र में बतलाया जा चुका है कि साधु, दूषित पानी कदापि न ग्रहण करे; साफ कह दे कि यह पानी मैं नहीं लेता। दूषित पानी के लेने से कुछ लाभ नहीं। अब यह दूसरा सूत्र है। इसके प्रश्न और उत्तर के रूप में दो खण्ड होते हैं। पाठक दोनों का सूक्ष्म विचारणा के साथ अवलोकन करें :—

प्रश्न—पूर्व सूत्र का कथन सर्वांश में ठीक है। ऐसा दूषित पानी कदापि नहीं लेना चाहिये। फिर भी मनुष्य के पीछे भूल लगी हुई है। कभी-कभी वह भूल से बचते-बचते भी सहसा भूल में आ जाता है और उसी काम को कर बैठता है। अस्तु, भूल से या गृहस्थ के विशेष आग्रह से (कभी ऐसा अवसर हो जाता है कि गृहस्थ के आग्रह की उपेक्षा करने से धर्म में बड़ी हानि हो जाती है) इच्छा न होते हुए भी, यदि कभी दूषित जल ग्रहण कर लिया जाय तो फिर क्या करना उचित है ? उस जल को स्वयं पीवे या दूसरे साथी साधुओं को दे ? दोनों कामों में से एक काम तो करना ही होगा, सो कौन-सा करे ? इसका उत्तर होना चाहिये।

उत्तर—दोनों में से एक काम भी न करना चाहिये; अर्थात् न तो खुद पीवे और न दूसरे साधुओं को पीने के लिये दे। क्योंकि दूषित जल को चाहे खुद पीवे चाहे कोई दूसरा पीवे, केवल हानि ही हानि है, लाभ कुछ नहीं। दूषित जल-पान से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। सो रुग्णावस्था में संयम-रक्षा व आत्म-रक्षा कहाँ तक किस रूप में हो सकती है ? यह सब जानते ही हैं। अतः उसके लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं। साधु स्वपर-हितार्थी होते हैं। वे अपने में और दूसरे में कुछ भेद नहीं समझते। जिस प्रकार वे अपनी रक्षा का ध्यान रखते हैं, ठीक उसी प्रकार दूसरों की रक्षा का भी ध्यान रखते हैं। साधुओं की यह वृत्ति नहीं होती कि वे अपनी वेगार दूसरों पर गेरें। अतएव उन्हें दूसरे साधुओं को भी यह दूषित पानी नहीं देना चाहिये।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि—यदि उस पानी की किसी को आवश्यकता ही होवे तो फिर क्या करना चाहिये ? देना चाहिये या नहीं ? उत्तर में कहा जाता है कि—यदि कोई गीतार्थ साधु उस पानी को माँगता हो तो साधु उस पानी के विषय में अपनी तरफ से कहने योग्य सब कुछ कहकर उसको दे सकता है। यदि कोई अगीतार्थ माँगता हो तो उसे कदापि नहीं देना चाहिये। गीतार्थ और अगीतार्थ में यही अन्तर होता है कि गीतार्थ उचित-अनुचित, हित-अहित का पूर्ण ज्ञाता होता है और अगीतार्थ नहीं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस विषय में कहते हैं कि जब वह पानी किसी को भी न दिया जाय, तो फिर क्या करना चाहिये ?

एगंतमवक्कमित्ता , अचित्तं पडिलेहिआ ।
जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥८१॥
एकान्तमवक्रम्य , अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥८१॥

पदार्थान्वयः—एगंतं—एकान्त स्थान पर अवक्कमित्ता—जाकर अचित्तं—जीवरहित स्थान की पडिलेहिआ—प्रतिलेखना करके जयं—यत्नपूर्वक परिट्ठविज्जा—पानी को परठ दे—गेर दे, और परिट्ठप्प—परठकर पडिक्कमे—ईर्यापथिकी का ध्यान करे।

मूलार्थ—एकान्त स्थान पर जाकर, अचित्त स्थान की प्रतिलेखना करके, यत्नपूर्वक उस पानी को परठ दे और परठकर प्रतिक्रमण करे।

टीका—जब वह पानी किसी प्रकार से भी काम न आ सके, तो फिर उस पानी को एकान्त स्थान पर जाकर, अचित्त भूमि को आँखों से खूब अच्छी तरह देखकर तथा रजोहरणादि द्वारा प्रतिलेखना करके बड़ी यत्ना के साथ परठ देना–गेर देना–चाहिये और विधिपूर्वक परठ देने के बाद उस पानी को 'वोसिरा' देना चाहिये। अर्थात् परठकर 'वोसिरे-वोसिरे'–'व्युत्सृजामि-व्युत्सृजामि' इस प्रकार मुख से कहना चाहिये।

यद्यपि वृत्तिकार 'प्रतिक्रामेत्' क्रियापद के अर्थ में 'ईर्यापथिकाम्' ईरियावहिया का ध्यान करे इस प्रकार लिखते हैं; यथा—'प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेदीर्यापथिकाम्, एतच्च बहिरागतनियमकरणसिद्धं प्रतिक्रमणमबहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः।' परन्तु 'प्रतिक्रामेत्' क्रियापद का अर्थ पीछे हटना है अर्थात् परठकर 'वोसिरामि२' कहना यही अर्थ युक्तिसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि जब दैवसिक प्रतिक्रमण किया जाता है, तब दिन में लगे हुए सब अतिचारों की विधिपूर्वक आलोचना की ही जाती है। सूत्रगत 'पानी' शब्द उपलक्षण है। इससे इसी प्रकार के अन्य मल आदि पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है। अस्तु, परठने लायक सभी वस्तुओं के लिये यही विधि है। जो वस्तु परठनी हो, उसे एकान्त निर्जीव स्थान पर परठे और परठकर प्रतिक्रमण अर्थात् वोसिरे करे।

यहाँ सूत्र में जो 'एकान्त स्थान' शब्द आया है, उससे यह मतलब है कि—जहाँ गृहस्थों का आना-जाना न होता हो ऐसा स्थान। क्योंकि चौड़े-चौड़े खुले स्थान पर परठी हुई वस्तु गृहस्थों के देखने मे आती है। उससे गृहस्थों को साधुओं की तरफ से अप्रतीति होती है। वे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के दृष्टि-बिन्दुओं से वस्तु के योग्य-अयोग्य का विचार न करके अपने मन में यही भाव लाते हैं कि देखो ये कैसे साधु हैं? हम गृहस्थों के यहाँ से चीजें ला-लाकर यों फेंक देते हैं। न अपने कामों में लाते और न हमारे काम की छोड़ते! साधु बन गये तो क्या हुआ, पर जीभ तो बस न हुई। दूसरा शब्द 'अचित्तस्थान' की

प्रतिलेखना' है। उसका यह भाव है कि—जो अयोग्य वस्तु परठनी हो, उसे यत्नपूर्वक खूब देख-भालकर जहाँ त्रस-स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की घात न होती हो ऐसे अचित्त स्थान पर परठे। क्योंकि अयत्ना के साथ विना देखे-भाले परठ देने से जीवों की विराधना होती है। उससे प्रथम अहिंसा-व्रत दूषित हो जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अन्न-पानी की ग्रहण-विधि के कथन के बाद भोजन-विधि के विषय में कहते हैं:—

सिआ य गोयरग्गगओ, इच्छिज्जा परिभुत्तुअं।
कुट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुअं ॥८२॥

स्याच्च गोचराग्रगतः, इच्छेत् परिभोक्तुम्।
कोष्ठकं भित्तिमूलं वा, प्रतिलेख्य प्रासुकम् ॥८२॥

पदार्थान्वयः—**गोयरग्गगओ**-गोचरी के लिये गया हुआ साधु **सिआ**-कदाचित् **परिभुत्तुअं**-वहाँ पर ही भोजन करने की **इच्छिज्जा**-इच्छा करे **य**-तो **कुट्ठगं**-शून्य गृह आदि में **वा**-अथवा **भित्तिमूलं**-मठ आदि की भित्ति के मूल में **फासुअं**-प्रासुक-जीवरहित स्थान की **पडिलेहित्ताण**-प्रतिलेखना करके—भोजन करे।

मूलार्थ—गोचरी के लिये गाँव में गये हुए साधु को कदाचित् किसी कारणवशं वहाँ पर ही भोजन करने की इच्छा हो जाय, तो वह सूने-निर्जन-घर में अथवा किसी भित्ति-दीवार-के मूल-कोण-में, प्रासुक-शुद्ध-भूमि की प्रतिलेखना करके (भोजन करे)।

टीका—इस सूत्र में यह वर्णन है कि—कोई तपस्वी या बालक साधु, गोचरी के लिये गाँव मे गया हुआ है। गाँव में फिरते-फिरते बहुत देर हो गई है। समय के अतिक्रमण से कड़ी भूख-प्यास या अन्य किसी ऐसे ही कारण के उपस्थित हो जाने पर, उसकी यह इच्छा हो कि, 'मैं यहीं किसी स्थान पर आहार कर लूँ'। तब उसको योग्य है कि वह किसी सूने घर में जाकर यत्नपूर्वक आहार कर ले। यदि कोई सूना घर न मिले तो किसी कोष्ठक की भित्ति के जड़ में यानी दीवार की आड में प्रासुक-निर्दोष-भूमि की प्रतिलेखना कर वहाँ पर आहार करे। किन्तु

यहाँ अवश्य स्मरण रहे कि जिस स्थान पर गृहस्थ लोग भोजनादि क्रियाएँ करते हों, उस स्थान पर बैठकर साधु कदापि आहार न करे। क्योंकि वहाँ पर आहार करने से बहुत से लोगों को यह शङ्का उत्पन्न हो जायगी कि यह साधु यहाँ आमंत्रित भोजन कर रहा है। इसलिये सूत्रकार ने शून्य गृह में तथा किसी दीवार की मूल में भोजन करने को कहा है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वहाँ पर किस प्रकार से भोजन करे? यह कहते हैं:—

अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नम्मि संवुडे।
हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥८३॥

अनुज्ञाप्य मेधावी, प्रतिच्छन्ने संवृतः।
हस्तकं सम्प्रमृज्य, तत्र भुञ्जीत संयतः ॥८३॥

पदार्थान्वयः—**मेहावी**–बुद्धिमान् **संजए**–साधु **अणुन्नवित्तु**–गृहस्थ की आज्ञा लेकर **पडिच्छन्नम्मि**–प्रतिच्छादन किये हुए–ढके हुए–स्थानक में **हत्थगं**–रजोहरणी द्वारा शरीर के हस्त-पादादि अवयवों को **संपमज्जित्ता**–सम्यक् प्रकार से प्रमार्जन कर **संवुडे**–उपयोगपूर्वक **तत्थ**–वहाँ **भुंजिज्ज**–भोजन करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु का कर्तव्य है कि—जब पूर्व प्रसंग से भोजन करने की इच्छा हो, तब गृहस्थ की आज्ञा लेकर पूंजणी से अपने शरीर के अवयवों को सम्यक्तया प्रमार्जन करके तृणादि से आच्छादित स्थानक में उपयोग-पूर्वक भोजन करे।

टीका—इस गाथा में आहार करने की विधि प्रतिपादित है। जब साधु किसी शून्य गृह में अथवा किसी भित्ति के मूल मे आहार करने लगे, तब उसे एक तो, प्रथम गृहस्थ की आज्ञा अवश्य लेनी चाहिये, क्योंकि विना गृहस्थ की आज्ञा लिये भोजन करने में जैन-धर्म की हीलना–निन्दना–आदि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, जिनके कहने की आवश्यकता नहीं, जो विचारशीलों के स्पष्टतः विचारगम्य हैं। दूसरे, जिस स्थान पर भोजन करना है, उस स्थान की शुद्धि का

भी अवश्य ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि शुद्धिरहित स्थान अशुद्ध होता है; अशुद्ध, अशुद्धि करता ही है। यहाँ शुद्धि से मतलब स्थानसम्बन्धी यतना से है, बाह्य-प्रचलित लौकिक जलादि-शुद्धि से नहीं। स्थानसम्बन्धी शुद्धि का यह अर्थ है कि—साधु जिस स्थान मे भोजन करे वह स्थान ऊपर से अच्छी प्रकार ढका हुआ होना चाहिये, चाहे ढका हुआ हो तृणादि के छप्पर से ही इसकी कोई बात नहीं। प्रतिच्छन्न स्थानक में भोजन करने से भोजन में उड़ते हुए सूक्ष्म जीव नहीं गिरने पाते।

अस्तु, जब पूर्वोक्त आज्ञा की और स्थान-शुद्धि की बात ठीक हो जाय, तब साधु आहार करने से पहले अपने शरीर के हस्त-पादादि अवयवों को पूंजणी से अच्छी तरह प्रमार्जन करे; तत्पश्चात् भोजन करे। पूंजणी द्वारा शरीर-प्रमार्जन करने से एक तो, जो सूक्ष्म जीव शरीर पर चढ़े हुए हों वे उतर जाते हैं, उनकी विराधना नहीं होती। दूसरे, शरीर पर पड़े हुए सूक्ष्म रज आदि पदार्थ भी उतर जाते हैं, जिससे भोजन करते समय फिर किसी प्रकार की खुजली आदि आकुलता नहीं होने पाती। संक्षिप्त शब्दों में कहने का तात्पर्य यह है कि—साधु भोजन करने की अयोग्य शीघ्रता न करे। जब भोजन करना चाहे तब बड़ी सावधानी से शान्तिपूर्वक खूब अपना विधि-विधान देख-भालकर भोजन करे।

वाचकवृन्द! प्रस्तुत सूत्र में की एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि—सूत्र में जो 'हत्थगं'—'हस्तकं' शब्द आया है उसका अर्थ पूंजणी—रजोहरणी किया है। परन्तु टीकाकार इसके विरुद्ध हैं। वे इस हस्तक का अर्थ 'मुखवस्त्रिका' करते हैं और उसके द्वारा शरीर का प्रमार्जन करना बतलाते हैं। तथा च टीका—'हस्तकं मुखवस्त्रिकारूपम्, आदाय इति वाक्यशेषः, सम्प्रमृज्य विधिना तेन कायं तत्र भुञ्जीत।' परन्तु टीकाकार का यह अर्थ युक्ति से समर्थित नहीं जान पड़ता। क्योंकि मुखवस्त्रिका तो सदा मुँह पर लगी रहती है। अतएव 'हस्ते भवं हस्तकं' यह व्युत्पत्ति मुखवस्त्रिका पर किसी भी रीति से नहीं लग सकती। जिन पर बिना किसी ननु-नच के लग सकती है वे रजोहरण एवं रजोहरणी ही हैं। क्योंकि उक्त दोनों पदार्थ केवल प्रमार्जन क्रिया के वास्ते ही रक्खे जाते हैं। प्रश्न-व्याकरणसूत्र के प्रथम संवर-द्वार में भी यह पाठ आता है—'संपमज्जिऊण

ससीसंकायं'। यहाँ वृत्तिकार ने 'सम्प्रमृज्य मुखवस्त्रिकारजोहरणाभ्यां सशीर्षकायं समस्तकं शरीरम्' यह वृत्ति लिखकर मुखवस्त्रिका के साथ ही रजोहरण भी ग्रहण किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रश्नव्याकरणसूत्र के टीकाकार को मुखवस्त्रिका की अपेक्षा प्रमार्जन के लिये रजोहरण ही उपयुक्त जान पड़ा है। मुखवस्त्रिका तो उन्होंने एक टीकाकारों की प्रथा के अनुसार ग्रहण की है। मुखवस्त्रिका तो वायुकाय के जीवों की रक्षा के वास्ते एवं स्वलिङ्ग के वास्ते ही कथन की गई है, न कि शरीर के प्रमार्जन के वास्ते। प्रमार्जन तो रजोहरणी से ही हो सकता है, अतः सिद्ध हुआ कि 'हत्थगं'–'हस्तकं' शब्द से रजोहरणी ग्रहण करना ही सूत्र-विहित है। इस 'रजोहरणी' अर्थ को कोषकार भी स्वीकार करते हैं। देखिये—जैनागम-शब्दसंग्रह (अर्द्धमागधी गुजरातीकोष) पृष्ठ ८१० पर लिखा है—हत्थय, न० (हस्तक) पूँजनी।

अस्तु, युक्ति-प्रमाणों से हस्तक का वास्तविक अर्थ पूँजणी ही सिद्ध होता है। टीकाकारों का कथन परतः प्रमाण है, अतः यहाँ इस अर्थ में टीका अमान्य ठहरती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, तीन गाथाओं से इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि, यदि भोजन करते समय कण्टक आदि पदार्थ आ जायँ तो क्या करना चाहिये?

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठिअं कंटओ सिया।
तणकट्ठसक्करं वावि, अन्नं वावि तहाविहं ॥८४॥
तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डुए।
हत्थेण तं गहेऊण, एगंतमवक्कमे ॥८५॥
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ।
जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥८६॥ त्रिभि०

तत्र तस्य भुञ्जानस्य, अस्थिकं कण्टकः स्यात्।
तृण-काष्ठ-शर्करा वाऽपि, अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥८४॥

तदुत्क्षिप्य न निक्षिपेत्, आस्येन न छर्दयेत् ।
हस्तेन तद् गृहीत्वा, एकान्तमवक्रामेत् ॥८५॥
एकान्तमवक्रम्य , अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥८६॥

पदार्थान्वयः—तत्थ-वहाँ पूर्वोक्त शुद्ध स्थान में भुंजमाणस्स-भोजन करते हुए से-उस साधु के आहार में अट्ठिअं-गुठली कंटओ-कण्टक आवि-और तणक-ट्ठसक्करं-तृण, काष्ठ, शर्करा-कंकर वा-तथा अन्नं वावि-अन्य भी कोई तहाविहं-तथाविध पदार्थ सिआ-आ जाय-निकल आवे, तो तं-उस पदार्थ को उक्खिवित्तु-हाथ से उठाकर न निक्खिवे-इतस्ततः न फेंके, तथा आसएण-मुख से भी न छड्डुए-थूककर दूर न गेरे, किन्तु हत्थेण-हाथ से तं-सम्यक्तया उसको गहेऊण-ग्रहण कर—पकड़कर एगंतं-एकान्त स्थान में अवक्कमे-जावे, और एगंतं-एकान्त स्थान में अवक्कमित्ता-जाकर अचित्तं-अचित्त भूमि की पडिलेहिआ-प्रतिलेखनाकर जयं-यत्ना से परिट्ठविज्जा-उसे परठ दे, और परिट्ठप्प-परठकर पडिक्कमे-प्रतिक्रमण करे यानी ईर्यावहिया का ध्यान करे या 'वोसिरामि-वोसिरामि' कहे ।

मूलार्थ—पूर्व सूत्रोक्त स्थान में भोजन करते समय यदि साधु के आहार में गुठली, काँटा, तिनका, काठ, कंकर तथा अन्य भी इसी प्रकार के कोई पदार्थ आ जाएँ तो, साधु उन पदार्थों को न तो हाथ से उठाकर यत्र-कुत्रचित् फेंके और नाहीं मुख से थूत्कार की ध्वनि से थूककर फेंके । किन्तु उनको सम्यक्तया हाथ से ग्रहणकर एकान्त—जीवरहित स्थान—में चला जावे, और वहाँ एकान्त स्थान में जाकर अचित्त भूमि को खूब देख-भालकर बड़ी यत्ना के साथ परठने योग्य स्थान पर परठे और परठकर प्रतिक्रमण करे।

टीका—साधु के भोजन करते समय यदि गुठली-कंटक आदि पदार्थ निकल आयें तो साधु उन पदार्थों को योंही अयत्ना से इधर-उधर थूक-थाक कर न फेंके । क्योंकि ऐसा करने से अयत्ना होती है । जहाँ अयत्ना है, वहाँ जीवों का उपघात सिद्ध है ही । अस्तु, साधु ऐसे खाने के अयोग्य निकृष्ट पदार्थों को हाथ मे ग्रहणकर एकान्त स्थान में जावे और वहाँ जाकर प्रासुक भूमि की सावधानी

से प्रतिलेखनाकर यत्नपूर्वक परठ दे। इतना ही नहीं, परठकर प्रतिक्रमण भी करे। यानी इच्छाकारेण आदि प्रसिद्ध पाठ पढ़े या 'वोसिरामि-वोसिरामि' कहे। क्योंकि इस प्रकार करने से क्रिया का अवरोध भलीभाँति हो जाता है। इसी वास्ते अन्तिम ८६ अंक वाली गाथा के चतुर्थ पाद में 'पडिक्कमे'–'प्रतिक्रामेत्' क्रियापद दिया गया है। इस क्रियापद के विषय में विशेष वक्तव्य 'एगंतमवक्कमित्ता' ६१ गाथा के भाष्य में देखें। वहाँ स्पष्टतः विवेचन किया जा चुका है।

यहाँ विशेष विवेचन योग्य एक बात और है। वह यह कि—चौरासीवें सूत्र में जो 'अट्ठिअं'–'अस्थिकं' पद दिया हुआ है। उससे वही भ्रान्ति होती है जो 'बहुअट्ठिअं पुग्गलं' वाली गाथा के भाष्य में कही जा चुकी है। परन्तु दरअसल इस शब्द का यहाँ-वहाँ की भ्रान्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ 'अस्थिक' शब्द से केवल फल की गुठली ही ली जाती है। क्योंकि अगले चरणों में स्पष्टतः तृण आदि शब्द पड़े हुए हैं। वे बतलाते हैं कि सूत्रकार को 'अस्थिक' शब्द से गुठली ही अभिप्रेत है। तभी तो पाठ की पूर्वापर-संगति बैठती चली जाती है, नहीं तो कैसे बैठ सकती है? पन्नवणा सूत्र के भी प्रथम पद में और वनस्पति-अधिकार में 'एगट्ठिया' और 'बहुबीयगा' ऐसे दो सूत्र दिये हुए हैं। जिसमें 'एगट्ठिया'–'एकास्थिका' शब्द में निम्ब, आम्र, जामुन, हरीतकी (हरड़) आदि फल ग्रहण किये गये हैं, और 'बहुबीयगा' शब्द में दाड़िम-अनार आदि फलों का ग्रहण है। अतः सभी तरह 'अस्थिक' शब्द से गुठली का ग्रहण ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है, अन्य का नहीं।

उत्थानिका—अब, वसति–उपाश्रय–में आकर किस प्रकार भोजन करना चाहिये? इस विषय में कहा जाता है:—

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुअं।
सपिंडपायमागम्म, उंडुअं पडिलेहिआ ॥८७॥

स्याच्च भिक्षुरिच्छेत्, शय्यामागम्य भोक्तुम्।
सपिण्डपातमागम्य, उन्दुकं प्रतिलेख्य ॥८७॥

पदार्थान्वयः—**सिआ**–कदाचित् **भिक्खू**–साधु **सिज्जं**–उपाश्रय में **आगम्म**–आकर ही **भुत्तुअं**–भोजन करना **इच्छिज्जा**–चाहे तो **सपिंडपायं**–वह शुद्ध भिक्षा-सहित साधु **आगम्म**–उपाश्रय में आकर **उंडुअं**–भोजन करने की भूमिका की **पडिलेहिआ**–प्रतिलेखना करके, फिर उसी स्थान पर पिण्डपात की विशुद्धि करे।

मूलार्थ—यदि कोई विशेष कारण न हो और साधु यह चाहे कि—उपाश्रय में जाकर ही भोजन करूँ, तो शुद्ध भिक्षा लिये हुए वह साधु उपाश्रय में आवे और भोजन-स्थान की प्रतिलेखना करके लाये हुए भिक्षा-भोजन की विशुद्धि करे।

टीका—इस गाथा में यह वर्णन है कि—किसी विशेष कारण के न होने पर जब साधु की यह इच्छा होवे कि—मैं उपाश्रय में जाकर ही भोजन करूँ, तो वह 'सपिण्डपात' अर्थात् शुद्ध भिक्षा लिये हुए उपाश्रय में आकर सब से प्रथम भोजन करने की भूमि की खूब देख-भालकर प्रतिलेखना करे, क्योंकि भोजन करने की भूमि सर्वथा शुद्ध और जीव-रहित होनी चाहिये। तथा सूत्र में जो 'सपिण्ड-पात' शब्द आया है, उसका यह भाव है कि साधु शुद्ध आहार को लेकर उपाश्रय में आकर भोजन योग्य भूमि को देखे। यथा च टीका—'सह पिण्डपातेन विशुद्ध-समुदानेनागम्य' इत्यादि। सूत्रगत 'उन्दुक' शब्द का अर्थ यहाँ बहुत से 'स्थण्डिल भूमि' करते हैं, परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं। यहाँ 'उन्दुक' शब्द का अर्थ भोजन करने की भूमिका ही है। क्योंकि अर्द्ध-मागधीकोष के पृष्ठ १६वें में लिखा है कि—'उंडुयं–न०–(उन्दुक) भोजन करवानुं स्थान'। यद्यपि 'उंडग'–पु०–शब्द के अर्थ उक्त कोष मे मूत्रपात्र वा मूत्र करने का स्थान लिखे हैं, किन्तु उक्त शब्द का संस्कृत रूप न देकर उसे देशी प्राकृत शब्द का रूप माना गया है। अपितु 'उंडुय' शब्द नपुंसकलिङ्गीय मानकर फिर उसका 'उन्दुक' इस प्रकार का संस्कृत रूप देकर उसका अर्थ भोजन करने का स्थान लिखा है—सो इस स्थल पर यही अर्थ युक्तियुक्त सिद्ध होता है। कारण कि, सब से प्रथम भोजन करने की भूमि को देख-कर ही फिर वहाँ बैठकर और क्रियाएँ की जा सकेंगी, नकि भोजन लाते ही सब से पहले स्थंडिल जाने की भूमि को देखना चाहिये। भला स्थण्डिल-भूमि का और भोजन-क्रिया का क्या सम्बन्ध ? भोजन-क्रिया के लिये तो भोजन-भूमि ही

देखनी ठीक है। वृत्तिकार भी इसी भोजन-भूमि के अर्थ से सहमत हैं। वे अपनी इसी सूत्र की वृत्ति में स्पष्टतः लिखते हैं कि—'तत्र बहिरेवोन्दुकं स्थानं प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं विशोधयेदिति सूत्रार्थः—' उपाश्रय से बाहर ही भोजन करने की भूमि को देखकर फिर विधि से वहाँ पर बैठकर आहार-पानी की विशुद्धि करे। अस्तु, सभी प्रकार से इस स्थान पर 'उन्दुक' शब्द से 'भोजन करने की भूमि' यह अर्थ ग्रहण करना ही सिद्ध होता है।

उत्थानिका—अब उपाश्रय में गुरु के समीप किस प्रकार प्रवेश करना चाहिये ? इस विषय में कहा जाता है :—

विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ अ पडिक्कमे ॥८८॥

विनयेन प्रविश्य, सकाशे गुरोर्मुनिः।
ईर्यापथिकीमादाय, आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥८८॥

पदार्थान्वयः—सदा विधि-निषेध के सिद्धान्तों को मनन करने वाला **मुणी**–मुनि **विणएणं**–विनय से **पविसित्ता**–उपाश्रय में प्रवेश करके **गुरुणो**–गुरु श्री के **सगासे**–समीप **इरियावहियं**–ईर्यापथिक सूत्र को **आयाय**–पढ़ करके **अ**–तथा **आगओ**–गुरु श्री के पास आया हुआ **पडिक्कमे**–कायोत्सर्ग करे।

मूलार्थ—साधु, महान् विनय-विधि के साथ 'मत्थएण वंदामि' कहता हुआ उपाश्रय में प्रवेश करे और गुरुदेव के समीप आकर 'इरियावहियाए' संपूर्ण सूत्र को पढ़कर कायोत्सर्ग करे।

टीका—इस सूत्र में वर्णन है कि—जब साधु आहार लेकर उपाश्रय में गुरुदेव के समीप प्रवेश करे तब 'निस्सही २'–'नैषेधिकी २' ऐसा शब्द कहे। इसका यह आशय है कि हे भगवन् ! जिस काम के लिये मैं गया हुआ था, उस काम को मैं पूर्ण करके अब आ गया हूँ, अर्थात् आवश्यक क्रिया से अब मैं निवृत्त हो गया हूँ। इसके बाद 'मत्थएण वंदामि–मस्तकेन वन्दे' तथा 'नमो खमासमणाणं–नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' इत्यादि विनय पूर्वक मुख से शब्द उच्चारण करता हुआ और

हाथ जोड़ता हुआ गुरु श्री के संनिकट आवे। गुरु श्री के समीप आकर फिर 'इच्छाकारेण' और 'तस्सोत्तरीकरणेणं' सूत्र को पढ़कर गमनागमन की क्रिया का निषेध करने के लिये तथा मंगल के लिये '[1]लोगस्स उज्जोयगरे' के सूत्र का स्थिर-चित्त होकर ध्यान करे। कारण कि, जब विधिपूर्वक ध्यान किया जावेगा, तभी अतिचारों की विधिपूर्वक आलोचना हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

ऊपर के वक्तव्य से सिद्ध हुआ कि—साधु भोजन लाते ही भोजन करने न लग जावे, प्रत्युत विधिपूर्वक ही प्रवेश करे और विधिपूर्वक ही ध्यान करे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, लोगस्स के ध्यान के अनन्तर ध्यान में किस बात का विचार करना चाहिये ? इस विषय में कहते हैं:—

आभोइत्ताण नीसेसं, अइआरं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव, भत्तपाणे च संजए ॥८९॥

आभोगयित्वा निःशेषम्, अतिचारं यथाक्रमम्।
गमनागमनयोश्चैव , भक्तपानयोश्च संयतः ॥८९॥

पदार्थान्वयः—संजए—साधु गमणागमणे—गमनागमन की क्रिया में चेव—और इसी प्रकार भत्तपाणे—अन्न-पानी के वहरने में लगे हुए नीसेसं—सम्पूर्ण अइआरं—अतिचारों को जहक्कमं—अनुक्रम से आभोइत्ताण—जानकर हृदय मे स्थापन करे।

मूलार्थ—भिक्षा लाने वाला साधु, कायोत्सर्ग में गमनागमन की क्रिया से तथा अन्न-पानी के वहरने से लगे हुए समस्त अतिचारों को अनुक्रम से एक-एक करके स्मरणकर अपने हृदय में स्थापन करे।

टीका—जब साधु भिक्षा लाकर गुरु श्री के समक्ष कायोत्सर्ग करे, तब उस कायोत्सर्ग में गमनागमन—आने-जाने की क्रिया—करते समय तथा अन्न-पानी ग्रहण करते समय जो कोई अतिचार लगे हों, उन सब को सम्यक् प्रकार से स्मरण

[1] यह लोगस्स के ध्यान की अपनी साम्प्रदायिक मान्यता है। सभी सम्प्रदाय ऐसा नहीं मानते। बहुत से सम्प्रदाय 'इच्छाकारेण' सूत्र का ध्यान करना मानते हैं—संपादक।

करके अपने विकार-शून्य हृदय में स्थापित करे। इस गाथा के उक्त कथन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, विचारक मनुष्य को जो भी कुछ विचार करना हो वह कायोत्सर्ग-विधि से भली-भाँति किया जा सकता है। कारण कि, कायोत्सर्ग (ध्यान) की दशा में अव्याक्षिप्तचित्त होने से सभी वस्तुओं का विचार पूर्णरूपेण ठीक हो सकता है। अतः प्रत्येक वस्तु का विचार ध्यान-वृत्ति से होना चाहिये। सूत्रकर्ता ने जो 'यथाक्रम' पद दिया है, इसका यह भाव है कि—अतिचारों की स्मृति यथाक्रम से करनी चाहिये। जैसे कि—प्रथम गमनागमन की क्रियाओं से लगे हुए अतिचारों की विचारणा करे और तत्पश्चात् अन्न-पानी के ग्रहण करते समय लगे हुए अतिचारों की। जब यथाक्रम से अतिचारों की स्मृति की जायगी, तब स्मृति ठीक होने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भी होवेगा। इसी कारण से सूत्रकर्ता ने 'एवं' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि—'एवं' शब्द अवधारण अर्थ में व्यवहृत है।

उत्थानिका—कायोत्सर्ग पार लेने के बाद फिर क्या करना चाहिये? अब इस विषय में कहा जाता है:—

उज्जुपन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहिअं भवे ॥९०॥

ऋजुप्रज्ञोऽनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
आलोचयेद् गुरुसकाशे, यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥९०॥

पदार्थान्वयः—**उज्जुपन्नो**—सरल बुद्धि वाला, तथा **अणुव्विग्गो**—उद्विग्नता-रहित मुनि **जं**—जो पदार्थ **जहा**—जिस प्रकार से **गहिअं**—ग्रहण किया **भवे**—हो, उसको उसी प्रकार से **अव्वक्खित्तेण**—अव्याक्षिप्त **चेयसा**—चित्त से **गुरुसगासे**—गुरु के समीप **आलोए**—आलोचना करे।

मूलार्थ—सरल-स्वभावी एवं व्यग्रता-रहित साधु, जो पदार्थ जिस रूप से ग्रहण किया हो उसकी उसी रूप से स्थिरचित्त होकर गुरु श्री के समक्ष आलोचना करे।

टीका—जब ध्यान पार ले, तब कपटरहित होने से सरल बुद्धि वाला तथा क्षुधा आदि के जीतने से प्रशान्त चित्त वाला साधु अव्याक्षिप्तचित्त से अर्थात् स्थिरचित्तपूर्वक, चंचलता आदि अवगुणों को दूर करके गुरु के समक्ष सभी ध्यान में स्मरण किये हुए अतिचारों को निवेदन करे। यानी जिस प्रकार अन्न-पानी ग्रहण किया गया हो, उसी प्रकार गुरुदेव के समक्ष प्रगट करे। क्योंकि जब गुरु के पास भिक्षाचरीविपयक सर्व प्रकार से आलोचना कर ली जायगी, तब गुरुदेव किसी अन्य साधु को उस घर पर, जिस घर से वह आहार लाया हो, जाने की आज्ञा प्रदान नहीं करेंगे। जब गुरु को पता ही नहीं होगा, तो फिर वे अन्य मुनियों को 'अमुक घर पर मत जाना' इस प्रकार कैसे कह सकेंगे। अस्तु, अन्ततोगत्वा इसका यह परिणाम निकलेगा कि—प्रत्येक मुनि के एक ही घर में पुनः-पुनः भिक्षा के लिये जाने से जिन-शासन की लघुता और मुनियों पर गृहस्थों की अश्रद्धा उत्पन्न हो जायगी। अतएव गुरु श्री के पास भिक्षाचरी के विषय में आलोचना करनी युक्तियुक्त सिद्ध होती है। आलोचना करने से दूसरा यह भी लाभ है कि भूल से या अन्य किसी प्रकार से लगे हुए दोषों की यथावत् निवेदना करने की हृदय में सरलता–निष्कपटता–आती है। जब हृदय में निष्कपटता ने स्थान पा लिया तो फिर कहना ही क्या है ? जैसी आत्म-विशुद्धि निष्कपट मनुष्य की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं होती। संयमी के लिये आत्म-विशुद्धि सब से बड़ा लाभ है। इसी लाभ के लिये संसार छोड़कर साधुपद ग्रहण किया जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि आलोचना सम्यक्तया न हो तो फिर क्या करना चाहिये ? इसके विषय में कहते हैं :—

न सम्ममालोइअं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं।
पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥९१॥

न सम्यगालोचितं भवेत्, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम्।
पुनः प्रतिक्रामेत् तस्य, व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥९१॥

पदार्थान्वयः—जं-जो अतिचार सम्मं-सम्यक् प्रकार से आलोइअं-आलोचित न हुज्जा-न किया गया हो व-अथवा पुव्विं-पूर्व-कर्म, तथा पच्छा-

कड–पश्चात्-कर्म—विपर्यय हो तस्स–उसको पुणो–फिर पडिक्कमे–प्रतिक्रमण करे, और फिर वोसट्ठो–कायोत्सर्ग में इमं–यह चिंतए–चिंतन करे ।

मूलार्थ—जिन सूक्ष्म अतिचारों की सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो और जो पूर्व-कर्म तथा पश्चात्-कर्म आगे-पीछे कहे गये हों, उनका फिर प्रतिक्रमण करे और दुवारा कायोत्सर्ग करके उसमें अग्रिम सूत्रोक्त विचारों का चिंतन करे ।

टीका—यदि अनाभोगपन से–अज्ञान से–वा स्मृति के ठीक न होने से सम्यक्तया अतिचारों की आलोचना न की जा सकी हो । जैसे—पूर्व-कर्म पीछे वर्णन किया गया और पश्चात्कर्म पहले वर्णन किया गया अर्थात् जो पहले दोष लगा हो उसे पीछे और जो पीछे दोष लगा हो उसे पहले वर्णन कर दिया हो, तो उस आलोचक साधु का कर्तव्य है कि, वह फिर दुवारा सूक्ष्म अतिचारों की स्मृति के लिये 'इच्छाकारेणं' और 'तस्सोत्तरीकरणेणं' इत्यादि सूत्र पढ़कर 'गोयरचरिआए' इत्यादि सूत्र का ध्यान करे और उसमें विस्मरण हुए अतिचारों का चिंतन करे । कारण कि, जब सम्यक् प्रकार से चिन्तन किया जायगा तभी सर्व प्रकार से अतिचारों का स्मरण किया जा सकेगा, अन्यथा नहीं । सम्यक्-चिन्तन ही वास्तव में सर्वश्रेष्ठ वस्तु है । यह स्मरण रहे कि जैसा चिन्तन ध्यानावस्था में किया जा सकता है वैसा विना ध्यानावस्था के प्रायः नहीं किया जा सकता । क्योंकि ध्यानावस्था में चित्त-वृत्तियाँ चंचलता छोड़कर स्थिर हो जाती हैं । चित्त-वृत्तियों की स्थिरता में ही सभी सद्गुण संनिहित हैं ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, ध्यानसम्बन्धी विचारणा के विषय में कहते हैं :—

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया ।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥९२॥

अहो जिनैरसावद्या, वृत्तिः साधूनां देशिता ।
मोक्षसाधनहेतोः, साधुदेहस्य धारणाय ॥९२॥

पदार्थान्वयः—अहो–आश्चर्य है कि जिणेहिं–तीर्थंकर देवों ने साहूण–साधुओं के लिये असावज्जा–असावद्य–पापरहित वित्ती–गोचरीरूप वृत्ति देसिया–

दिखलाई है–बतलाई है, जो **मुक्खसाहणहेउस्स**–मोक्ष-साधन के कारणभूत **साहु-देहस्स**–साधु के शरीर को **धारणा**–धारण करने के लिये–पोषण करने के लिये है।

मूलार्थ—महान् आश्चर्य है कि, तीर्थंकर देवों ने साधुओं के लिये निरवद्य–पापरहित–उस गोचरीरूपवृत्ति का उपदेश किया है, जो मोक्ष के साधन ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं, तत्कारणभूत साधु के शरीर को धारण करने के लिये होती है।

टीका—साधु ध्यान में इस प्रकार विचार करे कि—अहो ! आश्चर्य है, श्रीश्रमण भगवान् महावीरस्वामी ने तथा राग-द्वेष के जीतने वाले सभी तीर्थंकर देवों ने साधुओं की भिक्षा-वृत्ति सर्वथा पाप से रहित उपदेशित की है। जैन साधुओं की भिक्षा-वृत्ति किसी को कष्टकारी न होने से पूर्णरूपेण पवित्र होती है। इसी भिक्षा वृत्ति का उद्देश्य और कुछ नहीं है—यह केवल अपने शरीर के निर्वाह के लिये ही है। इसके द्वारा साधु अपने शरीर की पालना सम्यक् प्रकार से कर सकता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—साधु उक्त वृत्ति द्वारा अपने इस अपावन शरीर की रक्षा किस लिये करता है ? क्या साधु भी शरीर के मोह में फँसा हुआ है ? क्या वह भी गृहस्थों की तरह मरने के डर से शरीर-रक्षा की झंझटें करता है ?

उत्तर में कहा जाता है कि—शरीर-मोह की या मरने से डरने की कोई बात नहीं है। साधु तो जिस दिन से साधु होता है, उसी दिन से मौत से मोर्चा लगा देता है, फिर मरने का डर कैसा ? साधु, जो भिक्षा द्वारा शरीर-रक्षा करता है, वह मोक्ष के साधन जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप तीन रत्न हैं, उनकी सम्यक् साधना के लिये करता है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जब ध्यान में उक्त प्रकार से चिन्तन कर चुके तब फिर क्या करे ? इस विषय में कहते हैं :—

णमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं।
सज्झायं पट्ठवित्ताणं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥९३॥

नमस्कारेण पारयित्वा, कृत्वा जिनसंस्तवम्।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य, विश्राम्येत् क्षणं मुनिः ॥९३॥

पदार्थान्वयः—णमुक्कारेण–नमस्कार-मंत्र से पारित्ता–कायोत्सर्ग को पार कर जिणसंथवं–जिनसंस्तव–अर्थात् 'लोगस्स उज्जोयगरे' आदि जिनसंस्तव को करित्ता–पढ़कर, और सज्झायं–स्वाध्याय को पट्ठवित्ताणं–संपूर्ण करके मुणी–साधु खणं–क्षणमात्र वीसमेज्ज–विश्राम लेवे।

मूलार्थ—इस प्रकार विचारणा के बाद साधु, नमस्कार-मंत्र से 'नमो अरिहंताणं' के पाठ से कायोत्सर्ग-ध्यान को पाड़े। ध्यान पाड़कर जिनसंस्तव अर्थात् 'लोगस्स' पढ़े। फिर सूत्र-स्वाध्याय पूर्ण करके कुछ देर विश्राम करे।

टीका—जब साधु कायोत्सर्ग को पारे, तब मुख से 'नमोअरिहंताणं' पद पढ़कर पारे। ध्यान पारणे के बाद फिर जिनसंस्तव–लोगस्स उज्जोयगरे—इत्यादि स्तव संपूर्ण पढ़े। पश्चात् सूत्र की गाथाओं का स्वाध्याय आरम्भ करे, जिससे एक माँडले पर बैठने वाले मुनिगण एकत्रित हो जायँ तथा जो अन्य मुनि आते जायँ वे भी जिन-संस्तव वा सूत्र का स्वाध्याय आरम्भ करें। स्वाध्याय पूर्ण कर चुकने के बाद थोड़ी देर विश्रान्ति ले यानी आराम करे। कारण कि, अति शीघ्रता से किया हुआ आहार भलीभाँति शरीर की रक्षा नहीं कर सकता, प्रत्युत शरीर मे एक प्रकार की व्यथा उत्पन्न कर देता है। उक्त विधि से किया आहार अपने अभीष्ट की सिद्धि करने में सम्पूर्णतया सहायता करेगा, इसलिये मुनि को उक्त विधि से विश्रान्ति लेकर ही आहार करना चाहिये। तथा जो सूत्र में 'जिणसंथवं'–'जिनसंस्तव' का पाठ करना लिखा है, उसका अर्थ परम्परा से 'लोगस्स उज्जोयगरे' करते चले आये हैं। परन्तु जिन गाथाओं में श्री भगवान् की स्तुति हो, उसी का नाम जिन-संस्तव है। अतएव आहार करने से पहले 'जिनसंस्तव' वा 'स्वाध्याय' अवश्यमेव करना चाहिये, जिससे स्वाभाविकता से ही आहार करने में विलम्ब हो जाय।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विश्राम लेते हुए क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं:—

वीसमंतो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥९४॥

विश्राम्यन्निमं चिन्तयेत्, हितमर्थं लाभार्थिकः ।
यदि मेऽनुग्रहं कुर्यात्, साधुर्भवामि तारितः ॥९४॥

पदार्थान्वयः—**लाभमट्ठिओ**—निर्जरा के लाभ का अर्थी साधु **वीसमंतो**—विश्राम करता हुआ **हियमट्ठं**—हित के वास्ते **इमं**—यह **चिंते**—चिन्तन करे कि **जइ**—यदि कोई **साहू**—साधु **मे**—मुझ पर आहार लेने का **अणुग्गहं**—अनुग्रह **कुज्जा**—करे तो मैं **तारिओ**—भव-समुद्र से तारा हुआ **हुज्जा**—हो जाऊँ ।

मूलार्थ—निर्जरारूप महान् लाभ की अभिलाषा रखने वाला साधु, विश्राम करता हुआ कल्याण के लिये यह विचार करे कि—यदि कोई कृपालु मुनि, मेरे पर कुछ आहार लेने की कृपा करें तो मैं संसार-समुद्र से तारा हुआ हो जाऊँ ।

टीका—विश्राम लेता हुआ साधु, निर्जरारूप अक्षय-लाभ के लिये तथा परस्पर के हित-प्रेम के लिये वा कल्याण के लिये अपने हृदय में विचार करे कि—यदि ये संगी साधु मुझ सेवक पर कुछ अनुग्रह करें तो मैं इनको यह लाया हुआ सब आहार दे दूँ । ऐसा करने से मैं इन कृपा-सिन्धु साधुओं द्वारा संसार-समुद्र से अनायास ही तारा जाऊँगा । अस्तु, ऐसा विचार करके प्रथम तो आचार्य श्री जी को आमंत्रणा करे । यदि वे स्वयं ग्रहण न करें तो फिर उनसे कहे कि भगवन् ! आप नहीं लेते तो कृपया अन्य मुनिवरों को दे दीजिये । यदि आचार्य कहें कि तुम स्वयं आमंत्रणा करो तो फिर 'स्वयं आमंत्रणा करे' । (यह अग्रिम सूत्रों में कहा जा रहा है) ।

इस कथन का यह भाव है कि—साधुओं को आहार-पानी परस्पर आदान-प्रदान करके प्रेमपूर्वक ही करना चाहिये । इस प्रकार परस्पर दान करने के सूत्रकार ने दो फल प्रतिपादन किये हैं—एक तो निर्जरा, और दूसरे परस्पर प्रेमभाव उत्पादन करना तथा सहानुभूति दिखलाना । अतएव अन्य साधुओं को आहार की

आमंत्रणा सच्चे दिल से अपना कल्याण समझ करनी चाहिये। यह नहीं कि यौंही ऊपर के मन से कुछ कहा, कुछ न कहा, और झट आमंत्रणा के फर्ज से हलके हुए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आमंत्रणा करने पर यदि कोई साधु आमंत्रणा स्वीकार करे तो फिर क्या करे ? यह कहते हैं:—

साहवो तो चिअत्तेण, निमंतिज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥९५॥

साधूँस्ततः प्रीतेन, निमन्त्रयेत् यथाक्रमम्।
यदि तत्र केचिदिच्छेयुः, तैः सार्द्धं तु भुञ्जीत ॥९५॥

पदार्थान्वयः—तओ–तत्पश्चात् साहवो–साधुओं को चिअत्तेण–प्रीतिभाव से जहक्कमं–यथाक्रम निमंतिज्ज–निमंत्रणा करे, फिर जइ–यदि तत्थ–उन निमन्त्रित साधुओं में से केइ–कोई साधु इच्छिज्जा–भोजन करना चाहें तो तेहिं सद्धिं–उनके साथ भुंजए–भोजन करे।

मूलार्थ—गुरु-आज्ञा मिलने पर साथ के साधुओं को प्रीतिपूर्वक अनुक्रमण से निमंत्रणा करे। यदि निमंत्रणा मानकर कोई प्रेमी साधु भोजन करना चाहें तो प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ भोजन करे।

टीका—आचार्य श्री जी की आज्ञा मिलने पर अपने अन्य साथी साधुओं को प्रीतिभाव से स्वयं यथाक्रम विधि से अपने लाये हुए आहार के लिये आमंत्रणा करे। 'यथाविधि' उसका नाम है—जैसे पहले सब से बड़े को आमंत्रणा करे; फिर उससे छोटे को। अस्तु, इस प्रकार निमंत्रणा करने पर यदि कोई साधु, चाहे तो उनके साथ बैठकर भोजन करले। क्योंकि जब धर्म-बान्धव साथ बैठकर भोजन करना चाहे तो उसके साथ ही बैठकर भोजन करने में ही आत्म-कल्याण है; प्रेमभाव की वृद्धि है; जैनधर्म की प्रशंसा है। तथा सूत्र में जो 'केइ' बहुवचन सर्वनाम के साथ 'इच्छिज्जा' एकवचनान्त क्रिया-पद दिया है, वह प्राकृत-भाषा के कारण से है। प्राकृत-भाषा में इस प्रकार के विपर्यय प्रायः बहुत अधिक होते हैं। इसी प्रकार 'साहवो' यह द्वितीयान्त पद भी प्राकृत भाषा के कारण से ही दिया है।

उक्त गाथा से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि—जब साधु भोजन करना चाहे तब साथी साधुओं को अवश्यमेव निमंत्रित करे । बिना निमंत्रणा किये भोजन कदापि नहीं करना चाहिये । साधु होकर संविभागी न हुआ तो फिर क्या हुआ ? कुछ भी नहीं । साधु-संघ में संविभाग दान मुख्य है[1] ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई आमंत्रणा स्वीकार न करे तो फिर क्या करे ? इस विषय मे कहते हैं :—

अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एक्कओ ।
आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं ॥९६॥

अथ कोऽपि नेच्छेत्, ततो भुञ्जीत एककः ।
आलोके भाजने साधुः, यतमपरिशाटयन् ॥९६॥

पदार्थान्वयः—अह-यदि साग्रह निमंत्रणा करने पर भी कोइ-कोई साधु न इच्छिज्जा-आहार लेने की इच्छा न करे तओ-तत्पश्चात् साहू-वह निमंत्रणा करने वाला साधु एक्कओ-स्वयं अकेला ही आलोए-प्रकाशयुक्त भायणे-पात्र में तथा जयं-यत्नपूर्वक अप्परिसाडियं-हाथ तथा मुख से न गेरता हुआ भुंजिज्ज-शान्त भाव से भोजन करे ।

मूलार्थ—यदि बार बार की साग्रह-निमंत्रणा पर भी कोई साधु भोजन करने के लिये तैयार न हो, तो फिर अकेला ही प्रकाशमय-खुले-पात्र में, यत्न-पूर्वक इधर-उधर परिसाटन न करता हुआ भोजन करे ।

टीका—बारी बारी से सब साधुओं से विनती कर लेने पर भी यदि साधु उससे आहार लेने की इच्छा न करें, तब उस साधु को योग्य है कि वह राग और

१ नोट—संविभाग में परस्पर बाँटकर खाने में ही आत्म-कल्याण है । जब प्रेम-मूर्ति साधु ही बन गये, तो फिर एकलखोरेपन के भाव कैसे ? साधु वही है जो संविभागी है । आगे चलकर इसी सूत्र के नवम अध्ययन में स्वयं सूत्रकार ने कहा है कि-'असंविभागी नहु तस्स मोक्खो' जो असंविभागी है-बाँटकर नहीं खाने वाला है; वह चाहे कि मुझे मोक्ष मिले तो उसे कदापि मोक्ष नहीं मिल सकता । मोक्ष संविभागी को ही मिलता है । (जो जिन कल्पी मुनि असंगता की दृष्टि से असंविभागी हैं, उनके लिये यह कथन नहीं है ।) अहा ! पारस्परिक प्रेम-वृद्धि का कितना ऊँचा आदर्शकथन है । एकलखोरे-जिह्वालोलुप-मुनि ध्यान दें—संपादक ।

द्वेष के संकल्प-विकल्पों से रहित होकर अकेला ही प्रकाशमय पात्र में आहार कर ले। किन्तु जब आहार करने लगे तब यत्नपूर्वक हाथ तथा मुख से इधर उधर न गेरता हुआ ही आहार करे। क्योंकि अयत्ना से किया हुआ आहार संयम-विराधना का हेतु बन जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि—साधु मुख में जो ग्रास डाले वह प्रमाण का ही डाले। ऐसा न करे कि, कुछ तो ग्रास मुख में है तथा कुछ उसका भाग नीचे गिर रहा है। तथा कुछ हाथ में है और कुछ नीचे गिर रहा है। इस प्रकार आहार करने में अयोग्यता पाई जाती है। सूत्रकर्ता ने जो प्रकाशनीय पात्र में भोजन करने लिखा है, उसका कारण यह है कि प्रकाशनीय पात्र में ही सूक्ष्म त्रस जीव भलीभाँति देखे जा सकते हैं, अन्य में नहीं। अतः साधु को सदा भोजन करने के लिये प्रकाशप्रधान पात्र ही रखना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अच्छे-बुरे भोज्य पदार्थों के विषय में समभाव रखने के लिये कहते हैं:—

तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एअलद्धमन्नत्थ पउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥९७॥

तिक्तकं वा कटुकं वा कषायम्, अम्लं वा मधुरं लवणं वा।
एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तम्, मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥९७॥

पदार्थान्वयः—संजए-यत्नावान् साधु एअ-इस प्रकार के लद्धं-आगमोक्त विधि से मिले हुए अन्नत्थ पउत्तं-अन्य के वास्ते बनाए हुए तित्तगं-तिक्त व-अथवा कडुअं-कटुकं व-तथा कसायं-कषाय व-तथा अंबिलं-अम्ल-खट्टा वा-अथवा महुरं-मधुर, अथवा लवणं-क्षार आदि पदार्थों को महुघयं व-मधु-घृत की तरह प्रसन्नता के साथ भुंजिज्ज-भोगे अर्थात् खावे।

मूलार्थ—साधु, वही भोजन करे जो गृहस्थ ने अपने लिये बनाया हुआ हो और जो आगमोक्त विधि से लिया हुआ हो। चाहे फिर वह तिक्त हो, कटु हो, कषायला हो, खट्टा हो, मीठा हो, खारा हो, चाहे कैसा ही हो, उसी को बड़ी प्रसन्नता के साथ मधु-घृत के समान खावे।

टीका—साधु का भोजन कुछ घर का भोजन नहीं है। वह तो भिक्षा का भोजन है। भिक्षा में सभी प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। जैसे—तिक्त-ऐलुक, वालुक आदि। कटुक-आर्द्रक तीमन आदि। कषाय-वल्ल आदि। अम्ल-तक्रार नाल आदि। मधुर-क्षीर मधु आदि। लवण-क्षारवहुल पदार्थ। ये नाम गिना दिये गये हैं। इसी तरह के अन्य पदार्थ भी मिल जाते हैं। सो इस प्रकार के भिक्षा में मिले हुए सभी पदार्थों का अक्षोपाङ्ग न्याय से परमार्थ से मोक्ष के लिये साधक मानकर प्रसन्नता से इस प्रकार भोजन करे, जिस प्रकार संसारी लोग मधु और घृत का भोजन किया करते हैं। साधु का भोजन शरीर सौंदर्य के लिये नहीं होता बल्कि आत्म-सौंदर्य के लिये होता है। आत्म-सौंदर्य तभी हो सकता है, जबकि अच्छे-बुरे पर एक-सी प्रसन्नता हो—नाक-भौंह सिकोड़ना न हो। साधु के लिये तो भोजन का अच्छा-बुरापन आगमोक्त विधि से लेना न लेना है। जो भोजन आगमोक्त विधि से लिया जाता है, वह अच्छा है—और जो आगमोक्त विधि से नहीं लिया जाता है, वह बुरा है।

ऊपर के विस्तृत कथन का सारांश इतना ही है कि—साधु को साधुवृत्ति के अनुसार तिक्त आदि किसी भी प्रकार का आहार मिले, साधु उसी को मधु-घृत की तरह सुन्दर जानकर ही भोजन करे। किन्तु उस आहार की निन्दादि कदापि न करे, और नाही उसके रसका आस्वादन करे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, युग्मगाथा द्वारा फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं:—

अरसं विरसं वावि, सूइयं वा असूइयं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोयणं ॥९८॥
उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुअं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जिअं ॥९९॥युग्मम्

अरसं विरसं वाऽपि, सूचितं वा असूचितम्।
आर्द्रं वा यदि वा शुष्कम्, मन्थुकुल्माषभोजनम् ॥९८॥

उत्पन्नं नातिहीलयेत्, अल्पं वा बहु प्रासुकम् ।
मुधालब्धं मुधाजीवी, भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥९९॥

पदार्थान्वयः—उप्पण्णं-विधि से प्राप्त किया हुआ अरसं-रसरहित आहार वावि-अथवा विरसं-विरस आहार-शीत अन्नादि वा-अथवा सूइयं-व्यञ्जनादि से युक्त आहार, अथवा असूइयं-व्यञ्जनादि से रहित आहार वा-अथवा उल्लं-आर्द्रतर आहार वा-अथवा सुक्कं-शुष्क आहार, अथवा मंथु-बदरी-फल के चून का आहार, अथवा कुम्मासभोयणं-उड़द के बाकलों का आहार, अथवा अप्पं-थोड़ा सरस आहार वा-अथवा बहु-घणा-नीरस आहार आदि आदि कैसा ही क्यों न निन्दित आहार हो साधु उसकी नाइहीलिज्जा-निन्दा-बुराई न करे, बल्कि मुहाजीवी-जाति, कुल आदि न बताकर आहार लेने वाला-अनिदान जीवी साधु मुहालद्धं-मंत्र-तंत्रादि दुष्क्रियाओं के बिना किये हुए ही मिले हुए फासुअं-प्रासुक आहार को चाहे फिर वह कैसा ही हो दोसवज्जिअं-संयोजनादि दोषों को छोड़कर भुंजिज्जा-प्रसन्नता से सेवन करे।

मूलार्थ—आत्मार्थी मुधा जीवी साधु शास्त्रोक्त-विधि से प्राप्त—अरस, विरस, सूचित, असूचित, आर्द्र, शुष्क आदि किसी भी प्रकार के निकृष्ट भोजन की, घृणा से निन्दा न करे। यदि थोड़ा आहार मिले तो यों न कहे कि—यह तो बहुत थोड़ा आहार है। इससे मेरी पेट पूर्ति कैसे हो सकती है? यदि असार प्रायः अधिक आहार मिले तो यों न कहे कि कितना ढेर का ढेर असार-आहार मिला है? ऐसे असार-आहार को मैं कैसे खाऊँ? अस्तु, मुधा-जीवी साधु को तो जो आहार मिले वह मुधालब्ध (निःस्वार्थ वृत्ति से प्राप्त) और प्रासुक होना चाहिये, उसे ही संयोजनादि दोषों को त्यागकर प्रसन्नता पूर्वक भोगे।

टीका—आहार के लिये गये हुए साधु को भिक्षा में कई प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। जैसे—अरस आहार—हिंग्वादि से असंस्कृत। विरस आहार—बहुत पुराने ओदन आदि एवं शीत पदार्थ। सूचित[1] आहार—व्यञ्जनादि से युक्त अर्थात्

---

१ कोई कोई सूचित और असूचित शब्दों का क्रमशः यह भी अर्थ करते हैं कि—कह कर दिया हुआ आहार और बिना कहकर दिया हुआ आहार। यहाँ पर दाता शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए।

मसालेदार पदार्थ । असूचित आहार—व्यञ्जनादि से रहित, विना मसाले का । आर्द्र आहार–प्रचुर व्यञ्जन वाला तर पदार्थ । शुष्क आहार–स्तोक व्यञ्जन वाला-रूखा सूखा पदार्थ । मन्थु—वेरों का चून—वोरकूट । कुलमाष–सिद्धमाष, यवमाष, उड़दों के वाकले आदि आदि ।

अस्तु, उपर्युक्त शुद्ध और शास्त्रोक्त विधि से मिले हुए पदार्थों की साधु कदापि निन्दा न करे । साधु-वृत्ति के अनुसार साधु को तो जो आहार मिलता है, वही अमृत के तुल्य है । उस पर अच्छे-वुरे का भाव लाकर राग-द्वेष आदि नहीं [illegible] वहुत वार ऐसा भी हो जाता है कि—वहुत ही थोड़ा आहार मिलता है तो यह न विचार करे कि—क्या मिला है ! कुछ नहीं मिला ! भला देने वाले को देते समय लज्जा भी न आई ! यह तो दाँतों को लग जायगा–पेट कैसे भरेगा ? देह रक्षा कैसे होगी ? अनेक समय नीरस पदार्थ वहुत अधिक मिल जाते हैं । तव यह न सोचे कि–देखो भाग फूट गये ! कैसा आहार मिला है ! देखते ही उल्टी आती है थोड़ा भी तो नहीं मिला, पूरा पात्र ही भर गया । अव इतना आहार कैसे खाऊँ ?

कोई-कोई आचार्य 'अप्पंवा वहु फासुअं' पदकी व्याख्या 'अप्पं—वा—वहुफासुअं' पदच्छेद करके करते हैं । उनका यह आशय है कि—जो साधु मुधाजीवी है, उसको थोड़ा विरस आहार परन्तु सर्वथा शुद्ध मुधालब्ध मिला है तो साधु उसकी निन्दा न करे, अपितु यह भावना भावे कि—यह गृहस्थ लोग मुझ को जो कुछ भी थोड़ा यह देते हैं वही वहुत ठीक है । मैं तो अनुपकारी हूँ । अनुपकारी को क्या इतना आहार देना थोड़ा है ? नहीं वहुत अधिक है । अरे, अनुपकारी को तो कुछ भी नहीं मिलना चाहिये । सूत्रगत 'मुधाजीवी' और 'मुधालब्ध' शब्दों के अर्थो पर विशेष ध्यान देना चाहिये । क्योंकि–शब्द भण्डार में साधु के लिये ये दो शब्द वड़े ही मारके के हैं । 'मुधाजीवी' शब्द का अर्थ है–सर्वथा निदान रहित पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला तथा अपनी जाति-कुल आदि जितलाकर आहार न लेने वाला—आदर्श साधु । वास्तव में ऐसे निःस्पृही साधु ही दुनियाँ में आकर कुछ नफा कमा लेजाते हैं । आदर्श साधुओं की जीवननौका जाति आदि किसी के भरोसे पर नहीं चलती । उन्हें तो अपने आपे पर भरोसा है । 'मुधालब्ध' शब्द का अर्थ है–विना किसी स्वार्थ के मिला हुआ पवित्र

आहार। ऐसे शुद्ध आहार को ही वस्तुतः आहार कहना चाहिये। मंत्र, यंत्र, ज्योतिष, वैद्यक या अन्य किसी काम काज आदि के गंदे लोभ से जो गृहस्थ आहार देते हैं, उस आहार का भोजन करना तो मानों पाप का भोजन करना है। अस्तु, सूत्रकार के कथन का संक्षिप्त सार यह है कि साधु मुधाजीवी है। अतः उसका आहार मुधालब्ध-प्रासुक होना चाहिये। फिर चाहे वह आहार अरस हो–विरस हो–थोड़ा हो–बहुत हो–कैसा ही हो, वही अमृत समझ कर संयोजनादि दोषों का परित्याग कर प्रसन्नचित्त से खावे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता के विषय में कहते हैं:—

दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुग्गइं ॥१००॥
त्ति बेमि।

इय पिंडेसणाए पढमो उद्देसो समत्तो ॥

दुर्लभस्तु मुधादायी, मुधाजीव्यपि दुर्लभः।
मुधादायी मुधाजीवी, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥१००॥
इति ब्रवीमि।

इति पिण्डैषणाध्ययने प्रथम उद्देशः समाप्तः।

पदार्थान्वयः—मुहादाई–निःस्वार्थ बुद्धि से देने वाले दातार, संसार में उ–निश्चय ही दुल्लहा–दुर्लभ हैं, तथा मुहाजीवी वि–निःस्वार्थ बुद्धि से लेने वाले साधु भी दुल्लहा–दुर्लभ हैं, अतः मुहादाई–मुधादायी और मुहाजीवी–मुधाजीवी दोवि–दोनों ही सुग्गइं–सुगति को गच्छंति–जाते हैं–प्राप्त करते हैं। त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस संसार में, निःस्वार्थ बुद्धि से देने वाले दातार और निःस्वार्थ बुद्धि से लेने वाले साधु–दोनों ही दुर्लभ हैं। अतः ये दोनों ही सत्पुरुष उच्च–सद्गति प्राप्त करते हैं।

टीका—इस गाथा में मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता का तथा उनके फल का दिग्दर्शन कराया है:-यों तो यह संसार है। इसमें दान देने वालों की और दान लेने वालों की कुछ कमी नहीं है। यहाँ पर जहाँ देखो वहाँ ही देने वाले एवं लेने वाले—दोनों ही व्यक्ति बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। परन्तु निःस्वार्थ बुद्धि से देने वालों की और निःस्वार्थ बुद्धि से लेने वालों की ही बड़ी भारी कमी है। ऐसे व्यक्ति संसार में कहीं ढूँढ़े हुए ही मिलते हैं। आशा बड़ी पापिनी है। यह दूर दूर तक पहुँची हुई है। धार्मिक आत्मा[illegible] इससे अछूते नहीं बच सके हैं। दान देना और दान लेना कित[illegible] पवित्र कार्य है! पर खेद है कि इस पर भी किसी न किसी सांसारिक आशा [illegible] अपवित्र जाल पड़ ही जाता है। धन्य हैं वे देने वाले और लेने वाले, जो इस [illegible]शा के जाल से अलग हैं। जिन्हें किसी प्रकार की सांसारिक आशा नहीं है। [illegible]स्तु, ये ही दोनों सद्गति प्राप्त करते हैं—अन्य नहीं। वस्तुतः वे ही देने में देने [illegible] गृहस्थ हैं जो विना किसी आशा के निःस्वार्थ भाव से देते हैं। इसी प्रकार [illegible]ने में लेने वाले भी वे ही भावितात्मा साधु हैं जो निःस्वार्थ भाव से केवल संयम के निर्वाह के लिये ही लेते हैं। इन दोनों का संमेलन, एक महासंमेलन है। इस संमेलन में वह अजब गजब की आत्म-क्रान्ति होती है जो मुमुक्षु सज्जनों का अन्तिम ध्येय-विन्दु है। शास्त्रीय परिभाषा में ऐसे देने वाले दातार को मुधादायी और ऐसे लेने वाले साधु को मुधाजीवी कहते हैं। इन मुधादायी और मुधाजीवी के वास्तविक तत्त्व का सरल विवेचन पाठकों के हितार्थ दृष्टान्त द्वारा किया जाता है:—

मुधालब्ध का दृष्टान्त—

एक कोई परिव्राजक संन्यासी फिरता-घूमता किसी भागवत के यहाँ पहुँचा। वात-चीत होने पर कहने लगा कि—भक्त! चौमासा का समय नज़दीक है। मैं किसी योग्य स्थान पर चौमासा करने की तलाश में हूँ। यदि तुम आज्ञा दो तो तुम्हारा घर मुझे पसंद है, मैं यहीं चौमास करलूं। समझ लो, तुम मेरा निर्वाह कर सकते हो?

भागवत ने कहा कि—भगवन्! अच्छी बात है। खुशी से चौमासा करें। यह आपका ही घर है। मुझे वड़ी प्रसन्नता है कि आप जैसे त्यागियों का

मेरे घर पर ठहरना होता है। परन्तु, महाराज ! ठहरने के विषय में एक वात है— उसे आप मंजूर करें तो आपका भी और मेरा भी दोनों ही का काम वने अन्यथा नहीं। वह वात यह है कि आप मेरे यहाँ आनन्द से ठहरे रहें, पर मेरे घर का कोई भी काम आप न करें। चाहे मेरा कैसा ही जरूरी काम क्यों न विगड़ता-सॅवरता हो, पर आपका उसमें किसी भी अंश में हस्तक्षेप करना ठीक न होगा। आप निःस्पृही भाव से रहें—मेरे पर किसी प्रकार की ममता न करें। यह मैंने ठहरने [illegible] जो कुछ वात थी, वतलादी। अव आप देख लें कैसा विचार है ?

संन्यासी ने कहा—ठीक है, ऐसा ही करूँगा। भला मैं संन्यासी तुम्हारे कामों में व्यर्थ का हस्तक्षेप करके, अपना सन्यासीपन क्यों खोने लगा ? मैं कोई पगला हूँ ? तुम निश्चय रक्खो तुम्हारे कथन के विरुद्ध कोई कार्य नहीं होगा।

संन्यासी ठहर गया। भागवत भी संन्यासी की अशन-वसन आदि से खूव ही सेवा-भक्ति करने लगा। आनन्द से चौमास का समय वीतने लगा। परन्तु एक समय की वात है। रात्रि के समय चोरों ने आकर उस भागवत का घोड़ा चुरा लिया और अधिक प्रभात जानकर वाहर किसी तालाव पर वृक्ष से घोड़ा बाँध दिया। संन्यासी जी उसी तालाव पर स्नान करने जाया करते थे। सो उस दिन वे वड़े सवेरे उठ खड़े हुए और झट सीधे तालाव पर स्नान करने चले गये। वहाँ घोड़ा बंध ही रहा था। संन्यासी जी चोरों की करतूत को ताड़ गये। संन्यासी जी ने प्रतिज्ञा को यादकर हृदय को वहुत मसोसा पर उनसे रहा नहीं गया। झट पट उल्टे पैरों भागवत के पास आये और प्रतिज्ञा-भंग से अपने मन से साफ़ बचते हुए कहने लगे कि—अहो, मैं तो तालाव पर वस्त्र भूल आया। क्या करूँ ? वड़ी भूल हुई। उस वस्त्र के विना तो काम नहीं चलेगा। भागवत सेठ ने वस्त्र लाने के लिये नौकर भेजा। नौकर ने आकर सेठ से घोड़े के विषय में कहा। सेठ सव वात समझ गया। उसने संन्यासी जी को यह कहते हुए धत्ता वताई कि—महाराज ! आप अपनी प्रतिज्ञा-भंग कर चुके हैं—संन्यासी के पद से नौकर के पद पर आ गिरे हैं। अव मेरे से आपकी सेवा न हो सकेगी। ऐसी सेवा का—ऐसे दान का फल वहुत ही स्वल्प होता है। अस्तु, ऐसे महान् कार्यों का फल स्वल्प मिले, यह मुझे पसंद नहीं, विचारे संन्यासी जी अपना वधना-वोरिया उठा चलते वने।

इस दृष्टान्त के देने का यह मतलब है कि—हे दानवीर गृहस्थो ! इस आदर्श पर चलो। जो दान करो वह विना किसी प्रतिफल की आशा के करो। इसी में तुम्हारा वास्तविक कल्याण है। शास्त्रकारों ने इसी दान का फल अनंतगुणा वतलाया है।

मुधाजीवी का दृष्टान्त—

एक राजा वड़ा प्रजाप्रिय एवं धर्मात्मा था। एक दिन उसने विचार किया कि—यों तो सभी धर्म वाले अपने अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं और अपने अपने धर्म को ही अच्छा तथा मोक्षफल प्रदाता वताते हैं। परन्तु, परीक्षा करके देखना चाहिये कि वस्तुतः कौनसा धर्म अच्छा है ? धर्म के प्रवर्तक गुरु होते हैं। गुरु के अच्छे-वुरेपन पर ही धर्म का अच्छा-वुरापन है। अतः धर्म की परीक्षा के लिये गुरु की परीक्षा करनी चाहिये कि धर्मगुरु किस प्रकार का भोजन करते हैं। सच्चा गुरु वही है, जो विना किसी आशा-अभिलाषा के निःस्वार्थ भाव से दिया हुआ-जैसा मिला वैसा ही आहार वड़ी प्रसन्नता से ग्रहण करता है। उसी का वतलाया हुआ धर्म श्रेष्ठ होता है।

यह विचार करके राजा ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि मेरे देश में जितने भी भिक्षुक हैं—सभी को एकत्रित करो और कहो कि राजा सव भिक्षुओं को मोदक (लड्डू) वितीर्ण करेगा। राजाज्ञा होते ही सेवक सभी भिक्षुओं को वुला लाए। जिन में कार्पटिक, जटाधारी, योगी, संन्यासी, श्रमण, व्राह्मण, निर्ग्रन्थ सभी शामिल थे। नियत समय पर राजा ने आकर पूछा कि—हे भिक्षुओ ! कृपया वतलाओ, तुम सव अपना जीवन-निर्वाह किस किस तरह करते हो ?

उपस्थित भिक्षुओं में से एक ने कहा—मैं मुख से निर्वाह करता हूँ। दूसरे ने कहा मैं पैरों से निर्वाह करता हूँ। तीसरे ने कहा—मैं हाथों से निर्वाह करता हूँ। चौथे ने कहा—मैं लोकानुग्रह से निर्वाह करता हूँ। पाँचवें ने कहा कि—मेरा क्या निर्वाह ! मैं तो मुधाजीवी हूँ।

राजा ने फिर कहा—आप लोगों ने क्या उत्तर दिया—मैं नहीं समझ सका, इस का स्पष्टीकरण होना चाहिये। उत्तर-दाताओं ने यथाक्रम कहना आरंभ किया—

प्रथम—महाराज ! मैं भिक्षुक तो हो गया ! पर करूँ क्या, पेट वश में नहीं होता । इस पेट की पूर्ति के लिये मैं लोगों के संदेश पहुँचाया करता हूँ । अतः मैंने कहा कि—मैं मुख से निर्वाह करता हूँ । मेरे धर्म में क्षुधा-निवृत्ति के लिये ऐसे काम करना निन्दित नहीं समझा जाता ।

द्वितीय—राजन् ! मैं साधु हूँ, पत्रवाहक का काम करता हूँ । गृहस्थ लोग जहाँ भेजना होता है, वहाँ पत्र देकर मुझे भेज देते हैं, और उपयुक्त परिश्रम [illegible] जिस से मैं अपनी आवश्यकताएँ पूरी करता हूँ । अतः मैंने कहा कि—मैं पै[illegible] से निर्वाह करता हूँ ।

तृतीय—नरेश ! मैं लेखक हूँ । मैं अपनी सकल आवश्यकताएँ लेखन-क्रिया द्वारा पूरी करता हूँ । अतः मैंने कहा कि मैं अपना निर्वाह हाथों से करता हूँ ।

चतुर्थ—नरेन्द्र ! मैं परिव्राजक हूँ, मेरा कोई खास धंधा नहीं है—जिससे मेरा निर्वाह हो, मैं तो अपनी आवश्यकताएँ लोगों के अनुग्रह से पूरी करता हूँ । अतः येन-केन प्रकारेण लोगों को प्रसन्न रखना मेरा काम है—इसीसे मेरा निर्वाह है ।

पंचम—भव्यात्मन् ! मेरा निर्वाह क्या पूछते हो ? मैं तो संसार से सर्वथा विरक्त जैन निर्ग्रन्थ हूँ । मैं अपने निर्वाह के लिये किसी प्रकार की साँसारिक क्रिया नहीं करता । केवल संयम-क्रिया-पालन के लिये गृहस्थों द्वारा निःस्वार्थ बुद्धि से दिया हुआ ग्रहण करता हूँ । मैं सर्वथा स्वतंत्र हूँ । मुझे आहार आदि के निर्वाह के लिये किसी की आधीनता नहीं करनी होती । अतः मैंने कहा कि—मैं मुधाजीवी हूँ ।

अस्तु—राजा ने सब की बातें सुनकर विचार किया कि—वास्तव में सच्चा साधु यह मुधाजीवी ही है । अतः इसी से धर्मोपदेश सुनना चाहिये । राजा ने उपदेश सुना, सच्चे वैरागी का उपदेश असर करता ही है । राजा प्रतिबोध पाकर उन्हीं निर्ग्रन्थ के पास दीक्षित होगया और जप-तप क्रियाएँ करके समय पर मुक्ति-सुख का अधिकारी बना ।

इस दृष्टान्त का यह मतलब है कि—साधुओ ! संसार त्यागकर पराधीनता से मुक्त होकर साधु बने हो—फिर किस लिये गृहस्थों की गुलामी करते हो । पेट के लिये जाति-पाँति न बतलाओ—किसी की आधीनता न करो । जो निःस्वार्थ भाव से दे, उसी से ग्रहण करो—चाहे दे वह कैसा ही । अच्छे बुरे की परवा न करो ।

उद्देश-समाप्ति के इस महान् सूत्रका हृदयाङ्कित करने लायक-सर्वसाधारण की समझ में आने लायक संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि-गृहस्थ जो दान करे वह विना किसी आशा के ही करे। इसी प्रकार साधु भी गृहस्थों के यहाँ से जो भिक्षा लावे वह विना किसी आशा पर ही लावे। दोनों में निःस्वार्थता कूट-कूट कर भरी हुई होनी चाहिये। इसी में दोनों का कल्याण है। दोनों के कल्याण से संसार का कल्याण है।

श्रीसुधर्मास्वामी जी जम्बूस्वामी जी से कहते हैं कि [illegible] श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के मुखारविन्द से मैंने जैसा अर्थ [illegible] 'पिण्डैषणा' अध्ययन के प्रथम उद्देश का सुना है, वैसा ही मैंने तुम से कहा है [illegible] अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा।

पञ्चमाध्ययन प्रथमोद्देश समाप्त

अथ पिण्डैषणाध्ययने द्वितीय उद्देशः

उत्थानिका—प्रथम उद्देश में जो उपयोगी विषय छोड़ दिया गया है, वह अब इस द्वितीय उद्देश में बतलाया जाता है—अब सूत्रकार, जिस पात्र में आहार करे उस पात्र को लेप मात्र पर्यन्त पोंछ लेने के विषय में कहते हैं :—

पडिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाइ संजए ।
दुग्गंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डुए ॥१॥
प्रतिग्रहं संलिख्य, लेपमात्रया संयतः ।
दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा, सर्वं भुञ्जीत न छर्दयेत् ॥१॥

पदार्थान्वयः—संजए–यत्नवान् साधु पडिग्गहं–पात्र को लेवमायाइ–लेप मात्र पर्यन्त संलिहित्ताणं–अंगुली से पोंछकर दुग्गंधं–दुर्गन्धित वा–अथवा सुगंधं–सुगन्धित पदार्थ–जो हो सव्वं–सभी को भुंजे–भोगे, परन्तु न छड्डुए–किंचिन्मात्र भी न छोड़े ('णं' वाक्यालङ्कार अर्थ में और 'वा' समुच्चय अर्थ में है) ।

मूलार्थ—साधु जब आहार कर चुके, तब पात्र को पोंछ-पाँछ कर साफ़ करके रक्खे, लेप मात्र भी पात्र में न लगा रहने दे । दुर्गन्धित-सुगन्धित (अच्छा बुरा) कैसा ही पदार्थ हो, सब का सब लेप मात्र पर्यंत खा ले–छोड़े नहीं । यह नहीं कि जो अच्छा पदार्थ हो, उसे तो खूब अच्छी तरह उँगली से

पोंछकर-रगड़कर खा ले; और जो खराब पदार्थ हो, उसे यों ही सिरपट्टी से आधा-पड़धा खा-पीकर फेंकता बने।

टीका—इस प्रारम्भिक गाथा में यह वर्णन है कि-जब मुनि आहार करके निवृत्त हो तब जिस पात्र में भोजन किया है, उस पात्र को अँगुली से खूब अच्छी तरह पोंछकर साफ़ करके निर्लेप करदे। किंचिन्मात्र भी अन्नादि का लेप पात्र में लगा हुआ बाकी न छोड़े। इसी बात पर अत्यधिक ज़ोर देते हुए सूत्रकार ने सूत्र के उत्तर भागों में फिर यही बात दूसरे शब्दों में कही है [illegible] वाला खराब पदार्थ हो, चाहे सुगन्ध वाला अच्छा पदार्थ हो, साधु लेप मात्र भी पात्र में लगा न रहने दे। जो आहार लाया है-सब का सब खा ले, कुछ भी छोड़े नहीं। कारण कि-पात्र के लेप की बात वैसे देखने में तो बहुत साधारण सी दीखती है, पर है वास्तव में यह बहुत ही बड़ी। कभी ऐसा संयोग आ जाता है कि-यही छोटी सी बात चिर-संचित संयम का घातक हो जाती है। दूसरे यह भी बात है कि, इस प्रकार भोजन-पात्रों के सने रहने से साधु की अयोग्यता का प्रदर्शन होता है। साधु की तरफ़ से लोगों के मन में घृणा के भाव पैदा होने लग जाते हैं। क्यों न पैदा हों, है भी तो यह एक महा गन्दापन। सूत्र में जो भोजन के विशेषणरूप में 'गन्ध' शब्द आया है, वह उपलक्षण है। अतः गन्ध से गन्ध के सहचारी जो रूप रस आदि हैं, उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार विशेष विधि के विषय में कहते हैं :—

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो अ गोयरे।
अयावयट्ठा भुच्चाणं, जइ तेणं न संथरे ॥२॥

शय्यायां नैषेधिक्याम्, समापन्नश्च गोचरे।
अयावदर्थं भुक्त्वा, यदि तेन न संस्तरेत् ॥२॥

पदार्थान्वयः—सेज्जा-उपाश्रय में, अथवा निसीहियाए-स्वाध्याय करने की भूमि में बैठा हुआ साधु गोयरे-गोचरी के लिये समावन्नो-गया हुआ (आहार लाया) अ-परन्तु अयावयट्ठा-अपर्याप्त आहार भुच्चाणं-भोगकर जइ-यदि तेणं-

उस आहार से न संथरे—निर्वाह न हो सके तो फिर—('आहार के लिये जावे' यह अग्रिम सूत्र में कहते हैं)।

मूलार्थ—उपाश्रय में अथवा स्वाध्याय करने के स्थान में बैठा हुआ गोचर-प्राप्त साधु, अपर्याप्त आहार भोगकर यदि उस आहार से न सरे तो फिर (आगे का विषय अगले सूत्र में देखो)।

टीका—कोई भावितात्मा साधु, उपाश्रय में वा स्वाध्याय-भूमिका में शान्ति से धार्मिक क्रियाएँ करता हुआ बैठा है। उसी समय गोचरी का समय आया जानकर गोचरी के लिये गया और अपने मन से ठीक प्रमाणोपेत आहार लाया। गुर्वाज्ञा मिलने पर उन्हीं पूर्व स्थानों में भोजन करने लगा, परन्तु आहार जितना चाहिये था, उतना न मिलने के कारण भली भाँति उदरपूर्ति न हुई। अतः यदि अपर्याप्त आहार से अच्छी तरह निर्वाह न हो सके तो फिर साधु दुबारा विधिपूर्वक आहार लेने के लिये जा सकता है। यह जाने का कथन अग्रिम सूत्र में सूत्रकार स्वयं कहेंगे। सूत्रकर्ता ने जो 'अयावयट्ठा' पद पढ़ा है। उसका व्युत्पत्ति-सिद्ध स्पष्ट अर्थ यह है कि 'न यावदर्थं अयावदर्थम्—अर्थात् भूख मिटाने के लिये जितना आहार उपयुक्त होना चाहिए, उतने आहार का न मिलना।' बात यह है कि साधु को थोड़ा भी आहार मिले तो कोई हर्ज नहीं। भले ही भूखा रहना पड़े, साधु थोड़ा ही खाकर अपना निर्वाह चला लेते हैं। परन्तु कभी ऐसा अवसर होता है कि भूख असह्य हो जाती है। कितना ही क्यों न हृदय को दबाया जाय, थमा नहीं जाता। ऐसी अवस्था प्रायः रोगियों तपस्वियों तथा नवदीक्षितों की होती है। अस्तु, शास्त्रकार ने इसी आकस्मिक बात को लेकर इस सूत्र में प्रश्न उठाकर अग्रिम सूत्र में दुबारा भिक्षा की आज्ञा देकर समाधान किया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, दुबारा गोचरी करने की आज्ञा देते हैं:—

तओ कारणमुप्पण्णे, भत्तपाणं गवेसए।
विहिणा पुव्वउत्तेणं, इमेणं उत्तरेण य ॥३॥

ततः कारणमुत्पन्ने, भक्तपानं गवेषयेत्।
विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन उत्तरेण च ॥३॥

पदार्थान्वयः—**तओ**-तदनन्तर **कारणं**-आहार के कारण **उप्पण्णे**-उत्पन्न होने पर **पुव्वउत्तेणं**-पूर्वोक्त **य**-और **इमेणं**-इस वक्ष्यमाण **उत्तरेण**-उत्तर **विहिणा** विधि से **भत्तपाणं**-अन्न-पानी की **गवेसए**-गवेषणा करे।

मूलार्थ—पूर्वसूत्रोक्त अल्पाहार से क्षुधा-निवृत्ति न होने के कारण यदि फिर आहार की आवश्यकता पड़े, तो साधु पूर्वोक्त विधि से तथा वक्ष्यमाण उत्तर विधि से दुबारा आहार-पानी की गवेषणा करे अर्थात् दुबारा गोचरी के लिये जावे।

टीका—पूर्वसूत्र के कथनानुसार जब क्षुधा आदि वेदनाएँ अत्यधिक प्रबल हो उठें तथा रोग आदि के कारणवश अपर्याप्त आहार से अच्छी तरह निर्वाह न हो सके तो साधु फिर दूसरी वार भिक्षा लाने में किसी प्रकार की लज्जा न करे। वस उसी समय गुरु श्री से आज्ञा लेकर अपने योग्य भिक्षा ले आवे। परन्तु एक वात यह अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि—भिक्षा लावे विधि से। यह नहीं कि कड़ाके की भूख लग रही है, सो अब कहाँ जाते आते, फिरते फिरेंगे—चलो विना देखे भाले ही किसी एक घर से ही पात्र पूर्ण करलें। कैसी ही क्यों न भूख प्यास हो, कैसी ही क्यों न आपत्ति हो, साधु को अपने विधि-विधान से ज़रा भी मुँह नहीं मोड़ना चाहिये। पूर्वोत्तर विधि द्वारा भिक्षा ग्रहण करने से ही एषणा समिति की सम्यक्तया आराधना हो सकेगी। समिति-आराधना से ही आत्माराधना है। नित्य प्रति आहार करने वाले भिक्षुओं के लिये सूत्रकार ने एक बार ही भिक्षा लाने की आज्ञा दी है; किन्तु यह उसका अपवाद सूत्र है। अर्थात् विशेष कारण के उपस्थित हो जाने पर दुबारा भी भिक्षा लाई जा सकती है। यद्यपि क्षुधा, वेदना आदि अनेक कारण सूत्र-कर्ता ने वर्णन किये हैं; तथापि उस समय जो मुख्य कारण उपस्थित हो जाय उसी की गणना करनी चाहिये। सूत्र का संक्षिप्त सार यह है कि-यद्यपि एक वार भिक्षा ले आने के बाद दूसरी वार भिक्षा लाना वर्जित है। ऐसा भुख-मरापन ठीक नहीं। फिर भी कारण बड़े वलवान् होते हैं; अतः अपवाद-विधि से दुबारा गोचरी करने में कोई हानि नहीं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार यह वतलाते हैं कि भिक्षा के लिये किस समय जाना ठीक है:—

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥४॥

कालेन निष्क्रामेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रामेत् ।
अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ॥४॥

पदार्थान्वयः—भिक्खू-साधु कालेण-जिस गाँव में जो भिक्षा का समय [illegible] निक्खमे-भिक्षा के लिये जावे य-फिर कालेण-स्वाध्याय आदि के समय पडि[illegible]मे-वापिस लौट आवे च-और अकालं-अकाल को विवज्जित्ता-छोड़कर काले-[illegible]काल के समय कालं-काल योग्य कार्य का समायरे-समाचरण करे।

मूलार्थ—जिस ग्राम में जो भिक्षा का समय हो, उसी समय में साधु को भिक्षा के लिये [illegible] गाँव में जाना चाहिये; और स्वाध्याय आदि का समय होते ही वापिस लौट [illegible]ाना [illegible]ाहिये। साधु, अकाल को छोड़कर काल के काल ही यथायोग्य भिक्षादि क्रियाओं में प्रवृत्ति करे।

टीका—ज[illegible] साधु भिक्षाचरी के लिये तैयार हो तब उसको उचित है कि, वह सब से पहले इस बात का ज्ञान प्राप्त करे कि, गाँव में आम तौर से भोजन का एवं साधुओं की भिक्षा का समय कब होता है ? अस्तु, ठीक-ठीक पता चल जाने पर काल के अनुसार भिक्षाचरी के लिये गाँव में जाय और जब वह जाने कि अब गोचरी का समय नहीं रहा है—स्वाध्याय आदि का समय आ गया है तो तुरंत अपने स्थान पर वापिस लौट आवे, ताकि स्वाध्याय आदि आवश्यक क्रियाओं में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े।

संक्षिप्त शब्दों में कहने का सार यह है कि साधु क्रिया-वादी है। उसके सारे दिन-रात नियत-क्रियाओं के करने में ही जाते हैं। अस्तु, साधु जो समय जिस क्रिया का हो उस समय उसी क्रिया को करे, दूसरी को नहीं। क्रियाओं के क्रम में फेर-फार करने से बड़ी भारी गड़-बड़ी पड़ जाती है। वह मनुष्य ही नहीं जो समय का पाबंद नहीं है। टीकाकार 'श्रीहरिभद्र सूरि' भी इसी क्रिया की पाबंदी के लिये स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि—"भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्,

स्वाध्यायादिवेलायां स्वाध्यायादीनीति भिक्षा के समय भिक्षा के लिये जावे और स्वाध्याय आदि के समय स्वाध्याय आदि करे।" इसी कारण से सूत्रकर्ता ने काल को कारणभूत मानकर 'कालेण' यह तृतीयान्त पद दिया है।

उत्थानिका—अब, अकाल में भिक्षा के लिये जाने से क्या दोष है? यह कहा जाता है:—

अकाले चरसि भिक्खू, कालं न पडिलेहसि।
अप्पाणं च किलामेसि, संनिवेसं च गरिहसि ॥५॥
अकाले चरसि भिक्षो !, कालं न प्रतिलिखसि।
आत्मानं च क्लमयसि, संनिवेशं च गर्हसे ॥५॥

पदार्थान्वयः—भिक्खू–हे मुने ! तू अकाले–अकाल में चरसि–गोचरी के लिये जाता है, किन्तु कालं–भिक्षा के काल को न पडिलेहसि–नहीं देखता है अतः अप्पाणं–अपने आत्मा को किलामेसि–पीड़ा देता है च–और भगवान् की आज्ञा भङ्ग करके, दैन्य वृत्ति से संनिवेसं–ग्राम की भी गरिहसि–निन्दा करता है।

मूलार्थ—हे मुने ! तुम पहले तो अकाल में भिक्षा के लिये जाते हो– भिक्षाकाल को भली प्रकार देखते नहीं हो। और जब भिक्षा नहीं मिलती है, तब यों अपने आपको दुःखित करते हो; भगवदाज्ञा भङ्ग करके व्यर्थ ही गाँव की निन्दा करते हो।

टीका—एक मुनि भिक्षा-काल को अतिक्रम करके भिक्षार्थ गाँव में गये। असमय भिक्षा कहाँ मिलनी थी, बस मन ही मन गुन-गुनाते लौट आये। म्लानमुख देखकर किसी अन्य मुनि ने पूछा कि–'क्यों मुने ! क्या बात है? भिक्षा मिली कि नहीं? उत्तर मिला अरे ! यहाँ कहाँ भिक्षा धरी है? यह गाँव थोड़ा ही है, जो यहाँ भिक्षा मिले। यह तो स्थण्डिल है, सुन-सान जंगल है'। पृच्छक मुनि ने कहा–महात्मन् ! ऐसा न कहो। पहले तो तुम प्रमाद से या स्वाध्यायादि के लोभ से भिक्षा-काल को लाँघ देते हो। देखते तक नहीं कि यह भिक्षा का समय है या नहीं। बतलाओ; असमय में भिक्षा कैसे मिल सकती है?

भिक्षा तो भिक्षा के समय पर ही मिला करती है। बंधु ! अब अकाल में भिक्षार्थ जाने से क्यों तुम अपने आपको, अत्यन्त भ्रमण से वा क्षुधा आदि की पीड़ा से क्लेशित करते हो। और क्यों भगवदाज्ञा लोपकर दैन्य भाव से, विचारे निर्दोष गाँव की निन्दा करते हो? इसमें गाँव का क्या दोष है? जो दोष है वह सब तुम्हारे अकाल में जाने का है। अपने आपको देखो—व्यर्थ किसी को दोष मत दो। तात्पर्य यह है कि अकाल में गोचरी आदि क्रिया करने से, दोष ही दोष प्राप्त होते हैं—गुण तो एक भी नहीं। समय का विचार न करने वाले महानुभावों को गुण कैसे मिल सकते हैं! यदि ऐसे विवेक-भ्रष्ट मनुष्य ही सद्गुणी, सुखी कहलायँ तो फिर दुःखी कौन कहलायगा?

बहुत से अर्थकार इस सूत्रका अर्थ 'अकाल में भिक्षा के लिये जायगा तो अपने आपको दुःखी करेगा और गाँव की निन्दा करेगा' इस प्रकार भविष्यत्काल परक करते हैं, अर्थात् भविष्यत्काल की क्रियाओं का प्रयोग करते हैं। परन्तु सूत्र में 'चरसि' आदि क्रिया-पद सब वर्तमान लट् लकार के मध्यम पुरुष के ही हैं, भविष्यत्काल का कोई भी प्रत्यय नहीं है। अतः उनका वह अर्थ उपयुक्त नहीं जँचता। वर्तमान काल का ही अर्थ ठीक है। इस विषय को जो यह दृष्टान्त का रूपक दिया है, वह बालबुद्धि शिष्यों के सद्यः परिज्ञान के लिये दिया है। दृष्टान्त की शैली अतीव उत्तम है; इसके द्वारा गहन से गहन विषय भी बड़ी सरलता से समझाये जा सकते हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि भिक्षोचित समय पर जाने पर भी भिक्षा न मिले, तो फिर क्या करना चाहिये? इस विषय में कहते हैं:—

सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं।
अलाभुत्ति न सोइज्जा, तवुत्ति अहिआसए ॥६॥

सति काले चरेद्भिक्षुः, कुर्यात् पुरुषकारम्।
अलाभ इति न शोचयेत्, तप इत्यधिसहेत ॥६॥

पदार्थान्वयः—भिक्खू–भिक्षु काले–भिक्षा योग्य काल के सइ–होने पर चरे–भिक्षा के लिये जावे पुरिसकारिअं–पुरुषकार–पराक्रम कुज्जा–करे, यदि अलाभुत्ति–

लाभ नहीं हो तो फिर न सोइज्जा–शोक न करे, किन्तु तवुत्ति–कोई बात नहीं; यह अनशन आदि तप ही हो गया है–ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परीषह को अहिआसए–सहन करे।

मूलार्थ—गुरु कहते हैं कि हे मुने! भिक्षुक भिक्षा का काल होने पर अथवा स्मृति-काल होने पर ही भिक्षा के लिये जावे और एतदर्थ यथोचित पुरुषार्थ करे। यदि भिक्षा न मिले तो शोक न करे, किन्तु अनशन आदि तप ही हो गया है–ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परीषह को सहन करे।

टीका—गुरु श्री शिष्य को उपदेश करते हैं कि–हे शिष्य! अकाल-चारी के दोषों को ठीक-ठीक जानकर साधु, भिक्षा का काल होने पर ही भिक्षा के लिये जावे, आलस्य न करे। साधु तो पुरुषार्थी होते हैं। उनकी समस्त क्रियाएँ पुरुषार्थ-युक्त ही होनी चाहियें। जब तक जंघाओं में चलने फिरने की शक्ति बनी हुई है तब तक वीर्याचार का उल्लंघन साधु को नहीं करना चाहिये–अर्थात् साधु मारे आलस्य के अन्य साधुओं की भिक्षा पर पलोथा मार कर न बैठे।

अब प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि—यदि पुरुषार्थ करने पर भी आहार-लाभ न होवे तो, फिर क्या करना चाहिये। उत्तर में कहा जाता है कि यदि आहार न मिले तो कोई बात नहीं। साधु को शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि, भिक्षा के लिये जाकर मुनि ने तो अपने वीर्याचार का सम्यक्तया आराधन कर लिया है। टीकाकार भी कहते हैं—'तदर्थं च भिक्षाटनं नाहारार्थमेवातो न शोचयेत्'—'साधु वीर्याचार के लिये ही भिक्षाटन करता है, केवल आहार के लिये ही नहीं। अतः भिक्षा के न मिलने पर, मन में किसी प्रकार का खेद न करता हुआ साधु, यही शुद्ध विचार करे कि आज भिक्षा न मिली तो क्या हानि है? मुझे तो इस में भी लाभ ही है। क्या बात है, चलो आज का तप ही सही। ऐसा शुभ अवसर कब कब मिलता है? इत्यादि शुभ भावनाओं द्वारा क्षुधा आदि परीषहों को सहन करे। तथा सूत्र के प्रारम्भ में ही जो 'सइकाले' पद आया है, उसका यह भी अर्थ किया जाता है कि–'स्मृतिकाले' जिस समय धर्मनिष्ठ गृहस्थ भोजन करते समय अतिथि-साधुओं के पधारने की भावना भाते हैं वह समय। विवेकी गृहस्थ यह भावना भाया करते हैं कि, अहा! यह कैसा मङ्गलकारी समय हो

कि, यदि कोई अतिथि साधु इस समय पधारें तो मुझ सेवक से यथोचित भोजन ग्रहण करें। क्योंकि वस्तुतः भोजन वही है, जिस में से अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भोजन अतिथि-देवता ग्रहण करलें। इस अर्थ में टीकाकार भी सहमत हैं। वे कहते हैं कि—'स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते । स्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृतिकालस्तस्मिन् चरेद्भिक्षुः भिक्षार्थं यायात्।'

उत्थानिका—काल-यत्न के कथन के बाद अब सूत्रकार, क्षेत्र-यत्न के विषय में कहते हैं:—

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया।
तं उज्जुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥७॥

तथैवोच्चावचाः प्राणिनः, भक्तार्थं समागताः।
तदृजुकं न गच्छेत्, यतमेव पराक्रामेत् ॥७॥

पदार्थान्वयः—तहेव—उसी प्रकार (गोचरी के लिये जाते हुए साधु को कहीं पर) भत्तट्ठाए—अन्न-पानी के वास्ते समागया—एकत्र हुए उच्चावया पाणा—ऊँच और नीच प्राणी मिल जायँ तो साधु तं उज्जुअं—उन प्राणियों के सम्मुख न गच्छिज्जा—न जावे, किन्तु जयमेव—यत्नपूर्वक परक्कमे—गमन करे, जिससे उन जीवों को दुःख न पहुँचे।

मूलार्थ—इसी तरह गोचरी गये हुए साधु को, यदि कहीं पर भोजनार्थ एकत्र हुए ऊँच-नीच पशु-पक्षी आदि प्राणी मिल जायँ, तो साधु उनके सम्मुख न जावे, किन्तु बचकर यत्न के साथ गमन करे।

टीका—काल-यत्न के कहे जाने के पश्चात् अब सूत्रकार, क्षेत्र-यत्न के विषय में कहते हैं। जैसेकि—जब साधु भिक्षा के लिये जाय, तब मार्ग में उस को यदि कहीं पर अन्न-पानी के वास्ते इकट्ठे हुए उत्तम-हंस आदि, अधम-काक आदि अच्छे-बुरे नाना प्रकार के जीव मिलें, तो साधु का कर्तव्य है कि वह उनके सम्मुख न जावे, यत्नपूर्वक बच कर निकल जावे। कारण कि साधु के डर से एकत्रित प्राणी उड़ जायँगे, जिससे साधु को उनके अन्तराय का दोष लगेगा।

अन्य भी सहसा भागने-दौड़ने, उड़ने-उड़ाने के कारण हिंसा आदि दोषों की संभावना की जा सकेगी। अतएव अहिंसा की पूर्ण प्रतिज्ञावाला साधु, मार्ग मे जीवों को किसी प्रकार का उद्वेग न पैदा करता हुआ, भिक्षा के लिये जावे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गोचरी को गया हुआ साधु, कहीं पर न बैठे और धर्मकथा न कहे; इस विषय में कहते हैं:—

गोअरग्गपविट्ठो अ, न निसीइज्ज कत्थइ।
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥८॥

गोचराग्रप्रविष्टश्च , न निषीदेत् कुत्रचित्।
कथां च न प्रबध्नीयात्, स्थित्वा वा संयतः ॥८॥

पदार्थान्वयः—**गोअरग्गपविट्ठो अ**—गोचरी में गया हुआ **संजए**—सा: **कत्थइ**—कहीं पर भी **न निसीइज्ज**—नहीं बैठे **व**—तथा वहाँ **चिट्ठित्ताण**—बैठकर **कहं च**—धर्म-कथा का भी **न पबंधिज्जा**—विशेष प्रबन्ध नहीं करे।

मूलार्थ—गोचरी के लिये गया हुआ साधु, कहीं पर भी न बैठे और ना हीं वहाँ बैठकर विशेष धर्मकथा करे।

टीका—आहार के वास्ते गये हुए साधु का परम कर्तव्य है कि वह किसी गृहस्थ आदि के घर मे जाकर न बैठे। इतना ही नहीं, किन्तु वहाँ कोई भावुक धर्म-कथा के लिये भी कहें, तो भी धर्मकथा का विस्तारपूर्वक प्रबन्ध न करे अर्थात् घरों मे जाकर धर्म-कथा आदि भी न करे। क्योंकि इस प्रकार करने से संयम के उपघात की और एषणा-समिति की विराधना होने की संभावना है। हाँ, यदि कोई गृहस्थ प्रश्न कर ले, तो उस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में खड़ा-खड़ा ही दे सकता है, बैठकर नहीं। टीकाकार भी कहते हैं 'अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह ।' अर्थात् एक प्रश्नोत्तर खड़े-खड़े ही संक्षेप मे कर सकता है, विस्तारपूर्वक नहीं। सिद्धान्त यह निकला कि आहार के लिये गया हुआ साधु, घरों में धर्म-कथा का विस्तार-पूर्वक प्रबन्ध न करे।

उत्थानिका—क्षेत्र-यत्ना के कथन के बाद, द्रव्य-यत्ना के विषय में कहते हैं:—

अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वावि संजए ।
अवलंबिया न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ॥९॥

अर्गलां परिघं द्वारम्, कपाटं वाऽपि संयतः ।
अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ॥९॥

पदार्थान्वयः—गोयरग्गगओ—गोचरी के लिये गया हुआ संजए—जीवाजीव की पूर्ण यत्ना करने वाला मुणी—मुनि अग्गलं—अर्गला को फलिहं—कपाट के ढाँकने वाले फलक को दारं—द्वार को वा—तथा कवाडं वि—कपाट आदि को भी अवलंबिया—अवलम्बन कर न चिट्ठिज्जा—खड़ा न हो ।

मूलार्थ—गोचरी के लिये घरों में गया हुआ पूर्ण यत्नावान् साधु आगल को, परिघ को, द्वार को, अथवा कपाट आदि को अवलंबन कर खड़ा न होवे ।

टीका—क्षेत्र-यत्ना के पश्चात् अब सूत्रकार द्रव्य-यत्ना के विषय में कहते हैं:—जब साधु घरों में आहार के लिये जावे, तब वह ये आगे कहे जाने वाले पदार्थों का अवलम्बन करके-सहारा लेकर-खड़ा न होवे । वे पदार्थ ये हैं—अर्गल-आगल (जो गोपुर कपाटादि से सम्बन्ध रखने वाली होती है); परिघ (जो नगर-द्वारादि से सम्बन्ध रखने वाला एक फलक होता है); द्वार (शाखामय—यह प्रसिद्ध ही है) तथा कपाट (द्वार-यंत्र—किवाड़); अपि शब्द से अन्य भित्ति आदि का ग्रहण किया जाता है ।

क्यों नहीं खड़ा होवे ? इसका यह समाधान है कि—एक तो अवलंबन से जोर पड़ने पर पदार्थों के गिर जाने से असंयम होने की सम्भावना है । दूसरे—ऐसा करने से लघुता का दोष भी होता है अर्थात् धर्म की, शास्त्र की वा उस मुनि की लघुता होती है । देखने वाले लोगों के मन में यह विचार होते हैं कि—देखो यह कैसा साधु है ? कैसे असभ्यता से खड़ा है ? इसका धर्म भी कैसा है ? क्या इसके शास्त्रों में सभ्यता से उठने-बैठने एवं खड़ा होने की भी शिक्षा नहीं है । अरे ! जब यही मामूली बातें नहीं हैं, तो फिर क्या डले पत्थर होंगे आदि आदि ।

सूत्र का संक्षिप्त मननीय सार यह है कि—साधु जब गोचरी के लिये घरों में जाय, तब वहाँ पर किसी प्रकार की असभ्यता का वर्ताव न करे ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार द्रव्य-यत्न के बाद भाव-यत्न का वर्णन करते हैं:—

समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं ।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१०॥
तमइक्कमित्तु न पविसे, न चिट्ठे चक्खुगोअरे ।
एगंतमवक्कमित्ता , तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥११॥युग्मम्

श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि, कृपणं वा वनीपकम् ।
उपसंक्रामन्तं भक्तार्थम्, पानार्थं वा संयतः ॥१०॥
तमतिक्रम्य न प्रविशेत्, न तिष्ठेत् चक्षुर्गोचरे ।
एकान्तमवक्रम्य , तत्र तिष्ठेत् संयतः ॥११॥

पदार्थान्वयः—भत्तट्ठा-अन्न के वास्ते व-एवं पाणट्ठाए-पानी के वास्ते (गृहस्थ के द्वार पर) उवसंकमंतं-आते हुए-या गये हुए समणं-श्रमण वावि-अथवा माहणं-ब्राह्मण किविणं-कृपण वा-अथवा वणीमगं-दरिद्र कोई हो तं-उसको अइक्कमित्तु-उल्लंघन करके संजए-साधु न पविसे-(गृहस्थ के घर में) प्रवेश न करे, तथा चक्खुगोअरे-गृह स्वामी की आँखों के सामने न चिट्ठे-खड़ा भी न हो, किन्तु एगंतं-एकान्त स्थान पर अवक्कमित्ता-अवक्रमण करके-जा करके तत्थ-वहाँ चिट्ठिज्ज-खड़ा हो जावे वि-अपि शब्द से, जिस समय कोई दान आदि देता हो उसके सामने भी खड़ा न होवे ।

मूलार्थ—अन्न तथा पानी के वास्ते, गृहस्थ के द्वार पर अपने बराबर से जाते हुए या पहले से पहुँचे हुए-श्रमण, ब्राह्मण, कृपण तथा दरिद्र पुरुषों को लाँघकर साधु गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे तथा गृहस्वामी की आँखों के सामने भी खड़ा न होवे, किन्तु एकान्त स्थान पर खड़ा हो जावे ।

टीका—साधु भिक्षार्थ गाँव में किसी गृहस्थ के यहाँ गया है, परन्तु वहाँ क्या देखता है कि—घर के आगे द्वार पर श्रमण—बौद्ध आदि भिक्षु, ब्राह्मण, कृपण (जो धनी होते हुए भी कृपणता के कारण भिक्षा माँगता है) तथा दरिद्र

आदि पुरुषों में से कोई खड़ा है, तो साधु उसको लाँघ कर गोचरी के लिये घर में न जावे। और ना ही दान देते हुए गृहस्थ के सामने तथा भिक्षुकों के सामने खड़ा होवे। तो क्या करे ? एकान्त स्थान में जहाँ किसी की दृष्टि न पड़ती हो वहाँ जाकर खड़ा हो जावे। लाँघकर न जाने और सामने न खड़ा होने का सामान्य कारण यह है कि—ऐसा करने से उन भिक्षुक लोगों के हृदय में द्वेष उत्पन्न होता है, उनके हृदय को बड़ी भारी ठेस पहुँचती है। किसी के हृदय को किसी प्रकार की ठेस पहुँचाना मुनि-वृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल है।

यहाँ प्रश्न होता है कि—सूत्र में जो याचकों के होने पर साधु को एकान्त स्थान में खड़ा होने की आज्ञा दी है—तो क्या इसका मतलब यह है कि साधु आहार लिये विना वापिस लौटे ही नहीं ? जब तक याचक खड़े रहें तब तक वहीं पर छिपा हुआ खड़ा रहे और याचकों के जाते ही आहार ग्रहण करे ? उत्तर में कहना है कि—यह बात नहीं है। साधु वापिस लौट सकता है। वस्तुतः छिपकर खड़े रहने की अपेक्षा लौट आना ही अच्छा है। यहाँ एकान्त में खड़े होने की जो आज्ञा दी है वह विशेष कारण को लेकर दी है। अर्थात् रोगादि के कारण से किसी ऐसी आहार-पानी आदि वस्तु की आवश्यकता हो जो उस समय उसी घर में मिलती हो, तब वहाँ एकान्त में खड़ा हो सकता है।

सूत्र में जो 'श्रमण' शब्द आया है। उस से यहाँ निर्ग्रन्थ आदि के प्रतिरूप शाक्य आदि मुनियों का ग्रहण है। सूत्रगत 'माहणं वावि' वाक्य में जो 'अवि' शब्द आया है, वह सूचित करता है कि-सूत्र में आए हुए ही श्रमण आदि पुरुषों को लाँघने का निषेध नहीं है, बल्कि किसी प्रकार का कोई भी याचक हो सभी को लाँघने का निषेध है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार स्वयं याचकों को लाँघकर जाने का दोष कहते हैं:—

वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा।
अप्पत्तिअं सिया हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥१२॥

वनीपकस्य वा तस्य, दायकस्योभयोर्वा ।
अप्रीतिः स्याद् भवेत्, लघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥१२॥

पदार्थान्वयः—ऐसा न करने से सिया—कदाचित् तस्स—उस वणीमगस्स—याचक को वा—अथवा दायगस्स—दातार को वा—अथवा उभयस्स—दाता और याचक दोनों को अप्पत्तिअं—अप्रीति वा—और पवयणस्स—भगवत्प्रवचन की लहुत्तं लघुता हुआ—होगी।

मूलार्थ—याचकों को लाँघ कर जाने से एक तो याचकों को, दाता को, तथा याचक और दाता दोनों को अप्रीति होगी, और आर्हत् प्रवचन की लघुता-निन्दा होगी।

टीका—यदि साधु भिक्षार्थ द्वार पर खड़े हुए याचक लोगों को लाँघकर भीतर घर में जायगा, तब एक तो साधु की तरफ से याचक और दाता दोनों को अप्रीति होगी। वे अवश्य सोचेंगे कि—देखो, यह कैसा भुखमरा साधु है ? कैसे ऊपर तले पड़ता हुआ भीतर घुसा चला आता है ? क्या गाँव में अकाल पड़ रहा है ? क्या इसे और कहीं भिक्षा नहीं मिलती ? जो आँख मींचे-देखे न भाले-यों ही अन्धे की तरह भीतर धिकता है। दूसरे—प्रवचन की लघुता होगी। देखने वाले कहेंगे कि—लो भाई ! ये जैन साधु देख लो। कैसे सभ्य शिरोमणि हैं ! यों नहीं कि माँगने वाले खड़े हैं, कुछ थोड़ा बहुत संतोष रक्खें। क्या इनके शास्त्रों का यही कथन है कि चाहे कुछ भी होता रहे, बस अपनी पेट-पूर्ति तो कर ही लेनी चाहिये ? तीसरे—याचकों के दान के अन्तराय होने का दोष लगता है। क्योंकि भीतर घर में जाने से दातार गृहस्थ तो, साधु को दान देने लग जायगा और वे बेचारे याचक, दानाभाव से खिन्नचित्त हुए-निराश हुए, बस झाँकते ही रह जाँयगे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर आगे क्या करे ? इस विषय में कहते हैं :—

पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१३॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा, ततस्तस्मिन् निवर्तिते ।
उपसंक्रामेद् भक्तार्थम्, पानार्थं वा संयतः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—दिन्ने–दान देने पर व–अथवा पडिसेहिए–सर्वथा निषेध कर देने पर तओ–उस द्वार आदि स्थान से तम्मि–उन याचकों के नियत्तिए–लौट जाने पर संजए–साधु भत्तट्ठा–अन्न के वास्ते व–तथा पाणट्ठाए–पानी के वास्ते उवसंकमिज्जा–भीतर घर में चला आवे ।

मूलार्थ—गृहस्वामी के द्वारा दान देने तथा निषेध कर देने के बाद, जब वे याचक लोग उस स्थान से लौट जायँ; तब साधु आहार-पानी आदि के लिये उक्त घर में प्रवेश करे ।

टीका—संसार में माँगने वाले याचकों की दो ही गतियाँ होती हैं । कोई तो उदारचेता दाता-गृहस्थ उनको प्रेमपूर्वक यथोचित दान देकर विसर्जन कर देता है और कोई अनुदारचेता महाशय झिड़क-झिड़काकर एक दो खरी-खोटी सुन-सुनाकर विना दिये ही वेचारों को चलते कर देता है । अतः उपर्युक्त दोनों गतियों द्वारा जब पूर्वोक्त द्वारस्थित याचक द्वार पर से लौट जायँ; तब भावितात्मा साधु यत्नपूर्वक उस घर में प्रवेश करे और जिस अन्न-पानी आदि वस्तु की आवश्यकता हो, वह यदि योग्य विधि से मिले तो साधु ग्रहण करे—नहीं तो नहीं । भाव यह है कि—साधु की जो भी क्रिया हो, वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सर्वतोमुखी दृष्टि से पूर्णतया शास्त्रसंमत–शुद्ध ही हो । मनमाने पथ पर चलकर साधु को कोई काम करना उचित नहीं है । जहाँ मनमानी नीति चल जाती है, वहाँ अपने और दूसरों के विनाश की आशङ्का सर्वथा निश्चित है । शास्त्रीय परतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार पर-पीड़ा का निषेध करते हुए, वनस्पति-अधिकार के विषय में कहते हैं :—

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं ।
अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए ॥१४॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१५॥युं०

उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।
अन्यद्वा पुष्पसंचित्तं, तच्च संलुञ्च्य दद्यात् ॥१४॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संय[illegible] ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे [illegible]पते [illegible]शम् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—उप्पलं–नीलोत्पल कमल, अथवा पउमं–पद्म कमल वावि–अथवा कुमुअं–चन्द्रविकाशी श्वेत कमल मगदंतिअं–मगदन्तिका–मालती पुष्प वा–अथवा अन्नं–अन्य कोई पुप्फसच्चित्तं–सचित्त पुष्प हो तं–उसको संलुंचिया–छेदन-कर दए–आहार-पानी देवे तु–तो तं–वह भत्तपाणं–अन्न-पानी संजयाण–साधुओं को अकप्पिअं–अकल्पनीय भवे–होता है, (अतः साधु) दिंतिअं–देने वाली से पडिआइक्खे–कह दे कि, तारिसं–इस प्रकार का आहार मे–मुझे न–नहीं कप्पइ–कल्पता है ।

मूलार्थ—यदि कोई दान देने वाली स्त्री, उत्पल-नीलकमल को, पद्म-रक्तकमल को, कुमुद-चन्द्र-विकाशी श्वेत कमल को, मगदन्तिका–मालती पुष्प को, तथा अन्य भी ऐसे ही सचित्त पुष्पों को छेदन भेदन करके आहार-पानी दे तो वह आहार-पानी साधुओं को अकल्पनीय होता है । अतः देने वाली से स्पष्ट कह देना चाहिये कि—यह आहार-पानी मेरे योग्य नहीं है, इस लिये मैं नहीं ले सकता हूँ ।

टीका—इस गाथा में यह वर्णन है कि–जब साधु भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर में जावे, तब वहाँ देखे कि कोई स्त्री, नीलोत्पल कमल आदि सूत्र-पठित सचित्त पुष्पों को छेदन-भेदन तो नहीं कर रही है । यदि वह स्त्री (उपर्युक्त पदार्थों को छेदन करती हुई) आहार-पानी देने लगे तो साधु को वह आहार-पानी नहीं लेना चाहिये और उसे कह देना चाहिये कि–यह आहार-पानी मेरे योग्य नहीं है । अतः मैं नहीं ले सकता । कारण कि–ये नीलोत्पल आदि पदार्थ जीव-सहित होते हैं ।

अतः तद्गत जीवों को पीड़ा होती है। साधु-वृत्ति यत्ना-प्रधान होती है, अतः हर हालत में साधु को यत्ना का ध्यान रहना चाहिये। इस प्रकार आहार लेने से अयत्ना की वृद्धि स्वतःसिद्ध होती है। साधु-धर्म की अहिंसा का सम्बन्ध कुछ मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि जगत के जीवों से नहीं है; उसका सम्बन्ध तो सांसारिक लोगों की स्थूल दृष्टि में नगण्य जँचने वाले वनस्पति-जगत के जीवों से भी है। वह सम्बन्ध भी किसी भेदभाव से नहीं, एकरूप से है। साधु की, संसार के सभी छोटे बड़े जीवों के [illegible] जो मरते दम तक अक्षुण्ण बनी रहती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पूर्वोक्त पदार्थों को मर्दन करती हुई स्त्री से, आहार लेने का निषेध करते हैं:—

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं ।
अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संमद्दिया दए ॥१६॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१७॥युग्मम्

उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।
अन्यद्वा पुष्पसचित्तं, तच्च संमृद्य दद्यात् ॥१६॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—यदि दातार स्त्री उप्पलं—नीलोत्पल कमल वावि—अथवा पउमं—पद्म कमल वा—अथवा कुमुअं—चन्द्र-विकाशी कमल, वि—तथा मगदंतिअं—मालती के पुष्प वा—अथवा अन्नं—अन्य कोई पुप्फसच्चित्तं—सचित्त पुष्प हो तं—उसको संमद्दिया—संमर्दन करके दए—आहार-पानी देवे तु—तो तं—वह भत्तपाणं—अन्न-पानी संजयाण—साधुओं को अकप्पिअं—अकल्पनीय भवे—होता है, अतः दिंतिअं—देने वाली से पडिआइक्खे—कह दे कि मे—मुझे तारिसं—इस प्रकार का अन्न-पानी न—नहीं कप्पइ—कल्पता है।

मूलार्थ—यदि कोई स्त्री पूर्वोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पुष्पों को संमर्दन करके-दल-मल करके आहार-पानी देवे, तो साधु को वह आहार-पानी नहीं लेना चाहिये और कह देना चाहिये कि यह आहार मेरे योग्य नहीं है, अतः बहन! मैं नहीं ले सकता।

टीका—पूर्व सूत्र में जिस प्रकार छेदन करने के विषय में कहा गया है उसी प्रकार इस सूत्र में संमर्दन करने के वि[illegible] में क[illegible]। अर्थात् पूर्वोक्त उत्पल, पद्म आदि सचित्त पुष्पों को संमर्दन करके [illegible]र-पानी देने लगे तो साधु को वह दातव्य पदार्थ नहीं लेना च[illegible]ये। न ले[illegible] का कारण वही है जो पूर्व सूत्र के भाष्य में कहा जा चुका है। अर्थात् ऐसी अवस्था में आहार लेने से एकेन्द्रिय-जीवों की विराधना होने के कारण प्रथम अहिंसा-महाव्रत दूषित होजाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पूर्वोक्त पदार्थों को संघट्टन करती हुई स्त्री से, आहार लेने का निषेध करते हैं:—

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संघट्टिया दए ॥१८॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१९॥ युग्मम्

उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम्।
अन्यद्वा पुष्पसचित्तं, तच्च संघट्य दद्यात् ॥१८॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—कोई स्त्री उप्पलं—उत्पल कमल वा—अथवा पउमं—पद्म कमल वा—अथवा कुमुअं—चन्द्र-विकाशी कमल, वि—तथा मगदंतिअं—मालती पुष्प वा—अथवा अन्नं—अन्य कोई पुप्फसच्चित्तं—सचित्त पुष्प हो तं—उसको संघट्टिया—

संघट्टित करके दए—आहार-पानी देवे तु—तो तं—वह भत्तपाणं—आहार-पानी संजयाण—साधुओं को अकप्पिअं—अकल्पनीय भवे—होता है, अतः दिंतिअं—देने वाली से पडिआइक्खे—कह दे कि तारिसं—इस प्रकार का आहार मे—मुझे न कप्पइ—नहीं कल्पता है ।

मूलार्थ—यदि कोई स्त्री सूत्रोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पदार्थों को संघट्टन करके आहार-पानी देवे, तो साधु न ले और देने वाली से कह दे कि—यह आहार-पानी [illegible] है, अतः मैं नहीं ले सकता ।

टीका—इस सूत्र में पूर्वोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पदार्थों को संघट्टन करके कोई स्त्री आहार-पानी देने लगे, तो साधु को लेने का निषेध किया गया है । कारण यही है कि, सचित्त पदार्थों के संघट्टन से जीवों की विराधना होती है । उससे प्रथम महाव्रत दूषित हो जाता है ।

यहाँ एक बात और है, वह यह कि, जिस प्रकार इन सूत्रों में वनस्पति का अधिकार कहा गया है, ठीक उसी प्रकार अप्काय आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिये । अर्थात् जितने भी सचित्त पदार्थ कहे गये हैं उन सभी के संघट्टन से आहार-पानी लेने का निषेध है । जैन साधु वनस्पति के समान ही जल और अग्नि आदि के जीवों की रक्षा का भी महान् प्रयत्न करते हैं । जीव-रक्षा के विषय में जितनी ही अधिक सावधानी रक्खी जायगी उतनी ही अधिक सुन्दरता से समितियों की समाराधना हो सकेगी ।

यह 'उप्पलं पउमं वावि'—और 'तं भवे भत्तपाणं तु'—१८—१९ गाथा-युग्म, वृत्तिकार ने (टीकाकार ने) अपनी टीका में छोड़ दिया है । परन्तु लिखित प्रतियों में प्रायः यह गाथा पाई जाती है, अतः यहाँ पर भी उद्धृत कर दी गई है । वस्तुतः गाथाओं के परस्पर के सम्बन्ध की दृष्टि से इस गाथा का होना आवश्यक भी प्रतीत होता है । क्योंकि 'संलुंचिया'—'संलुच्य' और 'संमद्दिया'—'संमृद्य' शब्दों के साथ 'संघट्टिया' 'संघट्य' का होना अत्यन्त ही उचित है । अन्यथा विषय अधूरा-सा रह जाता है । तथा 'संघट्टा' शब्द जो सर्वत्र सुप्रसिद्धि में आया हुआ है, वह इसी गाथा के आधार पर जान पड़ता है । इससे भी इस गाथा की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार फिर वनस्पति के ही विषय में कहते हैं:—

सालुअं वा विरालिअं, कुमुअं उप्पलनालिअं ।
मुणालिअं सासवनालिअं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥२०॥

शालूकं वा विरालिकाम्, कुमुदमुत्पलनालिकाम् ।
मृणालिकां सर्षपनालिकाम्, [illegible]तम् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—अनिव्वुडं–जो श[illegible]रिणत [illegible] हैं ऐसे सालुअं–कमल के कन्द को वा–अथवा विरालिअं–पलाश [illegible] कन्द को अथवा कुमुअं–चन्द्र-विकाशी कमल की नाल को, अथवा उप्पलनालिअं–नी[illegible]लोत्पल कमल की नाल को, अथवा मुणालिअं–कमल के तन्तु को, अथवा सासवनालिअं–सरसों की नाल को, अथवा उच्छुखंडं–इक्षुखण्ड को (साधु ग्रहण न करे) ।

मूलार्थ—कमल का कन्द, पलाश का कन्द, श्वेत कमल की नाल, नील कमल की नाल, कमल के तन्तु, सरसों की नाल, और गन्ने की गनेरियाँ, ये सब सचित्त पदार्थ साधु के लिये अग्राह्य हैं ।

टीका—इस गाथा में यह वर्णन है कि—शालूक-कमल कन्द, विरालिका-पलाश कन्द, कुमुद-चन्द्र-विकाशी कमल की नाल, उत्पल-नालिका–नील कमल की नाल, मृणालिका–कमल के तंतु, सर्षपनालिका–सरसों की नाल, इक्षुखण्ड—गन्ने की गनेरियाँ आदि वनस्पति, जो सचित्त हैं–अप्रासुक हैं, वे साधु के लिए किसी भी अवस्था में लेने योग्य नहीं हैं । कारण कि वनस्पति में किसी में असंख्यात और किसी में अनन्त जीव होते हैं । अतः सचित्त वनस्पति साधुओं के लिये सर्वथा अभक्ष्य है । साधु जब साधु-वृत्ति धारण करता है, तब प्रथम अहिंसा महाव्रत धारण करते हुए तीन करण और तीन योग से त्रस स्थावर सभी जीवों की सभी प्रकार की हिंसा का परित्याग करता है ।

उत्थानिका—फिर इसी विषय में कहा जाता है:—

तरुणगं वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वावि हरिअस्स, आमगं परिवज्जए ॥२१॥

तरुणकं वा प्रवालं, वृक्षस्य तृणकस्य वा।
अन्यस्य वाऽपि हरितस्य, आमकं परिवर्जयेत् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—विशुद्ध, संयमधारी साधु **रुक्खस्स**–वृक्ष का **वा**–अथवा **तणगस्स**–तृण का **वावि**–अथवा **अन्नस्स**–अन्य किसी दूसरी **हरिअस्स**–हरितकाय वनस्पति का **आमगं**–कच्चा **तरुणगं** [ ] **पवालं**–नवीन प्रवाल **परिवज्जए**–छोड़ दे, ग्रहण न करे।

मूलार्थ—वृक्ष [ ], तृण [ ] तथा अन्य किसी दूसरी वनस्पति का, तरुण प्रवाल (नई कूँपल) यदि कच्चा है—शस्त्र-परिणत नहीं है तो मुनि उसे त्याग दे।

टीका—इस [ ]था में वृक्ष आदि सभी वनस्पतियों के नवीन प्रवाल के अर्थात् उगते हुए नवीन अंकुर के, यदि वह सचित्त है तो लेने का निषेध किया है। न लेने का कारण वही है कि प्रथम अहिंसा महाव्रत का भङ्ग होता है। यद्यपि पूर्व सूत्रों में शालूक आदि कन्दों का वर्णन किया जा चुका था, तथापि इस स्थान पर पल्लव (नूतन कूँपल) का अधिकार होने से उन सभी का ग्रहण यहाँ पर भी हो जाता है।

उत्थानिका—फिर इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है:—

तरुणिअं वा छिवाडिं, आमिअं भज्जिअं सइं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२२॥

तरुणिकां वा छिवाड़िं, आमिकां भर्जितां सकृत्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—साधु को यदि कोई **तरुणिअं**–तरुण–जिस में अभी तक बीज ठीक-ठीक न पड़े हों—ऐसी **छिवाडिं**–मुद्ग-मूँग आदि की फली **आमिअं**–कच्ची **वा**–अथवा **सइं**–एक वार की **भज्जिअं**–भुनी हुई–देने लगे तो साधु **दिंतिअं**–देने वाली से **पडिआइक्खे**–कह दे कि **तारिसं**–इस प्रकार का आहार **मे**–मुझे **न कप्पइ**–नहीं कल्पता है।

मूलार्थ—यदि कोई भावुक स्त्री, जिसमें अभी तक अच्छी तरह दाने न पड़े हों, ऐसी मूँग चौला आदि की फलियाँ सर्वथा कच्ची अथवा एक वार की भुनी हुई देने लगे, तो साधु देने वाली से कह दे कि, यह आहार मुझे नहीं कल्पता है।

टीका—इस गाथा में यह कथन है कि, जो मूँग आदि की फलियाँ सर्वथा कच्ची हों, या एक वार की भुनी हुई [illegible] उन्हें [illegible] कोई स्त्री देने लगे तो साधु उसी समय उस देने वाली से कह दे कि, [illegible] शस्त्र-परिणत—प्रासुक न होने से मुनि वृत्ति के सर्वथा अयोग्य है। अतः मैं इ[illegible] किसी भी तरह नहीं ले सकता।

गाथा में आया हुआ 'छिवाड़ि' शब्द देशी प्राकृ[illegible] का विदित होता है। क्योंकि इसका संस्कृत-रूप वृत्तिकार एवं कोषकार दोनों ही ने नहीं लिखा है। 'छिवाड़ि-मितिमुद्गादिफलिम्' इतिवृत्तिः। 'छिवाडि—( ) फ[illegible]—झाड़नी छाल' इति अर्द्धमागधी गुजरातीकोषः। छिवाड़ी शब्द समुच्चय फलियों का वाचक है। अतः इससे मूँगकी फली, चौलों की फली, चनों की फली (बूँट) आदि सभी फलियों का ग्रहण हो जाता है। एक वार की सिकी हुई फलियों के लेने का निषेध इस लिये किया है कि—एक वार के अग्नि के संस्कार से पूर्णतया पकता नहीं आती, कुछ न कुछ अपकता वनी ही रहती है। इसलिये सन्देह युक्त-मिश्र भावोपेत पदार्थ साधु को कदापि नहीं लेना चाहिये।

उत्थानिका—अव अपक्व बदरीफल आदि के विषय में कहते हैं:—

तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेलुअं कासवनालिअं।
तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए ॥२३॥

तथा कोलमननुस्विन्नम्, वेणुकं काश्यपनालिकाम्।
तिलपर्पटकं निम्बम्, आमकं परिवर्जयेत् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—तहा—इसी प्रकार साधु अणुस्सिन्नं—अग्नि आदि से अपक्व आमगं—कच्चे कोलं—बदरी फल, वेलुअं—वंश-करेला, तथा कासवनालिअं—श्रीपर्णी

वृक्ष के फल, **तिलपप्पडगं**—तिल-पर्पट—तिल पापड़ी, एवं **नीमं**—नीम वृक्ष के फल भी **परिवज्जए**—छोड़ दे ।

मूलार्थ—इसी प्रकार साधु को अग्नि आदि शस्त्र से अपरिणत-कच्चे बदरी फल, वंशकरेला, श्रीपर्णी फल, तिलपापड़ी, और नीम की नींबोली आदि भी नहीं लेने चाहियें।

टीका—जो [illegible] और पानी के योग से विकारान्तर को प्राप्त नहीं हुये हैं, वे [illegible] याज्य हैं । कारण के लिये कोई पदार्थ केवल अग्नि द्वारा पकाया जाता है और कोई पदार्थ अग्नि और पानी दोनों द्वारा पकाया जाता है । इसलिये जो सचित्त फल—पदार्थ 'वह्न्युदकयोगेनानापादितविकारान्तरम्' 'अग्नि और उदक के योग से विकारान्तर को प्राप्त नहीं हुये हैं' वे साधु के सर्वथा लेने योग्य नहीं हैं । साधु सचित्त पदार्थों का सर्वथा त्यागी होता है । हिन्दी भाषा में 'अस्विन्न' शब्द का स्पष्ट अर्थ होता है—विना रँधा । पाठक महोदय सूत्र के प्रत्येक शब्द का भाव, जो स्पष्ट से स्पष्ट और सरल से सरल हो, उसे अपनी मातृभाषा द्वारा हृदयंगम करें । यदि मातृभाषा में स्पष्ट रूप से भाव के जाने विना ही कार्य में प्रवृत्ति की जायगी, तो वह अर्थ के स्थान में अनर्थ को ही करने वाली होगी ।

उत्थानिका—फिर इसी सचित्त विषय पर कहा जाता है :—

तहेव चाउलं पिट्ठं, वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठपूइपिन्नागं , आमगं परिवज्जए ॥२४॥

तथैव तण्डुलं पिष्टम्, विकटं वा तप्तनिर्वृतम् ।
तिलपिष्टं पूतिपिण्याकम्, आमकं परिवर्जयेत् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—**तहेव**—उसी प्रकार **चाउलं**—चावलों का **पिट्ठं**—आटा, तथा **वियडं**—शुद्धोदक धोवन **वा**—अथवा **तत्तनिव्वुडं**—तप्त निर्वृत जल—जो उष्ण जल मर्यादा से बाहिर होने के कारण ठंडा होकर फिर सचित्त हो गया है—अथवा मिश्रित जल **तिलपिट्ठं**—तिलों का आटा, तथा **पूइपिन्नागं**—सरसों की खली—ये सब **आमगं**—कच्चे पदार्थ, साधु **परिवज्जए**—सर्वथा छोड़ दे ।

सूलार्थ—इसी प्रकार चावलों का आटा, शुद्धोदक, मिश्रित जल, तिलों का आटा, सरसों की खल, ये सब यदि कच्चे हों तो साधु कदापि न ले।

टीका—इस गाथा में यह वर्णन किया गया है कि, चावलों का आटा, धोवन का जल, मिश्रित जल, तिलों का आटा और सरसों की खल, ये सब यदि सर्वथा अचित्त न हुए हों तो साधु इनको त्याग दे अर्थात् इनको ग्रहण न करे। उक्त पाठ से यह मालूम होता है कि किसी देश [illegible] में [illegible] कच्चे धान्य के पीसने की प्रथा रही हो।



सूत्र में जो तप्तनिर्वृत्त शब्द है, उसका अर्थ मिश्रित जल है। यहाँ मिश्रित जल से दो अभिप्राय हैं। एक तो यह है कि, उष्ण जल बहुत देर का होकर मर्यादा से बहिर्भूत होकर फिर शीत-भाव को प्राप्त हो गया हो अर्थात् सचित्त हो गया हो। दूसरा यह कि, कच्चा जल गर्म होने के लिये अग्नि पर तो रख दिया है, परन्तु शीघ्रता या अन्य किसी कारणवश अग्नि का भलीभाँति स्पर्श हुए बिना मंदोष्ण ही उतार लिया गया हो। मंदोष्ण जल न तो सर्वथा सचित्त ही होता है और न सर्वथा अचित्त ही। यद्यपि आटा कितने काल के पश्चात् अचित्त हो जाता है इस का स्पष्ट विधान किसी सूत्र में नहीं वर्णन किया गया है। तथापि परंपरा से एक मुहूर्त के पश्चात् अचित्त होना माना जाता है। जिस प्रकार तत्काल के पीसे हुए आटे के लेने का निषेध है, इसी प्रकार उसके स्पर्श से अन्य पदार्थ लेने का भी निषेध है। धोवन का जल और तप्त शीतल जल के विषय में यह बात है कि, इनके ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय ऋतु के अनुसार बुद्धि से विचार करके करना चाहिये। इसी प्रकार सरसों की खल के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

यदि उपर्युक्त तण्डुलपिष्ट आदि पदार्थो में थोड़ी भी अप्रासुकता की आशङ्का हो जाय, तो साधु को ये पदार्थ कदापि नहीं ग्रहण करने चाहिये। क्योंकि आशङ्कायुक्त पदार्थों के लेने से आत्मा में दुर्बलता आती है। और दुर्बलता आते ही आत्मा उन्नति-पथ से गिरकर, पतन की ओर अग्रसर होती चली जाती है।

उत्थानिका—अब अन्य सचित्त फलादि के विषय में कहते हैं:—

कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलगत्तिअं ।
आमं असत्थपरिणयं, मणसावि न पत्थए ॥२५॥

कपित्थं मातुलिंगं च, मूलकं मूलव(क)र्तिकाम् ।
आमामशस्त्रपरिणताम्, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥२५॥

पदार्थान्वयः—आमं—अ[illegible] तथा असत्थपरिणयं—अशस्त्र-परिणत कविट्ठं—कोठ फल की माउलिं[illegible] की मूलगं—मूली की च—और मूलगत्तिअं—मूलकर्तिका की मणसावि—मन से [illegible] न पत्थए—इच्छा न करे।

मूलार्थ—मोक्षाभिलाषी साधु, कच्चे और अग्नि आदि शस्त्र से अपरिणत विजोरा, मूली और मूलकर्तिका की मन से भी इच्छा न करे।

टीका—इस गाथा में भी फलों का ही वर्णन किया गया है। जैसेकि, कपित्थ फल, बी[illegible] पूरक फल, मूलक सपत्र और मूल कर्तिका-मूल कन्द, यदि वे सब कच्चे हों, स्वकाय तथा परकाय शस्त्र से अपरिणत हों, अर्थात् अचित्त नहीं हुए हों तो साधु इनके ग्रहण करने की मन से भी इच्छा न करे।

यहाँ शास्त्रकार ने फलों का वर्णन करते हुए जो साथ ही 'मूलगं' और 'मूलगत्तिअं' शब्दों का उल्लेख किया है, वह कन्द-मूल अनंतकाय पदार्थों के गुरुत्व का द्योतक है। कन्द-मूल अनंत जीवात्मक होते हैं। अतः प्रत्येक वनस्पति फल मूल आदि की अपेक्षा, साधारण वनस्पति कन्द-मूल के भोजन में अत्यधिक पाप है। यद्यपि यहाँ पर कच्चा और अशस्त्र-परिणत पाठ है। तथापि धार्मिक जनता को बहुत पाप समझकर कन्द-मूल का सब प्रकार से परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। तथा श्रावक-वर्ग को तो, विशेषतया कन्द-मूल के भक्षण का परित्याग करना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार सचित्त फलादि चूर्णों के विषय में कहते हैं:—

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिया ।
बिहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥२६॥

तथैव फलमन्थून्, बीजमन्थून् ज्ञात्वा ।
विभीतकं प्रियालं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—तहेव-उसी प्रकार फलमंथूणि-वदरी-फल आदि का चूर्ण बीयमंथूणि-यव आदि का चूर्ण विहेलगं-विभीतक फल च-तथा पियालं-प्रियाल का फल इन सब को शास्त्र विधि से सम्यक्तया आमगं-कच्चा सचित्त जाणिया-जानकर परिवज्जए-वर्ज देवे ।



मूलार्थ—इसी तरह भावितात्मा मु[illegible]र आ[illegible]फलों के चूर्ण, और जौ आदि बीजों के चूर्ण, विभीतक और [illegible]ियाल फल आदि को शास्त्रोक्त विधि से कच्चे जान कर ग्रहण न करे ।

टीका—इस गाथा में चूर्णों के विषय में प्रतिपादन किया गया है । जैसे कि, वदरी-फल का चूर्ण (आटा), यव आदि बीजों का चूर्ण, बिभीतक फल (वहेड़ा का फल) और प्रियाल फल आदि जो सचित्त हैं अर्थात् कच्चे हैं, उन सब को मुनि छोड़ दे अर्थात् ग्रहण न करे ।

सूत्रकार ने नाम ले ले कर, बार बार जो यह वनस्पति का सविस्तर वर्णन किया है, वह प्रथम अहिंसा महाव्रत की रक्षा पर अत्यधिक जोर देने के उद्देश्य से किया है । ग्रन्थकार को जब किसी विषय पर अधिक जोर देना होता है, तब वह उस विषय को वार-वार पुनरावृत्ति करके कहा करता है । अतः साहित्यज्ञ सज्जन, यहाँ पुनरुक्ति दोष की आशङ्का न करें । सूत्र में जो 'फलमंथूणी' शब्द आया है, वृत्तिकार उसका अर्थ 'वदरचूर्णान्' लिखकर 'बेरों का चून' ऐसा अर्थ कहते हैं । परन्तु यह अर्थ ठीक उपयुक्त नहीं जँचता । क्योंकि सूत्र में विना किसी विशेषता के केवल 'फल' शब्द आया है, उस में सभी प्रकार के फलों का ग्रहण होता है, एक बेर का ही नहीं । हाँ, बेर का ग्रहण, उदाहरण के लिये अवश्य उपयुक्त है । सूत्र का संक्षिप्त शब्दों में सार यह है कि, जितने भी सचित्त चूर्ण हैं, वे साधु को अग्राह्य हैं ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार ऊँच-नीच कुलों से समान भाव में भिक्षा लाने के विषय में कहते हैं :—

समुआणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥२७॥

समुदानं चरेद्भिक्षुः, कुलमुच्चावचं सदा ।
नीचं कुलमतिक्रम्य, उत्सृतं नाभिधारयेत् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—[illegible] समुआणं-शुद्ध-भिक्षा का आश्रयण करके सया-सदा उचाव[illegible] कुलों में चरे-आहार के लिये जावे, परन्तु नीयं कुलं-नीच कुल को अइक्कम्म-उल्लंघन करके ऊसढं-ऊँचे कुल में नाभिधारए-नहीं जावे ।

मूलार्थ—शुद्ध भिक्षार्थी साधु, ऊँच और नीच कुलों में समान भाव से सदा आहार के लिये जावे, परन्तु सरस-नीरस आहार के विचार से धनहीन, नीच कुलों को लाँघकर [छोड़कर] धन संपन्न-ऊँचे कुलों में कदापि न जावे ।

टीका—इस गाथा में सन्तोष-वृत्ति और कुल के विषय में प्रतिपादन किया है कि, जो साधु, शुद्ध भिक्षा का अभिलाषी है (समुदान शब्द से यहाँ शुद्ध-भाव-भिक्षा का ग्रहण है), उसका कर्तव्य है कि, वह मार्ग में आये हुए, सभी ऊँच-नीच कुलों में, समान भाव से प्रवेश करे । यह नहीं कि अच्छे स्वादिष्ट भोजन के लिये नीच कुलों को छोड़ता हुआ ऊँच कुलों की ढूँढ में आगे ही आगे बढ़ता रहे । यदि कोई जिह्वा-लोलुप साधु, सूत्र के उपर्युक्त कथन के विपरीत कार्य करेगा, अर्थात् हीन कुलों को छोड़कर, ऊँच कुलों मे ही जायगा, तो इससे जिन शासन की लघुता होगी । देखने वाले लोग कहेंगे कि, साधु होकर ऊपर से मुँह बाँध लिया क्या हुआ, भीतर से जिह्वा तो नहीं बाँधी (वश में नहीं की) । वह तो ताजा माल खाने के लिये अत्यधिक लालायित हो रही है । साधुओं के यहाँ पर भी धनवानों की ही प्रतिष्ठा है, बेचारे गरीबों की तो साधुओं के यहाँ भी पूछ नहीं । यद्यपि इस स्थान पर सूत्र में केवल ऊँच-नीच कुल का सामान्यतया विधान किया है, तथापि वृत्तिकारों के एवं परंपरा के मत से विभवापेक्षया अर्थात् धन की अपेक्षा से ऊँच एवं नीच कुल का वर्णन किया जाता है । भाव यह है कि जो कुल धनाढ्य हैं, उनकी उच्च संज्ञा है, और जो कुल धनहीन-दरिद्र हैं, उनकी

नीच संज्ञा है। वास्तव में यह तात्पर्य ठीक है। क्योंकि सूत्रकार का संकेत सरस-नीरस आहार की ओर है। सरस आहार, धनसंपन्न कुलों में मिलता है और नीरस आहार, धनहीन कुलों में। इसलिये ऊँच नीच कुल का संक्षिप्त शब्दों में स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि, जिस कुल में विशेष मनोऽभिलषित सुस्वादु पदार्थों की प्राप्ति होती है, उस कुल की ऊँच संज्ञा है और जिस कुल में प्रायः असार–दुःस्वादु भोजन मिलता है, उस कुल [illegible] नीच संज्ञा है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार अदी[illegible]ी गवेषणा करने के विषय में कहते हैं:—

अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोयणंमि, मायण्णे एसणा रए ॥२८॥

अदीनो वृत्तिमेषयेत्, न विषीदेत् पण्डितः।
अमूर्च्छितो भोजने, मात्राज्ञ एषणारतः ॥२८॥

पदार्थान्वयः—पंडिए–पण्डित साधु अदीणो–दीनता से सर्वथा रहित होकर वित्तिम्–प्राण निर्वाहक वृत्ति की एसिज्जा–गवेषणा करे, आहार न मिले तो न विसीइज्ज–विषाद भी न करे, और भोयणंमि–सरस भोजन के मिल जाने पर उस में अमुच्छिओ–अमूर्च्छित रहे, अन्तिम बात यह है मायण्णे–आहार की मात्रा का जानने वाला प्रवीण मुनि एसणारए–जो आहार सर्वथा निर्दोष हो उसी में रत रहे।

मूलार्थ—विद्वान् साधु वही है, जो दीनता से रहित होकर, प्राण-निर्वाहक आहार-वृत्ति की गवेषणा करता है। जो आहार न मिलने पर कभी व्याकुल नहीं होता है, और जो सरस भोजन मिल जाने पर उस में मूर्छित नहीं होता है, वह आहार की मात्रा का ठीक-ठीक जानने वाला मुनि; उसी आहार में रत रहता है, जो आहार शास्त्रोक्त विधि से सर्वथा शुद्ध अर्थात् निर्दोष होता है।

टीका—संयम पालन के लिये प्राणों की कितनी बड़ी आवश्यकता है, यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है। सब कोई विचारशील सज्जन इस बात को भली भाँति सिद्धान्त रूप से जानते हैं।

और प्राणों की रक्षा आहार से होती है । अतः संयमी का कर्तव्य है कि, शुद्ध संयम पालन के लिये शुद्ध आहार की ही गवेषणा करे, दूपित आहार की कदापि इच्छा न करे । परन्तु गवेषणा के साथ एक वात और है, वह यह कि, चित्त में किसी प्रकार की दीनता के भाव न लावे । क्योंकि दीनता के आजाने से शुद्ध आहार की गवेपणा नहीं हो सकती । और फिर जिस प्रकार का मिले उसी से वस पेट भरने की पड़ जाती है । यदि कभी दीनता रहित वृत्ति के अनुसार आहार पानी [illegible] साधु को चित्त में दुःख नहीं करना चाहिये । क्योंकि साधु को मिल जाय तो उत्तम और न मिले तो भी उत्तम है । दोनों दशाओं में आनन्द ही आनन्द है ? साधु को रसलोलुपी भी नहीं होना चाहिये । साधुता इसी में है कि अच्छा बुरा जैसा आहार मिले, उसी में संतोष करे । यह नहीं कि आहार में कभी स्वादिष्ट पदार्थ मिल जाय तो बस उसी पर मूर्च्छित हो जाय, एवं अपनी, दान की तथा दातार की स्तुति के पुल बाँधने लग जाय । वह साधु कैसा, जो सरस-नीरस के अपवित्र विचार को अपने पवित्र हृदय में स्थान देता है ।

साधु को आहार की मात्रा का, जिससे अच्छी तरह क्षुधा निवृत्त हो सके, विचार-विमर्श के साथ पूर्ण ज्ञाता होना चाहिये । क्योंकि जो साधु आहार की मात्रा को नहीं जानने वाला है, वह या तो इतना थोड़ा आहार लावेगा, जिससे क्षुधा-निवृत्ति न हो सके, और या इतना अधिक आहार लावेगा जिसको भूख की सीमा से अधिक होने के कारण गिराना पड़े । आहार की मात्रा को न जानने वाले मुनि से उद्गम दोष, उत्पादन दोष, तथा एषणा के दोषों से रहित शुद्ध आहार की शुद्ध गवेषणा भी नहीं हो सकती ।

सूत्रकार का भाव यह है कि, जो साधु, इस सूत्रोक्त क्रिया का पालक है, वही आत्म-साधक हो सकता है अन्य नहीं । जब साधु के भाव आहार में समभाव-सम हो जाते हैं, तब साधु की वास्तविक गम्भीरता बढ़ जाती है । जिससे फिर वह अपने आत्म-कार्य में पूर्णरूपसे तल्लीन हो जाता है । तल्लीनता ही वस्तुतः कार्य की संसाधिका है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आहार न देने वाले गृहस्थ के प्रति साधु क्या भावना रक्खे । यह कहते हैं :—

बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमं साइमं ।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥२९॥

बहु परगृहेऽस्ति, विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।
न तत्र पण्डितः कुप्येत्, इच्छा दद्यात् परो न वा ॥२९॥

पदार्थान्वयः—**परघरे**-गृहस्थ के घर में **बहुं**-बहुत **विविहं**-नाना प्रकार के **खाइमं**-खाद्य तथा **साइमं**-स्वाद्य पदार्थ [illegible] गृहस्थ साधु को वे पदार्थ न देवे तो **पंडिओ**-विद्वान् साधु **तत्थ**-उस गृहस्थ पर **न कुप्पे**-क्रोध नहीं करे, परन्तु यह विचार करे कि **परो**-यह पर गृहस्थ है इसकी **इच्छा**-इच्छा हो तो **दिज्ज**-देवे **वा**-अथवा इच्छा न हो तो **न**-नहीं देवे ।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में, नाना प्रकार के खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ विद्यमान हैं । परन्तु यदि गृहस्थ, साधु को वे पदार्थ नहीं देवे, तो साधु को उस गृहस्थ पर क्रोध नहीं करना चाहिये बल्कि विचारना चाहिये कि, यह गृहस्थ है । इसकी इच्छा है देवे या न देवे, मेरा इस में क्या आग्रह है ।

टीका—सन्तोषी साधु भिक्षा के लिये गृहस्थों के घरों में गया । वहाँ उसने किसी गृहस्थ के घर में देखा कि नाना प्रकार के खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ बनाकर रक्खे हुए हैं । पर कभी गृहस्थ भिक्षा में वे पदार्थ नहीं देवे तो साधु को उस गृहस्थ पर किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं करना चाहिये प्रत्युत यही विचारना चाहिये कि यह गृहस्थ है, इस की वस्तु है, चाहे देवे या न देवे । मैंने इसका कोई काम तो किया ही नहीं, जो मेरा इस पर कुछ अधिकार हो । यह दान में कुछ लाभ समझता है, तो देता है, नहीं समझता है तो नहीं देता है, यह सब इसकी इच्छा की बात है ।

इस प्रकार के शास्त्रीय विचारों से साधु, अपने हृदय को शान्त रक्खे, क्षुभित न होने दे क्योंकि, क्रोध के करने से साधु का अमूल्य सामयिक-व्रत नष्ट हो जाता है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार यदि कोई गृहस्थ प्रत्यक्ष रक्खी हुई भी वस्तु न दे, तो साधु को उस पर क्रोध नहीं करना चाहिये । यह कहते हैं :—

सयणासणवत्थं वा, भत्तपाणं च संजए।
अदिंतस्स न कुप्पिज्जा, पच्चक्खेवि अ दीसओ ॥३०॥
शयनासनवस्त्रं वा, भक्तपानं च संयतः।
अददतः न कुप्येत्, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ॥३०॥

पदार्थान्वयः—संजए-साधु सयणं-शयन आसणं-आसन वत्थं-वस्त्र वा-अथवा भत्तं-[illegible]-पानी अदिंतस्स-न देते हुए गृहस्थ के प्रति न कुप्पिज्जा-क्रोध न करे चाहे ये वस्तु पच्चक्खेविअ-प्रत्यक्ष भी दीसओ-दिखती हों।

मूलार्थ—यदि गृहस्थ प्रत्यक्ष दिखते हुए भी शयन, आसन, वस्त्र और अन्न-पानी आदि पदार्थ न देवे, तो साधु उस गृहस्थ पर अणुमात्र भी क्रोध न करे।

टीका—भिक्षार्थ गये हुए साधु को यदि गृहस्थ सामने अथवा प्रत्यक्ष रक्खे हुए भी शयन-शय्या, आसन, पीठ, फलक आदि, वस्त्र और अन्न पानी आदि पदार्थ नहीं देवे, तो साधु को उस गृहस्थ पर क्रोध नहीं करना चाहिये। अर्थात् मन में यह भाव कभी नहीं लाना चाहिये कि, देखो यह गृहस्थ कैसा नीच है कैसा कंजूस है, जो सामने इतने पदार्थ रक्खे हुए हैं, फिर भी नहीं देता। बल्कि हृदय को शान्त रखने के लिये यही भावना करनी चाहिये कि, साधु की वृत्ति याचना करने की है। देना न देना, यह तो गृहस्थ के अधिकार की बात है दान देने से गृहस्थ का ही कल्याण होता है, साधु का कुछ नहीं। साधु का कल्याण तो अपनी ग्रहण की हुई संयम-क्रियाओं के पालन से ही होता है। अतः मेरी भोजन-वृत्ति संयम-क्रिया के अनुसार ही होनी चाहिये। इसी में कल्याण है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वन्दना करने वाले स्त्री-पुरुषों से आहार की याचना नहीं करने के विषय में कहते हैं:—

इत्थिअं पुरिसं वावि, डहरं वा महल्लगं।
वंदमाणं न जाइज्जा, नो अणं फरुसं वए ॥३१॥

स्त्रियं पुरुषं वाऽपि, डहरं (तरुणं) वा महल्लकम् ।
वन्दमानं न याचेत्, नचैनं परुषं वदेत् ॥३१॥

पदार्थान्वयः—साधु, **वन्दमाणं**–वन्दना करने वाले **इत्थिअं**–स्त्रीजन से **वावि**–अथवा **पुरुसं**–पुरुष व्यक्ति से अथवा **डहरं**–तरुण (युवा) से अथवा **वा**–मध्यम वय वाले से अथवा **महल्लगं**–वृद्ध से किसी प्रकार की **न जाइज्जा**–याचना नहीं करे, और **अणं**–इस आहार न देने [illegible] प्रकार का **फरुसं**–कठोर वचन भी **नो वए**–न बोले ।

मूलार्थ—साधु, वन्दना करने वाले स्त्री पुरुष आदि से किसी प्रकार की याचना न करे । यदि कोई याचित वस्तु न देवे, तो साधु उसको कटु वाक्य भी न कहे ।

टीका—भिक्षा के लिये गाँव में गये हुए साधु को, जो कोई स्त्री, पुरुष, युवा, अधेड़, और वृद्ध लोग वन्दना करें तो साधु उनसे किसी प्रकार की भी याचना न करे । क्योंकि इस प्रकार याचना करने में वन्दना करने वाले लोगों के हृदय से साधुओं के प्रति भक्ति-भावना नष्ट हो जाती है । यदि कदाचित् कारण-वश याचना करने पर भी, कोई वन्दना करने वाला निर्दोष आहार पानी नहीं देवे, तो साधु उसको कठिन वचन न बोले । जैसे कि, 'वृथा ते वन्दनम्, तेरी यह वन्दना वृथा है । अरे, इस झूठी वन्दना में क्या धरा है । यह वगुला भक्ति मुझे अच्छी नहीं लगती । भाई लंबी चौड़ी वन्दना करने का तो खूब अभ्यास कर लिया, पर कुछ देने का भी अभ्यास किया है । कुछ एक प्रतियों में 'वन्दमाणं न जाइज्जा' के स्थान में 'वंदमाणो न जाइज्जा' पाठ मिलता है । उसका अर्थ है कि, 'वन्दमानो न याचेत् ललिव्याकरणेण' अर्थात् साधु गृहस्थ की स्तुति करके आहार-पानी नहीं ले । जैसे कि, यह गृहस्थ वड़ा ही भद्र है । इसके सदा यही भाव रहते हैं कि, साधु का पात्र भर ही दूँ स्वल्प मात्र भी खाली न रक्खूँ । क्यों न ऐसे भाव हों, वस्तुतः तो वह मोक्षगामी जीव है, इत्यादि ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वन्दना करने वाले, और नहीं करने वाले दोनों पर समान दृष्टि रखने के विषय में कहते हैं :—

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स , सामण्णमणुचिट्ठइ ॥३२॥

यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षेत् ।
एवमन्वेषमाणस्य , श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥३२॥

पदार्थान्वयः—[illegible] ये कि **जे**—जो गृहस्थ **न वदे**—वन्दना नहीं करे **से**—उस पर **न कुप्पे**—क्रोध नहीं करे, यदि राजा आदि महान् पुरुष **वंदिओ**—वन्दना करे तो **नसमुक्कसे**—अहंकार न करे **एवं**—इसी प्रकार **अन्नेसमाणस्स**—जिनाज्ञा-प्रमाण चलने वाले साधु का **सामण्णं**—श्रामण्य भाव **अणुचिट्ठइ**—अखण्ड रहता है ।

मूलार्थ—जो साधु, वन्दना नहीं करने वालों से अप्रसन्न नहीं होता है और राजा आदि महान् पुरुषों की वन्दना से अहंकार नहीं करता, उसी साधु का चरित्र अखण्ड रहता है ।

टीका—इस गाथा में साधु वृत्ति का सर्वोत्कृष्ट लक्षण प्रतिपादन किया है । जैसे कि, यदि कोई गृहस्थ, साधु को वन्दना नहीं करता है तो साधु को उसके ऊपर क्रोध नहीं करना चाहिए क्योंकि गृहस्थ की इच्छा है—वन्दना करे या न करे । वन्दना करने से कुछ लाभ है तो गृहस्थ को ही है—साधु को कुछ नही, प्रत्युत हानि है । तथा यदि किसी राजा आदि द्वारा साधु का अत्यन्त सत्कार होता है, अर्थात् किसी मुनि के प्रति राजा आदि लोग पूर्ण भक्ति दिखाते हैं और भक्ति-भाव से नम्र होकर उसके चरण-कमलों का अपने मस्तक से स्पर्श करते हैं, तो उस समय मुनि को अहंकार नही करना चाहिए । इस प्रकार सम-भाव पूर्वक जिनाज्ञा का पालन करने वाले मुनि का श्रामण्य (साधुत्व) अखण्ड रह सकता है । टीकाकार भी कहते हैं 'अन्वेषमाणस्य भगवदाज्ञामनुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठत्यखण्डमिति' भगवदाज्ञा के पालने वाले मुनि का ही साधुत्व अखण्ड रहता है ।

अतएव सिद्ध हुआ कि साधु, वन्दना-अवन्दना की कुछ चिन्ता न करे, और अपनी वृत्ति में सम्यक्तया रहता हुआ संयम-क्रिया का साधन करे, जिससे पूर्णतया आत्म-कल्याण हो सके ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार गुरु श्री के समक्ष सरस आहार को न छिपाने के संबंध में कहते हैं:—

सिआ एगइओ लद्धुं, लोभेण विणिगूहइ ।
मामेयं दाइअं संतं, दट्ठुणं सयमायए ॥३३॥

स्यादेककिको लब्ध्वा, लोभेन विनिगूहते ।
मा ममेदं दर्शितंसत्, दृष्ट्वा स्वयमाद्यात् ॥३३॥

पदार्थान्वयः—सिआ-कदाचित् एगइओ-कोई एक जघन्य साधु लद्धुं-सरस आहार प्राप्त करके लोभेण-लोभ से विणिगूहइ-नीरस आहार के द्वारा सरस आहार को ढाँपता है; क्योंकि वह विचारता है कि मेयं-यह मुझे मिला हुआ आहार यदि दाइअं संतं-गुरु को दिखाया गया तो गुरु दट्ठुणं-देख कर मा सयमायए-ऐसा न हो कि स्वयं ही ले लेवें और मुझे न देवें ।

मूलार्थ—वह पूरा जघन्य साधु है, जो 'यदि यह आहार गुरु श्री देख लेंगे तो स्वयं ही ले लेंगे मुझे न देंगे' इस लोभ पूर्ण घृणित विचार से प्राप्त हुए सरस आहार को नीरस आहार से ढाँपता है ।

टीका—कोई साधु भिक्षा के लिये गाँव में गया । वहाँ फिरते हुए किसी घर से उसे सरस और सुन्दर भोजन मिला । तब वह रस-लोलुपी लोभी साधु उस सरस आहार को चारों ओर नीरस आहार से ढाँप लेता है और मन में यह विचारता है कि, यह आहार प्रत्यक्ष रूप मे और बड़े कठिन परिश्रम से मुझे मिला है । यदि गुरु इसे देख लेंगे तो संभव है सब का सब स्वयं ही ले लें और मुझे कुछ भी न दें । मैं सब कुछ कर करा कर अन्त में मुँह देखता ही रह जाऊँ । अतः मुझे जिस किसी रीति से इस आहार को छिपाना ही श्रेयस्कर है । परन्तु उपर्युक्त रीति से आहार के छिपाने का काम माया-वृत्ति में प्रविष्ट है । अतः आत्मोन्नति की अभिलापा रखने वाले, मुनियों का कर्तव्य है कि, वे कभी भी ऐसा जघन्य कार्य न करें । यदि यहाँ पर कोई आशङ्का करे कि, क्या सभी साधु ऐसा करते हैं, जो इस बात का सूत्रकार ने मुख्य रूप से उल्लेख किया है ? उत्तर में

कहना है कि सभी साधु ऐसा नहीं करते। कोई अत्यन्त जघन्य भावों वाला ही ऐसा कार्य करता है। इसी लिये सूत्रकार ने 'एगइओ' यह पद दिया है जिसका अर्थ होता है 'कोई एक'। सर्वोत्कृष्ट वृत्ति वाले साधु तो सरस-आहार पर समान भाव रखते हुए जैसा आहार मिलता है, उसे वैसा ही रखते हैं लोभ से परिवर्तन नहीं करते।

उत्थानिका—अब सूत्रकार 'इस दुष्ट-क्रिया से क्या-क्या दोष होते हैं ?' इस विषय में कहते हैं :—

अत्तट्ठागुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ।
दुत्तोसओ अ से होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥३४॥

आत्मार्थगुरुको लुब्धः, बहुपापं प्रकरोति।
दुस्तोषकश्च स भवति, निर्वाणं च न गच्छति ॥३४॥

पदार्थान्वयः—अत्तट्ठागुरुओ—जिसे केवल अपना स्वार्थ ही सब से गुरु (बड़ा) लगता है, ऐसा उदरंभरि लुद्धो—क्षुद्र—लोभी साधु बहुं पावं—बहुत अधिक पापकर्म पकुव्वइ—करता है अ—और से—वह दुत्तोसओ—सन्तोष भाव से रहित होइ—हो जाता है। ऐसा साधु निव्वाणं च—निर्वाण (मोक्ष) भी न गच्छइ—नहीं प्राप्त कर सकता है।

मूलार्थ—जिसे केवल अपना ही पेट भरना आता है, ऐसा पूर्व सूत्रोक्त रसलोलुप साधु; बहुत अधिक पाप कर्म को करता है। यही नहीं, अपितु वह असन्तोषी, निर्वाण पद भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

टीका—इस गाथा में पूर्व सूत्रोक्त पाप क्रिया करने वाले साधु के दोनों लोकों में निम्नलिखित दोष बतलाए गए हैं—

जो साधु जिह्वा लोभ के वशीभूत होकर सरस आहार के छिपाने की चेष्टा करता है, वह साधु साधु नहीं, असाधु शिरोमणि है। वह केवल अपना ही पेट भरने का ध्यान रखता है। दूसरे गुरुजनों के विषय में उसे कुछ भी भक्ति भावना नहीं है। ऐसा लालची साधु, थोड़े से भोजन सुख के कारण अनंत संसार में तीव्र पाप कर्म का बंधन कर लेता है। जिससे फिर वह चिरकाल तक नाना प्रकार के

एक से एक दुःख भोगता है क्योंकि जिह्वा के वशीभूत साधु, चाहे जैसी कठिन से कठिन क्रियाएँ करे, पर क्रियाओं का फल जो मोक्ष है वह उसे नहीं मिलता।

यह ऊपर पारलौकिक दोषों का कथन किया है। इस लोक का दोष यह है कि ऐसा रस लम्पटी साधु, कदापि धैर्यवान् नहीं हो सकता। भला जो एक भोजन जैसी साधारण वस्तु पर मूर्च्छित होकर विकल हो जाता है, वह कैसे अन्य संकटों के समय दृढ़ रह सकेगा। ऐसी आत्माएँ तो बस गिरती-गिरती अन्त में गिर ही जाती हैं। इनके उद्धार का काम फिर बड़ा ही कठिन हो जाता है। दुःख है कि ऐसे क्षुद्र मनोवृत्ति वाले मनुष्य नामधारी सज्जन काम पड़ने पर जीभ के लिए बड़े से बड़े अकृत्य करने को सहसा उद्यत हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि, उन्नति की आशा रखने वाले साधुओं का यह कर्तव्य है कि, वे अपने आपको गिराने वाली-प्रस्तुत सूत्रोक्त जैसी प्रारम्भ मे नगण्य जंचने वाली और अन्त में सर्वनाश का भयंकर दृश्य दिखाने वाली बातों पर पूरा-पूरा ध्यान दें। ऐसी बातों पर उपेक्षा के भाव रखने से सच्ची साधुता स्थिर नहीं हो सकती।

उत्थानिका—अब सूत्रकार परोक्ष चोरी करने वाले, अर्थात् सरस आहार को मार्ग मे खा लेने वाले साधुओं का वर्णन करते हैं:—

सिआ एगइओ लद्धुं, विविहं पाणभोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा, विवन्नं विरसमाहरे॥३५॥

स्यादेककिको लब्ध्वा, विविधं पान भोजनम्।
भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा, विवर्णं विरसमाहरेत्॥३५॥

पदार्थान्वयः—सिआ—कदाचित् एगइओ—कोई एक साधु विविहं—नाना प्रकार के पाणभोयणं—अन्न और पानी को लद्धुं—प्राप्त कर भद्दगं भद्दगं—अच्छा-अच्छा भोच्चा—खाकर विवन्नं—वर्ण रहित एवं विरसं—रस रहित निकृष्ट आहार आहरे—उपाश्रय मे ले आवे।

मूलार्थ—कोई विचार मूढ़ साधु ऐसा भी करता है कि, भिक्षा में नाना प्रकार का भोजन पानी मिलने पर अच्छे-अच्छे सरस पदार्थ तो वहीं

कहीं इधर-उधर बैठ कर खा पी लेता है और अवशिष्ट विवर्ण एवं विरस आहार उपाश्रय में लाता है।

टीका—साधु संघ एक समुद्र है। इस में भाँति-भाँति की मनोवृत्ति वाले साधु होते हैं। कोई अच्छा होता है तो कोई बुरा। कोई लालची होता है तो कोई सन्तोषी। बात यह है कि, अच्छों के साथ बुरे भी होते हैं। यद्यपि सूत्रकारों ने उसी मनुष्य को साधु बनाने के लिए लिखा है जो भद्र हो, सन्तोषी हो और सभी तरह पवित्र हो। फिर भी सर्वज्ञता के अभाव से, पवित्र साधु संघ मे अपवित्र–पतित आत्माएँ, जैसे-तैसे आकर घुस ही जाती हैं। ऐसी पतित आत्माओं को शिक्षा देने के लिए, सूत्रकार कहते हैं कि, भिक्षा के लिए गाँव मे गये हुए किसी क्षुद्र बुद्धि साधु को, भाँति-भाँति के सरस नीरस भोजन पदार्थ मिले। सरस पदार्थ के देखते ही साधु के मुँह में पानी भर आता है और विचार करता है कि, यदि मैं यह सब आहार उपाश्रय में गुरु के समीप ले गया तो संभव है कि यह सरस पदार्थ मुझे मिले या न मिले, नहीं मिलेगा तो मैं क्या करूँगा? अतः यही अच्छा है कि मैं अच्छे-अच्छे पदार्थ यहीं खालूँ और बचा हुआ विवर्ण (रूप रंग रहित) और विरस (स्वादुतारहित) भोजन उपाश्रय में ले चलूँ। इस विचार को कार्य रूप में परिणत करने वाला, अर्थात् अच्छे अच्छे पदार्थ कहीं खाकर बुरे-बुरे पदार्थ उपाश्रय मे लाने वाला साधु, ऐसा क्यों करता है और उसकी क्या अवस्था होती है? यह अग्रिम सूत्रों मे सूत्रकार स्वयं वर्णन करेंगे। सूत्र मे 'भद्दगं भद्दगं' 'भद्रकं भद्रकं' शब्द लिखा है, उसका स्पष्ट भाव यह है कि, वे पदार्थ जो सब प्रकार से भद्र हैं अर्थात् कल्याणकारी और बलवर्द्धक हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'वह इस प्रकार क्यों करता है'? यह कहते हैं:—

जाणंतु ताइमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥३६॥

जानन्तु तावदिमे श्रमणा, आयतार्थी अयं मुनिः।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं, रूक्षवृत्तिः सुतोष्यः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—इमे-ये उपाश्रयस्थ समणा-साधु तु-निश्चय ही ता-प्रथम जाणतु-मुझे जाने कि अयं-यह मुणी-मुनि संतुट्ठो-सन्तोष वृत्ति वाला है, इतना ही नहीं किन्तु सुतोसओ-अन्त प्रान्त आहार के मिलने पर भी वड़ा ही सन्तोष वाला है तथा लूहवित्ती-रूक्षवृत्ति वाला भी है, जो पंतं-इस प्रकार के असार पदार्थों का सेवए-सेवन करता है इसलिए आययट्ठी-यह मुनि सच्चा मोक्षार्थी है।

मूलार्थ—यह रस लम्पटी साधु, ऐसे भाव रखता है कि 'ये अन्य उपाश्रयी साधु मुझे प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह जानें कि, यह साधु कैसा संतोषी और मोक्षार्थी है ? जो इस प्रकार के रूखे-सूखे असार पदार्थों पर ही संतोष कर लेता है। जैसा मिल जाता है वैसा ही खा पीकर सन्तुष्ट हो जाता है, सारासार का तो कभी मन में विचार ही नहीं लाता। क्यों न हो, अपनी संयम क्रियाओं में पूर्ण रूप से तत्पर है।'

टीका—वह मार्ग में ही अच्छे-अच्छे सरस पदार्थ खाने वाला पूर्वोक्त साधु, लालच में प्रतिष्ठा के भाव रखता हुआ यह विचारता है कि, क्या ही अच्छा काम बना है। स्वाद का स्वाद ले लिया और संतोषी के संतोषी बने रहे। ये उपाश्रयी साधु मेरे इस अवशिष्ट नीरस आहार को देखकर यही विचार करेंगे कि देखो, यह कैसा मोक्षार्थी उत्कृष्ट साधु है ? लालच और रस-लोलुपता का तो इसमें नाम नहीं। रूखा-सूखा, ठंडा-वासी, जैसा कुछ मिल जाता है, वैसा ही ले लेता है और अपने आनन्द के साथ संतोष वृत्ति से खा पी लेता है। सरस आहार की इच्छा से जहाँ तहाँ अधिक भ्रमण करना तो यह जानता ही नहीं। वास्तव में संयम वृत्ति यही है। चाहे लाभ हो या हानि, पर इसका समभाव कभी भंग नहीं होता। ऐसी ही आत्माएँ संसार में आने का कुछ लाभ प्राप्त कर लेती हैं। धन्य हैं ऐसे महापुरुष ! और ऐसी आत्माएँ !

उपर्युक्त विचार, छल से युक्त और संयम से सर्वथा विरुद्ध हैं। अतः ऐसा कुत्सित विचारक साधु संसार में अपनी उन्नति कभी नहीं कर सकता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार 'ऐसा करने वाला किस पाप कर्म का बंध करता है ?' इस विषय में कथन करते हैं:—

पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥३७॥

पूजार्थं यशस्कामी, मानसंमानकामुकः ।
बहु प्रसूते पापं, मायाशल्यं च करोति ॥३७॥

पदार्थान्वयः—यह पूयणट्ठा-पूजा का चाहने वाला जसोकामी-यश का चाहने वाला तथा माणसम्माणकामए-मान सम्मान का चाहने वाला साधु बहुं-पावं-बहुत पाप कर्मों को पसवई-उत्पन्न करता है च-तथा मायासल्लं-माया रूपी शल्य भी कुव्वइ-करता है।

मूलार्थ—पूजा, यश और मान-सम्मान की झूठी कामना करने वाला, पूर्व सूत्रोक्त क्रिया-कारक साधु; अत्यंत भयंकर पापकर्मों को तथा मायारूपी शल्य को समुत्पन्न करता है।

टीका—इस गाथा में इस बात का वर्णन है कि, साधु, पूर्वोक्त छल रूप जो क्रियाएँ करता है, वह अपने मन में यही समझ कर करता है कि, इससे मेरी स्वपक्ष में तथा पर पक्ष में सामान्य रूप से पूजा प्रतिष्ठा हो जायगी। लोग कहेंगे कि, आश्चर्य है? यह साधु, कैसी कठिन क्रियाएँ कर रहा है। शरीर को मिट्टी कर रक्खा है? तथा इस प्रकार सुयश में परिवृद्धि होकर मेरा वन्दना अभ्युत्थान रूप मान और वस्त्र पात्रादि सत्कार रूप सम्मान भी बढ़ेगा। इन उपर्युक्त कलुषित इच्छाएँ करने वाला संयमी, प्रधान संक्लेश योग से अत्यंत भारी पाप कर्मों का बंधन कर लेता है। इतना ही नहीं, वह उस माया रूप शल्य को भी कर लेता है, जिसके होने से यह जीव अनंत काल पर्यंत संसार चक्र में इधर से उधर गेंद की तरह मारा-मारा घूमा करता है और वास्तविक स्थान—मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव मोक्षाभिलाषी मुनियों का कर्तव्य है, कि वे उक्त छल प्रपंच की क्रिया न करें। यदि कभी प्रमाद-वश करने में आ गई हो तो गुरुओं के समक्ष उसकी स्पष्टता से सम्यगालोचना करके आत्म-विशुद्धि करें। इसी में सच्ची साधुता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यपान का निषेध करते हैं:—

सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥३८॥

सुरां वा मेरकं वाऽपि, अन्यं वा मद्यकं रसम् ।
ससाक्ष्यं न पिबेद्भिक्षुः, यशः संरक्षन्नात्मनः ॥३८॥

पदार्थान्वयः—भिक्खू-साधु अप्पणो-अपने जसं-संयम की सारक्खं-रक्षा करता हुआ ससक्खं-जिसके परित्याग मे, केवली भगवान् साक्षी हैं ऐसी सुरं-पिष्ट आदि से तैयार की गई मदिरा वा-अथवा मेरगं-प्रसन्नाख्य मदिरा वि-अपि शब्द से नाना प्रकार की मदिराएँ तथा अन्नं वा-सुरा प्रायोग्य द्रव्य से उत्पन्न मज्जगं रसं-मादक रस सीधु आदि इन सब को न पिबे-नही पीवे ।

मूलार्थ—आत्म-संयमी साधु अपने संयम रूप विमल यश की रक्षा करता हुआ, जिसके त्याग में सर्वज्ञ भगवान् साक्षी हैं ऐसे सुरा, मेरक आदि नाना विध मादक द्रव्यों का सेवन (पान) न करे ।

टीका—साधु को यदि अपने संयम की, विमल यश की सर्वथा रक्षा करनी है तो उसे मादक द्रव्यों का सेवन कभी नहीं करना चाहिए । क्योंकि, संयम ग्रहण करते समय सर्वज्ञ भगवान् की साक्षी से मादक द्रव्यों के सेवन का सर्वथा परित्याग किया जाता है । सर्वज्ञ भगवान् त्रिकाल दर्शी हैं । अतः जिसके सामने पहले तो छाती तानकर प्रतिज्ञा करना और फिर उसी के सामने प्रतिज्ञा का भंग करना—कितना पशुता का कार्य है ? क्या ऐसे भी अपने को मनुष्य कह सकते हैं ? मनुष्य वही है—जिसके हृदय में अपनी बात की लज्जा है । तथा मादक द्रव्यों का इस लिये भी सेवन नहीं करना चाहिए कि, वीतरागी केवल-ज्ञानी भगवन्तों ने मादक द्रव्य के सेवन का पूरा-पूरा प्रतिषेध किया है । महान् ज्ञानी पुरुषों द्वारा प्रतिषिद्ध वस्तु के सेवन करने का अर्थ होता है कि उन प्रतिषेधक पुरुषों का अपमान करना । सैनिक का कर्तव्य होता है कि, वह अपने चतुर सेना नायक की सम्पूर्ण आज्ञाओं का पालन करे । यह नहीं कि, कुछ का तो पालन करे, और कुछ का नहीं । साधु भी धर्म-युद्ध का एक सैनिक है । अतः उसे भी अपने

सेनापति रूप, पथ-प्रदर्शक महा-पुरुषों की सभी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। यह कौनसी बात है कि, अन्य आज्ञाएँ तो पालन करता रहे और मादक-द्रव्य-प्रतिषेध की आज्ञा को मनमानी नीति से नष्ट-भ्रष्ट करता रहे। जो सैनिक सेनापति की एक भी आज्ञा की अवहेलना करता है, उसका जीवन कष्टमय है। यह ध्रुव-धारणा प्रत्येक सैनिक के हृदय में निश्चय के वज्र-लेख से अङ्कित रहनी चाहिए। मादक-द्रव्य के प्रतिषेध में टीकाकार भी यही कहते हैं, 'ससाक्षिकं-सदा परित्यागसाक्षिकेवलिप्रतिषिद्धं न पिबेद्भिक्षुः। टीकाकार आगे चलकर इस सूत्र की व्याख्या के अन्त में ऐसा भी लिखते हैं कि, यह सूत्र ग्लानापवाद विषयक है, ऐसा अन्य आचार्य मानते हैं। तथा च पाठः—"अन्येतु ग्लानापवादविषयमेतत्सूत्र-मल्पसागारिकविधानेन व्याचक्षते।" परन्तु अन्य आचार्यों का यह कथन सर्वथा विपरीत होने से सूत्र संमत नहीं है, अतः मान्य नहीं हो सकता। सूत्रकार के शब्दों से इस अपवाद की कहीं भी ध्वनि नहीं निकलती। टीकाकार हरिभद्र सूरि भी, अन्य आचार्यों के इस विपरीत मत से किंचित् भी सहमत नहीं हैं। उन्होंने जो यहाँ अपनी टीका में इस मत का उल्लेख किया है, वह अपने टीकाकार के पद को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये किया है। 'अन्य' शब्द देकर टीकाकार स्पष्टतः कह रहे हैं कि, ऐसा दूसरे लोग मानते हैं हम नहीं। हमें तो विना किसी अपवाद के एक रूप से ही सर्वथा प्रतिषेध करना अभीष्ट है। देखिए, सर्वथा प्रतिषेध में स्वयं टीकाकार के वाक्य 'अनेन' सर्वथा प्रतिषेध उक्तः सदा साक्षिभावात्'। इस गाथा में मद्यपान का सर्वथा निषेध किया है, क्योंकि, इस परित्याग में भगवान् की सदा साक्षी है।

अतः युक्ति-युक्त सिद्ध हुआ कि, अन्य आचार्यों का यह अपवाद विषयक कथन सूत्र-संमत न होने से किसी भी अंश में प्रामाणिक नहीं है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यपान के दोष बतलाते हैं:—

पियए एगओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ।
तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिंच सुणेह मे ॥३९॥

पिवति एककः स्तेनः, न मां कोऽपि विजानाति ।
तस्य पश्यत दोषान्, निकृतिं च श्रृणुत मत् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—एगओ–धर्म से रहित, या एकान्तस्थान में तेणो–भगवद्-आज्ञा-लोपक चोर साधु पियए–मद्य पीता है, और मन मे यह विचारता है कि, मैं यहाँ ऐसा छिपा हुआ हूँ मे–मुझे कोइ–कोई भी न वियाणइ–नहीं जानता-नहीं देखता, अस्तु हे शिष्यो ! तुम स्वयं तस्स–उस मद्यपायी के दोसाइं–दोषों को पस्सह–देखो च–और उसकी नियडिं–मायारूप-निकृति को मे–मेरे से सुणेह–सुनों ।

मूलार्थ—गुरु कहते हैं, हे शिष्यो ! जो साधु धर्म से विमुख होकर, एकान्त स्थान में छिपकर मद्यपान करता है और समझता है कि, मुझे यहाँ छिपे हुए को कौन देखता है, वह भगवदाज्ञा का लोपक होने से पक्का चोर है । उस मायाचारी के प्रत्यक्ष दोषों को तुम स्वयं देखो और अदृष्ट-मायारूप दोषों को मेरे से श्रवण करो ।

टीका—गुरु श्री, शिष्यों को धर्मोपदेश करते हुए धर्म-भ्रष्ट, मद्यपायी साधु के विषय में कहते हैं, हे शिष्यो ! वही साधु मद्यपान करता है, जो सदा धर्म रूपी हितैषी मित्र का साथ छोड़ देता है और उससे विरुद्ध हो जाता है । जब तक धर्म मित्र का साथ बना रहता है तब तक तो साधु से किसी भी काल में ऐसे निन्दनीय दुष्कृत्य नहीं हो सकते । अतः धर्म से विमुख होना बड़ा ही बुरा है । धर्म से विमुख होना मानों अपने अस्तित्व से विमुख होना है । अस्तु, ऐसा धर्म विमुख-नाम धारी-साधु, मद्यपानार्थ एकान्त (गुप्तस्थान) में छिपा हुआ यह विचार किया करता है कि मद्यपान मे और कुछ डर तो है ही नहीं, हाँ, डर है तो एक अपयश का ही है । तो मैं ऐसे गुप्तस्थान में हूँ कि मुझे कोई भी नहीं देख सकता । जब लोग देखेंगे तभी तो अपयश होगा, वैसे तो होने से रहा । इस प्रकार के भ्रमित-विचार से मद्य पीने वाले साधु की चोर संज्ञा है । इसलिए इस चोर बुद्धि वाले मायावी-साधु के सभी निन्दनीय दोषों को हे धर्मप्रिय शिष्यो ! तुम स्वयं देखो, विचारो और उसकी छल-क्रिया आदि का वर्णन मुझ से सुनो ।

यदि कोई कहे कि मद्य पीने वाले को 'मद्यप' कहते हैं, चोर नहीं । चोर तो उसे ही कहते हैं जो चोरी करता हो । फिर यहाँ सूत्र में मद्य पीने वाले को चोर

किस अभिप्राय से कहा ? तब उससे कहना चाहिए कि, निस्सन्देह चोरी करने वाले को ही चोर कहते हैं, किसी दूसरे को नहीं। परन्तु मद्य पीने वाला भी तो चोरी ही करता है, कुछ साहूकारी नहीं ? श्री भगवान ने साधुओं को मद्य पीने का सर्वथा निषेध किया है। अतः साधुवेष पहनकर, भगवदाज्ञा तोड़ने से, अन्य कदाचारी पुरुषों के कथन को मानने से, एवं लोगों को धोखे मे डालकर स्वार्थ साधने से, मद्यपायी साधु को यदि चोर-शिरोमणि भी कहा जाय तो कुछ भी झूठ नहीं, क्योंकि चोर का लक्षण पूर्णतया चरितार्थ है 'न मे कोइ वियाणइ।'

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यपायी के लोलुपता आदि दुर्गुणों के विषय में कहते हैं—

वड्ढई सुंडिआ तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो।
अयसो अ अनिव्वाणं, सययं च असाहुआ ॥४०॥

वर्द्धते शौण्डिका तस्य, माया मृषा च भिक्षोः।
अयशश्च अनिर्वाणं, सततं च असाधुता ॥४०॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस मदिरा पीने वाले भिक्खुणो—भिक्षु की सुंडिआ—आसक्तपना वड्ढई—बढ़ जाती है, और इसी प्रकार मायामोसं च—माया तथा मृषावाद भी बढ़ जाता है तथा अयसो अ—उसका अपयश भी सर्वत्र फैल जाता है च—फिर सतत मदिरापान के प्रभाव से अनिव्वाणं—अतृप्ति की भी वृद्धि हो जाती है। किं बहुना, मद्य-पायी की सययं—निरंतर असाहुआ—असाधुता ही बढ़ती रहती है।

मूलार्थ—मद्यपायी साधु के लोलुपता, छल, कपट, झूठ, अपयश और अतृप्ति आदि दोष बढ़ते जाते हैं। अर्थात् उसकी निरंतर असाधुता ही असाधुता बढ़ती रहती है, साधुता का तो नाम भी नहीं रहता।

टीका—मद्य, समस्त दुर्गुणों का आश्रय-दाता है। ऐसा कौन सा दुर्गुण है, जो मद्यपायी में नहीं आता। जिन सज्जनों की इच्छा सब दुर्गुणों को एक ही स्थान पर देखने की हो, वे मद्यपायी में देखें, सूत्रकार उन्हे मद्यपायी में दिखलाते हैं—आसक्तता—मद्य पीने से प्रति दिन आसक्ति बढ़ती ही रहती है, घटती नहीं।

मद्यप साधु तो मद्य-पान की लालसा मिटाने के लिये यह चाहता है कि, किसी न किसी प्रकार से मद्य बढ़ा चढ़ाकर मैं अपनी तृप्ति करूँ। परन्तु होता क्या है ? विपरीत। लालसा, शान्त होने की अपेक्षा उल्टी भयंकर रूप धारण करती चली जाती है। धधकती हुई अग्नि मे ज्यों-ज्यों घास फूस पड़ती जायगी, त्यों-त्यों ही वह अधिकाधिक भीषण रूप पकड़ती चली जायगी। अग्नि शान्त तभी हो सकती है, जब कि उसमें फूस न डाला जाय। माया, मृषा—मद्यप साधु वञ्चकता और झूठ का दोष भी पूरा-पूरा लगाता है। क्योंकि सामाजिक भय से प्रत्यक्ष में तो मद्य पी नहीं सकता, अतः कहीं लुक-छिपकर सौ प्रपंच लगाकर यह काम करना होता है। इसलिये यह तो हुई माया। और दूसरे मद्यपान के पश्चात् होने वाली क्रियाओं से आशंकित लोगों के यह पूछने पर कि, क्या तुम मद्य पीते हो ? तब वह यही कहता है कि, क्या कहा मद्य ? इसका नाम भी न लो। मैं साधु, और फिर मद्य पीऊँ ? तुम्हें कहते हुए भी लज्जा नहीं आई ? प्रत्यक्ष मे तो क्या, ऐसा तो स्वप्न में भी नहीं हो सकता, यह हुआ झूठ। अपयश—मद्यपायी मनुष्यों का सभ्य संसार में कितना अपयश होता है ? यह बात प्रसिद्ध ही है, और फिर उसमें साधु के अपयश का कहना ही क्या ? भला जिसका जीवन सब से पवित्र माना जाय और वह ऐसा काम करे। ऐसे का अपयश नहीं हो तो फिर किस का हो ? अतृप्ति—अतृप्ति का अर्थ होता है—'अभिप्रेत वस्तु के न मिलने से होने वाला अनिर्वाण-दुःख'। फिर साधु का वेष ठहरा। ऐसी गन्दी वस्तु, जब मन चाहे तब नहीं मिल सकती, किसी निजी अन्तरङ्ग मित्र के द्वारा ही कभी-कभी अवसर लगता है। अतः जब मद्य नहीं मिलेगा तब साधु को बहुत अधिक दुःख उठाना पड़ेगा। मद्य-प्रेमी का शरीर उस 'काही-घोड़े' के समान हो जाता है, जो जब तक चाबुक की मार पड़ती रहती है, तब तक तो चलता रहता है और जहाँ चाबुक की मार बंद हुई, झट खड़ा हो जाता है। असाधुता—संक्षिप्त में कहने का सार यह है कि, मद्यपान से यदि कोई वस्तु बढ़ती है तो वह असाधुता ही बढ़ती रहती है। जहाँ असाधुता की वृद्धि होती है, वहाँ बेचारी साधुता का रहना कैसे हो सकता है ! साधुता और असाधुता का तो परस्पर दिन रात जैसा स्थायी वैर है। और जब साधु की साधुता नष्ट हो गई तो समझो साधु का सर्वस्व ही नष्ट हो

गया। साधु के पास सिवा साधुता के और रखा ही क्या है ? जिसके बल पर वह 'हुँ' कार का दम भर सके।

उपर्युक्त आसक्तता, माया, मृषा आदि दुर्गुणों की ओर लक्ष्य रखते हुए संयमी को मद्य से सर्वथा अलग रहना चाहिए। साधु वही है जो मादक द्रव्यों के पान को विषपान के समान समझता है, जिसको इनके नाम से भी घृणा आती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यप-साधु की अन्तिम समय में संवराराधना का निषेध कहते हैं—

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई।
तारिसो मरणंतेवि, न आराहेइ संवरं ॥४१॥

नित्योद्विग्नो यथास्तेनः, आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः।
तादृशो मरणान्तेऽपि, नाराधयति सम्वरम् ॥४१॥

पदार्थान्वयः—जहा-जैसे तेणो-चोर निच्चुव्विग्गो-सदा उद्विग्न (घबराया) हुआ रहता है ठीक वैसे ही दुम्मई-दुर्बुद्धि साधु अत्तकम्मेहिं-अपने दुष्ट कर्मों से सदा उद्विग्न रहता है तारिसो-ऐसा दुष्कर्म कारक मद्यप साधु मरणंतेवि-मरणांत दशा में भी संवरं-संवर की नाराहेइ-आराधना नहीं कर सकता।

मूलार्थ—मद्यपायी दुर्बुद्धि-साधु, अपने किये कुकर्मों से चोर के समान सदा उद्विग्न (अशान्तचित्त) रहता है। वह अन्तिम समय पर भी संवर-चारित्र की आराधना नहीं कर सकता।

टीका—जिस प्रकार चोर का चित्त सदैव उद्विग्न (अशान्त) बना रहता है, ठीक उसी प्रकार मदिरा-पान करने वाले भिक्षु का चित्त भी सदा अशान्त बना रहता है। तथा वह अपने कर्मों द्वारा घोर कष्टों का सामना भी करता रहता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसकी आत्मा, दुर्मति से इतनी घनी (अधिक) मलिन हो जाती है, कि जिससे वह मृत्यु का समय समीप आ जाने पर भी संवर-चारित्र मार्ग की समाराधना नहीं कर सकता। जिनका हृदय सदा दुष्कर्म पङ्क से मलिन रहता है, उनके हृदय में संवर बीज का सद्भाव भला कैसे हो सकता है ? सूत्रकार

ने जो चोर का दृष्टान्त दिया है, उसका कारण यह है, कि चोर दिन रात सदा उद्विग्न, भयभीत, दुःखित और प्रकंपित रहता है; ठीक उसी प्रकार मदिरा पान करने वाला साधु भी भयभीत और उद्विग्न रहता है। वस्तुतः चोर के उदाहरण से मद्यप साधु का छिपा हुआ चित्र स्पष्टतः व्यक्त हो जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'मदिरापायी साधु की गृहस्थ लोग भी निन्दा करते हैं' इस विषय में कहते हैं:—

आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसो।
गिहत्था वि णं गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥४२॥

आचार्यान्नाराधयति , श्रमणांश्चापि तादृशान्।
गृहस्था अप्येनं गर्हन्ते, येन जानन्ति तादृशम् ॥४२॥

पदार्थान्वयः—**तारिसो**–मदिरा पायी साधु **आयरिए**–आचार्यों की **नाराहेइ**–आराधना नहीं करता तथा **समणे आवि**–साधुओं की भी आराधना नहीं करता। इतना ही नहीं बल्कि **गिहत्था वि**–गृहस्थ भी **णं**–इस साधु की **गरिहंति**–निन्दा करते हैं **जेण**–क्योंकि वे **तारिसं**–उस दुष्ट-चरित्र वाले को **जाणंति**–जानते हैं।

मूलार्थ—विचारमूढ़ मद्यप साधु से, न तो आचार्यों की आराधना हो सकती है और न साधुओं की। ऐसे साधु की तो 'जो साधुओं के पूरे प्रेमी भक्त होते हैं वे' गृहस्थ भी निन्दा ही करते हैं, क्योंकि वे उस दुष्कर्मी को अच्छी तरह जानते हैं।

टीका—इस गाथा में उक्त दुराचारी का ऐहलौकिकफल वर्णन किया गया है, जैसे कि, वह मदिरा पान करने वाला साधु, अपने शासक-आचार्यों की आराधना नहीं कर सकता है। आचार्यों की ही नहीं प्रत्युत, सहचारी साधुओं की भी आराधना नहीं कर सकता है। सदा ही उसके अशुभ-भाव बने रहते हैं। तथा उस दुराचारी मुनि की गृहस्थ लोग भी निन्दा करते हैं कि, 'देखो, यह साधु कैसा नीच है ? सिंह के वेष में गीदड़ का काम करता है।' वस्तुतः वे लोग सच्ची बात कहते हैं, जो जैसा देखता है वैसा ही कहता है। साधु तो समझता है कि मुझे कौन जानता

है ? परन्तु गृहस्थ लोग उसकी सब गुप्त बातों को जानते हैं। क्योंकि, चाहे कितना ही छिपा कर काम करो, पाप छिपा हुआ नहीं रह सकता, उसका भांडा फूटकर ही रहता है। आशय यह है कि, दुराचारी-साधु न तो धर्म की आराधना कर सकता है और न धार्मिक महापुरुषों की। दुराचारता के कारण उसके मस्तक पर ऐसा कलंक का काला टीका लग जाता है जिससे वह जिस तरफ निकलता है, उसी तरफ उस पर लोगों की तिरस्कार सूचक उंगलियाँ उठती चली जाती हैं। निन्दित-मनुष्य का कुछ जीवन में जीवन है ? ऐसे जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उक्त विषय का उपसंहार करते हैं:—

एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जए।
तारिसो मरणंतेवि, ण आराहेइ संवरं ॥४३॥

एवं तु अगुणप्रेक्षी, गुणानां च विवर्जकः।
तादृशः मरणान्तेऽपि, नाराधयति सम्वरम् ॥४३॥

पदार्थान्वयः—एवं तु-उक्त प्रकार से अगुणप्पेही-अवगुणों को देखने वाला अर्थात् धारण करने वाला च-और गुणाणं-गुणों को विवज्जए-छोड़ने वाला तारिसो-यह वेष धारी साधु मरणंतेवि-मृत्यु समय में भी संवरं-संवर का ण आराहेइ-आराधक नहीं होता।

मूलार्थ—इस प्रकार अवगुणों को धारण करने वाला और सद्गुणों को छोड़ने वाला मूढ़मति-साधु, और तो क्या ? मृत्यु समय में भी संवर का आराधक नहीं हो सकता है।

टीका—केवल वेष के परिधान से मुक्ति नहीं हो सकती, वेष के साथ गुण भी अतीव आवश्यक हैं। यदि वेष शरीर है, तो गुण जीवन है, विना जीवन के शरीर मृत-तुल्य है। कुछ नहीं कर सकता है। अस्तु, जो केवल वेष मात्र से उदर-दरी भरने वाला है, एवं क्षमा, दया, इन्द्रिय-निग्रहता आदि सद्गुणों को छोड़कर भोग विलास आदि अवगुणों को स्वीकार करने वाला, हिताहित ज्ञान-शून्य साधु है, वह अन्य समय में तो क्या, उस मृत्यु के समय भी धर्म की आराधना नहीं कर सकता,

जिस समय धर्म की आराधना करना सभी शास्त्रों के सम्मत, एवं बहुत आवश्यक है। अर्थात् उस मद्यपायी का अन्त समय नहीं सुधरता।

जिस व्यक्ति की आत्मा, मादकीय-उन्मत्तता के कारण सदा संक्लिष्ट रही हो, उसे ऐसे अवसर पर किस प्रकार धार्मिक क्रियाओं के पालन का ध्यान आ सकता है ? अन्त समय प्रायः उसी का सुधरता है, जिसका पहला समय भी सुधरा हुआ रहता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्य पान के त्याग का माहात्म्य वर्णन करते हैं:-

तवं कुव्वइ मेहावी, पणीअं वज्जए रसं।
मज्जप्पमायविरओ , तवस्सी अइ उक्कसो ॥४४॥

तपः करोति मेधावी, प्रणीतं वर्जयति रसम्।
मद्यप्रमादविरतः , तपस्वी अत्युत्कर्षः ॥४४॥

पदार्थान्वयः—मेहावी-बुद्धिमान्, मर्यादावर्त्ती साधु तवं-उज्ज्वल तप कुव्वइ-करता है तथा आहार मे पणीअं-स्निग्ध रसं-रस वज्जए-छोड़ता है। इतना ही नहीं किन्तु मज्जप्पमायविरओ-मद्य-पान के प्रमाद से रहित तवस्सी-तपस्वी है। तपस्वी भी कैसा, अइ उक्कसो-सर्व श्रेष्ठ, किन्तु 'मैं तपस्वी हूँ' इस उत्कर्ष (अहंकार) से रहित-अर्थात् जो तपस्वीपने का किसी प्रकार भी अहंभाव नहीं रखता है।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु वही है, जो सदा तप क्रियाएँ करता है, कामोत्पादक स्निग्ध रस छोड़ता है, और मद्य-पान के प्रमाद से भी सर्वथा पराङ्मुख रहता है। वह तपस्वी श्रेष्ठ है तथा ऐसा वह तपस्वी साधु, घोर तपस्वी होकर भी कभी अपने तपस्वी पन का गर्व नहीं करता है।

टीका—जो बुद्धि-युक्त या मर्यादावर्ती साधु हैं, वे तो सदैव १२ प्रकार के तपःकर्म में संलग्न रहते हैं। यही नहीं, तप की पूर्ति के लिये स्निग्ध रस का भी परित्याग कर देते हैं। साथ ही मद्य-पान से सर्वथा अलग होकर (निवृत्त होकर परम तपस्वी भी हो जाते हैं। तपस्वी भी साधारण नहीं बल्कि, जिनके हृदय में कभी यह गर्व नहीं होता कि, 'मैं ही उत्कृष्ट तप करने वाला पवित्र भिक्षु हूँ।'

यहाँ मदिरा शब्द उपलक्षण है, अतः यह निषेध सभी मादक-द्रव्यों के विषय में जानना चाहिए। मादक-द्रव्यों मे मद्य का प्रधान पद है, इसलिए सूत्रकार प्रथम उत्कृष्ट नामी पदार्थों के विषय में ही कह दिया करते हैं। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः।' और स्थानाङ्ग सूत्र के छठे स्थान मे भी छः प्रकार के प्रमादों में मद्य को ही प्रथम स्थान दिया है। तथा सूत्रकार ने जो इसी सूत्र मे 'मज्जप्पमायविरओ' पद दिया है, उस का भी यही भाव होता है कि, साधु, 'जितने भी मद उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं' सभी से विरक्त रहे। यदि यहाँ कोई ऐसा कहे कि, अन्न आदि के सेवन से भी तो कभी कभी उन्मत्तता आजाती है, तो क्या इससे अन्न आदि पदार्थ भी नहीं खाने चाहिएँ ? इसके उत्तर में कहना है कि, जिस प्रकार की उन्मत्तता मदिरा-पान आदि के आसेवन से होती है, उस प्रकार की अन्न आदि से कभी नहीं हो सकती। अन्नादि का सेवन सात्विक-गुणवाला है और मदिरा आदि का सेवन तमो गुण वाला है। फिर दोनों की समानता कैसी ? मदिरा आदि राक्षसी पदार्थ होने से सर्वथा त्याज्य हैं, और अन्न आदि मानुषी पदार्थ होने से संयम रक्षार्थ ग्राह्य हैं। हाँ, अन्नादि का सेवन भी प्रमाण से अधिक नहीं करना चाहिए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर इसी विषय मे कथन करते हैं:—

तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइअं ।
विउलं अत्थ संजुत्तं, कित्तइस्सं सुणेह मे ॥४५॥

तस्य पश्यत कल्याणं, अनेक-साधु-पूजितम् ।
विपुलम् अर्थसंयुक्तं, कीर्तयिष्ये शृणुत मत् ॥४५॥

पदार्थान्वयः—तस्स–उस साधु के अणेगसाहुपूइअं–अनेक साधुओं से पूजित फिर विउलं–मोक्ष का अवगाहन करने से विपुल अत्थसंजुत्तं–मोक्ष के अर्थ से युक्त कल्लाणं–कल्याण रूप को पस्सह–देखो, मैं उसके गुणों का कित्तइस्सं–कीर्तन करूँगा उनको मे–मुझ से सुणेह–तुम श्रवण करो।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! तुम उस साधु के कल्याण रूप संयम को देखो जो अनेक साधुओं से पूजित है और मोक्ष का अवगाहन करने वाला है, तथा

मोक्ष के अर्थ का साधक है । उसके गुणों का मैं कीर्तन करूँगा, इसलिए तुम मुझ से सावधान हो कर सुनो ।

टीका—गुरु कहते हैं कि, हे शिष्यो ! तुम उस साधु के गुण-संपदा रूप संयम को देखो जो अनेक साधुओं द्वारा पूजित (आसेवित) है । और जो मोक्ष का अवगाहन करने वाला है, अतः विपुल है । तथा जो असार-पौद्गलिक सुखों का साधक न होकर, परम-सार-निरुपम-मोक्ष सुख का साधक है । उस पवित्र मुनि के गुणों का मैं कीर्तन करूँगा, अतः तुम दत्त-चित्त होकर मुझ से श्रवण करो । गुण-सागर-मुनियों के गुणों के श्रवण से आत्मा में वह अद्भुत-क्रान्ति होती है, जिस से पामर, नगण्य-मनुष्य भी एक दिन त्रिलोक-वंद्य हो जाते हैं । इस गाथा के देखने से यह निश्चय हो जाता है कि, जिस आत्मा ने मदिरा पान और प्रमाद का परित्याग कर दिया है, उस आत्मा मे निश्चय ही अनेक उत्तमोत्तम, सुन्दर-गुण एकत्र हो जाते हैं । जिससे वह अनेक साधुओं से पूजित हो जाता है । इतना ही नहीं, किन्तु दुष्प्राप्य मोक्ष का भी साधक बन जाता है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सद्गुणी-साधु की संवराराधना की सफलता के विषय मे कहते हैं:—

एवं तु स गुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जए ।
तारिसो मरणंतेवि, आराहेइ संवरं ॥४६॥

एवं तु स गुणप्रेक्षी, अगुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि, आराधयति सम्वरम् ॥४६॥

पदार्थान्वयः—एवं तु—उक्त प्रकार से स—वह गुणप्पेही—गुणों को देखने वाला च—तथा अगुणाणं—अवगुणों को विवज्जए—छोड़ने वाला तारिसो—तादृश-शुद्धाचारी साधु मरणंतेवि—मृत्यु के समय पर भी निश्चय ही संवरं—चारित्र धर्म की आराहेइ—आराधना कर लेता है ।

मूलार्थ—उक्त प्रकार से जो साधु, सद्गुणों को धारण करने वाला और दुर्गुणों को छोड़ने वाला है, वह अन्तिम (मृत्यु) समय में भी स्वीकृत चारित्र की सम्यक् आराधना करता है ।

टीका—जो साधु सद्गुणों का धारक, दुर्गुणों का परिहारक, एवं सदैव अन्तःकरण की शुद्ध-वृत्ति का संरक्षक है, वह अन्य समय तो क्या, जो समय उद्विग्नता (विकलता) का होता है उस मृत्यु के समय में भी चारित्र धर्म की पूर्णतया समाराधना कर लेता है। क्योंकि, सदैव शुद्ध-बुद्धि बनी रहने से हृदय में चारित्र धर्म का बीज इस प्रकार दृढ़ता के साथ अँकुरित हो जाता है कि, जो आगे-आगे और अधिकाधिक पल्लवित होता रहता है। उसे घोर से घोर मृत्यु जैसे संकट की प्रचंड आँधी भी नष्ट नहीं कर सकती। इसीलिये सूत्रकार ने सूत्र में 'तारिसो' 'तादृशः' पद पढ़ा है। जिससे उक्त गुणोपेत, शुद्ध संयम धारी मुनि, संवर चारित्र धर्म का पूर्ण आराधक हो जाता है। सूत्रगत 'गुण' शब्द से अप्रमाद, क्षमा, दया, सत्यता, सरलता, इन्द्रिय-निग्रहता आदि और अवगुण शब्द से प्रमाद, अविनय, क्रोध, असत्य, रस-लोलुपता, विलास-प्रियता आदि का ग्रहण है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सद्गुणी साधु की पूजा-प्रतिष्ठा के विषय में प्रतिपादन करते हैं:—

आयरिए　आराहेइ, समणे आवि तारिसो।
गिहत्था वि णं पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥४७॥

आचार्यानाराधयति　, श्रमणांश्चापि　तादृशः।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति, येन जानन्ति तादृशम् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—तारिसो-ऐसा गुणवान् साधु आयरिए-आचार्यों की आराहेइ-शुद्ध-भाव से कल्याणकारी आराधना करता है, इसी प्रकार समणे आवि-सामान्य साधुओं की भी आराधना करता है तथा गिहत्थावि-गृहस्थ लोग भी णं-इस पवित्र साधु की पूयंति-पूजा करते हैं जेण-जिस कारण से (क्योंकि) गृहस्थ लोग तारिसं-तादृश-शुद्ध धर्मी को जाणंति-जानते हैं।

मूलार्थ—गुणवान् साधु, आचार्यों की एवं अन्य सामान्य-साधुओं की भी सम्यक्तया आराधना कर लेता है। ऐसे गुणी साधु की गृहस्थ लोग भी भक्ति-भाव से पूजा (सेवा) करते हैं, क्योंकि, गृहस्थ लोग उस शुद्ध संयमधारी को भली भाँति जानते हैं।

टीका—गुणवान् साधु, आज्ञा-पालन द्वारा जैसे अपने धर्माचार्यों की आराधना करता है, ठीक इसी प्रकार विनय-भक्ति, सेवा-सुश्रूषा द्वारा अन्य सहचारी साधुओं की भी सम्यक्तया आराधना करता है। उस में इतनी अधिक नम्रता का गुण होता है कि जिससे वह भूल कर भी कभी यह नहीं विचार करता कि, 'ये साधु मेरे से अधिक क्या गुण रखते हैं, मै इनकी क्यों सेवा करूँ !' वल्कि वह सदैव यही विचारता है कि, इस नश्वर शरीर से जितनी भी सेवा की जाय उतनी ही थोडी है, शरीर अमर नहीं वल्कि सेवा अमर है। ऐसे गुणवान् साधु की गृहस्थ लोग भी पूजा-वन्दना (नमस्कार) करते हैं, और सभक्ति-भाव वस्त्र, पात्रादि मुनि-योग्य वस्तु की निमंत्रणा भी करते हैं। कारण यह है कि वे मुनि को जिस प्रकार से गुणवान् देखते हैं, उसी प्रकार से पूजा (सत्कार) भी करते हैं।

इस गाथा से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि, वस्तुतः गुणों का ही पूजन है, किसी भेप का, नाम का, तथा सम्बन्ध का नहीं। 'गुणाः पूजास्थानं गुणिपु न च लिङ्गं न च वयः।' इस लिये समस्त मुनियों को चाहिये कि, वे अपनी मुनि-वृत्ति में यदि कभी किसी प्रकार की न्यूनता देखें तो झट-पट उस न्यूनता को दूर कर स्व-वृत्ति की पूर्ति करें। अन्यथा गृहस्थों से तिरस्कृत (भर्त्सित) होना पड़ेगा। एक पूज्य अपना कर्तव्य पालन न करने के कारण अपने पुजारी से झिड़का जाय, यह कितनी लज्जा की वात है ?।

उत्थानिका—अव सूत्रकार, कुछ अन्य चोर साधुओं के विपय में कहते हैं:—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिव्विसं ॥४८॥

तपःस्तेनः वचःस्तेनः, रूपस्तेनस्तु यो नरः।
आचार-भावस्तेनश्च , करोति देवकिल्विषम् ॥४८॥

पदार्थान्वयः—जे-जो नरे-मनुष्य तवतेणे-तप का चोर वयतेणे-वचन का चोर य-तथा रूवतेणे-रूप का चोर य-तथा आयारभावतेणे-आचार और भाव

का चोर होता है, वह देवकिव्विसं–किल्विषदेवत्व की कुव्वइ–प्राप्ति करता है, अर्थात् वह अत्यन्त नीच जो किल्विषदेव हैं, उन में पैदा होता है।

मूलार्थ—जो साधु, तप का चोर, वचन का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर तथा भाव का चोर होता है, वह अगले जन्म में अत्यन्त नीच योनि-किल्विषदेवों में उत्पन्न होता है।

टीका—संसार में चौर्य-कर्म का त्याग करना बड़ा कठिन है। मनुष्य, सावधानी रखता हुआ भी किसी न किसी प्रकार के भावावेश में आकर चोरी कर ही बैठता है। क्योंकि, चोरी कोई एक तरह की नहीं होती, चोरी के भेद-प्रभेद बहुत अधिक संख्या में हैं। जिन्हों ने जैनागमों का पूर्ण अभ्यास किया है, वे ही इस के भेद-प्रभेदों को जानते हैं और वे ही इस पाप-पङ्क से साफ-साफ बचते हैं।

अब सूत्रकार, यहाँ प्रसंगोचित फल वर्णन के साथ यह कहते हैं कि, साधु वेप में किस किस प्रकार की चोरियों की संभावना है, जिनसे साधु हमेशा बचता रहे। तपश्चोर—कोई साधु स्वभावतः दुबला-पतला और निर्बल शरीर वाला है, किसी भावुक-गृहस्थ ने उसको देख कर पूछा कि, 'हे भगवन्! क्या वे मास-क्षमण आदि महान् तपस्या के करने वाले आप ही तपो-मूर्ति आगार हैं?' तब साधु अपनी पूजा की इच्छा से यदि यह कहे कि, 'हाँ, वह तपस्वी मैं ही हूँ' तो वह साधु तप का चोर है। क्योंकि, वह कभी 'मास' आदि तप तो करता नहीं, किन्तु असत्य भाषा बोल कर झूठा तपस्वी बनना चाहता है। या ऐसा कहे कि, हाँ, भाई! साधु लोग तप किया ही करते हैं। साधुओं के तप का क्या पूछना? तथा मौन-भाव ही अवलंबन कर ले, जिससे गृहस्थ जान जाए कि, यही महामुनि वे घोर तपस्वी हैं अपने मुख से अपनी प्रशंसा करना नहीं चाहते। 'हीरा मुख से ना कहे मेरा इतना मोल'। इसी प्रकार अगले प्रश्नों के विषय में भी विशेष रूप से जान लेना चाहिए। वचःस्तेन—कोई साधु व्याख्यान देने में बड़ा ही निपुण है। उसकी समाज में बड़ी प्रशंसा है। परन्तु कभी दूसरा व्याख्यानी साधु किसी अपरिचित स्थान में गया, और लोग उसी प्रसिद्ध व्याख्यानी साधु के भ्रम से उससे पूछें कि, क्या अमुक शास्त्र-विशारद-व्याख्यान-वाचस्पति साधु आप ही हैं।' तब मुनि यदि उत्तर में यह कहें कि, हाँ वह मैं ही हूँ, अथवा साधु-व्याख्यानी हुआ ही करते

हैं, या मौन धारण कर जाय, तो वह साधु वचन का चोर है । रूप-चोर—कोई रूपवान् राजकुमार दीक्षित होगया । तब उसके रूपके समान किसी अन्य साधु से कोई पूछे कि, 'क्या वे आपही राजकुमार हैं, जो वड़े रूपवान् हैं, और अभी दीक्षित हुए हैं ।' तब साधु उत्तर में स्पष्ट कहे, या वाक् छल से 'हाँ, साधु राज्य-वैभव को छोड़ कर ही साधुत्व लेते हैं । वैराग्य-धन के सामने यह धन क्या वस्तु है ?' यह कहे, अथवा मौन रह जाय, तो वह साधु रूप का चोर माना जाता है । आचार-चोर—कोई साधु व्यवहार मात्र से वाह्य-अचार-विचार में वड़ा ही तत्पर रहता है । तब कोई प्रश्न करे कि, 'हे भगवन् ? क्या अमुक आचार्य के क्रिया-पात्र-शिष्य आपही हैं ?' तब साधु उत्तर मे कहे कि, साधु स्वीकृत-क्रियाओं का पालन करते ही हैं, या स्पष्ट 'हाँ' भर ले तथा मौनावलंबन से कुछ ऐसा ही व्यक्त करे तो वह साधु आचार का चोर होता है । भाव-चोर—किसी साधु के हृदय में किसी शास्त्र का गूढ़ार्थ नहीं वैठता है । अतः उसने किसी अन्य साधु से पूछा कि, 'इस पद का आप क्या अर्थ करते हैं !' तब उस मुनि ने जों कुछ उसका भाव था वह वतला दिया । फिर वह पृच्छक-मुनि, 'अहं-मन्यता' से कहे कि, 'हाँ मेरे हृदय में भी इसका यही अर्थ वैठा हुआ है, यह तो मैं आपकी परीक्षा ले रहा था' तो वह पृच्छक साधु भाव चोर होता है ।

तात्पर्य यह है कि, अपनी पूजा–प्रतिष्ठा के लिये किसी अन्य का नाम छिपा कर असत्य वचन बोलना तथा मौनावलंबन कर लेना तथा वाक्-छल से उत्तर देना, ये सब चोरी के आवान्तर भेद हैं । इसलिये इस प्रकार की क्रियाओं के करने वाले साधु, किल्विष-देवों के कर्मों की उपार्जना करते हैं, अर्थात् वे मर कर नीच किल्विप देवों में उत्पन्न होते हैं ।

उत्थानिका—अब 'वे किल्विषदेव कैसे होते हैं ?' इस विषय में कहा जाता है:—

लद्धुण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिव्विसे ।
तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं ॥४९॥

लब्ध्वाऽपि देवत्वं, उपपन्नो देवकिल्विषे।
तत्राऽपि सः न जानाति, किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥४९॥

पदार्थान्वयः—देवकिव्विसे–किल्विषदेव जाति में उववन्नो–उत्पन्न हुआ देवत्तं–देवत्व को लद्धुणवि–प्राप्त करके से–वह तत्थावि–वहाँ भी निश्चय से नयाणाइ–नहीं जानता कि मे–मैंने किं किच्चा–कौन सी क्रिया करके इमं फलं–यह किल्विष देवत्व का फल प्राप्त किया।

मूलार्थ—वह पूर्व सूत्रोक्त चोर-साधु, किल्विषदेव जाति के देव रूप में उत्पन्न होकर भी यह नहीं जानता कि, मैं किस कर्म के फल से इस नीच किल्विष देव जाति में उत्पन्न हुआ हूँ।

टीका—यदि वह चोरी करने वाला व्यक्ति, तथा-विध-क्रिया के पालन से किल्विष देवों में उत्पन्न भी हो गया तो भी वह यह नहीं जानता कि, मैं कौनसी दुष्क्रिया के फल से नीच किल्विष-देव बना हूँ। क्योंकि, देव-विशिष्ट-अवधि-ज्ञान के वल से अपने पूर्व भव (जन्म) की ठीक स्मृति कर लेता है, किन्तु वह विशिष्ट-अवधि ज्ञान के न होने से अपने पूर्व-जन्म के वृत्तान्त को नहीं जान सकता। पूर्वोक्त छल-क्रियाओं के करने से उसे विशिष्ट-अवधि ज्ञान नहीं होता। तथा मन्द-क्रियाओं के करने से ही उक्त देव नीच भाव प्राप्त करता है। कारण यह है कि, विशिष्ट तप-संयम का फल तो विशिष्ट-देव-भाव प्राप्त कराता है, तथा मोक्षपद प्राप्त कराता है। किन्तु मन्द-क्रियाओं का फल मन्द-गति ही प्राप्त होना है। इसीलिए सूत्रकार ने स्वयं नीच-गति का वर्णन किया है।

सूत्रकार ने जो पूर्वजन्मकृत-कर्मों के ज्ञान का निषेध किया है। उसका यह आशय है कि, पूर्व-कृत-कर्मों का संस्मरण होने से जीवात्मा को पश्चात्ताप द्वारा कुछ संभलने का (सद्गति का) अवसर मिल जाता है। परन्तु उस पापी चोर साधु को तो यह अवसर भी नहीं मिलता। चौर्य-कर्म प्रेमी प्राणी का अधः पतन निःसीम होता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'उस किल्विषदेव दशा से भी च्युत होकर वह कहाँ जाता है ?' इस विषय में कहते हैं:—

तत्तोवि से चइत्ताणं, लब्भइ एलमूअअं।
नरगं तिरिक्ख जोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥५०॥

ततोऽपि सः च्युत्वा, लभते एडमूकताम्।
नरकं तिर्यग्योनिंवा, बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥५०॥

पदार्थान्वयः—तत्तोवि–वहाँ से भी (देवलोक से भी) से–वह चइत्ताणं–च्युत होकर (गिर कर) एलमूअअं–मेष की भाषा के समान अस्पष्ट-मूक भाषा-भाषी मनुष्य जन्म को लब्भइ–प्राप्त करेगा वा–अथवा नरगं तिरिक्ख जोणिं–नरक, तिर्यंच-योनि को प्राप्त करेगा जत्थ–जहाँ पर बोही–जिन-धर्म की प्राप्ति सुदुल्लहा–अति दुर्लभ है।

मूलार्थ—वह चोर साधु, देवलोक से च्युत होकर (गिर कर) मेष के समान मूकभाषा बोलने वाला मनुष्य होता है, अथवा पराधीन-नरक-तिर्यंच योनि को प्राप्त करता है; जहाँ जिन-धर्म की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है।

टीका—इस गाथा में यह प्रतिपादन किया है कि, वह चौर्य-कर्म करने वाला वेष-धारी साधु, किल्विष-देव भाव को भोग कर यदि मनुष्य गति को भी प्राप्त होगा तो जैसे बकरा वाणी बोलता है, वैसी ही वाणी बोलने वाला गूँगा मनुष्य होगा। (बहुत से अर्थकार यह कहते हैं कि, वह बकरा ही बनेगा, यह भी ठीक है)। इतना ही नहीं, किन्तु संसार-चक्र में परिभ्रमण करता हुआ कभी वह नरक में जायगा और कभी तिर्यंच (पशु पक्षी की योनि) में जायगा। ऐसे नीच पुरुषों को जल्दी से छुटकारा नहीं मिलता। तात्पर्य यह है कि, वह जहाँ जायेगा वहाँ अशांत (दुःख-पीड़ित) ही रहेगा। उसे शान्ति-प्रद जिन-धर्म की प्राप्ति होनी अतीव दुर्लभ है। क्योंकि, जिन-धर्म की प्राप्ति आर्जव-भावों के आश्रित है, वक्र-भावों के नहीं। सूत्रकार ने यह स्तेन-भाव का वर्णन भली भाँति कर दिया है और साथ ही उसके फल का भी दिग्दर्शन किया है। जिसका स्पष्ट भाव है कि, उक्त मायाचार की क्रियाओं के करने से संसार की वृद्धि हो जाती है। अतः प्रत्येक मुनि का कर्तव्य है कि, वह ऐसे मलिन कार्यों से अपनी शुद्ध-आत्मा को सदा बचा कर रक्खे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, प्रकृत-विषय का उपसंहार करते हैं:—

एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
अणुमायंपि मेहावी, माया मोसं विवज्जए ॥५१॥

एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
अणुमात्रामपि मेधावी, माया-मृषां विवर्जयेत् ॥५१॥

पदार्थान्वयः—मेहावी—मर्यादावर्ती-साधु नायपुत्तेण—ज्ञात पुत्र से भासियं—कहे गये एअं च—इस पूर्वोक्त दोसं—दोष को दट्ठूणं—देख कर अणुमायंपि—स्तोक मात्र भी माया मोसं—छल पूर्वक असत्य बोलने का विवज्जए—परित्याग करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान् मर्यादा-बद्ध-साधु, ज्ञातपुत्र-भाषित इन पूर्वोक्त दोषों को सम्यक्तया देखकर, स्तोक-मात्र भी माया-मृषा भाषण न करे।

टीका—चौर्य कर्म करने वाले मुनि, सद्गति नहीं पाते। वे साधु क्रिया करते हुए भी किल्विषदेव ही होते हैं। वहाँ से भी वे नरक, तिर्यंच योनियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करते हैं। पूर्वोक्त जिन दोषों का वर्णन श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने किया है, उन दोषों को आगम से भली भाँति देखकर (जानकर) साधुओं को किसी अवस्था में अणु-मात्र भी माया-मृषा आदि दोषों को धारण नहीं करना चाहिये। क्योंकि, जब अणु-मात्र का भी इतना भीषण फल वर्णन किया गया है, तो फिर प्रभूत (अधिक) के फल का तो कहना ही क्या है ? 'अधिकस्याधिकं फलम्।' अतः सिद्धान्त यह निकला कि, छल और असत्य कदापि नहीं करना चाहिए। इसका परिणाम भव-सन्तति की वृद्धि होना है—इस क्रिया के करने से चाहे कुछ भी करो आत्म-विकास कभी नहीं हो सकता। परम-पवित्र-सत्य और आर्जव-भाव से ही आत्मा स्व-विकास की ओर झुकती है, और फिर शनैः शनैः विकास होते होते पूर्ण विकास हो जाने पर, शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है।

उक्त सूत्र में जो 'ज्ञातपुत्रेण भाषितं'* पद दिया हुआ है। उसका यह भाव है कि, यह सत्योपदेश श्री भगवान् महावीर स्वामी का है, किसी अन्य साधारण-व्यक्ति का नहीं। सर्वज्ञ के वचनों में ही पूर्ण सत्यता और पूर्ण हितावहता होती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस अन्तिम गाथा द्वारा अध्ययन का उपसंहार करते हुए शिक्षा देते हैं:—

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं,
संजयाण बुद्धाण सगासे।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिइन्दिए,
तिव्वलज्ज गुणवं विहरिज्जासि ॥५२॥
त्ति बेमि।

इति पिंडेसणाए पंचमज्झयणे बिइयो उद्देसो समत्तो।

शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं,
संयतेभ्यः बुद्धेभ्यः सकाशात्।
तत्रभिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः,
तीव्रलज्जः गुणवान् विहरेत् ॥५२॥
इति ब्रवीमि।

इति पिण्डैषणायाः पंचमाध्ययने द्वितीय उद्देशः समाप्तः ॥५॥

पदार्थान्वयः—सुप्पणिहिइन्दिए—भली भाँति वश में करी हैं इन्द्रियां जिस ने ऐसा तिव्वलज्ज—अनाचार से अत्यन्त लज्जा रखने वाला गुणवं—गुणवान् भिक्खू-

* अन्य तीर्थंकरों की साक्षी न देकर भगवान् महावीर की ही साक्षी देने का यह अभिप्राय है कि, आधुनिक साधु संघ, जगद्-गुरु भगवान् महावीर का शिष्य है। धार्मिक दृष्टि से गुरु, पिता है, और शिष्य, पुत्र। 'पुत्ताय सीसाय समं भवित्ता।' अस्तु-ग्रन्थकार कहते हैं कि, ऐ साधुओ! यह तो तुम्हारे पिता का कथन है। इसे अवश्य मानो। तभी दुनियां में सपूत कहलाओगे नहीं तो देखलो कपूतपन का लांछन तुम को लगे बिना नहीं रहेगा। कपूत उभयलोक से भ्रष्ट होता है।

साधु बुद्धाण—तत्त्व के जानने वाले संजयाण—गीतार्थ साधुओं के सगासे—पास में भिक्खेसणसोहिं भिक्षेषणा की शुद्धि को सिक्खिऊण—सम्यक्तया सीख कर तत्थ—उस एषणा समिति के विषय में विहरिज्जासि—सानन्द विचरण करे । त्ति बेमि—इस प्रकार, मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—भली प्रकार इन्द्रियों को निग्रह करने वाला, अनाचार सेवन से तीव्र लज्जा रखने वाला, संयतोचित श्रेष्ठ गुणों वाला संयमी, तत्त्वज्ञ-मुनियों के पास में विनय भक्ति से भिक्षैषणा शुद्धि का सम्यग् ज्ञान प्राप्त कर, एषणा समिति की समाचारी का विशुद्ध रूप से पालन करता हुआ सानन्द संयम-क्षेत्र में विहरे ।

टीका—इस अन्तिम गाथा में अध्ययन का उपसंहार करते हुए आचार्य जी कहते हैं कि, साधु का कर्तव्य है वह तत्त्व-वेत्ता-शुद्धाचारी, विद्या-वृद्ध मुनियों के पास विनय पूर्वक भिक्षा की एषणा शुद्धि को सीख कर, भली भाँति इन्द्रियों को वश में रक्खे । एवं उत्कृष्ट-संयम का पालन करता हुआ श्रेष्ठ गुणों को धारण करे और भिक्षैषणा की समाचारी का पालन करता हुआ 'अप्पाणं भावेमाणे' विचरे । क्योंकि, शुद्ध-समाचारी के पालन से ही साधु की चंचल-इन्द्रियाँ समाधि में स्थित रह सकेंगी । इस अध्ययन के कथन करने का यह भाव है कि, साधु को सब से प्रथम भिक्षैषणा के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है । क्योंकि, भिक्षैषणा के ज्ञान से ही आहार की शुद्धि होती है । और शुद्ध आहार से ही प्रायः शुद्ध मन रह सकता है । जब मलिन मन शुद्ध हो गया तो चञ्चल इन्द्रियाँ अपने आप कुमार्ग गमन से रुक जायेंगी । और जिस समय इन्द्रियाँ कुमार्ग गमन से रुकगई तो फिर मोक्ष अपने हाथ में ही है जब मन चाहे तब ले सकता है । प्रस्तुत सूत्र में जो 'शिक्षित्वा' पद दिया है । उसका यह भाव है कि, जो विधि गुरु मुख से सीखी हुई हो, वही फलवती होती है । यदि वह विधि देखा देखी सीखी जाय 'अर्थात्, विना गुरु के किसी का अनुकरण किया जाय' तो कभी फलवती नहीं होती है । बल्कि फल देने की अपेक्षा पूरी-पूरी अनर्थ-कारिणी हो जाती है । क्योंकि, गुरु शिक्षण के बिना देखा देखी के कार्य में चाहे कितनी ही चतुरता करो, त्रुटियाँ अवश्य रह जाती हैं । 'देखा देखी साधे जोग,

छीजे काया वाढ़े रोग ।' कहने का आशय यह है कि, निर्वाण पद प्रदायक होने से प्रत्येक विधि गुरु-मुख से ही सीखनी चाहिए । यही मार्ग सत्य है, शिव और सुन्दर है ।

'श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे वत्स ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से जैसा अर्थ इस अध्ययन का सुना है, वैसाही मैंने तेरे से कहा है । अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा ।'

०

पंचमाध्ययन द्वितीयोद्देश समाप्त ।

अह महायारकहा णाम छट्ठमज्झयणं

अथ महाचारकथानामकं षष्ठमध्ययनम् ।

उत्थानिका—पूर्व अध्ययन में निर्दोष आहार ग्रहण करने की विधि प्रतिपादन की गई है, इसलिए पूर्वोक्त विधि-पूर्वक निर्दूषण-आहार शुद्ध-संयमधारी मुनि ही ग्रहण कर सकता है, अन्य नहीं। अतः इस प्रस्तुत महाचार-कथाख्य-अध्ययन में अष्टादश-स्थानक रूप शुद्ध-संयम का वर्णन किया जाता है। इस अध्ययन का समुत्थान-प्रसंग, वृद्ध-परंपरा इस प्रकार कहती है—कोई भिक्षा-विशुद्धि का ज्ञाता साधु भिक्षार्थ नगर में गया। मार्ग में राजा, राज-मंत्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि साध्वाचार की जिज्ञासा वाले सज्जन मिले। उन्हों ने उस साधु से पूछा कि, हे भगवन्! आप साधुओं का आचार गोचर-क्रिया-कलाप क्या है? आप मोक्ष प्राप्ति के किन साधनों को प्रयोग में ला रहे हैं? कृपया जैसा हो वैसा बतलाइये, हमें आप के आचार-विचार जानने की अतीव उत्कंठा है। साधु ने उत्तर* दिया कि, मैं आप लोगों के इस प्रश्न का उत्तर जैसा चाहिये वैसा समुचित विस्तार से इस समय यहाँ नहीं दे सकता। क्योंकि, यह समय हमारी आवश्यक भिक्षादि-

---

* यह कथन दो बातों पर जैसा चाहिये वैसा स्पष्ट प्रकाश डालता है। एक तो यह कि, साधु भिक्षा के लिये जाते हुए मार्ग में या अन्य कहीं स्थान पर विस्तृत-विवेचना से धार्मिक विषयों का भी वर्णन न करे। दूसरे यह कि, शिष्य का हृदय गुरु-भक्ति-युक्त-होना चाहिये। समर्थ गुरु श्री की विद्यमानता में स्वयं वर्णन क्षम होने पर भी गुरु श्री के प्रति ही संकेत करे। तभी 'गणोऽस्यास्तीति गणी' का वास्तविक महत्त्व सुस्थित हो सकता है, अन्यथा नहीं। आज की स्वच्छन्दतानुगामिनी शिष्य-मण्डली ध्यान दे।

क्रियाओं का है। इस के अतिक्रम हो जाने से फिर अनेक प्रकार के दोषों के उत्पन्न होने की संभावना है। अस्तु, आप लोग अपने इस प्रश्न का उत्तर बाहर 'अमुक' बाग में हमारे आचार्य श्री जी विराजे हुए हैं, उनसे लें। वे ज्ञान-दर्शन-संपन्न, संयमी एवं पूर्ण अनुभवी आचार्य हैं। निश्चय रक्खें, आपको अपने प्रश्न का यथोचित उत्तर उन से अवश्य ही मिल जायगा। मुनि श्री के इस प्रकार कहने पर वे राजादि लोग आचार्य जी के पास पहुँचे और अपना प्रश्न उत्तर की जिज्ञासा से आचार्य श्री जी के सम्मुख रक्खा। आचार्य जी ने विस्तार के साथ जो उत्तर दिया, वह इस अध्ययन में ग्रन्थित है।

नाण दंसण संपन्नं, संजमे य तवे रयं।
गणिमागमसंपन्नं , उज्जाणम्मि समोसढं ॥१॥
रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
पुच्छंति निहुअप्पाणो, कहं भे आयारगोयरो ॥२॥ युग्मम्

ज्ञानदर्शनसंपन्नं , संयमे च तपसि रतम्।
गणिनमागमसंपन्नम् , उद्याने समवसृतम् ॥१॥
राजानो राजामात्याश्च, ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः।
पृच्छन्ति निभृतात्मानः, कथं भवतामाचारगोचरः ॥२॥

पदार्थान्वयः—**रायाणो**—राजा **य**—और **रायमच्चा**—राजमंत्री **माहणा**—ब्राह्मण **अदुव**—अथवा **खत्तिया**—क्षत्रिय आदि लोग **निहुअप्पाणो**—निश्चलात्मा होकर **नाण-दंसण-संपन्नं**—ज्ञान-दर्शन से संपन्न **संजमे**—संयम **य**—और **तवे**—तप में **रयं**—रत **आगमसंपन्नं**—आगम सिद्धान्त से संयुक्त **उज्जाणम्मि** **समोसढं**—उद्यान में समवसृत अर्थात् विराजित **गणिं**—आचार्य जी को **पुच्छंति**—पूछते हैं कि, हे भगवन्! **भे**—आप जैन-साधुओं का **आयारगोयरो**—आचार गोचर **कहं**—किस प्रकार का है।

मूलार्थ—राजा, राज-मन्त्री, ब्राह्मण, तथा क्षत्रिय आदि लोग निश्चल-चित्त से ज्ञान-दर्शन संपन्न, संयम और तप की क्रियाओं में पूर्णतया रत,

आगम-ज्ञानी, उद्यान में पधारे हुए आचार्य जी से पूछते हैं कि हे भगवन्! आपका आचार गोचर क्रिया कलाप कैसा है! कृपया हम को उपदेश करके कृतार्थ कीजिये।

टीका—पूर्व पिण्डैषणा अध्ययन में साधुओं की भिक्षा-विशुद्धि पर शास्त्रकार द्वारा अधिकतर प्रकाश डाला जा चुका है। अब प्रसंग वश इस अध्ययन द्वारा प्रश्नोत्तर रूप में साधुओं के अन्य संयमाचार पर भी समुचित प्रकाश डाला जायगा। इस प्रारम्भिक गाथा युग्म में प्रश्न, प्रश्न-कर्ता, तथा उत्तर दाता तीनों की असाधारणता का वर्णन किया है। प्रश्न और प्रश्न-कर्ता राजा, राज-मंत्री, ब्राह्मण आदि की असाधारणता स्वयं सिद्ध है। तथा उत्तर-दाता आचार्य जी की असाधारणता, ज्ञान-दर्शन-संपन्न आदि सुविशाल विशेषणों से सूत्रकार ने स्पष्टतः बतला दी है। इसलिये प्रयोजन (उत्तर सिद्धि) के लिये तीनों में असाधारणता का होना अतीव आवश्यक है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि, जब पहले आचार्य को ज्ञान-दर्शन-संपन्न के सुन्दर विशेषणों से समलंकृत कर दिया है, तो फिर आगे जाकर आगम संपन्न का दूसरा विशेषण व्यर्थ क्यों दिया है ? उत्तर में कहना है कि, बहुत से आगमों की प्रधानता दिखाने के लिये, आचार्य को विशिष्ट-श्रुतधर सिद्ध करने के लिये, और गुरुगत अनुयोग शैली की परंपरा को अविच्छिन्न सिद्ध करने के लिये, तथा आचार्य जी का बुद्ध-बोधितत्व प्रकट करने के लिये "आगमसंपन्न" का विशेषण दिया गया है अतः इसकी निरर्थक आशङ्का करना सर्वथा भ्रम है। दूसरी प्रश्न विषयक आशङ्का होती है कि, प्रश्न में 'आचार' और 'गोचर' यह दो शब्द क्यों हैं? मोक्षादि सम्बन्धी अन्य ऊँचे जटिल प्रश्न क्यों नहीं किए ? इसका भी समाधान स्पष्ट है कि, आचार-शब्द से सदाचार का और गोचर-शब्द से भिक्षा-वृत्ति का ग्रहण है। दोनों का शुद्ध-वृत्ति से पालने का जो मुख्योद्देश है वह निर्वाण प्राप्ति करना ही है। अतः भाव-गाम्भीर्य के विशाल-दृष्टि-बिन्दु से सब से पहले आचार और गोचर का ही प्रश्न किया है। इसी प्रश्न में अन्य सब प्रश्नों का समावेश हो जाता है। इसके साथ ही यह भी भली भाँति जान लेना चाहिए कि, जिसका आचार और आहार शुद्ध होता है, वही सच्चा आस्तिक कहलाता है। और आस्तिक का मुख्य उद्देश निर्वाण पद प्राप्त करना है। सच्चे आस्तिक की तृप्ति छोटे मोटे

स्वर्ग आदि वस्तुओं से नहीं होती । बल्कि वह तो पूरी सिद्धि प्राप्त करके ही विश्राम लेता है । अध्ययन के नाम के विषय में पूछा जाता है कि, इस वर्णित अध्ययन का नाम महाचार-कथाख्य क्यों रक्खा गया है ? ऐसी इस नाम की इस में क्या वर्णनीय विशेषता है ? उत्तर में कहा जाता है कि, जो संयमाचार 'क्षुल्लकाचार कथाख्य' तीसरे अध्ययन में वर्णित है; उसकी अपेक्षा यह महाचार कथाख्य अध्ययन बड़ा है अर्थात् उसकी अपेक्षा इस अध्ययन में आचार सम्बन्धी वर्णन उत्कृष्ट रूप से सविस्तर प्रतिपादन किया जायगा ।

उत्थानिका—राजा आदि के प्रश्न के अनंतर आचार्य जी कहते हैं:—

तेसिं सो निहुओ दंतो, सव्वभूअसुहावहो ।
सिक्खाए सुसमाउत्तो, आयक्खइ वियक्खणो ॥३॥

तेभ्यः स निभृतः दान्तः, सर्वभूत - सुखावहः ।
शिक्षया सुसमायुक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥३॥

पदार्थान्वयः—निहुओ-भय से रहित (असंभ्रान्त) दंतो-इन्द्रियजयी सव्वभूअसुहावहो-समस्त जीवों का हित करने वाला सिक्खाए-ग्रहण आसेवन रूप शिक्षा से सुसमाउत्तो-भली भाँति संयुक्त एवं वियक्खणो-परम विचक्षण सो-वह आचार्य तेसिं-उन राजा आदि प्रश्न कर्ताओं से आयक्खइ-प्रश्न के उत्तर में कहता है ।

मूलार्थ—सर्वथा असंभ्रान्त, चञ्चल-इन्द्रियों को जीतने वाले, सब जीवों को सुख पहुँचाने वाले, ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षाओं से संयुक्त, परम विचक्षण वे उद्यान में विराजित आचार्य उन राजा आदि प्रश्न कर्ताओं से उत्तर में कहते हैं ।

टीका—इस गाथा में उत्तर-दाता आचार्य जी के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन किया गया है । जैसे कि, वे आचार्य सब प्रकार के भयों से रहित हैं, पाँचों इन्द्रियाँ और मन को जीतने वाले हैं । ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षा विधि के सुमर्मज्ञ हैं, परिवर्तनशील समय की परिस्थिति को ठीक-ठीक जानने वाले हैं, इतना

ही नहीं, किन्तु संसार के सभी जीवों के परम हित चिन्तक अर्थात् (परम हित-कारी) हैं। एवं विध गुणोपेत वे आचार्य जी महाराज अब प्रश्न-कर्ता राजा आदि लोगों के प्रश्न के उत्तर में विस्तृत-विवेचना करते हुए कथन आरम्भ करते हैं।

इस गाथा के कहने का सारांश यह है कि, जब तक वक्ता सब प्रकार से वक्ता के योग्य गुणों से सुशोभित नहीं होगा, तब तक उसका प्रतिवचन अर्थात् उत्तर, निष्पक्ष और असाधारण उपमा से उपमित नहीं हो सकेगा। इसीलिये सूत्रकार ने आचार्य जी के मुख्य विशेषण रूप से यह पद पढ़ा है 'सिक्खाए सुसमाउत्तो' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि, 'आचार्य जी ग्रहण और आसेवन रूप-सुन्दर शिक्षाओं से भव्यरीत्या (अच्छी तरह) सुशोभित (जानकार) हैं।' क्योंकि जिनकी आत्माएँ सुशिक्षाओं से सुशोभित होती हैं, वे ही असम्भ्रान्त और विजितेन्द्रिय होते हैं। इतना ही नहीं बल्कि वे सब जीवों के सुख-कारी भी होते हैं। उनकी ओर से कोई ऐसी क्रिया नहीं होती, जिससे किसी को दुःख पहुँचे। वे अपने शीतल, शांत, मधुर-उपदेश से सब जीवों को (शत्रु, मित्र एवं उदासीनों को) एक भाव से सुख-शान्ति का दिव्य सदेश देते हैं। इस प्रकार उक्त गुणों के धारक, परम विचक्षण सत्पुरुष, जब जिस विषय का वर्णन करने लगेंगे, तब उस विषय को अत्यन्त स्फुट रूप से वर्णन करके बस चित्र ही खींच कर दिखा देंगे। जिसकी जिस विषय में अव्याहत गति है, वह अवश्य ही उस विषय में श्रोता-शिष्यों को मंत्र-मुग्ध सा कर देता है। अब यहाँ सूत्र-गत षष्ठी विभक्ति सम्बन्धी शङ्का के विषय में कहा जाता है, यद्यपि सूत्र में 'तेसिं'—'तेषाम्' षष्ठी विभक्ति दी गई है, परन्तु यह षष्ठी विभक्ति, चतुर्थी विभक्ति के ही स्थान में व्यवहृत है। क्योंकि प्राकृत भाषा में 'चतुर्थ्याः षष्ठी' इस सूत्र से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का ही विधान किया गया है। यदि कोई सज्जन कहे इस गाथा के निर्माता कौन हैं? तो इस शङ्का के उत्तर में कहना है कि, स्वयं सूत्रकार ही इस गाथा के निर्माता हैं। उन्होंने सम्बन्ध पूर्ति के लिये इस गाथा का निर्माण किया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'जिज्ञासु-जनों के प्रश्न के उत्तर में आचार्य जी ने क्या कहा?' इस विषय में कहते हैं:—

हंदि धम्मत्थकामाणं, निग्गंथाणं सुणेह मे ।
आयारगोयरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठिअं ॥४॥

हंदि(हन्त) धर्मार्थ-कामानां, निर्ग्रन्थानां शृणुत मत् ।
आचार-गोचरं भीमं, सकलं दुरधिष्ठितम् ॥४॥

पदार्थान्वयः—हंदि–हे राजा आदि लोगो ! तुम धम्मत्थकामाणं–धर्म अर्थ कामना वाले निग्गंथाणं–निर्ग्रन्थों के भीमं–कठिन कर्म 'शत्रुओं के प्रति जो भयंकर है' और दुरहिट्ठिअं–कायर-पुरुषों के प्रति जो दुरधिष्ठित (धारण करना अशक्य) है, ऐसे सयलं–समग्र आयारगोयरं–आचार-गोचर को मे–मुझ से सुणेह–श्रवण करो ।

मूलार्थ—अयि जिज्ञासुओ ! जो धर्म अर्थ की कामना करने वाले निर्ग्रन्थ हैं, उनके भीम और दुरधिष्ठित सम्पूर्ण आचार-गोचर का वर्णन मेरे से सावधान होकर सुनो ।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, जब उन राजा आदि लोगों ने आचार्य जी से प्रश्न किया कि, हे भगवन् ! आपका आचार-गोचर किस प्रकार का है ? तब आचार्य जी उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व उन लोगों को संबोधन द्वारा महात्माओं के महान् आचार विषय को सुनने के लिये सावधान करते हैं । जैसे कि, हे जिज्ञासु-श्रोताओं ! जिन पवित्र-आत्माओं ने संसार के दुःसम्बन्ध को अपने अन्तःकरण से पूर्णरूप से त्याग दिया है, उन धर्म और अर्थ की कामना करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थों के भीम और दुरधिष्ठित आचार गोचर का विधान उपयोग पूर्वक मुझ से श्रवण करो । यद्यपि, सूत्र-गत धर्म और अर्थ ये दोनों शब्द अनेक अर्थों के वाचक हैं । जैसे कि, धर्म शब्द ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म, कुल-धर्म, गण-धर्म, संघ-धर्म, पाषण्ड-धर्म, श्रुत-धर्म, चारित्र-धर्म, और अस्तिकाय-धर्म आदि का वाचक है । इसी प्रकार अर्थ शब्द भी धन और धान्य के साथ सम्बन्ध रखता है । इस तरह धन और धान्य के अनेक भेद होने से अर्थ शब्द के भी अनेक अर्थ हो जाते हैं । तथापि उस स्थान पर धर्म शब्द से केवल श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म का एवं अर्थ शब्द से मोक्ष का ही ग्रहण है । क्योंकि, प्रश्न-

कर्ताओं के प्रश्न का सम्बन्ध इसी धर्म से है, अन्य से नहीं। जब यह सिद्ध हो जाता है तो साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म का अर्थ (प्रयोजन) वस्तुतः मोक्ष ही है। यदि ऐसा कहा जाय कि, प्रश्न-कर्ताओं ने तो बिना किसी भेद-विवक्षा के यह प्रश्न किया था कि, हे भगवन्! आपका अचार-गोचर किस प्रकार का है? परन्तु गणी जी उत्तर मे भिक्षुओं के आचार का ही वर्णन करने लग गये हैं, तो क्या यह भ्रान्ति नहीं है? इस के उत्तर में कहा जाता है कि, प्रश्न में जो आप शब्द आया है, उसका सम्बन्ध भिक्षु-संघ से ही है। इसी लिये गणी-महाराज ने उक्त प्रश्न के उत्तर में निर्ग्रन्थों के आचार विपय को श्रवण करने के लिये प्रश्न-कर्ताओं को सावधान किया है। यदि यह और कहा जाय कि-आचार शब्द का भीम शब्द के साथ क्यों सम्बन्ध रक्खा गया है? तो कहना है कि, जिस प्रकार वस्त्र-गत-मल के लिये क्षार-पदार्थ रौद्र है, ठीक उसी प्रकार कर्म-मल के लिये भिक्षु-आचार रौद्र है। तथा जिस प्रकार क्षार द्वारा मल के निकल जाने पर वस्त्र स्वच्छ और शुद्ध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार इस आचार द्वारा कर्म-मल के निकल जाने पर आत्मा स्वच्छ और शुद्ध हो जाती है। सूत्रकार ने जो 'दुरधिष्ठित' पद दिया है, उसका भी यही भाव है कि, सकल आचार का धारण करना दुर्बल आत्माओं के लिये असंभव नहीं है तो कठिन अवश्यमेव है। तथा इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि, संपूर्ण आचार के स्थान पर असंपूर्ण आचार तो बहुत से आत्माएँ पालन कर सकती हैं। जिससे वे उस जन्म से मोक्ष-प्राप्ति न करते हुए भी स्वर्ग-प्राप्ति अवश्यमेव कर लेते हैं। सूत्रगत 'हंदि' शब्द अव्यय है। इसके 'हेमचन्द्राचार्य' विरचित 'हेमशब्दानुशासन' के 'हंदि विषाद विकल्प पश्चात्ताप निश्चय सत्ये। ८-२-१८०।' सूत्रानुसार अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु प्रकरण-संगत्या यहाँ पर उपदर्शन अर्थ ही गृहीत है।

उत्थानिका—अब आचार्य, प्रतिपाद्य-आचार-गोचर के गौरव का वर्णन करते हैं:—

नन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं।
विउलट्ठाणभाइस्स, न भूअं न भविस्सइ ॥५॥

नान्यत्रेदमुशक्तं , यल्लोके परमदुश्चरम् ।
विपुलस्थानभागिनः , न भूतं न भविष्यति ॥५॥

पदार्थान्वयः—अयि भव्यो ! अन्नत्थ–जैनशासन के अतिरिक्त अन्य मतों में **न एरिसं वुत्तं**–इस प्रकार के उन्नत आचार का कथन नहीं किया गया है **जं–जा लोए**–प्राणि लोक में **परमदुच्चरं** अत्यन्त दुष्कर है अर्थात् जिसका पालन करना अतीव कठिन है। अन्य मत मे ऐसा **विउलट्ठाणभाइस्स**–विपुल स्थान के सेवक साधुओं का आचार **न भूअं**–न गत काल में कभी हुआ और **न भविस्सइ**–न आगामी काल में कभी होगा (उपलक्षण) से, न अब वर्तमान काल मे कहीं है।

मूलार्थ—अयि धर्म-प्रेमी सज्जनो ! जैसा कि संयम स्थान सेवी, साधुओं का सदाचार जैन-धर्म में वर्णित है, वैसा और किसी मत में नहीं है। निर्ग्रन्थ-साधुओं का ऐसा उत्कृष्ट आचार न अन्यमतों में कभी हुआ और न भविष्य में कभी होगा। वर्तमान तो प्रत्यक्ष है, इस समय किसी में भी दिखाई नहीं देता है।

टीका—इस गाथा में निर्ग्रन्थाचार के गौरव का प्रदर्शन किया है। जैसे कि, गणी जी महाराज कहते हैं 'हे राजादि भव्यो ! जैसा साध्वाचार का वर्णन जैन-धर्म मे किया है वैसा अन्य किसी भी मत में नहीं है। जैन-साधु का आचार अतीव दुर्द्धर है इसे निर्बल आत्माएं सहज मे ही धारण नहीं कर सकती। यही कारण है कि, अन्य किसी मत में ऐसे विपुल-स्थान सेवी साधु न तो पहले कभी हुए और न अब भविष्य मे भी होंगे। वर्तमान काल तुम्हारे सम्मुख है, इस में भी जिधर देखो उधर ही पूर्ण अभाव देखने मे आता है।' गणी जी के कहने का यह आशय है कि, जैन-साधुओं का आचार-गोचर कुछ साधारण श्रेणी का नहीं है। जो हर कोई दुर्बल-हृदय आसानी से इसका पालन कर ले। जैन-साधुओं का आचार अत्यन्त कठिन है। कठिन क्या ? जीते ही मर जाना है। इस को धारण करने के लिये पहले अपनी आत्मा में असाधारण-साहस शक्ति पैदा करने की परम-आवश्यकता है। यही कारण है कि, जैन-धर्म जैसा निर्ग्रन्थाचार का वर्णन अन्य सुकुमार, सुख-दुःख विचारक मतों मे कहीं भी नहीं मिलता। इसकी दुर्लभता का कारण यही है कि, आचार सम्यग् दर्शन के आधीन है। विना सम्यग् दर्शन के

आचार मे आचारत्व नहीं आ सकता है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि, जैन शास्त्रों में जब 'अन्नलिंगी सिद्धा' पाठ आता है तो फिर सूत्रकार का यह कथन किस प्रकार संगत हो सकता है ? क्या कभी किसी को विना आचार के भी मोक्ष मिला है ? यदि नहीं, तो फिर 'अन्न लिंगी सिद्धा' (अन्य मत से मोक्ष प्राप्त सिद्ध भगवान्), इस जैन-पाठ से ही अन्य मत में उत्कृष्ट आचार का होना सिद्ध हो जाता है। इस शङ्का के समाधान में कहना है कि, जहाँ जैन-शास्त्रों मे मोक्ष प्राप्त आत्माओं का वर्णन करते हुए जो 'अन्न लिङ्गी सिद्धा' पाठ आया है, वहाँ पर लिङ्ग का अभिप्राय वेष से ही है, आचार से नहीं। आचार अर्थ मे प्रयुक्त हुआ लिङ्ग शब्द सैद्धान्तिक रूप में कहीं नहीं देखा जाता। यदि सूत्रकारों को अन्यमत का आचार ही अभिप्रेत होता, तो वे लिङ्ग शब्द पर क्यों जाते ? सीधे आचार शब्द को जोड़ कर 'अन्न आचार सिद्धा' ऐसा ही पाठ पढ़ देते जो पूर्ण-असंदिग्ध रहता। सर्वदा आशय को शब्दों द्वारा असंदिग्ध रखना सूत्रकारों का आसाधारण गुण होता है। इसके विना सच्चा सूत्रकार नहीं बन सकता। अस्तु 'अन्न लिङ्गी सिद्धा' इस पाठ से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि, सिद्ध होने वाले व्यक्ति का लिङ्ग भले ही अन्य किसी मत का हो; परंतु वास्तविकता में उसकी आत्मा सम्यग्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यग्-चारित्र रूप वास्तविक जैनत्व से विभूषित रहती है। तभी वह अक्षत, अमर, सिद्ध पद प्राप्त करता है। ऊपर के वक्तव्य से स्वयं ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि, शास्त्रकारों का जो कुछ भी कथन होता है, वह व्यक्ति-गत न होकर गुण-गत होता है। व्यक्ति चाहे किसी भी मत के किसी भी लिङ्ग मे हो यदि उसका स्वीकृत-आचार सम्यक् है तो वह आचार सर्वज्ञ प्रतिपादित ही जानना चाहिए। क्योंकि, वहीं जैनत्व है। सम्यगाचार जहाँ कहीं हो सर्वोत्तम ही रहता है। वह कभी दुराचार नहीं बन सकता।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'वह आचार सभी भिक्षुओं के लिये एक समान पालन करने योग्य है' यह कहते हैं:—

सखुड्डुगवियत्ताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखंडफुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा॥६॥

स क्षुल्लकव्यक्तानां, व्याधितानां च ये गुणाः।
अखण्डास्फुटिताः कर्तव्याः, तान् शृणुत यथा तथा ॥६॥

पदार्थान्वयः—जे-ये वक्ष्यमाण गुणा-गुण अर्थात् नियम सखुड्डगवियत्ताणं-सभी वालकों एवं वृद्धों को वाहियाणं च-अस्वस्थों एवं स्वस्थों को अखंडफुडिया-अखण्ड एवं अस्फुट्टित रूप से कायव्वा-धारण करने चाहिएँ तं-वे गुण जहा-जिस प्रकार हैं तहा-उसी प्रकार मुझ से सुणेह-श्रवण करो।

मूलार्थ—अयि भव्यो! जैन-साधुओं के ये वक्ष्यमाण नियम, बालक, वृद्ध, व्याधिग्रस्त एवं सर्वथा स्वस्थ, सभी व्यक्तियों को एक-रूप से अखण्ड एवं अस्फुटित पालन करने होते हैं। सो तुम हमारे साधु-संघ की यह उग्र नियमावली जैसी है उसको ध्यान पूर्वक मुझ से श्रवण करो।

टीका—इस गाथा में इस वात का प्रकाश किया है कि, तीर्थंकर-देवों ने जो साध्वाचार प्रतिपादन किया है, वह सभी साधुओं के लिये सामान्य रूप से प्रतिपादन किया है। किसी के लिये न्यूनता और अधिकता से नहीं। क्योंकि जैन-शासन मे मुँह देख टीका करने की पद्धति को थोड़ा भी स्थान नहीं है। यहाँ जो वात है वह स्पष्ट है और सभी के लिये एक समान है। अतएव व्याख्याता-आचार्य जी ने प्रश्न-कर्ताओं से कहा है कि, साधु-पद-वाच्य-आत्मार्थी सज्जन, वालक, वृद्ध, व्याधि-ग्रस्त एवं स्वस्थ आदि को 'किसी भी अवस्था मे क्यों न हों' अपने गुण पूर्ण रूप से देश-विराधना तथा सर्व-विराधना से रहित धारण करने चाहिएँ। क्योंकि, जो वीर सांसारिक सुखों को लात मार कर साधुता के क्षेत्र मे निर्भय एवं निरुद्वेग खड़े हो गये हैं, वे फिर चाहे वालक हों, वृद्ध हों, रोगी हों, निरोगी हों, अर्थात् कोई भी हों, उन्हें साधु-वृत्ति के नियम सर्वथा शुद्धता-पूर्वक ही पालन करने समुचित हैं। सूत्रगत 'अखण्ड' शब्द देश-विराधना रहित अर्थ मे और 'अस्फुटित' शब्द सर्व-विराधना रहित अर्थ में व्यवहृत है।

उत्थानिका—अव आचार्य, 'व्याख्येय अष्टादश-गुणों के पालन में ही साधुत्व है, अन्यथा नहीं।' इस विषय में कहते हैं:—

दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झइ।
तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गंथत्ताओ भस्सइ ॥७॥

दशाष्टौ स्थानानि, यानि बालोऽपराध्यति।
तत्रान्यतरस्मिन् स्थाने, निर्ग्रन्थत्वात् भ्रश्यति ॥७॥

पदार्थान्वयः—बालो-जो अज्ञानी-साधु जाइं-इन दस अट्ठ य ठाणाइं-अष्टादश स्थानकों का अवरज्झइ-अपराध करता है तथा तत्थ—उन अष्टादश स्थानकों मे से अन्नयरे ठाणे-किसी भी एक स्थानक में प्रमाद से वर्तता है वह निग्गंथत्ताओ-निर्ग्रन्थता से भस्सइ-भ्रष्ट हो जाता है।

मूलार्थ—जो विवेक-विलुप्त व्यक्ति, सम्पूर्ण अष्टादश स्थानों की तथा किसी भी एक स्थान की विराधना करता है; वह साधुता के सर्वोच्च पद से बुरी तरह भ्रष्ट हो जाता है।

टीका—इस गाथा में साधु के मुख्य-मुख्य गुणों के विषय में कथन किया गया है और बतलाया गया है कि, ये अष्टादश वास्तविक साधुता के गुण हैं। जो इन गुणों पर पूर्ण रूप से स्थिर है, वही सच्चा साधु है। और जो प्रमाद के कारण इनकी विराधना कर देता है, वह साधुता से भ्रष्ट हो जाता है। अर्थात् वह साधु-वृत्ति से पतित माना जाता है। यहाँ कहा जा सकता है कि, संसार का परित्याग कर जो साधु ही हो गया तो वह फिर किस प्रकार अपने गुणों की विराधना कर सकता है? उत्तर में कहा जाता है कि, स्वयं सूत्रकार ने ही इस शङ्का का समाधान कर दिया है। क्योंकि, सूत्र में जो 'बालो'-'बालः' शब्द आया है उसका यही भाव है कि, जब कोई व्यक्ति किसी नियम का खंडन करने लगता है, तब वह अज्ञान और प्रमाद से युक्त हो जाता है। और जब अज्ञान और प्रमाद भाव से युक्त हो गया तो तब वह साधुता से स्वयं ही पतित हो जाता है। फिर उस में साधुता कहाँ रह गई? यह तो रही निश्चय पक्ष की बात। व्यवहार पक्ष मे भी साधु जिस नियम को तोड़ता है, वह उस नियम से भ्रष्ट माना जाता है। कोई सभ्य-पुरुष उसमें पूर्ण साधुता स्वीकार नहीं करता।

उत्थानिका—अब आचार्य, अष्टादश स्थानों के नाम बतलाते हैं:—

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंकनिसज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ॥८॥

व्रतषट्कं कायषट्कं, अकल्पो गृहिभाजनम् ।
पर्यङ्क - निषद्ये च, स्नानं शोभावर्जनम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—सच्चा साधु वयछक्कं–छः व्रत का पालन करे तथा कायछक्कं–षट्-काय अकप्पो–अकल्पनीय पदार्थ गिहिभायणं–गृहस्थों के पात्रों में भोजन करना पलियंक–पर्यंक पर बैठना य–तथा निसज्जा–गृहस्थ के घर पर तथा गृहस्थ के आसन पर बैठना सिणाणं–स्नान एवं सोहवज्जणं–शरीर की शोभा को सर्वथा वर्जे ।

मूलार्थ—साधु के लिये प्राणातिपात आदि छः व्रत, पृथ्वी-काय आदि छः जीवनिकाय, अकल्पनीय पदार्थ, गृहस्थ के भाजन में भोजन करना, पर्यंक पर बैठना, गृहस्थों के घरों में एवं गृहस्थों के आसनों पर बैठना, स्नान करना और शरीर की विभूषा करना ये सब सर्वथा त्याज्य हैं ।

टीका—इस गाथा में अष्टादश-स्थानों के नाम बतलाये हैं । यथा—षड्व्रत—१. प्राणातिपात, २. मृषावाद, ३. अदत्ता-दान, ४. अब्रह्मचर्य, ५. परिग्रह, ६. रात्रि-भोजन । इन छः अव्रतों का सर्वथा परित्याग करना । षट्काय—७. पृथ्वीकाय, ८. अप्काय, ९. तेजस्काय, १०. वायुकाय, ११. वनस्पतिकाय, १२. त्रसकाय । इन छः कायों के जीवों की रक्षा करनी । १३. अकल्पनीय पदार्थ का परित्याग करना, १४. गृहस्थ के कांसी आदि के पात्रों में भोजन करने का परित्याग करना, १५. पर्यंक आदि पर नहीं बैठना, १६. घरों में जाकर नहीं बैठना, १७. * देश-स्नान तथा सर्व-स्नान का परित्याग करना, १८. विभूषा (शोभा शृङ्गार) का सर्वथा परित्याग करना ।

यद्यपि सूत्रकार ने 'सोहवज्जणं' शोभा के साथ ही वर्जन शब्द जोड़ा है ।

* देशस्नान—हाथ पैर आदि का प्रक्षालन तथा सर्वस्नान—सिर से लेकर पैरों पर्यंत सर्वाङ्ग पर जल की एक धारा डालनी । साधु के लिये यह स्नान क्रिया सर्वथा अयोग्य है—इसका विशेष वर्णन इस स्थान की व्याख्या में किया जायगा ।

तथापि इसका सम्बन्ध प्रत्येक पद के साथ प्राणातिपात-वर्जन, मृषा-वाद-वर्जन, आदि करना उचित है। क्योंकि, तभी सूत्र का अर्थ ठीक बैठ सकता है, अन्यथा नहीं। यह सूत्र, चारित्र-विषयक होने से इस में उन्हीं विषयों का समावेश किया गया है, जो चारित्र-विषयक हैं। और साथ में उन के न पालने का फल भी दिखलाया गया है। यहाँ यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि, केवल क्रिया-कलाप से ही आत्म-कल्याण नहीं हो जाता। सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-दर्शन पूर्वक ही क्रिया-कलाप आत्मोद्धार करने मे अपना सामर्थ्य रखता है। इस स्थल में जो भी चारित्र वर्णित है वह सब ज्ञान-दर्शन पूर्वक ही है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'उक्त अष्टादश-स्थानकों मे से' प्रथम स्थान का वर्णन करते हैंः—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसिअं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥९॥

तत्रेदं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम्।
अहिंसा निपुणा दृष्टा, सर्वभूतेषु संयमः ॥९॥

पदार्थान्वयः—**तत्थिमं**—उन अष्टादश स्थानकों में से यह **पढमं**—प्रथम **ठाणं**—स्थानक **महावीरेण**—भगवान् महावीर स्वामी ने **देसिअं**—अनासेवन द्वार से उपदेशित किया है। क्योंकि **अहिंसा**—जीवदया **निउणा**—निपुणा-अनेक प्रकार के सुखों के देने वाली **दिट्ठा**—देखी गई है; अतएव **सव्वभूएसु**—सर्व भूतों के विषय में **संजमो**—संयम रखना चाहिए।

मूलार्थ—अष्टादश स्थानकों में से यह प्रथम अहिंसा-स्थानक, भगवान् महावीर स्वामी ने उपदेशित किया है, अहिंसा सब सुखों की देने वाली देखी गई है। अतः त्रस-स्थावर सभी जीवों के विषय में पूर्णतया संयम रखना चाहिये।

टीका—इस गाथा में अष्टादश-स्थानकों में से सब से प्रथम अहिंसा व्रत के विषय में कथन किया है। जैसे कि, श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने अप्रतिहत केवल ज्ञान मे अहिंसा भगवती को देखा। जो सब सुखों की देने

वाली, प्राणि-मात्र से प्रेमोत्पादन करने वाली, एवं मोक्ष-पथ प्रदर्शन करने वाली है। विश्व-हितैषी वीर ने कल्याणाभिलाषी मनुष्यों को शिक्षा देते हुए यह प्रतिपादन किया कि, अयि भव्य मनुष्यो ! संसार में छोटे-बड़े, दुष्ट-अदुष्ट जितने भी प्राणी हैं सभी की रक्षा करो किसी को भी दुःख मत पहुँचाओ। क्योंकि सभी प्राणियों को एक सुख ही प्रिय है दुःख नहीं। दुःख के नाम से तो सभी दूर भागते हैं। अतः सुख की इच्छा रखने वाले सज्जनों का कर्तव्य है कि, वे दुःख पहुँचाकर किसी के सुख मे मूर्खोचित विघ्न न डालें।

अहिंसा-धर्म (दया-धर्म) के पालन से जो जीवात्मा को सुख मिलता है, वह अद्वितीय है। उसके विषय में साधारण मनुष्यों की तो बात क्या, बड़े-बड़े तर्कणा-शाली दिग्गज-विद्वानों तक की मन-वचन की शक्तियाँ असमर्थ हैं, वे कुछ काम नहीं देती। काम तब दें जब कि, यह उन का विषय हो और उस की कहीं न कहीं सीमा हो। भगवान् महावीर का यह प्रतिपादन उपदेश रूप में जिह्वा के ऊपर ही नहीं रहा है प्रत्युत उन्होंने अहिंसा-धर्म के पालन की क्रम-बद्ध-नियमावली भी बनाई, जो श्रावक और साधु दो विभागों मे विभक्त की गई। श्रावक की अहिंसा मे अपूर्णता और साधु की अहिंसा में पूर्णता है। साधु-वर्ग की अहिंसा की पूर्णता के लिये ही भगवान् ने साधुओं को आधा कर्म और औद्देशिक आदि हिंसा जनित आहारों के त्याग का बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दों मे बार-बार उपदेश किया है। संक्षिप्त शब्दों मे सूत्रकार के कहने का यह आशय है कि, वस्तुतः अहिंसा ही सुखों की देने वाली है। अतः साधुओं का कर्तव्य है कि, वे इस अहिंसा का पालन बड़ी यत्ना और सावधानी से करें। सूत्र में जो 'दृष्टा' पद दिया गया है, उसका यह भाव है कि, श्री भगवान् ने जो यह अहिंसा भगवती का उपदेश किया है, वह स्वयं अपने ज्ञान और अनुभव से किया है। किसी से सुन कर या आगम से जान कर नहीं किया। इससे एक तो भगवान् की पूर्ण सर्वज्ञता सिद्ध होती है, दूसरे अहिंसा-जन्य-फल-विषयक-संदिग्धता भी दूर हो जाती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर उक्त विषय में ही कहते हैं:—

१. यहाँ यह विचार जरूर रखना चाहिये कि, किसी व्यक्ति को दुराचारी से सदाचारी बनाते समय-जो समयानुसार कटुता का वर्ताव किया जाता है, वह हिंसा में सम्मिलित नहीं है।

जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे णो वि घायए ॥१०॥

यावन्तो लोके प्राणिनः, त्रसाः अथवा स्थावराः।
तान् जानन्नजानन् वा, न हन्यात् नापिघातयेत् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—लोए-लोक में जावंति-जितने भी तसा-त्रस अदुव-और थावरा-स्थावर पाणा-प्राणी हैं साधु तो ते-उन सभी जीवों का जाणमजाणंवा-जानता हुआ या न जानता हुआ न हणे-स्वयं हनन नहीं करे णोविघायए-औरों से प्रेरणा कर हनन नहीं करावे तथा हनन करने वालों की अनुमोदना भी न करे।

मूलार्थ—संसार में जो भी त्रस, स्थावर प्राणी हैं, साधु सभी को जानता हुआ, अथवा न जानता हुआ, स्वयं उनकी हिंसा न करे और न किसी से करवावे। तथा और जो कोई अपने आप करते हों उनकी अनुमोदना भी नहीं करे।

टीका—श्री भगवान् प्रतिपादन करते हैं कि, हे भव्य जीवो ! संसार में जितने भी त्रस-स्थावर प्राणी हैं, उन सभी की अपने प्रयोजन के लिये या प्रमाद आदि के वशीभूत होकर स्वयं हिंसा मत करो और न दूसरों से करवाओ। तथा जो हिंसादि-क्रियाएँ करते हैं, उनकी अनुमोदना भी मत करो। क्योंकि जब मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदित द्वारा हिंसा का सर्वथा परित्याग किया जायगा तभी आत्मा इस व्रत का सुख पूर्वक पूर्ण पालन कर सकेगी।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिये' ? इस शङ्का के समाधान में कहते हैं—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥११॥

सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम्।
तस्मात् प्राणिवधं घोरं, निर्ग्रन्थाः वर्जयन्ति (णम्) ॥११॥

पदार्थान्वयः—**सव्वेवि**–सभी **जीवा**–जीव **जीविउं**–जीने की **इच्छंति**–इच्छा करते हैं परन्तु **न मरिज्जिउं**–मरने की कोई इच्छा नहीं करते **तम्हा**–इसी लिये **निग्गंथा**–निर्ग्रन्थ-साधु **घोरं**–घोर (भयंकर) **पाणिवहं**–प्राणि वध को **वज्जयंति**–छोड़ देते हैं **णं**–यह शब्द वाक्यालङ्कार अर्थ मे है ।

मूलार्थ—**संसार के दुःखी से दुःखी, और सुखी से सुखी, सभी जीव सर्व प्रथम जीना ही चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता । इसी तत्व को लेकर दयालु-मुनि, भयंकर-दुःखोत्पादक प्राणिवध का पूर्णतया परित्याग करते हैं ।**

टीका—यह संसार है । इस में सभी स्थिति (प्रकार) के प्राणी वर्तमान हैं । कोई दुःखी है तो कोई सुखी है, परन्तु एक बात यह अवश्य है कि, जीव दुःखी से दुःखी और सुखी से सुखी चाहे कैसी ही अवस्था मे हों, अपनी-अपनी योनि में सब प्रसन्न हैं जीवित रहने से कोई दुखी नहीं है । जो सुखी हैं उनका तो कहना ही क्या है ? वे तो भला मरना क्यों चाहेंगे ? पाठक किसी ऐसे दुःखित प्राणी को ले, जिस को समझें कि यह तो बस जीने की बिलकुल इच्छा न करता होगा । लेकिन ध्यान पूर्वक देखा जाय तो वह भी वस्तुतः जीने की ही इच्छा करता दिखाई देगा, मरने की नहीं । भले ही वह ऊपर से दिखावटी 'फटा-टोप रच कर मृत्यु का आवाहन करता हो । कारण कि, अपना आयुष्प्राण सभी जीवों को प्रिय है, किसी को भी अप्रिय नहीं । इसीलिये तो यह प्राणि वध रौद्र बतलाया गया है । प्रत्येक दुःखों की उत्पत्ति का कारण यही है । इसी कारण से विज्ञ-भिक्षु इस रौद्र प्राणि-वध का परित्याग करते हैं । जब कि कोई प्राणी मरना चाहता ही नहीं तो फिर उसकी इच्छा के विपरीत क्रिया करनी कभी फलवती नहीं हो सकती है । यदि ऐसा कहा जाय कि वैदिकी हिंसा अहिंसा ही है । क्योंकि, वह हिंसा वेद-मंत्रों से संस्कृत है अतएव वह हिंसा दुःख-प्रद नहीं हो सकती । सभी हिंसाएँ दुःख देने वाली हैं ऐसा नहीं कहना चाहिए ? तो इस के उत्तर में कहा जाता है कि, यह कथन सर्वथा अनभिज्ञता का सूचक है । क्योंकि, यदि वेद मंत्रों से संस्कार किया हुआ विष किसी जीव के मारने में समर्थ न हो सके तब उक्त कथन की भी पुष्टि की जा सकती है । परंतु जब विष वेद-मंत्रों से संस्कारित किये जाने पर भी अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता तो फिर हिंसा

अपने स्वभाव का परित्याग किस प्रकार कर सकती है। हिंसा हिंसा ही रहेगी चाहे वह कैसी ही क्यों न हो। हिंसादि-क्रियाएँ किसी भी समय शुभ-फल-प्रद नहीं हो सकती है। इसी लिये श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्राणिवध को रौद्र फल का देने वाला जान कर इसके आसेवन का निषेध किया है और इसके स्थान पर अहिंसा भगवती को स्थान दिया है। अर्थात् अहिंसा भगवती का प्राणी मात्र के लिये उपदेश किया जो उन सब के लिये उपादेय है।

उत्थानिका—अब आचार्य, द्वितीय स्थानक के विषय में कहते हैं:—

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूआ, नोवि अन्नं वयावए ॥१२॥

आत्मार्थं परार्थं वा, क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
हिंसकं न मृषा ब्रूयात्, नाप्यन्यं वादयेत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—साधु अप्पणट्ठा-अपने वास्ते वा-अथवा परट्ठा-पर के वास्ते कोहा-क्रोध से वा-मान, माया और लोभ से जइवा-अथवा भया-भय से हिंसगं-पर-पीड़ा कारक मुसं-मृषा-वाद न बूआ-स्वयं न बोले तथा अन्नवि-औरों से भी नो वयावए-न बुलवाए।

मूलार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ तथा भय के कारण से अपने लिये तथा दूसरों के लिये साधु, न तो स्वयं मृषा भाषण करे और न दूसरों से करवाए।

टीका—यदि सच्चा साधु बनना है तो क्या अपने लिये, क्या दूसरों के लिये, कभी असत्य नहीं बोलना चाहिए। अर्थात् अपने आप असत्य न बोलकर दूसरों से भी नहीं बुलवाना चाहिये और न बोलने वालों का अनुमोदन करना चाहिये। असत्य, आत्मा के पतन का मूल कारण है। क्योंकि जितने भी असत्य हैं, वे सब के सब स्वपरपीड़ोत्पादक होने से हिंसक हैं। अतः आत्मोन्नति के अभिलाषी मोक्ष-मार्ग के अनथक-पथिक-साधुओं का परम कर्तव्य है कि, वे असत्य का सर्वथा परित्याग करके सत्य का आश्रय लें। बिना सत्य के सत्य लोक में जाकर सदा के लिये सत्य, स्थिर नहीं हो सकता है, अर्थात् वह सत्यवादी सत्यस्वरूप नहीं

हो सकता । भगवान् महावीर के 'तं सच्चं भगवं' के प्रवचनानुसार सत्य 'भगवान्' है । अतः सत्य भगवान् के जो सच्चे उपासक (भक्त) होते हैं वे भी एक दिन भगवान् हो ही जाते हैं । इस में सन्देह को अणु-मात्र भी स्थान नहीं है । परन्तु, असत्य का परित्याग करते समय इस बात का अवश्य ज्ञान कर लेना चाहिये कि, असत्य भाषण किन किन कारणों से किया जाता है । विना कारणों के जाने असत्य परित्याग का पूर्णतया पालन नहीं हो सकता । अतः सूत्रकार ने स्वयं ही जिज्ञासुओं के लिये असत्य भाषण के कारण वतला दिये हैं:—साधु क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, भय से, लज्जा से, परिहास से, कार्य की शक्ति होते हुए भी 'मेरा तो शिर दुःख रहा है' 'मैं तो वीमार हूँ ।' 'मुझ से काम कैसे हो सकता है' ? इत्यादि असत्यरूप भाषण कदापि न करे । यदि ऐसा कहा जाय कि, जिस असत्य भाषण से किसी अन्य जीव की रक्षा होती हो तो उस असत्य के वोलने में कोई दोष नहीं है, जैसे कि व्याध और मृग के दृष्टान्त में किसी ने असत्य कथन (बोल) कर मृग के प्राण वचा दिये । इस शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि, साधु-वृत्ति में रहने वाले महानुभाव, किसी भी दशा में किसी भी प्रकार से असत्य भाषण नहीं करते । वे सत्य से जन्य अनर्थ की आशङ्का से समयोचित मौनावलम्बी तो अवश्य हो जाते हैं, परन्तु असत्य भाषण नहीं करते । क्योंकि वे अहिंसा और सत्य दोनों के ही पालक होते हैं । अतः वे इस प्रकार के अवसरों पर मध्यस्थ भाव का अवलम्बन कर अपने ग्रहण किये हुए दोनों नियमों को ही शुद्धतया पालन करते हैं ।

उत्थानिका—अव आचार्य, असत्य के दोष प्रकट करते हुए यह कथन करते हैं:—

मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्व साहूहिं गरिहिओ ।
अविस्सासो अ भूआणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥१२॥

मृषावादश्च लोके, सर्वसाधुभिर्गर्हितः ।
अविश्वासश्च भूतानां, तस्मात् मृषां विवर्जयेत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—मुसावाओ उ–मृषावाद लोगम्मि–लोक में सव्व साहूहिं–सब साधुओं के द्वारा गरिहिओ–गर्हित है अ–तथा मृषावादी भूआणं–प्राणिमात्र का अविस्सासो–अविश्वसनीय है तम्हा–इस लिये साधु को उचित है कि, वह मोसं–मृषावाद को विवज्जए–पूर्ण रूप से छोड़ दे।

मूलार्थ—संसार के सभी साधु पुरुष, असत्य-भाषण की निंदा करते हैं और असत्य भाषी मनुष्य का कोई भी प्राणी विश्वास नहीं करता। अतः साधु को असत्य भाषण का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

टीका—इस गाथा में असत्य के दोष दिखलाये गये हैं। यथा—प्रथम तो असत्य भाषण का सब से बड़ा दोष यह है कि, यह असत्य संसार के सभी साधु पुरुषों द्वारा निन्दित है। किसी भी सभ्य पुरुष ने इसको अच्छा नहीं बतलाया। जिन्होंने असत्य के विषय में कुछ कहा है, उन्होंने बस निन्दारूप में इसे बुरा ही कहा है। और जिस को सभ्य-पुरुष बुरा बतलाते हों वह किसी भी दशा मे अच्छा नहीं हो सकता। सत्पुरुषों के वचन युक्तियुक्त, सुसंगत एवं अनुभव सिद्ध होते हैं, अतः सत्पुरुषों के वचनों मे अप्रामाणिकता की आशङ्का कभी नहीं की जा सकती। दूसरा असत्यभाषण का यह दोष है कि, असत्य-वादी मनुष्य का संसार में कोई विश्वास नहीं करता। सभी उसको और उसकी बातों को घृणा और शङ्का की दृष्टि से देखने लग जाते हैं। यदि कभी वह प्रसंगोपात सत्य बात भी बोलता है, तो भी लोग उसकी बात को सर्वथा असत्य ही मानते हैं। सत्य मानें भी कैसे? बात का मानना तो विश्वास के ऊपर निर्भर है। जिसने अपने विश्वास का परित्याग कर दिया उसने सब कुछ का परित्याग कर दिया। अविश्वसनीय-मनुष्य के पास केवल अविश्वास के, और अविश्वास से उत्पन्न होने वाले कष्टों के अलावा और रहता ही क्या है? अविश्वासी मनुष्य की जीवन-नया संकटों के तूफानी भँवरों में हमेशा डगमगाती रहती है, कुछ पता नहीं कब डूब जाय। उपर्युक्त दोनों दोषों के उल्लेख से सिद्ध होता है कि, असत्य सभी तरह से प्रतिष्ठा का नाश करने वाला है। अतः संसार में प्रतिष्ठा पूर्वक जीवन व्यतीत करना ही जिनके जीवन का एक मुख्योद्देश है, ऐसे साधु-पुरुषों को तो असत्य का सर्वथा परित्याग करना ही श्रेयस्कर है।

उत्थानिका—अब आचार्य, तृतीय स्थान के विषय में कहते हैं—

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं वि, उग्गहंसि अजाइया ॥१४॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं वि, नाणुजाणंति संजया ॥१५॥ युग्मम्

चित्तवद् अचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहु ।
दन्तशोधनमात्रमपि , अवग्रहे अयाचित्वा ॥१४॥
तदात्मना न गृह्णन्ति, नाऽपि ग्राहयन्ति परम् ।
अन्यं वा गृह्णन्तमपि, नानुजानन्ति संयताः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—चित्तमंतं-सचेतन पदार्थ वा-अथवा अचित्तं-अचेतन पदार्थ अप्पं वा-अल्प मूल्यवान्, जइ वा-अथवा बहुं-बहुमूल्यवान् पदार्थ, अधिक क्या दंतसोहणमित्तंवि-दन्त शोधन मात्र-दाँत कुरेदने के लिये एक तृण भी उग्गहंसि-जिस गृहस्थ के अवग्रह में अर्थात् अधिकार में हो अजाइया-उस से विना माँगे संजया-साधु तं-उक्त अदत्त पदार्थों को न-न तो अप्पणा-आप स्वयं गिण्हंति-ग्रहण करते हैं और नोवि-नाँही परं-दूसरे से गिण्हावए-ग्रहण करवाते हैं वा-तथा अन्नं-अन्य को गिण्हमाणं-ग्रहण करते हुए को नाणुजाणंति-अच्छा भी नहीं जानते हैं वि-यह अपि शब्द यहाँ समुच्चय अर्थ के द्योतनार्थ है ।

मूलार्थ—संयमी-साधु सचेतन पदार्थ वा अचेतन पदार्थ, अल्प मूल्य पदार्थ वा बहुमूल्य पदार्थ और तो क्या दन्त शोधन मात्र तृण आदि नगण्य पदार्थ भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हों उसकी आज्ञा लिये बिना उस अदत्त पदार्थ को न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों से करवाते हैं और नाँही ग्रहण करते हुए दूसरों को अच्छा समझते हैं ।

टीका—इस गाथा में यह वर्णन है कि द्विपद-शिष्य आदि चेतन पदार्थ वस्त्र पात्रादि अचेतन पदार्थ, मूल्य से या प्रमाण से अल्प पदार्थ, मूल्य से या

प्रमाण से बहु पदार्थ, इतना ही नहीं, किन्तु दन्त-शोधन के काम में आने वाला तृण आदि नगण्य-पदार्थ भी ततृतत् स्वामी गृहस्थ की आज्ञा लिये बिना साधु कदापि ग्रहण न करे। दूसरों को लेने के लिये उपदेश भी न दे। यदि कोई स्वयं ही ले रहा हो तो उस के इस कार्य को अच्छा समझ कर अनुमोदन भी न करे। क्योंकि, जो वस्तु जिसके अधिकार में है उस वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना ले लेना, चोरी मे प्रविष्ट है। साधु, जब साधु-व्रत लेता है, तब तीन करण (कृत-कारित-अनुमोदित) और तीन योग (मन वचन काय) से चौर्य कर्म का प्रत्याख्यान कर पूर्ण अस्तेय व्रत धारण करता है। अतः वह अदत्त-वस्तु को किस प्रकार ले सकता है। साधु का तो यही धर्म है कि उसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसको वस्तु के स्वामी से माँग कर ही ले। बिना माँगे-वस्तु के स्पर्श को ऐसा समझे जैसा कि जीवनाकांक्षी लोग अग्नि और विष के स्पर्श को समझते हैं। सच्चा साधु वही है जो कण्ठ-गत प्राण होने पर भी कभी अदत्त-वस्तु के लेने को अपना पवित्र हाथ नहीं बढ़ाता है।

उत्थानिका—अब आचार्य, चतुर्थ स्थान के विषय में कहते हैं:—

अबंभचरिअं घोरं, पमायं दुरहिट्ठिअं।
नायरंति मुणी लोए, भेआययण वज्जिणो ॥१६॥

अब्रह्मचर्यं घोरं, प्रमादं दुराधिष्ठितम्।
नाचरन्ति मुनयो लोके, भेदायतनवर्जिनः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जो भेआययण वज्जिणो–भेदस्थानक-वर्जी पाप-भीरु मुणी–मुनि हैं, वे लोए–लोक में अर्थात् संसार में रहते हुए भी दुरहिट्ठिअं–दुःसेव्य तथा पमायं–प्रमाद भूत घोरं–रौद्र अबंभचरिअं–अब्रह्मचर्य का नायरंति–कदापि आचरण नहीं करते।

मूलार्थ—जो मुनि स्वीकृत-संयम के भेद कारक स्थानों के त्यागी हैं, वे संसार में रहते हुए भी 'जो अनन्त-संसार-वर्द्धक होने से दुःसेव्य है, जो प्रमाद का मूल कारण है, जो नरक आदि रौद्र गतियों में ले जाने वाला है, ऐसे' अब्रह्मचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

टीका—जो संसार मे रहते हुए भी स्व-स्वरूप में सम्प्रविष्ट होकर अपने और दूसरे को तारने के लिये निरन्तर प्रयत्न किया करते हैं, जो 'जिन' वचनों के द्वारा संसार के भीतरी दुःस्वरूप को जानते हैं, तथा संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिये मोक्ष-पथ पर शीघ्र गति से दौड़े चले जाते हैं, वे पाप-भीरु दोष-त्यागी महामुनि, कदापि अब्रह्मचर्य से अपनी पवित्र आत्मा को अपवित्र नहीं करते। क्योंकि, अब्रह्मचर्य के समान भयंकर-पाप संसार में दूसरा कोई नहीं है। संसार के पाप अकेले अब्रह्मचर्य से हो सकते हैं। खून की नदी बहाने वाली संसार की बड़ी से बड़ी लड़ाईयाँ भी अधिकतर इसी पापी अब्रह्मचर्य के कारण हुई हैं। इसीलिये सूत्रकार कहते हैं, यह अब्रह्मचर्य अपने आक्रमण से संयम दुर्ग को खण्ड-खण्ड करके रौद्र से रौद्र गतियों की दुःख कारिका यात्रा कराने वाला है। अनेक जन्मों को देता हुआ संसार अटवी में इधर से उधर गेंद की तरह ठुकराने और सभी प्रमादों का पैदा करने वाला है। अतः कल्याण की कामना करने वाले मुनियों का कर्तव्य है कि, वे इसका और तो क्या, स्वप्न में भी ध्यान न लावें।

उत्थानिका—अब आचार्य, फिर इसी 'अब्रह्मचर्य' के दोषों का वर्णन

मूलमेयमहम्मस्स , महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१७॥
मूलमेतद् अधर्मस्य, महादोष समुच्छ्रयम् ।
तस्मात् मैथुन संसर्गं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति (णम्) ॥१७॥

पदार्थान्वयः—यह अब्रह्मचर्य अहम्मस्स—अधर्म का मूलं—मूल है तथा महादोस समुस्सयं—महादोषों का समूह है तम्हा—इसी लिये निग्गंथा—निर्ग्रन्थ एयं—इस मेहुणसंसग्गं—मैथुन के संसर्ग को वज्जयंति—वर्जते हैं णं—यह शब्द वाक्यालङ्कार अर्थ में है।

मूलार्थ—यह अब्रह्मचर्य सब अधर्मों का मूल है और महान् से महान् दोषों का समूह-रूप है। इसीलिये निर्ग्रन्थ साधु इस मैथुन के संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं।

टीका—संसार में जितने भी अधर्म हैं, उन सभी का बीज भूत और जितने भी त्याज्य (न करने योग्य) दोषों के कार्य हैं उन सभी का कराने वाला यह दोषों का समूह-रूप अब्रह्मचर्य है। क्योंकि, संसार में चौर्य आदि कुकृत्य प्रायः इसी के वशीभूत होकर किये जाते हैं और इसी के कारण से लोक परलोक मे नाना प्रकार के घोर से घोर कष्ट भोगे जाते हैं। सूत्रकार ने साधुओं को इसीलिये इस अब्रह्मचर्य से सर्वथा अलग रहने का समुज्ज्वल उपदेश दिया है। केवल उपदेश ही नहीं, 'मेहुण संसग्गं' पद देकर यह भी स्पष्टतः सूचित कर दिया है कि, अब्रह्मचर्य से बचने के लिये एकान्त स्थान मे स्त्रियों से वार्तालाप आदि का संसर्ग भी नहीं करना चाहिए। एकान्त स्थान बहुत बुरा होता है, वहाँ एक स्त्रियों का संसर्ग ही त्याज्य नहीं है, बल्कि जिन-जिन कारणों से कामोद्दीपन होता है वे सभी कारण त्याज्य हैं। उपर्युक्त विवेचन का संक्षिप्त शब्दों मे सार यह है कि, जो आत्माएँ मोक्ष मन्दिर मे जाने की इच्छुक हैं, उन्हे ब्रह्मचर्य का पालन पूर्ण रूप से करना चाहिये। ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्म-पदवी मिल सकती है। बिना ब्रह्मचर्य के ब्रह्म-पद की आशा करना, आशा नहीं, प्रत्युत उन्मत्तता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पंचम स्थान के विषय में कहते हैं:—

बिडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणिअं।
न ते संनिहिमिच्छंति, नायपुत्तवओरया ॥१८॥

बिडमुद्भेद्यं लवणं, तैलं सर्पिश्च फाणितम्।
न ते संनिधिमिच्छन्ति, ज्ञातपुत्रवचोरताः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—जो **नायपुत्तवओरया**—भगवान् ज्ञातपुत्र के प्रवचनों मे रत रहने वाले साधु हैं ते—वे **बिडं**—बिड़-लवण तथा **उब्भेइमं**—सामुद्रिक **लोणं**—लवण तथा **तिल्लं**—तैल **च**—तथा **सप्पिं**—घृत तथा **फाणिअं**—द्रवीभूत-गुड़ आदि पदार्थ (राब) **संनिहिं**—रात्रि में बासी रखना **न इच्छंति**—नहीं चाहते।

मूलार्थ—जो महामुनि, ज्ञातपुत्र, भगवान् महावीर के प्रवचनों पर पूर्ण आसक्ति रखने वाले हैं; वे बिड़-लवण, सामुद्रिक-लवण, तैल, घृत, तथा द्रवीभूत-गुड आदि पदार्थों को रात्रि में रखने की कभी इच्छा नहीं करते।

टीका—इस गाथा में पंचम-स्थान के विषय में कहा गया है कि, जो साधु श्री भगवान् महावीर स्वामी के प्रवचनों पर अनुरक्त हैं; अर्थात् उनकी आज्ञानुसार क्रिया-काण्ड करने वाले हैं, वे विड़-लवण जो लवण गोमूत्र आदि से पकाया जाता है, अथवा सामुद्रिक लवण जो समुद्र के खारे जल से बनाया जाता है, तथा तैल, घृत, द्रवीभूत गुड़ (राव) इत्यादि पदार्थ रात्रि में बासी नहीं रखते। कारण कि, इनका संचय करने से गृहीत नियमों में बाधा उत्पन्न होने की निश्चित संभावना है। तथा किन्हीं सज्जनों की यह मान्यता है कि, 'विड़' शब्द प्रासुक लवण का और 'उद्भेद्य' शब्द अप्रासुक लवण का वाचक है। अतः यहाँ दोनों ही ग्रहण करने चाहिएँ। इनके कथन का सारांश यह है कि, साधु रात्रि में प्रासुक या अप्रासुक दोनों ही प्रकार के पदार्थों मे से किसी भी पदार्थ को न रक्खे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, संनिधि के दोष दिखलाते हैं:—

लोहस्सेसअणुफासे , मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥१९॥

लोभस्यैषोऽनुस्पर्शः , मन्यन्ते अन्यतरामपि।
यः स्यात् संनिधिं कामयते, गृही प्रव्रजितो न सः ॥१९॥

पदार्थान्वयः—एस-यह संनिधि, चारित्र-विघ्नकारी पञ्चम कषाय लोहस्स-लोभ का ही अणुफासे-अनुस्पर्श है (महिमा है) अतः मन्न-तीर्थंकर देव आदि मानते हैं कि जे-जो साधु अन्नयरामवि-स्तोक मात्र भी संनिहिं-रात्रि में भोज्य वस्तु रखने की सिया-कदाचित् कामे-कामना करता है, तो से-वह साधु गिही-गृहस्थ है न पव्वइए-प्रव्रजित (साधु) नहीं।

मूलार्थ—यह लोभ का ही माहात्म्य है जो साधु-पद लेकर भी गृहस्थोचित संनिधि का दोष लगाता है। अतएव धर्म-प्ररूपक-तीर्थंकर देवों का कहना है कि जो साधु, अणुमात्र भी रात्रि में संनिधि रखता है उसे गृहस्थ ही समझना चाहिये, साधु नहीं।

१. यह मान्यता ठीक नहीं जँचती। क्या साधु अप्रासुक पदार्थ रात्रि में नहीं रक्खे तो दिन में रखले? नहीं कभी नहीं। अप्रासुक पदार्थ तो छूना ही नहीं, फिर दिन में या रात में रखने की क्या बात है—संपादक।

टीका—इस गाथा में संनिधि रखने के दोष प्रतिपादन किये हैं। जैसे कि, जो साधु साधुवृत्ति लेकर भी रात्रि में घृतादि पदार्थों के रखने की इच्छा करता है वह सब लोभ का ही माहात्म्य जानना चाहिये। कारण यह है कि, यह लोभ चारित्र में विघ्न करने वाला है। इसीलिये तीर्थंकर देव वा गणधर-देव आदि महा-पुरुष यह मानते हैं कि, जो साधु रात्रि में स्तोक-मात्र भी घृतादि पदार्थ रखने की इच्छा करता है वह वास्तविक साधु नहीं है। उसे साधु के वेश में गृहस्थ ही समझना चाहिए। स्पष्ट शब्दों में यह भाव है कि संनिधि का मूल कारण लोभ है। और जहाँ लोभ है वहाँ साधुता नहीं, एवं जहाँ साधुता है वहाँ लोभ नहीं। इन दोनों का पारस्परिक विरोध दिन और रात के समान है। और 'जहाँ लोभ है वहीं दुर्गति है' यह निश्चित सिद्धान्त है। अतः संनिधि रखने वाला साधु, साधु नहीं है। वह गृहस्थ के नियम से दुर्गति का भागी होता है। संनिधि-प्रेमी—(लोभी) साधु की 'दुर्गति गमन से' साधुता का खण्डन करते हुए टीकाकार भी लिखते हैं—'संनिधीयते नरकादिष्वात्माऽनयेति संनिधिरिति, प्रव्रजितस्य च दुर्गति-गमनाभावात्' जिसके द्वारा आत्मा नरकादि दुर्गतियों में स्थापित किया जाय उसको संनिधि कहते हैं। और प्रव्रजित आत्मा दुर्गति में जाने योग्य नहीं माना जाता, इसलिये संनिधि-कारक आत्मा वास्तव मे साधु नहीं है। सूत्र में जो 'मन्ने'—'मन्ये' एक वचनान्त क्रिया पद दिया है वह 'मन्यन्ते' वहुवचन के स्थान पर दिया है। यह वचन व्यत्यय, प्राकृत शैली से सम्मत है।

उत्थानिका—अव सूत्रकार, 'यदि ऐसा है, तो क्या फिर जो साधु वस्त्र-पात्र आदि उपकरण रात्रि में रखते हैं वह संनिधि नहीं है ?' इस शङ्का के समाधान में कहते हैं:—

जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तंपि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति अ ॥२०॥

यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादप्रोंच्छनम्।
तदपि संयमलज्जार्थं, धारयन्ति परिहरन्ति च ॥२०॥

पदार्थान्वयः—जंपि–यद्यपि साधु वत्थं–वस्त्र व–अथवा पायं–पात्र वा–अथवा कंबलं–कम्बल तथा पायपुंछणं–रजोहरण रखते हैं तंपि–तदपि वे संजम-लज्जट्ठा–संयम की लज्जा के लिये ही धारंति–धारण करते हैं च–और परिहरंति–अपने परिभोग में लाते हैं।

मूलार्थ—मोक्षसाधक साधु जो कल्पनीय वस्त्र, पात्र, कम्बल तथा रजोहरण आदि आवश्यक वस्तुएँ रखते हैं, वे संयम की लज्जा के लिये ही रखते हैं और अपने उपभोग में लाते हैं, ममत्वभाव के लिये नहीं।

टीका—इस गाथा में शङ्का-समाधान किया गया है। शिष्य प्रश्न करता है कि, हे भगवन् ! जब आप संनिधि का अर्थ, पदार्थो का रात्रि में रखना करते हैं, तो क्या फिर जो साधु वस्त्र, पात्र, कम्बल रजोहरणादि अनेक प्रकार के उपकरण रात्रि में रखते हैं वे भी साधु नहीं हैं ? इस शङ्का के उत्तर में आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे शिष्य ! जो साधु वस्त्र, पात्र, आदि उपकरण रखते हैं वे संयम और लज्जा के पालन के वास्ते ही रखते हैं, ममत्व-भाव के लिये नहीं। जैसे कि, साधु स्वयं पात्र न रखकर जब गृहस्थ के भाजन मे खाने लग जायगा, तब भाजन को सचित्त जल से धोने के कारण संयम विराधना अवश्य होगी। तथा जब सर्वथा वस्त्र आदि को छोड़ देगा तब समय-अनुकूल न होने से स्त्रियों के देखने पर कामादि विकार उत्पन्न हो जायँगे। तथा कदाचित् अङ्ग स्फुरणादि से निर्लज्जता पराकाष्ठा तक पहुँच जाएगी। अतएव संयम और लज्जा के रखने के लिये ही मुनि वस्त्र पात्रादि धारण करते हैं, न कि ममत्व भाव के वशवर्ती हो कर। इसी प्रकार ज्ञानादि के साधन पुस्तकादि के विषय में भी जान लेना चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय कि, जब 'वस्त्र' यह समुच्चय पद एक बार दे दिया है तो फिर द्वितीय बार 'कंबल' शब्द क्यों दिया ? क्या कंबल-शब्द वस्त्र-शब्द के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता ? इस के उत्तर में कहना है कि, वस्त्र शब्द से सामान्यतया चोल-पट्टक आदि वस्त्र का ग्रहण है और कम्बल शब्द से विशेषतया वर्षा कल्पादि योग्य प्रधान-वस्त्र का ग्रहण है। अतः वस्त्र-सम्बन्धी प्रधानता और अप्रधानता के भेद को वतलाने के लिये ही सूत्रकार ने वस्त्र शब्द को अलग स्थान दिया है।

उत्थानिका—यदि पूर्वोक्त समाधान ठीक है तो फिर परिग्रह किसे मानना चाहिये ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कथन करते हैं:—

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा ॥२१॥

नासौ परिग्रह उक्तः, ज्ञातपुत्रेण त्रायिना (त्रात्रा)।
मूर्च्छा परिग्रह उक्तः, इत्युक्तं महर्षिणा ॥२१॥

पदार्थान्वयः—ताइणा–जीवों की रक्षा करने वाले **नायपुत्तेण**–ज्ञात-पुत्र भगवान् महावीर स्वामी ने **सो**–इस वस्त्र पात्रादि को **परिग्गहो**–परिग्रह **न वुत्तो**–नहीं बतलाया है, किन्तु **मुच्छा परिग्गहो**–मूर्छा भाव को परिग्रह **वुत्तो**–बतलाया है **इअ**–ऐसा **महेसिणा**–पूर्व महर्षि गणधर-देवने **वुत्तं**–कहा है।

मूलार्थ—जगज्जीवों की रक्षा करने वाले श्री श्रमण भगवान् महावीर ने वस्त्र पात्रादि उपकरणों को परिग्रह नहीं बतलाया है; किन्तु मूर्च्छा-भाव को ही परिग्रह बतलाया है। इन्हीं भगवान् महावीर के प्रवचनों को अवधारण कर महर्षि गणधरादिकों ने भी मूर्च्छा-भाव को ही परिग्रह माना है।

टीका—इस गाथा मे परिग्रह शब्द की व्याख्या की गई है। जैसे कि, स्व-पर-समुद्धारक श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सभी उपकरण मात्र को परिग्रह नहीं कथन किया है, क्योंकि उपकरण मात्र से ही कोई कर्म बंधन नहीं होता। भगवान् ने तो जो कर्मबन्ध का कारण मूर्च्छा भाव (ममत्व भाव) है उसी को परिग्रह माना है। उन्हीं वीर प्रभु से इस अर्थ को अवधारण कर श्री गणधर-देवों ने भी मूर्च्छा-भाव को ही परिग्रह माना है। क्योंकि, इस गाथा में जो तृतीयान्त पद 'महेसिणा' दिया हुआ है, उसका सम्बन्ध गणधर-देवों के साथ ही सिद्ध होता है। अर्थात् जो पूर्व महर्षि गणधर-देव हुए हैं उन्हों ने भी वीर-प्रवचनानुसार कर्मबन्ध का कारण होने से ममत्व-भाव को ही परिग्रह माना है, संयम की रक्षा करने वाले वस्त्रादि उपकरणों को नहीं। तथा मूल सूत्र में जो 'नायपुत्तेण' और 'ताइणा' पद दिये हैं उन का यह भाव है कि 'ज्ञात उदार-क्षत्रियः सिद्धार्थस्तत्पुत्रेण वर्द्धमानेन'—'त्रायिना स्वपरपरित्राणसमर्थेन।' अर्थात्

प्रधान क्षत्रिय सिद्धार्थ राजा के पुत्र और स्व तथा पर के परित्राण करने में समर्थ भगवान् महावीर ने ऐसा प्रतिपादन किया है । योग्य प्रतिपादक का वचन ही वस्तुतः प्रतिपाद्य हो सकता है, अन्य का नहीं । 'ज्ञात पुत्र' शब्द में 'ज्ञात' पद उदार क्षत्रिय का वाचक है नकि 'ज्ञात'[1] नामक वंश का ।

उत्थानिका—अब, उक्त विषय का उपसंहार किया जाता है :—

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण परिग्गहे ।
अवि अप्पणोवि देहंमि, नायरंति ममाइयं ॥२२॥

सर्वत्रोपधिना बुद्धाः, संरक्षण परिग्रहे ।
अप्यात्मनोऽपि देहे, नाचरन्ति ममत्वम् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—बुद्धा-तत्व के जानने वाले सव्वत्थुवहिणा-सब प्रकार की उपधि द्वारा संरक्खण परिग्गहे-षट्-काय के जीवों की रक्षा के लिये जो उपधि परिगृहीत है, उसके विषय मे अवि-तथा अप्पणोवि-अपनी देहंमि-देह के विषय में भी ममाइयं-ममता-भाव नायरंति-आचरण नहीं करते ।

मूलार्थ—जो सैद्धान्तिक तत्व के पूर्ण ज्ञाता मुनि हैं, वे षट्-जीव-कायों के रक्षणार्थ परिगृहीत उपधि के विषय में एवं अपने शरीर के विषय में, किसी प्रकार का ममत्व-भाव नहीं करते ।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि वास्तव में ममत्व भाव ही परिग्रह है । जैसा कि, शिष्य ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! जब वस्त्रादि के अभाव में भी मूर्च्छा हो जाया करती है तो फिर वस्त्रादि के पास रहने पर मूर्च्छा क्यों न उत्पन्न होगी ? इस शङ्का के समाधान मे गुरु श्री कहते हैं कि, हे शिष्य ! जो जो उपधियाँ साधु रखते हैं, वे केवल षट्-काय-जीवों की रक्षा के लिये ही रखते हैं । अतः वस्त्रादि के होने पर भी वे वस्त्रादि पर ममत्व भाव नहीं करते । कारण कि, वे तत्व के जानने वाले जो धर्म कृत्यों में परम सहायक

१. वस्तुतः 'ज्ञात' यह राजा सिद्धार्थ के वंश का नाम था । इसी लिये भगवान् महावीर स्वामी 'ज्ञातपुत्र' के नाम से सम्बोधित किये जाते थे । जिस वन में भगवान् महावीर ने दीक्षा ली है उस का नाम कल्प सूत्र में 'ज्ञात वनखण्ड' लिखा है, यह ज्ञात वंश की पूर्ण रूप से सिद्धि करता है ।—संपादक ।

अपना शरीर है, उस पर भी जब ममत्व-भाव नहीं करते तो फिर वस्त्रादि पर तो कैसे कर सकते हैं। सूत्रकार का स्पष्ट आशय यह है कि, साधुओं की जो भी उपधियाँ हैं वे सब की सब जीवों की रक्षा के लिये ही हैं, ममत्व-भाव के लिये नहीं। अतएव स्व-कर्तव्य का सम्यग्-बोध हो जाने से वे उपधियाँ शरीर के समान अपरिग्रह मे ही प्रविष्ट हैं, परिग्रह में नहीं। यदि केवल वस्त्रादि को ही परिग्रह माना जाय तब तो फिर स्थानाङ्ग सूत्र के एक पाठ मे बाधा उपस्थित होगी। स्थानाङ्ग सूत्र में शरीर, कर्म और बाह्य भण्डोपकरण इन तीनों को भी परिग्रह माना है। तो फिर पंचम महाव्रत किस प्रकार धारण किया जा सकेगा, क्योंकि जीव से शरीर और कर्म, किस प्रकार पृथक् किये जा सकते हैं। उन के पृथक् करने के लिये तो सर्व-वृत्ति (साधु-वृत्ति) ही धारण की जाती हैं। अतएव सिद्ध हुआ कि, वास्तव मे मूर्च्छा-भाव को ही परिग्रह मानना उचित है। मूर्च्छा-भाव (ममत्व-भाव) से रहित होकर ही साधु को धर्मोपकरण धारण करने चाहिये जिससे साधु को परिग्रह का दोष न लगे। यदि यहाँ ऐसा कहा जाय कि जब मूर्च्छा-भाव ही परिग्रह है तो फिर सुवर्णादि के पास रख लेने मे क्या बाधा है ? पास रखने वाला उत्तर दे सकता है मेरा इस पर मूर्च्छा-भाव अणुमात्र भी नहीं है। इस शङ्का के उत्तर मे कहा जाता है कि, यह हेतु वस्तुतः हेतु नहीं, किन्तु हेत्वाभास है। साधु के उपकरण तो धर्म के साधन है, वे केवल षट्-काय के जीवों की रक्षा के वास्ते ही रक्खे जाते है। अवशिष्ट सुवर्णादि पदार्थ तो स्पष्टतः भोग के साधन हैं। इसलिये वे उपकरण की भाँति कभी भी नहीं हो सकते। पंचम महाव्रत मे सुवर्ण आदि का ही त्याग किया जाता है, उपकरणों का नहीं। सुवर्ण आदि का अधिक काल तक पास रखना तो क्या ? इस का तो क्षण मात्र संसर्ग भी महा अनर्थकारी है। एक कवि ने ठीक कहा है—'कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय। वो खाये बौरात जग वो पाये बौराय'।

उत्थानिका—अब आचार्य, क्रमागत षष्ठ स्थान के विषय में कहते हैं :—

अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वण्णिअं।
जाय लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोअणं ॥२२॥

अहो नित्यं तपःकर्म, सर्वबुद्धै वर्णितम् ।
या च लज्जासमा वृत्तिः, एकभक्तं च भोजनम् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—अहो—आश्चर्य है कि सव्वबुद्धेहिं—सर्व तत्व-वेत्ता तीर्थंकर देवों ने साधुओं के लिये निच्चं नित्य ही तवोकम्मं तपः कर्म वन्नियं—वर्णन किया है जाय—जो वित्ती—देह पालन रूप वृत्ति लज्जासमा—संयम के समान है वह एगभत्तं च भोयणं—एक भक्त भोजन है अर्थात् दिन मे एक वार आहार करना है।

मूलार्थ—आश्चर्य है कि, संपूर्ण तत्वों के जानने वाले तीर्थंकर-देवों ने साधुओं के लिये नित्य ही तपः कर्म का प्रतिपादन किया है, क्योंकि जो संयम के समान देह पालन रूप वृत्ति है, उस में केवल एकवार ही भोजन करना है।

टीका—संपूर्ण तत्वों के स्वरूप को जानने वाले जो तीर्थंकर देव हैं, उन्हों ने मोक्षगामी साधुओं को नित्य ही तपः-कर्म का (तपस्या करने का) सदुपदेश दिया है, जो दिन मे एक वार भोजन करना है । कारण कि, एकवार भोजन करने से आयुष्प्राण की भले प्रकार रक्षा भी की जासकती है और देह तथा संयम की पालना भी हो जाती है । ऐसे एक वार भोजन को करने वाले मुनि को शास्त्र-कार ने नित्य-तपस्वी का पद प्रदान किया है और उस एकवार के भोजन को संयम के समान वतलाया है । इसके लिये सूत्र मे 'जायलज्जासमा वित्ती' पद दिया है, जिसका भाव है कि (लज्जा) संयम (तेन) उस के (समा) समान (वर्तनं वृत्तिः) देह पालन रूप यह वृत्ति है । क्योंकि यह संयम से अविरोध रखने वाली है । सूत्र का यह निष्कर्ष निकला कि द्रव्य से एकवार भोजन करना चाहिये और भाव से कर्म वन्ध का अभाव करना चाहिये । तथा किसी किसी आचार्य का यह भी मत है कि, साधु को जो खाना हो वह दिन में ही खाले, रात्रि में नहीं खावे । क्योंकि यह प्रकरण रात्रिभोजन निषेध विषयक ही है, अतएव एक-भक्त शब्द से वे तद्दिवस (वह दिन) ही ग्रहण करते हैं । वास्तव में 'एकभक्त' एक वार के भोजन का ही नाम है, और यह उत्सर्ग सूत्र है । अपवाद सूत्र की विधि से तो रोगी, वालक, वृद्ध तथा कतिपय कारणों के उपस्थित हो जाने पर एकवार से अधिक भी आहार कर सकते हैं ।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'रात्रि भोजन में प्राणातिपात का दोष होता है' इस विषय में कहते हैं:—

संति मे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ॥२४॥
सन्ति इमे सूक्ष्माः प्राणिनः, त्रसाः अथवा स्थावराः।
यान् रात्रावपश्यन्, कथमेषणीयं चरेत् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—मे-ये प्रत्यक्ष तसा-त्रस अदुव-और थावरा-स्थावर पाणा-प्राणी सुहुमा-बहुत सूक्ष्म हैं (दृष्टि गोचर नहीं होते) अतः साधु जाइं-जिन सूक्ष्म प्राणियों को राओ-रात्रि मे अपासंतो-देख नहीं सकता है तो कह-किस प्रकार उनकी रक्षा करता हुआ एसणियं-ऐषणीय आहार को चरे-भोग सकेगा।

मूलार्थ—ये जो प्रत्यक्ष त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनमें बहुत से अतीव सूक्ष्म हैं, इतने सूक्ष्म हैं कि रात्रि में इन्हें देखने का विपुल प्रयत्न करने पर भी ये दृष्टि गोचर नहीं होते। और जब साधु रात्रि में इन्हें देख ही नहीं सकता तो फिर किस प्रकार इन की रक्षा करता हुआ एषणीय-निर्दोष आहार को भोग सकेगा।

टीका—इस गाथा मे 'रात्रि भोजन में प्राणातिपात आदि की संभावना होने से' रात्रि-आहार की सदोषता सिद्ध की गई है। जैसे इस पृथिवी पर त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर आदि नाना प्रकार के जीव जन्तु हैं। और इन जीवों में बहुत अधिक संख्या मे ऐसे जीव हैं जो अपनी सूक्ष्मता के कारण रात्रि में दृष्टि-गोचर नहीं हो सकते, अर्थात् आँखों से सम्यक्तया ध्यान देकर देखने पर भी देखे नहीं जाते। फिर जब ये जीव रात्रि में देखे ही नहीं जाते तो साधु किस प्रकार 'भोजन क्रिया वशीभूत होकर' इनकी रक्षा कर सकेगा? कभी नहीं। जब जीवों की रक्षा ही न हुई तो फिर आहार की निर्दोषता कहाँ? इस तरह तो आहार की सदोषता अपने आप सिद्ध है। सूत्र का संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि, रात्रि मे भोजन करते समय मे नाना प्रकार के सूक्ष्म जीव आ आ कर गिरते हैं, जो सब भोजन

कर्ता द्वारा 'उदराय स्वाहा' हो जाते हैं । अतः रात्रि-भोजन प्रत्यक्ष हिंसाकारी होने से निर्विवाद सदोष है । तथा रात्रि मे स्पष्टतया जीवों के न देखने से गवेपणा एवं एपणा की शुद्धि भी नहीं की जा सकती है । अतएव जव आहार की शुद्धि सम्यक्तया न हो सकी तो फिर कर्मवन्ध का हो जाना स्वाभाविक वात है । इस प्रकार ईर्या-समिति और एषणा-समिति का ठीक तरह से पालन न हो सकने के कारण अहिंसाव्रती मुनि के लिये रात्रि भोजन सर्वथा त्याज्य है । यदि यहाँ यह शङ्का उठाई जाय कि, आधुनिक बिजली आदि प्रकाशक पदार्थों के तीव्र प्रकाश मे यदि रात्रि-भोजन कर लिया जाय तो इस में क्या दोप है ? इस शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि, प्रथम तो सूर्य के समान विजली आदि पदार्थों का प्रकाश होता ही नहीं, जिससे सम्यक्तया सूक्ष्म जीवों का पर्यवलोकन हो सके । द्वितीय, वह प्रकाश सव स्थानों पर न होने से अज्ञ जनता फिर सर्वत्र ही रात्रि-भोजन की प्रथा बना डालेगी । अभिप्राय यह है कि, चाहे कितनी चतुरता करो, रात्रि-भोजन में सूक्ष्म जीवों की हिंसा हुए विना रहती ही नहीं । तीसरी बात एक और यह है कि, जव साधु रात और दिन मे खाता ही रहेगा तो फिर उसका तपः कर्म क्या होगा ? क्योंकि तपः कर्म तो तपस्या के मार्ग से हो सकता है । यह नहीं हो सकता कि, अन्धा-धुन्ध (अपरिछिन्न) दिन रात पशुवत् चरता भी रहे और साथ ही भिक्षुकोचित महा-तपस्या मे भी पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेवे । तब तो दिन हो या रात पेट पूजा करने का और साधु योग्य तपः कर्म का मार्ग, पूर्व एवं पश्चिम के समान सर्वथा विभिन्न है । जिस प्रकार रात्रि-भोजन विवर्जित है ठीक इसी प्रकार दिन में भी जो अन्धकार युक्त स्थानों में वैठकर भोजन किया जाता है वह सर्वथा त्याज्य है । क्योंकि, जो दूषण रात्रि में लगता है वही यहाँ पर भी लग सकता है । दूषण की दृष्टि से दोनों ही समान हैं, इस मे कोई मीन-मेष नहीं लग सकती अर्थात् इसका कोई भी समाधान नहीं हो सकता है ।

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय पर स्फुटतया प्रकाश डाला जाता है:—

उदउल्लं बीअसंसत्तं, पाणा निवडिया महिं ।
दिआ ताइं विवज्जिज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ॥२५॥

उदकार्द्रं बीजसंसक्तं, प्राणिनः निपतिता महीम्।
दिवा तान् विवर्जयेत्, रात्रौ तत्र कथं चरेत् ॥२५॥

पदार्थान्वयः—उदउल्लं-पानी से भीगा हुआ और बीअसंसत्तं-बीजों से मिला हुआ आहार तथा महिं-पृथिवी पर निवड़िया-पड़े हुये पाणा-प्राणी, जब कि साधु दिआ-दिन में ताइं-उन को विवज्जिज्जा-वर्जता है तो फिर राओ-रात्रि में तत्थ-उनके विषय मे कहं-किस प्रकार चरे-संरक्षण पूर्वक संचरण कर सकता है, कदापि नहीं।

मूलार्थ—जब कि पाप-भीरु-साधु, दिन में भी सचित्त जल से आर्द्र और बीजादि से मिश्रित आहार को छोड़ता है; तथा पृथिवी पर जो अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव भ्रमण करते रहते हैं, उनकी रक्षा करता रहता है, तो फिर इसके विरुद्ध रात्रि में कैसे चल सकता है? कभी नहीं।

टीका—इस गाथा में रात्रि-भोजन के विशेष दोष कथन किये गये हैं। यथा-जब साधु दिन में 'जो आहारादि ग्राह्य-पदार्थ, सचित्त जल से स्पर्शित हों तथा बीजादि से संमिश्रित हों' उन्हें कदापि नहीं ले सकता तो फिर रात्रि में उक्त दोषों का निराकरण किस प्रकार किया जा सकेगा? और जब 'जो मार्ग जलसे वा बीजादि से संमिश्रित हुए रहते हैं, जिन मार्गों मे बहुत से प्राणी चलते फिरते रहते हैं' ऐसे मार्ग दिन में भी वर्जित किये जाते हैं, तो फिर रात्रि में उन मार्गों पर साधु किस प्रकार जा सकता है? क्योंकि सूर्य के अस्त होते ही विशेष अन्धकार फैलता चला जाता है, जिससे आँखों का विषय (सूक्ष्म जीवों का निरीक्षण) मन्द पड़ जाता है। नेत्र-ज्योति के मन्द हो जाने से आहार-शुद्धि और मार्ग-शुद्धि दोनों ही नहीं हो सकती। अतएव इस सूत्र मे रात्रि-भोजन एवं रात्रि-विहार दोनों ही वर्जित किये गये हैं। अर्थात् साधु, जीवों की रक्षा के लिये न तो रात्रि में आहार करे और न रात्रि में विहार ही करे। पाठक पूछ सकते हैं कि, सूत्र में तो रात्रि-भोजन के निषेध की ही चर्चा की गई है तब रात्रि मे भोजन करने का निषेध तो सिद्ध होता है, परन्तु सूत्र मे अपठित यह रात्रि में विहार करने का निषेध आप कहाँ से ले आये हैं? उत्तर में कहना है कि, यह निषेध आकस्मिक नहीं आया है, किन्तु इसी सूत्र से ही आया है। सूत्र में आया हुआ 'महिं'-'मह्यां' शब्द इस रात्रि

~~विहार के निषेध का पूर्ण संसूचक है, क्षण भर ध्यान पूर्वक सूत्र के आन्तरिक तत्त्व~~ का अवलोकन करें ।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'उपसंहार करते हुए' रात्रि-भोजन का स्पष्ट शब्दों में प्रतिषेध करते हैं :—

एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासिअं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइ भोअणं ॥२६॥

एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
सर्वाहारं न भुंजते, निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—**नायपुत्तेण**–ज्ञातपुत्र श्री वीर प्रभु के **भासिअं**–बतलाये हुए **एअं**–इस पूर्वोक्त प्राणि-हिंसा रूप **दोसं**–दोष को **च**–तथा च शब्द से आत्म विराधनादि दोष को **दट्ठूणं**–स्वयं विचार बुद्धि से वा नेत्रों से देखकर **निग्गंथा**–साधु **सव्वाहारं**–सभी प्रकार का **राइभोअणं**–रात्रि-भोजन **न भुंजंति**–नहीं भोगते हैं ।

मूलार्थ—ज्ञात-पुत्र भगवान् महावीर स्वामी के बतलाये हुए पूर्वोक्त रात्रि-भोजन के दोषों को सम्यक्तया जान कर स्व-पर-हिताकाङ्क्षी मुनि, रात्रि में कभी भी किसी प्रकार का भोजन नहीं करते ।

टीका—इस गाथा में उक्त विषय का उपसंहार किया गया है । जैसे कि, श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने केवल अपने ज्ञान द्वारा रात्रि-भोजन सम्बन्धी आत्म-विराधना और संयम-विराधना रूप अनेक प्रकार के दोषों को देख कर यह प्रतिपादन किया है कि, निर्ग्रन्थों के लिये रात्रि-भोजन सर्वथा त्याज्य है । अस्तु निर्ग्रन्थों ने भी श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के उपदेश से रात्रि-भोजन सम्बन्धी दोषों का परिज्ञान करके आत्म-विराधना एवं संयम-विराधना के पाप-पङ्क से पृथक् होने के लिये अशनादि चतुर्विध-आहार का और रात्रि में भोगने का परि-

---

१. बहुत से अर्थकार सूत्रगत 'दट्ठूण' शब्द को 'निग्गंथा' शब्द के साथ न जोड़कर 'नाय पुत्तेण' शब्द के साथ जोड़ते हैं और यह अर्थ करते हैं कि, 'पूर्वोक्त दोषों को देखकर श्री वीर भगवान् ने यह प्रतिपादन किया है कि रात्रि-भोजन त्याज्य है' अत. साधु रात्रि-भोजन नहीं करते हैं ।' यह अर्थ भी सुघटित है । —सम्पादक ।

त्याग किया है। अतएव हे आर्य सज्जनो! अब भी निर्ग्रन्थ-मुनि उक्त दोषों को यथावत् जानकर रात्रि मे भोजन नहीं करते है। यदि ऐसा कहा जाय कि, हिंसादि के अतिरिक्त कोई अन्य दोष भी रात्रि-भोजन में होता है या नहीं ? तो इस शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि, जब सूत्रकार ने रात्रि-भोजन से संयम-विराधना का होना बतलाया है, तब फिर उस मे सभी दोषों का समावेश अपने आप हो गया। जैसे कि, जब रात्रि मे आहार लिया जावेगा तब अन्धकार के हो जाने से विशेष निलर्ज्जता बढ़ जाती है जिससे फिर मैथुनादि दोषों का भी प्रसंग उपस्थित हो जाना सम्भव है। तथा कभी-कभी स्वकार्य सिद्धि के लिये असत्य का भी प्रयोग करना पड़ेगा, जिससे फिर अदत्ता-दान और परिग्रह के लिये भी भाव उत्पन्न हो जायगे। इस उपर्युक्त रीति से संयम-विराधना मे सभी प्रकार के दोषों का समावेश किया जा सकता है।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'षट्व्रत के अनंतर षट्काय का वर्णन करते हुए' प्रथम पृथिवी-काय का वर्णन करते हैं:—

पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेणं करणजोएण, संजया सुसमाहिआ ॥२७॥

पृथिवीकायं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन।
त्रिविधेन करण योगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—सुसमाहिआ-श्रेष्ठ समाधि वाले संजया-साधु पुढविकायं-पृथिवी-काय की मणसा-मन से वयसा-वचन से और कायसा-काय से, अर्थात् तिविहेणं-तीन प्रकार के करणजोएण-करण तथा योग से कभी नहिंसंति-हिंसा नहीं करते।

---

१. इस सूत्रोक्त 'वयसा' और 'कायसा' शब्द के सस्कृत रूप 'वचसा' और 'कायेन' होते हैं। अर्द्ध मागधी व्याकरण 'जैन सिद्धान्त कौमुदी' में उक्त सूत्रगत प्राकृत रूपों की सिद्धि इस प्रकार की गई है—"सुटचेणस्य २-१-२३ ॥ जसादिभ्य• परस्येण प्रत्यस्य डासादेश सुडागमश्च-स्यात्। जस+इण-जससा। वयसा। कायसा। तेयसा। चक्खुसा। जोगसा।" अर्थात् जादि शब्दों की तृतीया विभक्ति के इण प्रत्यय के स्थान पर डासादेश और सुट् का आगम होता है। जिससे उक्त रूप सिद्ध होते हैं —लेखक।

त्याग किया है। अतएव हे आर्य सज्जनो ! अब भी निर्ग्रन्थ-मुनि उक्त दोषों को यथावत् जानकर रात्रि मे भोजन नहीं करते हैं। यदि ऐसा कहा जाय कि, हिंसादि के अतिरिक्त कोई अन्य दोष भी रात्रि-भोजन मे होता है या नहीं ? तो इस शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि, जब सूत्रकार ने रात्रि-भोजन से संयम-विराधना का होना बतलाया है, तब फिर उस मे सभी दोषों का समावेश अपने आप हो गया। जैसे कि, जब रात्रि मे आहार लिया जावेगा तब अन्धकार के हो जाने से विशेष निलर्ज्जता बढ़ जाती है जिससे फिर मैथुनादि दोषों का भी प्रसंग उपस्थित हो जाना सम्भव है। तथा कभी-कभी स्वकार्य सिद्धि के लिये असत्य का भी प्रयोग करना पड़ेगा, जिससे फिर अदत्ता-दान और परिग्रह के लिये भी भाव उत्पन्न हो जायगे। इस उपर्युक्त रीति से संयम-विराधना मे सभी प्रकार के दोषों का समावेश किया जा सकता है।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'षट्व्रत के अनंतर षट्काय का वर्णन करते हुए' प्रथम पृथिवी-काय का वर्णन करते हैं :—

पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेणं करणजोएण, संजया सुसमाहिआ ॥२७॥

पृथिवीकायं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करण योगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—सुसमाहिआ-श्रेष्ठ समाधि वाले संजया-साधु पुढविकायं-पृथिवी-काय की मणसा-मन से वयसा-वचन से और कायसा-काय से, अर्थात् तिविहेणं-तीन प्रकार के करणजोएण-करण तथा योग से कभी नहिंसंति-हिंसा नहीं करते।

१ इस सूत्रोक्त 'वयसा' और 'कायसा' शब्द के संस्कृत रूप 'वचसा' और 'कायेन' होते हैं। अर्द्ध मागधी व्याकरण 'जैन सिद्धान्त कौमुदी' में उक्त सूत्रगत प्राकृत रूपों की सिद्धि इस प्रकार की गई है—"सुटचेणस्य २-१-२३ ॥ जसादिभ्य· परस्येण प्रत्यस्य डासादेश सुडागमश्च-स्यात्। जस+इण-जससा। वयसा। कायसा। तेयसा। चक्खुसा। जोगसा।" अर्थात् जादि शब्दों की तृतीया विभक्ति के इण प्रत्यय के स्थान पर डासादेश और सुट् का आगम होता है। जिससे उक्त रूप सिद्ध होते हैं —लेखक।

~~विहार के निषेध का पूर्ण संसूचक है, अतः ध्यान पूर्वक सूत्र के आन्तरिक तत्व~~ का अवलोकन करें।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'उपसंहार करते हुए' रात्रि-भोजन का स्पष्ट शब्दों में प्रतिषेध करते हैं :—

एअं च दोसं दट्ठूणं[1], नायपुत्तेण भासिअं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइ भोअणं ॥२६॥
एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
सर्वाहारं न भुंजते, निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—**नायपुत्तेण**-ज्ञातपुत्र श्री वीर प्रभु के **भासिअं**-बतलाये हुए **एअं**-इस पूर्वोक्त प्राणि-हिंसा रूप **दोसं**-दोष को **च**-तथा च शब्द से आत्म विराधनादि दोष को **दट्ठूणं**-स्वयं विचार बुद्धि से वा नेत्रों से देखकर **निग्गंथा**-साधु **सव्वाहारं**-सभी प्रकार का **राइभोअणं**-रात्रि-भोजन **न भुंजंति**-नहीं भोगते हैं।

मूलार्थ—ज्ञात-पुत्र भगवान् महावीर स्वामी के बतलाये हुए पूर्वोक्त रात्रि-भोजन के दोषों को सम्यक्तया जान कर स्व-पर-हिताकाङ्क्षी मुनि, रात्रि में कभी भी किसी प्रकार का भोजन नहीं करते।

टीका—इस गाथा में उक्त विषय का उपसंहार किया गया है। जैसे कि, श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने केवल अपने ज्ञान द्वारा रात्रि-भोजन सम्बन्धी आत्म-विराधना और संयम-विराधना रूप अनेक प्रकार के दोषों को देख कर यह प्रतिपादन किया है कि, निर्ग्रन्थों के लिये रात्रि-भोजन सर्वथा त्याज्य है। अस्तु निर्ग्रन्थों ने भी श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के उपदेश से रात्रि-भोजन सम्बन्धी दोषों का परिज्ञान करके आत्म-विराधना एवं संयम-विराधना के पाप-पङ्क से पृथक् होने के लिये अशनादि चतुर्विध-आहार का और रात्रि में भोगने का परि-

---

१ बहुत से अर्थकार सूत्रगत 'दट्ठूणं' शब्द को 'निग्गथा' शब्द के साथ न जोड़कर 'नायपुत्तेण' शब्द के साथ जोड़ते हैं और यह अर्थ करते हैं कि, 'पूर्वोक्त दोषों को देखकर श्री वीर भगवान् ने यह प्रतिपादन किया है कि रात्रि-भोजन त्याज्य है' अत. साधु रात्रि-भोजन नहीं करते है।' यह अर्थ भी सुघटित है। —सम्पादक।

मूलार्थ—जो विशुद्ध-समाधि वाले मुनि हैं, वे मन, वचन और काय रूप तीनों योगों से तथैव कृत, कारित और अनुमोदन रूप तीनों करणों से कभी भी पृथिवी-कायिक जीवों की हिंसा नहीं करते।

टीका—जो श्रेष्ठ साधु सदैव जीवों की यत्ना करने-वाले हैं, वे मन, वचन और काय द्वारा कदापि पृथिवी काय के जीवों की हिंसा नहीं करते। जब, स्वयं नहीं करते हैं तो क्या औरों से करवा लेंगे ? वे तो न औरों को हिंसा करने का उपदेश देते हैं और न हिंसा करने वालों की अनुमोदना करते हैं। उनकी दृष्टि में जैसा हिंसा-कृत्य करना बुरा है। वैसा ही दूसरों से करवाना और करते हुओं का अनुमोदन करना भी बुरा है। वे तो हिंसा की सभी बुराइयों से सर्वथा अलग रहते हैं। संक्षिप्त सार यह है कि, साधु जो पृथ्वी-कायिक जीवों की हिंसा का परित्याग करता है, वह तीन करण और तीन योगों से करता है। क्योंकि, तभी वह पृथ्वी-कायिक हिंसा से पूर्ण निवृत्त होता है। जिससे फिर उसकी आत्मा को पूर्ण स्थायी शान्ति मिलती है।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'पृथिवी-काय की हिंसा करने से अन्य त्रस-जीवों की भी हिंसा होती है' यह स्फुट रूप से कहते हैं:—

पुढविकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥२८॥

पृथिवीकायं विहिंसन्, हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसांश्च विविधान् प्राणिनः, चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—**पुढविकायं**—पृथवी-काय की **विहिंसंतो**—हिंसा करता हुआ मनुष्य **तयस्सिए**—पृथिवी-काय के आश्रित **तसे**—त्रस जीवों की **अ**—तथा **विविहेपाणे**—नाना प्रकार के स्थावर-जीवों की तथा **चक्खुसे**—चक्षुओं द्वारा देखे जाने वाले, चाक्षुष-जीवों की **अ**—तथा **अचक्खुसे**—चक्षुओं द्वारा नहीं देखे जाने वाले, अचाक्षुप-जीवों की भी **हिंसई उ**—हिंसा करता है।

मूलार्थ—पृथिवी-काय की हिंसा करने वाला केवल पृथिवी-काय की ही हिंसा नहीं करता, बल्कि तदाश्रित जो नाना प्रकार के त्रस, स्थावर और चाक्षुष, अचाक्षुष प्राणी हैं, उन सभी की हिंसा करता है।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, पृथिवी-काय की हिंसा करते हुए केवल पृथिवी-काय के जीवों की ही हिंसा होती है, अन्य जीवों की हिंसा नहीं होती, यह बात नहीं है। क्योंकि, सूत्रकार का मन्तव्य है कि, जब कोई अबोध प्राणी पृथिवी-काय के जीवों की हिंसा करने लगता है, तब पृथिवी के आश्रित हो कर जो जीव ठहरे हुये होते हैं, उन सभी जीवों की हिंसा हो जाती है। चाहे वे जीव त्रस हों या स्थावर हों, चाक्षुष हों (आँखों से देखे जाते हों) या अचाक्षुष हों (आँखों से नहीं देखे जाते हों) पृथिवी के आश्रित होने के कारण से वे बेचारे अवश्य मारे जाते हैं। सारांश यह है कि, नाना प्रकार के जीव पृथिवी-काय के आश्रित रहते हैं, और पृथिवी-काय की हिंसा करते समय साथ ही उन जीवों की भी हिंसा हो जाती है।

उत्थानिका—अब आचार्य, पृथिवी-काय की हिंसा का यावज्जीवन के लिये स्पष्टतः प्रतिषेध करते हैं :—

तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
पुढविकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥२९॥

तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम्।
पृथ्वीकायसमारम्भं, यावज्जीवं विवर्जयेत् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—तम्हा-इस लिये एअं-इस दुग्गइवड्ढणं-दुर्गति के बढाने वाले दोसं-दोष को विआणित्ता-जानकर साधु पुढविकायसमारंभं-पृथिवी-काय के समारंभ को जावजीवाइ-यावज्जीव के लिये वज्जए-वर्ज दे (त्याग दे)।

मूलार्थ—अतएव इस दुर्गति के बढाने वाले भयंकर दोष को अच्छी तरह जानकर साधु, यावज्जीवन के लिये पृथिवी-काय के समारंभ का परित्याग कर दे।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, जब नाना प्रकार के जीवों की हिंसा होती है, तब फिर क्या करना चाहिये ? इस

शङ्का के उत्तर में सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है कि, इसीलिये जो पूर्वोक्त दुर्गति के बढ़ाने वाले हिंसादि दोष हैं, उनको भली भाँति जानकर शुद्ध-मुनिवरों को सर्वथा हिंसा का परित्याग कर देना चाहिये। कारण यह है कि, हिंसादि के दोषों से ही आत्मा दुर्गति के कष्टों को पाती है। यह हिंसा संसार में जितने भी दुःख हैं, उन सब की उत्पादन करने वाली और पालन-पोषण करने वाली सच्ची 'माँ' है।

उत्थानिका—अब आचार्य, जलकाय नामक अष्टम स्थान के विषय में कहते हैं :—

आउकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥३०॥

अप्कायं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥३०॥

पदार्थान्वयः—सुसमाहिया-श्रेष्ठ समाधि वाले संजया-साधु आउकायं-अप्काय की भी मणसा-मन से वयसा-वचन से और कायसा-काय से अर्थात् तिविहेण करणजोएण-तीन करण और तीन योग से न हिंसंति-हिंसा नहीं करते हैं।

मूलार्थ—श्रेष्ठ समाधि वाले साधु, अप्काय के जीवों की भी तीन करण और तीन योग से कभी हिंसा नहीं करते।

टीका—इस गाथा में आठवें स्थान के विषय मे कथन किया गया है। जैसे कि, श्रेष्ठ-समाधि वाले संयमी, अप्काय के जीवों की मन वचन और शरीर से तथा कृत, कारित और अनुमोदन से अर्थात् तीनों योगों एवं तीनों करणों से किसी भी अवस्था में हिंसा नहीं करते हैं। कारण यह है कि, जब अपनी आत्मा के समान प्रत्येक जीव को जान लिया तो फिर हिंसा किसकी की जाए! इस उक्त कथन से स्पष्ट सिद्ध हुआ कि, दया-सागर साधुओं को हिंसा के मलिन दोषों से सदैव पृथक् ही रहना चाहिए। हिंसा से पृथक् रहने में ही साधुता और उत्तमता है।

उत्थानिका—अब आचार्य, फिर इसी विषय मे कहते हैं :—

आउकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे अ विविहेपाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥३१॥
अप्कायं विहिंसन्, हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसांश्च विविधान् प्राणिनः, चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥३१॥

पदार्थान्वयः—**आउकायं**-अप्काय के जीवों की **विहिंसंतो**-हिंसा करता हुआ **तयस्सिए**-तदाश्रित **तसे**-त्रस-जीवों की **अ**-और **विविहेपाणे**-विविध प्रकार के स्थावर जीवों की **चक्खुसे**-चाक्षुप जीवों की **अ**-और **अचक्खुसे**-अचाक्षुष जीवों की भी **हिंसई**-हिंसा करता है **उ**-तु शब्द अवधारण अर्थ का वाचक है।

मूलार्थ—अप्काय की हिंसा करता हुआ मनुष्य, तदाश्रित विविध प्रकार के त्रस और स्थावर, चाक्षुप और अचाक्षुप जीवों की भी हिंसा करता है।

टीका—जब कोई जलकाय की हिंसा करने लगता है, तब जल के आश्रित रहने वाले अनेक प्रकार के त्रस वा स्थावर, सूक्ष्म वा वादर (स्थूल) सभी प्रकार के जीवों की हिंसा हो जाती है। क्योंकि, वे सभी जीव जल के आश्रित होते हैं, जैसे निगोद आदि के जीव। अतः साधु को सर्वदा अपनी क्रिया में सावधानी रखनी चाहिए, ताकि उन जीवों की यथावत यत्ना हो सके।

उत्थानिका—अब आचार्य, उक्त विषय का उपसंहार करते हैं:—

तम्हा एअं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
आउकायसमारंभं , जावजीवाइ वज्जए ॥३२॥
तस्माद् एतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम्।
अप्कायसमारम्भं , यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—**तम्हा**-इसलिये **एअं**-इस **दुग्गइवड्ढणं**-दुर्गति के वढ़ाने वाले **दोसं**-दोष को **वियाणित्ता**-जान कर **आउकायसमारंभं**-अप्काय के समारम्भ को **जावजीवाइ**-यावज्जीवन के लिये **वज्जए**-वर्जदे।

मूलार्थ—इसलिये इस दुर्गति-वर्द्धक-महादोष को भली भाँति जान कर, साधु को जलकाय के समारम्भ का यावज्जीवन के लिये परित्याग कर देना चाहिये।

टीका—जब जलकाय की हिंसा से नाना प्रकार के जीवों की हिंसा होती है तो फिर क्या करना चाहिये ? इस शङ्का के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि, इस प्रकार जो दुर्गति के बढ़ाने वाले दोष हैं, अर्थात् जिन से दुर्गतियों की उपलब्धि होती है, उनको सम्यक्तया जान कर अप्काय के आरम्भ को सर्वथा छोड़ देना चाहिये। यह बात निश्चित है कि, हिंसा के उत्पन्न हुए दुःख हिंसा से कभी शान्त नहीं हो सकते। वे तो एक अहिंसा द्वारा ही शान्त किये जा सकते हैं। अतएव दयालु-पुरुष को अहिंसा भगवती की शुद्ध-मन से उपासना करनी चाहिये और अपने अभीष्ट की सिद्धि करनी चाहिये।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'नवम-स्थान अग्निकाय की यत्ना के' विषय में कहते हैं:—

जायतेअं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥३३॥

जाततेजसं नेच्छन्ति, पापकं ज्वालयितुम्।
तीक्ष्णमन्यतरं शस्त्रं, सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ॥३३॥

पदार्थान्वयः—जो **पावगं**-पाप रूप है **तिक्खं**-तीक्ष्ण है **अन्नपरंसत्थं**-सब ओर से धार वाले शस्त्र के समान है **सव्वओवि**-सभी स्थलों में **दुरासयं**-अत्यंत कष्ट से भी असहनीय है, ऐसी **जायतेअं**-अग्नि को **जलइत्तए**-प्रज्वलित करने की साधु **न इच्छंति**-मन से भी इच्छा नहीं करे।

मूलार्थ—दयालु-मुनि पापरूप, अतीव तीक्ष्ण, सब ओर से धार वाले शस्त्र के समान, एवं सर्व प्रकार से दुराश्रय अग्नि के जलाने की कदापि इच्छा नहीं करते।

टीका—इस सूत्र में नवम स्थान के विषय में यह प्रतिपादन किया गया है कि, जो भवितात्मा अनगार हैं, वे पापक, 'सर्व प्रकार के शस्त्रों से तीक्ष्ण एवं सभी स्थानों में असहनीय' जो अग्नि है उसके जलाने की कदापि इच्छा नहीं करते हैं। क्योंकि, अग्नि का जलाना मानों सब प्राणियों का संहार करना है। अग्नि के

सर्व-संहारी-उदर में पड़ने के बाद किसी की भी कुशलता नहीं रहती है। सूत्र में जो अग्नि को 'पापक' कहा गया है, उसका यह कारण है कि, 'पाप एव पापकस्तं प्रभूतसत्त्वापकारत्वेनाशुभमित्यर्थः।' अर्थात् यह अग्नि प्रभूत-सत्त्वों की अपकार करने वाली है, इसलिये इसे 'पापक' कहा है। सूत्र में अग्नि के लिये दूसरा शब्द 'अन्नपरं सत्थं' दिया है जिसका भाव यह है कि, संसार में जितने भी शस्त्र हैं, वे सभी प्रायः एक-धारा रूप हैं, किन्तु केवल एक यह अग्नि रूप शस्त्र ही सर्व धारा रूप, सभी ओर से जीवों का संहार करने वाली है। सूत्र में आए हुए 'नेच्छन्ति' क्रिया पद का यह अर्थ समझना चाहिये कि, जब साधु मन से भी अग्नि के समारम्भ की इच्छा नहीं करते तो फिर वाणी और शरीर से कैसे कर सकते हैं।

उत्थानिका—अब आचार्य, फिर इसी विषय में कहते हैं:—

पाईणं पडिणं वावि, उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वावि, दहे उत्तरओ वि अ ॥३४॥

प्राच्यां प्रतीच्यां वाऽपि, ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि ।
अधो दक्षिणतो वापि, दहति उत्तरतोऽपि च ॥३४॥

पदार्थान्वयः—यह अग्नि **पाईणं**-पूर्व दिशा मे **वावि**-तथा **पडिणं**-पश्चिम दिशा मे **उड्ढं**-ऊर्ध्व दिशा में तथा **अणुदिसामवि**-विदिशाओं में **अहे**-अधो दिशा में **वावि**-अथवा **दाहिणओ**-दक्षिण दिशा में **अ**-तथा **उत्तरओ वि**-उत्तर दिशा में भी अर्थात् सभी दिशाओं मे सभी जीवों को **दहे**-दग्ध करती है।

मूलार्थ—यह अग्नि प्रज्वलित होकर पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः दिशाओं में तथा ईशान आदि विदिशाओं में जो जीव हैं, उन सभी को स्पर्श करती हुई भस्मी-भूत कर देती है।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, अग्नि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधो दिशाओं में तथा यावन्मात्र विदिशाओं में जो त्रस वा स्थावर जीव हैं उन सभी को भस्मी-भूत करती (दग्ध करती) है।

क्योंकि, यह अग्नि परम तीक्ष्ण शस्त्र है । सूत्र में जो 'पाईणं'—'पड़िणं' आदि सप्तमी विभक्ति दी है वह षष्ठी विभक्ति के अर्थ में है। यह विभक्ति व्यत्यय संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषा में प्रायः अधिक होता है ।

यद्यपि 'अग्नि' शब्द वस्तुतः संस्कृत भाषा का होने से पुंल्लिङ्ग है, तथापि भाषा में प्रायः स्त्रीलिङ्ग में ही इस शब्द का उच्चारण किया जाता है । अतः यहाँ टीका में भी इसी भाषा के मार्ग का अनुसरण किया है ।

उत्थानिका—अब आचार्य, फिर इसी अग्नि के विषय में कहते हैं:—

भूआण मे समाघाओ, हव्ववाहो न संसओ ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥३५॥

भूतानामेष आघातः, हव्यवाहः न संशयः ।
तं प्रदीपप्रतापार्थं, संयताः किञ्चित् नारभन्ते ॥३५॥

पदार्थान्वयः—एसं-यह हव्ववाहो-अग्नि भूआणं-प्राणी मात्र को आघाओ-आघात पहुँचाने वाली है, इसमे कुछ भी संसओ-संशय न-नहीं है । अतएव संजया-साधु तं-उस अग्नि का पईवपयावट्ठा-प्रदीप और प्रतापना के वास्ते किंचि-किंचित् मात्र भी नारभे-आरम्भ नहीं करते ।

मूलार्थ—यह अग्नि, प्राणिमात्र को आघात पहुँचाने वाली है, इस में किसी प्रकार का भी संशय नहीं है । अतएव जो संयम-पालक मुनि हैं, वे प्रदीप-प्रकाशक के लिये तथा प्रतापना-शीत-निवारणार्थ (सेकने के लिये) अर्थात् किसी भी कार्य के लिये किंचित् मात्र भी अग्निकाय का आरम्भ नहीं करते ।

टीका—इस गाथा में फिर अग्नि के विषय मे ही वर्णन किया है । जैसे कि, इस संसार में जितने भी त्रस-स्थावर प्राणी गण हैं, उन सभी को यह अग्नि आघात पहुँचाने वाली (नष्ट करने वाली) है । इसमें संशय के लिये अणु-मात्र भी स्थान नहीं है । इसीलिये जो धर्म के ज्ञाता विचक्षण मुनि हैं, वे अग्निकाय का और तो क्या ? प्रदीप प्रज्वलित करने के वास्ते तथा प्रतापना के वास्ते भी किंचित् मात्र समारम्भ नहीं करते । कारण यह है कि, वे मुनि समझते हैं अग्नि का समारम्भ प्राणी मात्र के लिये अहितकर है । यह अग्नि सर्वरक्षक नहीं है किन्तु

सर्वभक्षक है । इसमें जानते अजानते जो भी जीव पड़ जाता है, वह ही भस्म होकर काल के गाल में पहुँच जाता है ।

उत्थानिका—अब आचार्य, इस अग्निकाय सम्बन्धी विषय का उपसंहार करते हैं:—

तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं , जावजीवाइं वज्जए ॥३६॥
तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम् ।
तेजःकायसमारम्भं , यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३६॥

पदार्थान्वयः—तम्हा-इसलिये एअं-इस दुग्गइवड्ढणं-दुर्गति के बढ़ाने वाले दोसं-दोष को विआणित्ता-भली भाँति जान कर साधु तेउकायसमारंभं-अग्निकाय के समारम्भ को जावजीवाइं-जीवन पर्यन्त के लिये वज्जए-वर्जे दे ।

मूलार्थ—अतएव इस दुर्गति-वर्द्धक महादोष को सम्यक्तया जान कर जीव-दया-प्रेमी साधु, अग्नि के समारम्भ को यावज्जीवन के लिये छोड़ दे ।

टीका—इस गाथा में अग्निकाय के समारम्भ का फल वर्णन किया गया है । जैसे कि, यावन्मात्र जो अग्निकाय का समारम्भ है वह सब दुर्गति के बढ़ाने का ही कारण है । इस लिये श्रेष्ठ साधु जन किसी भी प्रयोजन के लिये अग्निकाय का समारम्भ नहीं करते । अग्निकाय के समारम्भ से बचने के लिये, वे सदैव इस से पृथक् ही रहते हैं । वस्तुतः अपनी आत्मा के समान प्रत्येक जीव को जानने का यही फल है । यदि जान कर भी रक्षा न की तो फिर उसका जानना न जानने के बराबर है ।

उत्थानिका—अब आचार्य, दशम स्थान के विषय में कहते हैं :—

अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेअं, नेअं ताइहिं सेविअं ॥३७॥
अनिलस्य समारम्भं, बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्यबहुलं चैवं (तं), नैनं त्रायिभिः सेवितम् ॥३७॥

पदार्थान्वयः—बुद्धा-तीर्थंकर देव एअं च-इसी प्रकार सावज्जबहुलं-सावद्य से बहुल अणिलस्स-वायुकाय के समारंभं-आरम्भ को तारिसं-अग्निकायिक आरम्भ के समान मन्नंति-मानते हैं, इसी वास्ते ताइहिं-षट्-काय संरक्षक मुनियों ने एअं-इस वायुकाय के समारम्भ को न सेविअं-सेवित नहीं किया है।

मूलार्थ—श्री तीर्थंकर देव, अग्नि-कायिक समारम्भ के समान ही वायु-काय के समारम्भ को भी सावद्य बहुल (पाप-बहुल) मानते हैं। अतएव सर्वदा जगज्जीवों की रक्षा करने वाले साधुओं को इस वायुकाय के समारम्भ का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए।

टीका—नवम स्थान के कथन के पश्चात्, अब दशम स्थान का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, श्री तीर्थंकर देव जिस प्रकार अग्निकाय के समारम्भ को पाप बहुल मानते हैं, इसी प्रकार वायु-काय के समारम्भ को भी मानते हैं। अतएव जो षट्-काय के संरक्षक मुनि हैं, उन्हें वायु-काय के समारम्भ का सेवन कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि, जो मुनि प्राणिमात्र के रक्षक हैं, वे वस्त्र स्फोटनादि क्रियाओं द्वारा वायु-काय का संहार कैसे कर सकते हैं। यहाँ एक बात ध्यान में देने योग्य यह है कि, जिस प्रकार पृथिवी-काय आदि के स्व-काय और पर-काय दोनों शस्त्र हैं, उसी प्रकार वायु-काय के नहीं है। वायु-काय का प्रायः स्व-काय शस्त्र है अर्थात् वायु-काय का शस्त्र वायु-काय ही अधिक है। इसीलिये सूत्रकार ने इस के लिए 'सावज्जबहुलं' 'सावद्यबहुलं' का विशेषण देकर इस का परित्याग बतलाया है।

सूत्र में जो 'बुद्धा' शब्द दिया हुआ है, उस का यह भाव है कि आप्त-प्रणीत शास्त्र वा आप्त-वाक्य ही प्रमाण होते हैं। यह शास्त्र भी आप्त-वाक्य रूप होने से प्रमाण है।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'इसी विषय को स्पष्ट करते हुए' फिर कथन करते हैं :—

तालिअंटेण पत्तेण, साहा विहुअणेण वा।
न ते वीइउमिच्छंति, वीआवेऊण वा परं ॥३८॥

तालवृन्तेन पत्रेण, शाखा-विधूननेन वा ।
न ते वीजितुमिच्छन्ति, वीजयितुं वा परम् ॥३८॥

पदार्थान्वयः—ते–वे साधु तालिअंटेण–ताल के पंखे से पत्तेण–पत्र से वा–अथवा साहाविहुअणेण–वृक्ष की शाखा से वीइउं–पंखा करने को (हवा करने को) नइच्छंति–न स्वयं चाहते वा–और परं–न दूसरों से वीआवेउण–करवाना चाहते हैं, उपलक्षण से अनुमोदना भी नहीं करते हैं ।

मूलार्थ—सभी जीवों के कल्याण की कामना करने वाले मुनि, ताल-वृंत के पंखे से, पत्र से, वृक्ष की शाखा से, हवा न तो स्वयं करना चाहते और न दूसरों से कराना चाहते हैं, तथा अपने आप करने वाले दूसरों की अनुमोदना भी नहीं करते हैं ।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, जो उत्तम साधु हैं, वे ताल के पंखे से, पत्र से, पत्रों के समूह से अथवा किसी वृक्ष की शुष्क शाखा से न तो स्वयं आप वायु का सेवन करते हैं और न दूसरों से कह कर वायु का सेवन कराते हैं तथा जो अन्य पुरुष पंखा आदि से वायु सेवन करते हैं, उनकी अनुमोदना भी नहीं करते हैं । कारण यह है कि, प्रायः वायु-काय के द्वारा ही वायु-काय की हिंसा होती है । अतः जिसने प्राणिमात्र के साथ मैत्री का हाथ बढाया है, वह किसी को दुःख किस प्रकार पहुँचा सकता है ।

उत्थानिका—अब आचार्य, उपकरणों द्वारा भी वायु-काय की हिंसा नहीं करने के विषय में कहते हैं—

जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति, जयं परिहरंति अ ॥३९॥

यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादप्रोंच्छनम् ।
न ते वातमुदीरयन्ति, यतं परिहरन्ति च ॥३९॥

पदार्थान्वयः—जंपि–जो भी वत्थं–वस्त्र व–तथा पाय–पात्र वा–तथा कंबलं–कम्बल तथा पायपुंछणं–पाद-प्रोंछन आदि उपकरण हैं, तद्द्वारा भी ते–

वे साधु वायं–वायु-काय की न उईरंति–उदीरणा नहीं करते, किन्तु जयं–यत्न-पूर्वक ही इन उपकरणों को परिहरंति–धारण करते हैं अ–'च' शब्द समुच्चय अर्थ में है।

मूलार्थ—दयार्द्र-हृदय-संयमी, अपने पास में जो वस्त्र, पात्र, कम्बल तथा पाद-प्रोंछन आदि उपकरण रहते हैं, तद् द्वारा भी अयत्ना से कभी वायु-काय की उदीरणा नहीं करते। बल्कि गृहीत उपकरणों को यत्न-पूर्वक ही परि-भोग और परिहार-रूप काम में लाते हैं।

टीका—साधुओं के पास जो वस्त्र, पात्र, कम्बल तथा पाद-प्रोंछन आदि धर्मोपकरण रहते हैं, उनके द्वारा भी कभी वायु-काय की उदीरणा नहीं करते। कारण यह है कि, वायु-काय की उदीरणा द्वारा वायु-काय की हिंसा हो जाती है। इस लिए वे उक्त धर्मोपकरणों को यत्ना के साथ उठाते हैं, (रखते हैं)। अर्थात् असाव-धानी से ऐसी कोई स्फोटनादि क्रियाएँ नहीं करते हैं कि जिससे वायु-काय की विराधना हो जाए। साधुओं की वस्त्र-पात्रादि के उठाने और धरने की समस्त-क्रियाएँ यत्न-पूर्वक ही होती हैं, जिस से वायु-काय की विराधना न होने से वस्त्र पात्रादि धर्मोपकरणों के धारण करने में साधुओं को कोई आपत्ति नहीं होती है।

उत्थानिका—अब आचार्य, उक्त स्थान का उपसंहार करते हैं:—

तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वाउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥४०॥

तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
वायुकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४०॥

पदार्थान्वयः—तम्हा–इसलिये एअं–इस दुग्गइवड्ढणं–दुर्गति के बढ़ाने वाले दोसं–दोष को विआणित्ता–जान कर साधु जावजीवाइ–यावज्जीवन के लिये वाउकायसमारंभं–वायु-काय के समारम्भ को वज्जए–वर्जदे।

मूलार्थ—अतएव साधुओं का कर्तव्य है कि, वे इस दुर्गति के बढ़ाने वाले दोष को सम्यक्तया समझ कर यावज्जीवन के लिये वायु-काय के समा-रम्भ का परित्याग करदें।

टीका—इस गाथा मे वायु-काय के प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य जी कहते हैं कि, वायु-काय की हिंसा से उत्तरोत्तर दुर्गति की उपलब्धि होती है, अतः इस दुर्गति के मूलकारणीभूत पूर्वोक्त दोषों को सम्यक्तया जानकर बुद्धिमान् साधु, वायु-काय के समारंभ को सर्वथा छोड़ देते हैं। वे कदापि पंखा आदि से वायु-काय का समारम्भ नहीं करते और नांही औरों से करवाते हैं तथा जो करते हैं, उनकी अनुमोदना भी नहीं करते। अपितु अपनी आत्मा के समान प्रत्येक प्राणी को जान कर सर्वदा अहिंसा के भावों से अपनी आत्मा की विशुद्धि करते रहते हैं।

उत्थानिका—अब आचार्य, ग्यारहवें स्थान के विषय मे कहते हैं:—

वणस्सइं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिआ ॥४१॥

वनस्पतिं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥४१॥

पदार्थान्वयः—सुसमाहिआ-पवित्र समाधि वाले संजया-साधु मणसा-मन से वयसा-वचन से कायसा-काय से अर्थात तिविहेणकरणजोएण-तीन करण और तीन योग से वणस्सइं-वनस्पति-काय की न हिंसंति-हिंसा नहीं करते हैं।

मूलार्थ—जो पवित्र-समाधि-भाव रखने वाले मुनि हैं, वे तीन करण और तीन योग से कदापि वनस्पति-काय की हिंसा नहीं करते हैं।

टीका—इस गाथा मे वनस्पति-काय के विषय मे वर्णन किया गया है। जो श्रेष्ठ मुनि हैं, जिनकी आत्मा सुसमाहित है, वे मन, वचन, और काय द्वारा तथा कृत, कारित और अनुमोदन द्वारा अर्थात् तीन योग और तीन करण से वनस्पति-काय की हिंसा का परित्याग करते हैं। आचाराङ्ग सूत्र मे प्रतिपादन किया है

---

१ डॉ० जगदीश चन्द्र वसु ने इस बात को पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया है। उन्हों ने ढके की चोट से सिद्ध कर दिया है कि, मनुष्यो की क्रियाओं के समान ही वनस्पति की भी क्रियाएँ होती हैं। जो निन्दा-स्तुति से हर्ष-शोक आदि के भाव मनुष्यो में होते हैं, वैसे ही वनस्पतियों में भी होते हैं। अन्तर केवल व्यक्तता और अव्यक्तता का है। मनुष्यो में ये व्यक्त रूप से होते हैं और वनस्पतियों में अव्यक्त रूप से। साम्प्रदायिक मान्यताओं की प्रचण्ड आँधी में आँख मूँदकर चलने वाले सज्जन ध्यान दें, और वनस्पतियों पर भी दया भाव रक्खें। सपादक।

कि, जैसी अवस्था मनुष्य की होती है, ठीक वैसी ही अवस्था वनस्पति की भी होती है। इसीलिये दया-धारकों को वनस्पति-काय की हिंसा कदापि नहीं करनी चाहिये।

उत्थानिका—अब आचार्य, फिर इसी अधिकार को स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं:—

वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसइ उ तयस्सिए।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥४२॥

वनस्पतिं विहिंसन्, हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसांश्च विविधान् प्राणिनः, चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥४२॥

पदार्थान्वयः—**वणस्सइं**—वनस्पति काय की **विहिंसंतो**—हिंसा करता हुआ **तयस्सिए**—तदाश्रित **तसे**—त्रस **अ**—और **विविहेपाणे**—नाना प्रकार के स्थावर प्राणी तथा **चक्खुसे**—आंखों से देखे जाने वाले चाक्षुष **अ**—और **अचक्खुसे**—आंखों से न देखे जाने वाले अचाक्षुष सभी जीवों की **हिंसइ उ**—हिंसा करता है।

मूलार्थ—वनस्पति-काय की हिंसा करता हुआ, केवल वनस्पति-काय की ही हिंसा नहीं करता है। अपितु वह वनस्पति-काय के आश्रित जो भी त्रस स्थावर, चाक्षुष-अचाक्षुष जीव हैं, उन सभी की हिंसा करता है।

टीका—इस गाथा में यह वर्णन है कि, वनस्पति-काय की हिंसा करता हुआ केवल वनस्पति-काय की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु वह जो नाना प्रकार के जीव वनस्पति के आश्रित होते हैं, उन त्रस-स्थावर, चाक्षुष अचाक्षुष सभी प्रकार के जीवों की हिंसा करता है। सूत्रकार के कथन का तात्पर्य यह है कि, वनस्पति-काय की हिंसा कदापि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वनस्पति की हिंसा करना सभी जीवों की हिंसा करना है। यदि कोई यह कहे कि तदाश्रित जीवों का क्या पता? वे उस समय उसमें हों या न हों; परन्तु यह कहना निश्चित (सम्भव) नहीं है, उसको विना सर्वज्ञ के कौन मेट (दूर कर) सकता है।

उत्थानिका—अब आचार्य, इस वनस्पति के अधिकार का उपसंहार करते हैं:—

तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइ वड्ढणं।
वणस्सइसमारंभं , जावजीवाइ वज्जए ॥४३॥

तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
वनस्पतिसमारम्भं , यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४३॥

पदार्थान्वयः—तम्हा-इसलिये एअं-इस दुग्गइ वड्ढणं-दुर्गति के बढ़ाने वाले दोसं-दोष को विआणित्ता-जान-कर वणस्सइ समारंभं-वनस्पति-काय के समारंभ को जावजीवाइ-यावज्जीवन के लिये वज्जए-वर्जदे।

मूलार्थ—यह वनस्पति-काय का समारम्भ, दुर्गति के बढ़ाने वाला है। अतः इस दोष को भली भाँति जान कर, साधु को वनस्पति-काय का समारम्भ जीवन भर के लिये छोड़ देना चाहिये।

टीका—इस गाथा में इस बात का उपदेश किया गया है कि, वनस्पति काय के समारम्भ का फल भगवान् महावीर प्रभु ने दुर्गति के बढाने वाला कथन किया है। इसलिये इस दोष को सम्यक्तया जान कर इस का समारम्भ सर्वथा छोड़ देना चाहिये, जिससे आत्मा सदैव अहिंसा-वृत्ति द्वारा आत्म-समाधि प्राप्त कर सके। क्योंकि प्रत्येक आत्मा को सुख देने से ही आत्म-समाधि की प्राप्ति होती है। 'सुख दीयां सुख होत है, दुख दीयां दुख होत'।

उत्थानिका—अब आचार्य, बारहवे स्थान के विषय में कहते हैं:—

तसकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिआ ॥४४॥

त्रसकायं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥४४॥

पदार्थान्वयः—सुसमाहिआ-श्रेष्ठ-समाधि वाले संजया-साधु मणसा-मन से वयसा-वचन से कायसा-काय से तिविहेण करणजोएण-तीन करण और तीन योग से तसकायं-त्रस काय की न हिंसन्ति-हिंसा नहीं करते।

मूलार्थ—जिन की पवित्र आत्मा सर्वतोभावेन शान्त है, ऐसे साधु मन, वचन और शरीर से एवं कृत, कारित और अनुमोदन से कभी भी त्रस-काय की हिंसा नहीं करते।

टीका—इस सूत्र में ग्यारहवे स्थान के पश्चात् वारहवें स्थान के विषय में कथन किया है। श्रेष्ठ समाधि वाले साधु, तीन करण और तीन योग से न तो स्वयं त्रस-काय के जीवों की हिंसा करते हैं, न औरों से हिंसा करवाते हैं, तथा जो अन्य लोग त्रस-काय के जीवों की हिंसा करते हैं, उनकी अनुमोदना भी नहीं करते हैं। इसी लिये वे मुनि पूर्णतया अहिंसा-वृत्ति का पालन करने से सुसमाहितात्मा और समाधिस्थ होते हैं। कारण यह है कि, जिनकी आत्मा वैर-विरोध से रहित होती है, वस्तुतः उन्हीं को आत्म-ध्यान में तल्लीनता प्राप्त होती है औरों को नहीं। यहाँ प्रश्न होता है कि, त्रस-काय किसे कहते हैं? इसका समाधान यह है कि, जो जीव चलते फिरते दृष्टि-गोचर होते हैं, यथा द्वीन्द्रिय जीव, त्रीन्द्रिय जीव, चतुरिन्द्रिय जीव, और पंचेन्द्रिय जीव, इन सब जीवों की त्रस संज्ञा है।[1]

उत्थानिका—अब आचार्य, फिर इसी अधिकार का स्पष्टीकरण करते हैं—

तसकायं विहिंसंतो, हिंसइ उ तयस्सिए।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥४५॥

त्रसकायं विहिंसन्, हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसांश्च विविधान् प्राणिनः, चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥४५॥

पदार्थान्वयः—तसकायं-त्रस-काय की विहिंसंतो-हिंसा करता हुआ तयस्सिए-तदाश्रित तसे-त्रस अ-और विविहेपाणे-नाना प्रकार के स्थावर प्राणी तथा चक्खुसे-चाक्षुष अ-और अचक्खुसे-अचाक्षुष सभी जीवों की हिंसइ उ-हिंसा करता है।

मूलार्थ—त्रस-काय की हिंसा करता हुआ प्राणी, उसके आश्रित होकर रहने वाले त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-स्थूल आदि अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

१ यह वस्तुतः व्यवहार लक्षण है। निश्चय लक्षण तो यह है कि, जो जीव त्रस नाम कर्मोदय से होते हैं, वे त्रस कहलाते हैं और जो जीव स्थावर नाम कर्मोदय से होते हैं, वे स्थावर कहलाते हैं। —संपादक।

टीका—त्रस-काय के जीवों की हिंसा करने से तदाश्रित त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर, चाक्षुष-अचाक्षुष जो भी जीव होते हैं, उन सभी जीवों की हिंसा हो जाती है। अतएव त्रस-काय की हिंसा से सर्वथा निवृत्ति करनी चाहिये। क्योंकि, श्रेष्ठ आत्माएँ जब सब प्रकार की हिंसा से निवृत्त हो जाती हैं, तब उनको पूर्णतया समाधि-भाव प्राप्त हो जाता है। हिंसा करते हुए कभी कहीं किसी को समाधि मिली हो, यह संसार के आज तक के इतिहास में कहीं भी अङ्कित नहीं मिलता है। प्रत्युत हिंसा से पूरी-पूरी अशान्ति ही मिली है। इसके उदाहरण तो पृष्ठ-पृष्ठ पर एक से एक बढ़चढ़ कर लिखे हुए मिलेंगे। वास्तव में जो अपनी शान्ति के लिये दूसरों को अशान्ति पहुँचाता है, उसे शान्ति कैसे मिल सकती है। जो दूसरों के लिये खंदक (गड्ढ़ा) खोदता है उसको कूँआ तैयार मिलता है।

उत्थानिका—अब आचार्य, उक्त कथन का उपसंहार करते हैं:—

तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
तसकायसमारंभं , जावजीवइ वज्जए ॥४६॥

तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम्।
त्रसकाय समारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४६॥

पदार्थान्वयः—तम्हा-इसलिए एअं-इस दुग्गइवड्ढणं-दुर्गति के बढ़ाने वाले दोसं-दोष को विआणित्ता-जान कर साधु तसकायसमारंभं-त्रस-काय के समारम्भ को जावजीवाइ-यावज्जीवन के लिये वज्जए-वर्जदे। –

भूलार्थ—इसलिये इस दुर्गति-वर्द्धक दोष को भली भाँति जान कर, साधु को त्रस-काय के समारम्भ का सर्वथा यावज्जीवन के लिये परित्याग कर देना चाहिये।

टीका—इस गाथा में त्रस-काय के प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि, त्रस-काय की हिंसा पूर्णतया दुर्गति सम्वर्द्धिका है। त्रस-काय की हिंसा ने न तो अतीत-काल में किसी को सुगति दी और न भविष्य में देगी। अतः दुर्गति से डरने वाले और सुगति की कामना करने वाले लोगों को त्रस-काय के

समारम्भ का यावज्जीवन के लिये परित्याग कर देना चाहिये। यह बात भली प्रकार युक्ति-युक्त है कि, यावन्मात्र हिंसा एक प्रकार का ऋण है। जो जिस प्रकार प्राणियों को कष्ट देता है, प्रायः उसे उसी प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। यदि ऐसा कहा जाय कि, इन सभी गाथाओं में हिंसा का फल दुर्गति बतलाया गया है, किन्तु नरक नहीं बतलाया इसका क्या कारण है ? तो शङ्का के समाधान में कहा जाता है कि, शास्त्र में नरक, तिर्यञ्च, कुमनुष्य और सेवक-देव ये चारों ही दुर्गतियाँ प्रतिपादन की गई हैं। और हिंसक-जीव चारों ही दुर्गतियों में नाना प्रकार के कष्टों को भोगता रहता है। अतएव हिंसा का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए जिससे दुर्गतियों की अपेक्षा सिद्ध, देव, मनुष्य और सुकुल-रूप-सद्गतियों की प्राप्ति हो सके।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'मूल गुणों के कथन के पश्चात् उत्तर गुणों का कथन करते हुए' 'अकल्प' नामक तेहरवें स्थान के विषय में कहते हैं :—

जाइं चत्तारि भुज्जाइं, इसिणा हारमाइणि।
ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥४७॥

यानि चत्वारि अभोज्यानि, ऋषीणामाहारादीनि ।
तानि तु विवर्जयन्, संयममनुपालयेत् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—**जाइं**-जो **चत्तारि**-चार **आहारमाइणि**-आहार आदि पदार्थ **इसिणा**-साधुओं को **भुज्जाइं**-अभोज्य हैं (अकल्पनीय हैं) साधु **ताइं**-उन चारों को **तु**-निश्चय कर के **विवज्जंतो**-वर्जता हुआ **संजमं**-संयम की **अणुपालए**-पालना करे।

मूलार्थ—जो चार आहार आदि पदार्थ साधुओं को अकल्पनीय हैं, साधु उन चारों को सभी प्रकार से छोड़ता हुआ अपने संयम की निरंतर पालना करे।

टीका—पूर्व जो पाँच महाव्रतों का और छः कायों का वर्णन किया है, वह साधु के मूल गुणों का वर्णन किया है। अब आचार्य महाराज, क्रम प्राप्त

अकल्प आदि छः उत्तर गुणों का वर्णन करते हैं। क्योंकि, जिस प्रकार बाड़ खेत की रक्षा करती है, ठीक इसी प्रकार उत्तर गुण, मूल गुणों की रक्षा करते हैं। मूल गुणों की रक्षा के लिए उत्तर गुणों का होना परमावश्यक है। यह तेहरवां स्थान अकल्प नामक है। इसके दो भेद हैं—शिष्यक-अकल्प और स्थापना-अकल्प। शिष्यक-अकल्प उसका नाम है—जिस शिष्य ने अभी तक पिण्डैषणा आदि अध्ययनों द्वारा भिक्षा विधि का अध्ययन नहीं किया और नाँही उसने सम्यक्तया भिक्षाचरी के दोषों का ज्ञान प्राप्त किया है, उस शिष्य का लाया हुआ आहार गीतार्थ-मुनियों के लिये अकल्पनीय होता है। द्वितीय स्थापना-अकल्प है। जैसे कि, आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र ये चारों ही पदार्थ यदि सदोष हैं तो साधुओं को अकल्पनीय हैं। क्योंकि, ये संयम के अनुपकारी हैं। अतएव साधु अकल्पनीय पदार्थों को छोड़ता हुआ शुद्ध-संयम की भावों से पालना करे, जिससे आत्मा का कल्याण हो सके। तथा यह बात भी भली प्रकार से मानी हुई है कि, उत्तर गुणों की विराधना करने से मूल गुणों में हानि पहुँचे विना नहीं रह सकती। अस्तु, मूल गुणों की रक्षा के लिये उत्तर गुणों की शुद्धि की ओर विशेष सावधानी रखनी चाहिये।

उत्थानिका—अब आचार्य, फिर इसी विषय को स्फुट करते हैं:—

पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य।
अकप्पिअं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥४८॥

पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च, चतुर्थं पात्रमेव च।
अकल्पिकं नेच्छेत्, प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥४८॥

पदार्थान्वयः—पिंडं-आहार च-तथा सिज्जं-शय्या च-तथा वत्थं-वस्त्र य-तथा एव-इसी प्रकार चउत्थं-चतुर्थ पायं-पात्र, ये सब यदि अकप्पिअं-अकल्पनीय हों तो न इच्छिज्जा-ग्रहण न करे तथा कप्पिअं-यदि कल्पनीय हों तो पडिगाहिज्ज-ग्रहण करे।

मूलार्थ—आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र यदि ये चारों पदार्थ सदोष हों तो साधु ग्रहण न करे, और यदि निर्दोष हों तो ग्रहण कर ले।

टीका—इस गाथा में कल्पनीय (निर्दोष) और अकल्पनीय (सदोष) पदार्थों का वर्णन किया गया है। जैसे कि, आहार, उपाश्रय, वस्त्र, तथा पात्र आदि यदि साधु-वृत्ति के सर्वथा योग्य (कल्पनीय) हों, तो साधु ग्रहण कर ले। यदि ये सभी पदार्थ अकल्पनीय हों अर्थात् सदोष हों, तो कदापि ग्रहण न करे। कारण कि, सदोष पदार्थों के आसेवन से आत्मा में जो पूर्णतया अहिंसा के भाव होते हैं, उन में बाधा उपस्थित हो जाती है। अतएव साधु को सदा कल्पनीय पदार्थों के ग्रहण करने की ओर ही ध्यान देना चाहिये। अकल्पनीय पदार्थों के ग्रहण की ओर नहीं। अकल्पनीय-पदार्थों के ग्रहण का और तो क्या ? कभी भूलकर मन से विचार नहीं करना चाहिए।

उत्थानिका—अब आचार्य, फिर उक्त स्थान के विषय में ही कहते हैं :—

जे नियागं ममायंति, कीअमुद्देसिआहडं ।
वहं ते समणुजाणंति, इअ उत्तं महेसिणा ॥४९॥
ये नियागं ममायन्ति, क्रीतमौद्देशिकमाहृतम् ।
वधं ते समनुजानन्ति, इत्युक्तं महर्षिणा ॥४९॥

पदार्थान्वयः—जे-जो कोई साधु नियागं-नित्य आमंत्रित आहार तथा कीअं-मोल लिया हुआ आहार तथा उद्देसि (यं)-औद्देशिक आहार तथा आहडं-साधु के वास्ते सन्मुख लाया हुआ आहार ममायंति-ग्रहण करते हैं ते-वे साधु वहं-प्राणि-वध की समणुजाणंति-अनुमोदना करते हैं इअ-इस प्रकार महेसिणा-पूर्व महर्षि ने उत्तं-कथन किया है।

मूलार्थ—भगवान् महावीर ने बतलाया है कि, जो विचार-विलुप्त-साधु, नित्य-आमंत्रित-आहार, क्रीत-कृत-आहार, औद्देशिक-आहार तथा आहृत-आहार ग्रहण करते हैं, वे प्रकट रूप में षट्जीवनिकाय के वध की अनुमोदना करते हैं।

टीका—'हे भगवन्! आप कहाँ फिरते रहेंगे। कृपया नित्य प्रति एक मेरे ही घर से आहार ले लिया करें।' गृहस्थ के इस निवेदन पर 'मामकीनोऽयं पिण्डः' की भावना रखते हुए जो रस-लोलुप, द्रव्य-लिङ्गी साधु नित्य प्रति एक ही

घर से आहार लाते हैं। तथा क्रीत-कृत (मोल लिया हुआ) औद्देशिक (साधु के वास्ते तैयार किया हुआ) और आहृत (साधु के स्थान पर दानार्थ लाया हुआ) आहार ग्रहण करते हैं, वे सब प्रकार से प्रत्यक्ष षट्-कायिक जीवों के वध के (घात के) अनुमोदक हैं। ऐसों को सर्व जीव रक्षक के विमल विशेषणों से समलंकृत करना, नितान्त अज्ञानता है। अतएव प्राचीन काल के पवित्रात्मा, महर्षि, भगवान् महावीर ने ऐसे भ्रष्ट साधुओं की भ्रष्टता का वर्णन कर इनके पूर्ण बहिष्कार की अटल योजना की है। अतः जिन्हें अपना धर्म पालन करना है उन्हें ये अकल्पनीय आहार कदापि नहीं लेने चाहिये। इस गाथा मे जो 'नियागं' और 'ममायंति' शब्द आये हैं, उनके लिये टीकाकर और अवचूरिकारने क्रमशः अपनी टीका और अवचूरि में इस प्रकार लिखा है—'नियागमिति, नित्यमामन्त्रितं पिण्डं। ममायंति मामकीनोऽयं पिण्ड इति कृत्वा गृह्णन्ति।'

उत्थानिका—अब आचार्य, इस स्थान का उपसंहार करते हैं:—

तम्हा असणपाणाइं, कीअमुद्देसिआहडं ।
वज्जयंति ठिअप्पाणो, निग्गंथा धम्मजीविणो ॥५०॥

तस्मादशनपानादि , क्रीतमौद्देशिकमाहृतम् ।
वर्जयन्ति स्थितात्मानो, निर्ग्रन्थाः धर्मजीविनः ॥५०॥

पदार्थान्वयः—तम्हा-इस लिये ठिअप्पाणो-स्थिर है आत्मा जिन की ऐसे धम्मजीविणो-धर्म पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले निग्गंथा-निर्ग्रन्थ कीअं-मोल लिया हुआ उद्देसि(यं)-साधु का उद्देश रखकर बनाया हुआ तथा आहडं-साधु के सन्मुख लाया हुआ असणपाणाइं-अन्न पाणी आदि आहार को वज्जयन्ति-छोड़ देते हैं (ग्रहण नहीं करते)।

मूलार्थ—जिनकी आत्मा सर्वथा स्थिर है और जो धर्म पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले हैं, वे निष्परिग्रही साधु नियाग, क्रीत-कृत, औद्देशिक और आहृत अशन-पानादि पदार्थ कदापि ग्रहण नहीं करते।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, जो धर्म-क्रिया-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने वाले निर्ग्रन्थ हैं, वे मोल का लिया हुआ

आहार, साधु का उद्देश रख कर तैयार किया हुआ आहार, साधु के पास साधु के निमित्त से लाया हुआ आहार, अशन, पान, खादिम और स्वादिम अकल्पनीय होने के कारण कभी नहीं ग्रहण करते हैं । चाहे कोई कितना ही क्यों न आग्रह करे, पर वे अकल्पनीय पदार्थ की ओर 'ग्रहण करने की इच्छा से' आँख उठा कर भी नहीं देखते हैं । यह बात उन्हीं निर्ग्रन्थों की है, जो धर्म में स्थित हैं और धर्म-जीवी होने से अपने तथा दूसरे के कल्याण करने वाले हैं ।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'गृहि-भाजन-नामक' चौदहवें स्थान का वर्णन करते हैं :—

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥५१॥
कंसेषु कंसपात्रेषु, कुण्डमोदेषु वा पुनः ।
भुञ्जानोऽशनपानादि , आचारात् परिभ्रश्यति ॥५१॥

पदार्थान्वयः—**कंसेसु**–कांसी की कटोरी में **पुणो**–तथा **कंसपाएसु**–कांसी की थाली में **वा**–तथा **कुंडमोएसु**–मिट्टी के कुंडे में **असणपाणाइं** अन्न पानी आदि **भुंजंतो**–भोगता हुआ साधु **आयारा**–अपने साधु आचार से **परिभस्सइ**–भ्रष्ट हो जाता है ।

सूलार्थ—जो मुनि कांसी की कटोरी में, कांसी की थाली में तथा मिट्टी के कुंडे में, अशन-पान आदि भोजन करता है; वह अपने साध्वाचार से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है ।

टीका—अब आचार्य श्री 'गृहिभाजन' नामक चौदहवें स्थान के विषय में कहते हैं । इस स्थान का यह आशय है कि, साधु गृहस्थों के पात्रों में आहार न करे । क्योंकि, जो साधु कांसी की कटोरी में, कांसी की थाली में तथा मिट्टी के कुंडों 'जो हाथी के पैर के आकार की तरह बने हुए होते हैं' मे अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों प्रकार का आहार करता है, वह साधु-आचार से पतित हो जाता है । अतएव साधु-वृत्ति पालन करने के लिये साधु को 'यदि सर्वथा निर्दोष हो तो भी' गृहस्थों के पात्रों में कदापि भोजन नहीं करना चाहिये ।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'गृहस्थ के पात्रों में भोजन क्यों नहीं करना चाहिए ?' इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं :—

सीओदगसमारंभे , मत्तधोअणछड्डणे ।
जाइं छंनंति भूआइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥५२॥

शीतोदकसमारम्भे , मात्रकधावनोज्झने ।
यानि छिद्यन्ते भूतानि, दृष्टः तत्र असंयमः ॥५२॥

पदार्थान्वयः—**सीओदगसमारंभे**—शीत जल के समारम्भ से तथा **मत्तधोअणछड्डणे**—पात्र धौत-जल के गेरने से **जाइं**—जो **भूआइं**—प्राणी **छंनंति**—हनन होते हैं, उससे **तत्थ**—गृहस्थ के पात्रों में भोजन करने में केवल ज्ञानियों ने **असंजमो**—पूरा-पूरा असंयम **दिट्ठो**—देखा है।

मूलार्थ—पूर्वोक्त गृहस्थ पात्रों में भोजन करने से एक तो धोने आदि के लिये कच्चे जल का आरम्भ होता है और दूसरे धौत जल को अयत्ना से यत्र तत्र गेरने से जीवों का घात होता है। अतः केवल ज्ञानी तीर्थंकर देवों ने 'गृहस्थ के पात्रों में जो भोजन किया जाता है' उसमें जीव विराधना-रूप असंयम स्पष्टतः देखा है।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया है कि, जो साधु गृहस्थों के वर्तनों में आहार करते हैं, उनको इस प्रकार के दोष लगते हैं। साधु इन पात्रों में भोजन करेगा, इस आशय से गृहस्थ पहले ही उन पात्रों को सचित्त जल से धो डालते हैं और साधु के भोजन करने के बाद फिर उन वर्तनों को धोते हैं, एवं उस पानी को अयत्न-पूर्वक गेरते हैं; जिससे नाना प्रकार के सूक्ष्म—वादर जीवों की हिंसा हो जाती है। इस लिये श्री तीर्थंकर देवों ने अपने ज्ञान में यह देखा है कि, गृहस्थों के पात्रों में भोजन करने से असंयम की प्रवृत्ति बढ़ती है और यह उपदेश किया कि, दया-प्रेमी साधु को गृहस्थों के पात्रों में कदापि भोजन नहीं करना चाहिये। सूत्र में जो 'छंनंति' क्रिया पद दिया हुआ है उसके स्थान में कई प्रतियों में 'छप्पंति'—'क्षिप्यन्ते' पद भी लिखा हुआ मिलता है।

परन्तु 'छंनंति' और 'छप्पंति' के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का भावार्थ वस्तुतः एक सा ही है।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'गृहस्थ पात्र में भोजन करने से होने वाले दोषों का वर्णन करते हुए' इस स्थान का उपसंहार करते हैं :—

पच्छा कम्मं पुरेकम्मं, सिआ तत्थ न कप्पइ।
एअमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥५३॥

पश्चात्कर्म पुरः कर्म, स्यात् तत्र न कल्पते।
एतदर्थं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥५३॥

पदार्थान्वयः—तत्थ—गृहस्थों के पात्रों में भोजन करना साधु को नकप्पइ—नहीं कल्पता है। क्योंकि सिआ—कदाचित् पच्छाकम्मं—पश्चात्-कर्म तथा पुरेकम्मं—पूर्व-कर्म लगता है एयमट्ठं—इसलिये निग्गंथा—निर्ग्रन्थ गिहिभायणे—गृहस्थ के पात्र में न भुंजंति—भोजन नहीं करते।

मूलार्थ—गृहस्थ के पात्रों में भोजन करने से साधु को पूर्व-कर्म का तथा पश्चात्-कर्म का बहुत विशाल दोष लगता है। अतएव जो मुनि निर्दूषण संयम के धारक हैं, वे किसी भी दशा में गृहस्थ के पात्रों में भोजन नहीं करते।

टीका—इस गाथा में उक्त विषय का उपसंहार किया गया है। जब साधु गृहस्थों के बर्तनों में भोजन करने लग जायगा, तब उसको पश्चात्कर्म वा पूर्व-कर्म रूप दोष लगेंगे। क्योंकि, जब साधु गृहस्थों के बर्तनों में भोजन कर चुकेगा तब वे गृहस्थ उन बर्तनों को शुद्ध (पवित्र) बनाने के लिये शीत-जल द्वारा प्रक्षालनादि क्रियाएँ करेंगे, यह पश्चात्कर्म है। तथा भोजन करने से पहिले साधु के लिये ही उन बर्तनों को शीत जल द्वारा शुद्ध करने लगेंगे यह पूर्व-कर्म है। अतः उक्त दोनों प्रकार के दोषों को दूर करने के लिये ही (उपलक्षण से अन्य संभावित दोषों को भी दूर करने के लिये) साधु-जन, गृहस्थ लोगों के बर्तनों में भोजन नहीं करते। यदि ऐसे कहा जाय कि, यदि उष्णादि अचित्त जल से पात्र शुद्ध कर लिये जाएँ तो फिर कोई दोष उत्पन्न नहीं हो सकता ? शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि, यदि उष्ण जल आदि इसी निमित्त से तैयार किये जायेंगे तब तो पूर्व-कर्म

दोष पहले ही उपस्थित हो जायगा। और उपलक्षण से अन्य दोषों की संभावना भी अनिवार्य है। इसीलिये दया-पालक-मुनियों को गृहस्थों के पात्रों में कदापि भोजन नहीं करना चाहिये।

उत्थानिका—अब आचार्य, पंदरहवें स्थान का वर्णन करते हैं:—

आसंदी-पलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा।
अणायरिअमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तुवा ॥५४॥
आसंदी-पर्यंकेषु , मंचाशालकेषु वा।
अनाचरितमार्याणां , आसितुं शयितुं वा ॥५४॥

पदार्थान्वयः—अज्जाणं—आर्य भिक्षुओं को आसंदी पलिअंकेसु—आसंदी और पर्यंकों पर मंचं—खाट पर वा—अथवा आसालएसु—सिंहासन वा कुर्सी पर आसइत्तु—बैठने से तथा सइत्तु—सोने से अणायरिअं—अनाचरित नामक दोष लगता है।

मूलार्थ—आसंदी, पर्यंक, खाट और कुर्सी आदि गृहस्थों के आसनों पर बैठने से तथा सोने से आर्य (श्रेष्ठ आचार विचार वाले) मुनियों को अनाचरित नामक दोष लगता है।

टीका—इस गाथा में चौदहवें स्थान के वर्णन के बाद पंदरहवें स्थान के विषय में वर्णन किया गया है। जैसे कि, आर्य भिक्षुओं को आसंदी (भद्रासन) पर्यंक (पलंग) मंच (खाट-चारपाई) आशालक (सिंहासन और कुरसी आदि) पर बैठने से तथा सोने से अनाचार रूप दोष लगता है। कारण यह है कि, उक्त आसनों का मध्यभाग शुषिर (पोला) होता है, जिससे वहाँ पर बैठे हुए जीव दृषि गोचर नहीं हो सकते। और जब दृष्टि गोचर नहीं होते, तो फिर रक्षा कैसी हो सकती है ? सूत्र में जो 'आशालक' शब्द आया है, उसकी व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने लिखा है कि, "आशालकस्तु अवष्टम्भसमन्वित आसनविशेषः—" अर्थात् जिसमें सहारा हो, ऐसा सुखकारी आसन। अतः यह टीकाकार का 'आसान विशेष' आधुनिक समय में आराम कुरसी आदि ही समझ मे आता है।

सूत्र में जो आसनों का नामोद्देश किया है, उससे यह अभिप्राय नहीं होता कि, 'सूत्रकथित आसन ही त्याज्य हैं, अन्य नहीं।' सूत्र में गिने हुये आसनों के अलावा अन्य आसनों का भी उपलक्षण से ग्रहण कर लेना चाहिये।

उत्थानिका—अब आचार्य, इस अधिकार के अपवाद का कथन करते हैं:—

नासंदीपलिअंकेसु , न निसिज्जा न पीढए।
निग्गंथा पडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥५५॥

नासंदीपर्यंकयोः , न निषद्यायां न पीठके।
निर्ग्रन्थाः अप्रतिलेख्य, बुद्धोक्तमधिष्ठातारः ॥५५॥

पदार्थान्वयः—बुद्धवुत्तमहिट्ठगा—सर्वज्ञ देवों के वचनों को मानने वाले निग्गंथा—साधु पडिलेहाए—बिना प्रतिलेखन किये न—न तो आसंदीपलिअंकेसु—आसंदी और पलंग पर बैठते हैं, और न—न निसिज्जा—गद्दी पर और न—न पीढए—पीठक पर बैठते हैं।

मूलार्थ—जो मुनि, तीर्थंकर-देवों की आज्ञा को पूर्णतया मानने वाले हैं; वे आसंदी, पर्यंक, गद्दी और पीठ आदि पर विना प्रतिलेखन किये बैठने, उठने और सोने आदि की क्रियाएँ कदापि नहीं करते हैं।

टीका—इस गाथा में उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया गया है और साथ ही उसका अपवाद भी दिखलाया गया है। जैसे कि, श्री तीर्थं कर देवों की आज्ञा के पालन करने वाले साधु को गृहस्थों के आसंदी, पर्यंक तथा पीठक आदि आसनों पर प्रथम तो बैठना ही नहीं चाहिये, क्योंकि उनमें शुषिरता (छिद्र) के कारण अनेक प्रकार के जीवों के रहने की संभावना है। यदि कभी किसी रोगादि आवश्यक कारण से (असमर्थता से) इन आसनों पर बैठना भी पड़े तो अच्छी तरह निरीक्षण कर प्रतिलेखना कर के बैठना चाहिये, अन्यथा नहीं। यहाँ यह अवश्य ध्यान रहे कि, उत्सर्ग-मार्ग में तो चाहे किसी प्रकार के भी गृहस्थासन हों, चाहे कैसे ही कारण क्यों न हों, कभी भी नहीं बैठना चाहिये।

हाँ, अपवाद-मार्ग में किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर प्रतिलेखना करके बैठ सकता है।

उत्थानिका—अब आचार्य महाराज, 'उक्त आसनों पर बैठने से क्या दोष होता है ?' इसके विषय में कहते हैं:—

गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा।
आसंदी पलिअंको य, एअमट्ठं विवज्जिआ ॥५६॥

गम्भीरविजया एते, प्राणिनो दुष्प्रतिलेख्याः।
आसंदी पर्यङ्कश्च, एतदर्थं विवर्जिताः ॥५६॥

पदार्थान्वयः—एए-ये सब आसन गंभीरविजया-अप्रकाशमय हैं, अतः पाणा-सूक्ष्म प्राणी दुप्पडिलेहगा-दुष्प्रतिलेख्य हैं। एअमट्ठं-इसलिये आसंदी पलिअंको-आसंदी पर्यंक य-और मंचादि आसन साधुओं को विवज्जिआ-विवर्जित हैं।

मूलार्थ—ये आसंदी आदि आसन अप्रकाशमय हैं, अतः दुष्प्रतिलेख्य हैं। इसीलिये साधुओं के वास्ते ये आसन सभी प्रकार से वर्जित हैं।

टीका—पूर्वसूत्रोक्त पर्यंक आदि गंभीर-विजय (अप्रकाशमय) हैं। इनमे जैसा चाहिये वैसा बराबर प्रकाश नहीं पड़ता। अतः तद्गत जीव भले प्रकार प्रतिलेखन नहीं किये जा सकते अर्थात् उनका निरीक्षण सम्यग्प्रकार से नहीं हो सकता है। जब जीवों का निरीक्षण ही नहीं हुआ तो उनकी रक्षा कैसे हो सकती है ? रक्षा तो तभी हो सकती है जब कि वे रक्षक के दृष्टि गोचर हों। अतः सारांश यह है कि, इस जीव-घात रूप दोष से अपनी पवित्र आत्मा को निष्कलंक बनाए रखने के लिये जीव-दया-प्रेमी साधुओं को कदापि पूर्वोक्त पर्यंक आदि अयोग्य आसनों पर बैठने, सोने आदि की कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये।

उत्थानिका—अब आचार्य जी, सोलहवें स्थान पर विवेचना करते हैं:—

गोअरग्गपविट्ठस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ।
इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अबोहिअं ॥५७॥

गोचराग्रप्रविष्टस्य , निषद्या यस्य कल्पते ।
ईदृशमनाचारं , आपद्यते अबोधिकम् ॥५७॥

पदार्थान्वयः—**गोअरग्गपविट्ठस्स**—गोचराग्र-प्रविष्ट **जस्स**—जिस साधु को गृहस्थ के घर पर **निसिज्जा**—बैठना **कप्पइ**—कल्पता है (उत्तम प्रतीत होता है) वह साधु **इमेरिसं**—वक्ष्यमाण **अणायारं**—अनाचार को, और उस अनाचार के **अबोहिअं**—अबोध-रूप फल को **आवज्जइ**—प्राप्त करता है ।

मूलार्थ—गोचरी के लिये गया हुआ जो साधु, गृहस्थों के घरों में जा कर बैठता है, वह वक्ष्यमाण-अनाचार एवं मिथ्यात्व-रूप दुष्फल को प्राप्त करता है ।

टीका—इस गाथा में सोलहवें स्थान के विषय में कथन किया है । यथा जो साधु गोचरी के लिये गृहस्थों के घरों में गया हुआ वहीं बैठ जाता है, उसको वह सम्यक्त्व का नाश, अर्थात् मिथ्यात्व रूप फल की प्राप्ति होती है, जिसका मैं यथा क्रम से वर्णन करूँगा । कारण यह है कि, घरों में जा कर बैठने से संयम-वृत्ति में नाना प्रकार की शङ्काएँ उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है । क्योंकि जब संयमी घरों मे नाना प्रकार की काम जन्य क्रियाएं देखेगा, तब उसकी आत्मा संयम-वृत्ति में कैसे स्थित हो सकेगी । अवश्य ही वह संयम-गिरि के उच्च शिखर से गिरकर मिथ्यात्व के सर्व नाशकारी अथाह क्षार समुद्र मे डूब जायगा । इसीलिये सूत्रकर्ता ने 'अबोधिकं' और 'आपद्यते' यह दो पद दिये हैं । क्योंकि क्षयिक-भाव या क्षयोपशमिक-भाव तो बड़े भारी सत्यप्रयत्न से प्राप्त होते हैं, किन्तु औदयिक-भाव अत्यन्त शीघ्र ही किसी तुच्छ निमित्त के मिलने पर ही उदय हो आता है। सूत्र मे जो 'कल्पते' क्रिया-पद दिया हुआ है पाठक उससे 'गृहस्थों के घरों में साधु को बैठना कल्पता है (योग्य है)' इस अर्थ के भ्रम में न पड़े । इस का अर्थ वही है, जो कि ऊपर किया गया है । टीकाकार भी यही अर्थ करते हैं—गृह एव निषीदनं समाचरति यः साधुरिति, अर्थात् जो साधु गृहस्थ के घर में ही बैठने की क्रिया का समाचरण करता है ।

उत्थानिका—अब आचार्य, अनाचार-विषयक वर्णन करते हैं :—

विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥५८॥

विपत्ति ब्रह्मचर्यस्य, प्राणानां च वधे वधः।
वनीपकप्रतिघातः, प्रतिक्रोधः अगारिणाम् ॥५८॥

पदार्थान्वयः—गृहस्थों के घरों में बैठने से बंभचेरस्स—ब्रह्मचर्य का विवत्ती—नाश पाणाणं—प्राणियों का वहे—वध होने पर च—और साथ ही वहो—संयम का घात तथा वणीमगपडिग्घाओ—भिक्षाचरों का प्रतिघात और अगारिणं—गृहस्थों को पडिकोहो—प्रतिक्रोध होता है।

मूलार्थ—गृहस्थों के घरों में बैठने से ब्रह्मचर्य का नाश, प्राणियों का वध, संयम का घात, भिक्षाचर लोगों को अन्तराय तथा गृहस्वामी (गृहस्थ) लोगों को क्रोध होता है।

टीका—गृहस्थों के घरों में बैठने से एक तो ब्रह्मचर्य का नाश होता है। क्योंकि, जिस किसी दशा में इधर उधर डोलती, फिरती, बैठती, सोती हुई स्त्रियों के देखने भालने से निश्चल से निश्चल चित्त भी काम राग के धक्के से चलायमान हो जाता है। चित्त के चञ्चल होते ही ब्रह्मचर्य अपने आप स्खलित हो जाता है। ब्रह्मचर्य की स्थिरता, चित्त की स्थिरता पर अवलम्बित है। दूसरे षट्कायिक जीवों का नाश होता है। क्योंकि विशेष संसर्ग के कारण राग भाव हो जाने से प्रतिष्ठित साधु के वास्ते नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ तैयार किये जायँगे, जिससे छः काय के जीवों का विनाश स्वयं सिद्ध है। और जहाँ आधा कर्मादि-आहार से जीवों का विनाश होता है, भला फिर वहाँ संयम कैसे स्थिर हो सकता है ? संयम की स्थिरता तो जीव दया पर ही निर्भर है। तीसरे याचकों को अन्तराय होता है। क्योंकि, देने वाले तो साधु के पास बैठ जाते हैं। उसकी सेवा शुश्रूषा में लग जाते हैं, फिर बेचारे याचकों की पुकार कौन सुने ? तिरन तारन जहाजरूपी साधु की भक्ति मे लग कर पीछे, क्षुद्र नौका रूप याचकों की तरफ ध्यान जाना भी असम्भव सा है। चौथे गृहस्थों को क्रोध भी होता है। क्योकि, गृहस्थों का हृदय प्रायः शङ्का शील होता है, वे अपने मन मे अवश्य शङ्का करेंगे कि, "देखो यह

कैसा साधु है ? विना कुछ देखे भाले झट यहाँ आकर पसर जाता है। साधु का काम है आहार लिया और चल दिया। उसके यहाँ पर बैठने से क्या प्रयोजन है ? अवश्य ही यह साधु कुछ चाल चलन मे स्खलित प्रतीत होता है। फिर अवश्य ही, गृहस्थ जब कभी आगे-पीछे, स्पष्ट, अस्पष्ट रूप से नाना प्रकार के आक्षेप करने लगेंगे। सूत्र का संक्षिप्त सार यह है कि, घरों में बैठने से केवल हानि ही है, लाभ कुछ भी नहीं। जो साधु अपने यश को सदा निष्कलङ्क बनाये रखना चाहते हैं, उन्हें भूलकर भी यह अयोग्य काम नहीं करना चाहिए। ऐसे काम करने वाले के मस्तक पर कलङ्क का काला टीका लगे बिना नहीं रह सकता।

उत्थानिका—अब आचार्य जी, फिर इसी विषय का कथन करते हैं:—

अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थिओ वावि संकणं।
कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥५९॥

अगुप्ति ब्रह्मचर्यस्य, स्त्रीतोवापि शङ्कनम्।
कुशीलवर्धनं स्थानं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥५९॥

पदार्थान्वयः—घरों मे बैठने से **बंभचेरस्स**—ब्रह्मचर्य की **अगुत्ती**—अगुप्ति होती है **वा**—और **इत्थिओवि**—स्त्रियों से भी **संकणं**—शङ्का उत्पन्न होती है। अतः **कुसीलवड्ढणं**—कुशील के बढ़ाने वाले **ठाणं**—इस स्थान को साधु **दूरओ**—दूर से ही **परिवज्जए**— वर्ज दे।

मूलार्थ—गृहस्थों के घरों में बैठने से ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होती है, तथा स्त्रियों को देखने से ब्रह्मचर्य में शङ्का उत्पन्न होती है। अतएव कुशील के बढाने वाले इस नीच स्थान को ब्रह्मचर्य-व्रती साधु दूर से ही त्याग दे।

टीका—इस गाथा में पुनः उक्त विषय का ही वर्णन किया गया है। जैसे कि, जब घरों मे बैठना होगा तब स्त्रियों को बार बार देखने से 'कैसा ही दृढ़व्रती क्यों न हो' ब्रह्मचर्य व्रत की अगुप्ति अवश्य हो जाती है। क्योंकि नित्य का संसर्ग बहुत बुरा होता है। एक ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होगी इतना ही नहीं प्रत्युत स्त्री की विकार-भरी मुखाकृति को देख-कर तो समस्त संयम वृत्ति मे ही नाना प्रकार की शङ्काएँ उत्पन्न होने लग जाती हैं। अतः यह स्थान कुशील का (दुःस्व-

भाव का) बढ़ाने वाला है, इसलिये शुद्ध-संयमी साधुओं का कर्तव्य है कि, वे इसे दूर से ही छोड़ दें, और गृहस्थों के घरों में जाकर न बैठें। वृत्तिकार भी यही लिखते हैं "स्त्रीतश्चापि शङ्का भवति तदुत्फुल्ललोचनदर्शनादिनाऽनुभूतगुणायाः कुशील-वर्द्धनं स्थानम्—उक्तेनप्रकारेणासंयमवृद्धिकारकमिति।

उत्थानिका—अब आचार्य महाराज, इस स्थानक के अपवाद बतलाते हैं:—

तिन्हमन्नयरागस्स , निसिज्जा जस्स कप्पइ।
जराए अभिभूअस्स, वाहिअस्स तवस्सिणो ॥६०॥
त्रयाणामन्यतरस्य , निषद्या यस्य कल्पते।
जरयाऽभिभूतस्य , व्याधितस्य तपस्विनः ॥६०॥

पदार्थान्वयः—तिन्हं-तीनों में से अन्नयरागस्स-अन्यतर (कोई एक) जस्स-जिसको निसिज्जा-गृहस्थ के घर (कारण से) बैठना कप्पइ-कल्पता है। यथा जराए-बुढ़ापे से अभिभूअस्स-अभिभूत हुए को वाहिअस्स-व्याधिग्रस्त को तथा तवस्सिणो-तपस्वी को। क्योंकि, सूत्रोक्त दोषों की उन्हें सम्भावना नहीं हो सकती।

मूलार्थ—अत्यन्त वृद्ध, असमर्थ-रोगी, प्रधान-तपस्वी इन तीनों व्यक्तियों में से कोई एक कारण पड़ने पर गृहस्थ के घर पर बैठ सकता है। क्योंकि, इनको पूर्वोक्त दोषों के हो जाने की संभावना नहीं।

टीका—इस गाथा में उक्त विषय का अपवाद वर्णन किया गया है। जो साधु अत्यन्त वृद्ध है, तथा व्याधि से पीड़ित है, या परम-तपस्वी है, वह यदि गोचरी के लिये गया हुआ गृहस्थ के घर पर जा कर बैठ जाय तो कोई दोष नहीं। उसे श्री भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाला नहीं कह सकते। उसको पूर्व कथित दोषों की प्राप्ति भी नहीं होती। क्योंकि, वह अपनी शारीरिक निर्बलता के कारण से बैठता है, किसी अन्य कारण से नहीं। इस कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि, श्री वीर भगवान् का दयामय-मार्ग अतीव उत्कृष्ट है। क्योंकि, वृद्ध, रोगी और तपस्वी की करुणा के लिये ही उक्त स्थान का

यह अपवाद वर्णन किया है। सभी स्वस्थों और अस्वस्थों की एक तरह समझने से दया-धर्म का सत्यानाश हो जाता है।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'स्नान नामक' सतरहवें स्थान के विषय में कहते हैं :—

वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥६१॥

व्याधितो वा अरोगी वा, स्नानं यस्तु प्रार्थयते।
व्युत्क्रान्तो भवति आचारः, (त्यक्तो) भवति संयमः ॥६१॥

पदार्थान्वयः—वाहिओ-रोगी वा-अथवा अरोगी वा-अरोगी (रोगहीन) जोउ-जो कोई भी साधु सिणाणं-स्नान की पत्थए-इच्छा करता है, उसका आयारो-आचार वुक्कंतो-व्युत्क्रान्त (भ्रष्ट) होइ-हो जाता है तथा संजमो-उसका संयम भी जढो-हीन (त्यक्त) हवइ-हो जाता है।

मूलार्थ—स्वस्थ अथवा अस्वस्थ जो कोई भी साधु स्नान की इच्छा करता है, वह अपने सदाचार से एवं संयम से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है।

टीका—इस गाथा में सतरहवें स्थान के विषय मे प्रतिपादन किया गया है। जो साधु रोग से ग्रस्त है, या रोग से रहित अर्थात् किसी भी दशा में है, अङ्गप्रक्षालनादि-रूप स्नान की प्रार्थना करता है, उसका आचार भ्रष्ट हो जाता है, इतना ही नहीं, किन्तु उसका संयम भी शून्य रूप हो जाता है। "जढः परित्यक्तो भवति संयमः प्राणिरक्षणादिक अप्कायादिविराधनादिति"=वह सम्यक्तया प्राणियों की रक्षा न कर सकने एवं अप्कायादि की विराधना करने से संयम-रहित हो जाता है। 'स्नान' शृङ्गार का मुख्य अङ्ग है। इससे काम-वासना की विशेष वृद्धि होती है। अतः यह व्रती को संयमाचार से पतित करने वाला है। इस स्थान पर शृङ्गार का मुख्य अङ्ग होने से स्नान का ही निषेध किया गया है। किन्तु मल आदि की शुद्धि के लिये जो मलिन (अङ्गविशेषों) का प्रक्षालन किया जाता है, उसका निषेध नहीं किया है।

उत्थानिका—अब आचार्य जी, 'यदि प्रासुक-जल से स्नान किया जाय, तो तब भी दोष होगा कि नहीं ?' इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—

संति मे सुहुमा पाणा, घसासु भिलगासु अ।
जे अ भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पिलावए ॥६२॥

सन्ति इमे सूक्ष्माः प्राणिनः, घसासु भिलुकासु च।
यांश्च भिक्षुःस्नान्(स्नानंकुर्वन्), विकृतेनोत्प्लावयति ॥६२॥

पदार्थान्वयः—घसासु—क्षार वाली शुषिर भूमि के विषय में (अ) तथा भिलगासु—भूमि की दराड़ों के विषय में मे—ये त्रस-स्थावर सुहुमा—सूक्ष्म पाणा—प्राणी संति—हैं, अतएव जेअ—जिन को सिणायंतो—स्नान करता हुआ भिक्खू—साधु वियडेणुप्पिलावए—प्रासुक जल द्वारा भी बहा देता है।

मूलार्थ—शुषिर (पोली) तथा राजियुक्त (दराड़ों वाली) भूमि में अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव होते हैं; फिर चाहे प्रासुक जल से भी स्नान करो, तो भी उन जीवों के उत्प्लावन से विराधना अवश्य होती ही है।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, जो साधु प्रासुक-जल से भी स्नान करता है, वह भी संयम-विराधना करता है। जो भूमि ऊषर (क्षार युक्त) पोली है तथा राजियों (लंबी लंबी दराड़ों) से युक्त है, स्नान करने से तद्गत-जीवों की विराधना होती है। अभिप्राय यह है कि, क्षार भूमि प्रायः पोली होती है, उस में जीव रहते हैं। फटी हुई भूमि मे दराड़ें होती हैं और उसमें भी नाना प्रकार के सूक्ष्म जीव निवास करते हैं, कीड़ी आदियों के बिल भी होते हैं। जब भिक्षु स्नान करेगा, तब उक्त भूमि मे जल प्रविष्ट हो जाने से तद्गत जीव अवश्य बह जायँगे, जिससे संयम की विराधना अवश्यंभावी है। यदि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो जाय कि यदि उक्त-प्रकार की भूमि न हो तो फिर स्नान करने में क्या दोष है ? उत्तर में कहना है कि, यदि इस प्रकार की भूमि न हो तो भी पानी तो अवश्यमेव बहेगा, जिस से फिर भी असंयम होने की संभावना निश्चित रूप से ही है।

उत्थानिका—अब आचार्य, प्रस्तुत स्थान का निगमन करते हुए कहते हैं :—

तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥६३॥

तस्मात् ते न स्नान्ति, शीतेन उष्णेन वा ।
यावज्जीवं व्रतं घोरं, अस्नानमधिष्ठातारः[१] ॥६३॥

पदार्थान्वयः—**तम्हा**-इसलिये **ते**-संयम-पालक साधु **सीएण**-शीतल जल से **वा**-अथवा **उसिणेण**-उष्ण जल से कभी **नसिणायंति**-स्नान नहीं करते । अतः वे **जावज्जीवं**-यावज्जीव के लिये **घोरं**-घोर **असिणाणं**-अस्नान नामक **वयं**-व्रत को **अहिट्ठगा**-धारण करने वाले होते हैं ।

मूलार्थ—अतएव साधु, शीत जल से अथवा उष्ण जल से कदापि स्नान नहीं करते । वे यावज्जीवन इस 'अस्नान' नामक घोर व्रत को पूर्णतया पालन करते हैं ।

टीका—जीवों की रक्षा, काम-विकार से निवृत्ति, और कठिन तपश्चर्या का पालन, इन सभी कारणों को लक्ष्य में रख कर दया-पालक साधु, शीत-जल से अथवा उष्ण-जल से कभी स्नान नहीं करते । वे पवित्रात्मा-मुनिराज इस 'अस्नान' नामक अतीव दुष्कर व्रत का आयुपर्यन्त बड़ी दृढता के साथ पालन करते हैं । यह बात बड़ी ही दुष्कर है । सदैव शरीर की शुश्रुषा से पृथक रहना किसी बलवान् आत्मा का ही काम है । निर्बल आत्माएं इस घोर व्रत के पालन से प्रायः स्खलित हो जाती हैं । इसी लिये सूत्रकार ने इस व्रत के लिये 'घोर' शब्द का विशेषण दिया है ।

उत्थानिका—अब आचार्य, 'फिर इसी विषय के ऊपर कहते हुए' उवट्टना आदि के लगाने का भी निषेध करते हैं :—

सिणाणं अदुवा कक्कं, लोद्धं पउमगाणि अ ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए , नायरंति कया इवि ॥६४॥

स्नानमथवा कल्कं, लोध्रं पद्मकानि च ।
गात्रस्योद्वर्तनार्थं , नाचरन्ति कदाचिदपि ॥६४॥

पदार्थान्वयः—सिणाणं–स्नान अदुवा–अथवा कक्कं–कल्क (चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य) लोद्धं–लोध पउमगाणि–कुंकुम (केसर प्रमुख) अ–च शब्द से अन्य सुगन्धित द्रव्य भी गायस्सुव्वट्टणट्ठाए–अपने शरीर के उद्वर्तन के लिये कयाइवि–कदाचित् भी नायरंति–आचरण नहीं करते ।

मूलार्थ—जो साधु शुद्ध-संयम-पालन के इच्छुक हैं, उन्हें स्नान के समान ही चन्दन, लोध्र, कुंकुम, केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों का अपने शरीर के उद्वर्तन के लिये कदापि सेवन नहीं करना चाहिये ।

टीका—जिस प्रकार साधु के लिये स्नान करने का निषेध है, ठीक इसी प्रकार सुगन्धमय द्रव्यों का शरीर पर लेप करने का तथा उद्वर्तन क्रियाएं करने का भी सर्वदा निषेध है । स्नान—देशस्नान, सर्वस्नान, कल्क—चन्दन आदि द्रव्य, लोध्र—गन्ध द्रव्य, कुंकुम केसर अथवा अन्य इसी प्रकार के जितने भी सुगन्धित द्रव्य हैं; उन सभी को साधु, कभी भी अपने शरीर के उद्वर्तनादि के लिये आचरण न करे । क्योंकि, उक्त पदार्थों के आसेवन करने से मन मे विकृति उत्पन्न होने की सम्भावना की जा सकती है । जिससे फिर चारित्र का पालन करना असम्भव नहीं तो, कठिन अवश्य हो जाता है । अतः संयम रक्षा के लिये यह सभी कृत्य शास्त्रकार ने वर्जित किये हैं ।

उत्थानिका—अब आचार्य महाराज, 'शोभा-वर्जन' नामक अन्तिम अठारहवें स्थान का वर्णन करते हैं :—

नगिणस्स वावि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणाओ उवसंतस्स, किं विभूसाइ कारिअं ॥६५॥
नग्नस्य वाऽपि मुण्डस्य, दीर्घरोमनखवतः ।
मैथुनादुपशान्तस्य , किं विभूषया कार्यम् ॥६५॥

पदार्थान्वयः—नगिणस्स-नग्न वावि-अथवा मुंडस्स-शिर मुण्डित तथा दीहरोमनहंसिणो-दीर्घ-रोम नखों वाले तथा मेहुणाओ-मैथुन कर्म से उवसंतस्स-सर्वथा उपशान्त साधु को विभूसाइं-विभूषा से किं कारिअं-क्या काम ।

मूलार्थ—जो साधु, मलिन एवं परिमित वस्त्रधारी होने से नग्न है, द्रव्य और भाव से मुण्डित है, दीर्घ रोम और नखों वाला है, मैथुन कर्म के विकार से सर्वथा उपशान्त है, उसको विभूषा (शोभा शृङ्गार) से क्या प्रयोजन है ?

टीका—इस गाथा में अठारहवें स्थान के विषय में प्रतिपादन किया गया है कि, जो साधु द्रव्य और भाव से नग्न है अर्थात् जिन-कल्पी है या कुत्सित वस्त्र धारण करने वाला है, तथा जो द्रव्य से, शिरोलोच आदि से, एवं भाव से पाँचों इन्द्रियों के और चारों कषायों के निग्रह से मुण्डित है, तथा जिसके जिन-कल्पिक अवस्था में रोम और नख बहुत बढ़े हुए हैं, इतना ही नहीं, किन्तु जो मुनि मैथुन क्रिया से भी सर्वथा उपशान्त हो गया है, ऐसे निर्विकारी साधु को विभूषा से कार्य ही क्या है ? अर्थात् जो शरीर पर किसी प्रकार का मोह नहीं करता वह विभूषा किस लिये करेगा । शरीर का शृङ्गार अनेक प्रकार के सूक्ष्म एवं स्थूल दोषों का पैदा करने वाला है । शरीर के शृङ्गार में लगे रहने पर आत्मा का शृङ्गार कभी नहीं हो सकता ।

उत्थानिका—अब आचार्य, प्रयोजनाभाव कथन करके अपाय-सद्भाव का प्रतिपादन करते हैं :—

विभूसावत्तिअं भिक्खू , कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे, जेण पडइ दुरुत्तरे ॥६६॥

---

१ जीर्ण शीर्ण एवं परिमित वस्त्र धारी मुनि भी मूर्च्छाभाव के न होने पर उपचार से नग्न ही कहे जाते हैं । देखिये—अचेलक शब्द की व्युत्पत्ति—'कुत्सितं वा चेल वस्त्रं यस्यासावचेलक.' । प्रव. ७८ द्वार ।

२. यह दीर्घ रोम नख रखने का व्यवहार जिन-कल्पियों का ही है, स्थविर कल्पियों का नहीं । स्थविर कल्पियों के नख तो प्रमाणोपेत ही होते हैं, जिससे वे अन्धकार आदि के समय किसी अन्य मुनि को न लग सकें ।

विभूषाप्रत्ययं भिक्षुः, कर्म बध्नाति चिक्कणम्।
संसारसागरे घोरे, येन पतति दुरुत्तरे ॥६६॥

पदार्थान्वयः—भिक्खू–साधु विभूसावत्तिअं–विभूषा के निमित्त चिक्कणं–वह दारुण कम्मं–कर्म बंधइ–बाँधता है जेण–जिससे दुरुत्तरे–दुस्तर घोरे–रौद्र संसारसायरे–संसार-सागर में पडइ–पड़ता है।

मूलार्थ—जो साधु, शरीर सौन्दर्य के ध्यान में लग जाता है, वह सौन्दर्य के लिये इस प्रकार के सचिक्कण कर्म बाँध लेता है; जिनसे वह साधु दुस्तर एवं रौद्र संसार-सागर में जा पड़ता है।

टीका—इस सूत्र में विभूषा करने का फल दिखलाया गया है। शृङ्गार-प्रिय साधु, विभूषा के कारण से इस प्रकार के कठोर एवं चिकने कर्म बाँधता है, जिनके कारण वह दुस्तर (जो आसानी से तैरा न जा सके) तथा घोर (जो अत्यंत भयावह है) ऐसे संसार-रूप समुद्र में डूब जाता है। जहाँ चिर काल तक नाना प्रकार के एक से एक घोर दुःखों को भोगता रहता है। कारण यह है कि, जो साधु, शरीर की विभूषा के ध्यान में लग जाता है, उसे फिर उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता। वह अनुचित से अनुचित क्रियाओं को करने के लिये शीघ्रातिशीघ्र समुद्यत हो जाता है। इस प्रकार के अकुशलानुबन्ध से अत्यन्त दीर्घ संसार चक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है। अतः विद्वान् साधुओं को इस विभूषा के भयङ्कर रोग से सदा दूर ही रहना चाहिये। इस स्थान मे केवल विभूषा का ही निषेध किया गया है, मल आदि की शुद्धि करने का नहीं। अतः मल आदि की शुद्धि के अतिरिक्त जो भी शोभा-निमित्त शरीर की संस्कृति की जाती है, वह सब विभूषा के ही अन्तर्गत हो जाती है।

उत्थानिका—अब आचार्य, बाह्य विभूषा सम्बन्धी अपाय के कथन के अनन्तर, संकल्प सम्बन्धी विभूषा अपाय, के विषय में कहते हैं:—

विभूसा वत्तिअं चेअं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेअं, नेयं ताईहिं सेविअं ॥६७॥

विभूषाप्रत्ययं चेतः, बुद्धाः मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्यबहुलं चैतद्, नैतत् त्रायिभिः सेवितम् ॥६७॥

पदार्थान्वयः—बुद्धा—तीर्थंकर-देव विभूसावत्तिअं—विभूषा निमित्त चेअं—चित्त को तारिसं—रौद्र कर्म के बन्धन का हेतु मन्नंति—मानते हैं; च—और एअं—एवंविध चित्त आर्तध्यान से सावज्जबहुलं—सावद्य बहुल है; अतः ताईहिं—षट्-काय के रक्षक-साधुओं द्वारा नेयंसेविअं—यह आचरण करने लायक नहीं है ।

मूलार्थ—तीर्थङ्कर देव, विभूषा प्रत्यय चित्त को कर्म बंधन का कारण मानते हैं । अतः यह चित्त पापमय होने से षट्काय के रक्षक-साधुओं द्वारा आसेवित नहीं है ।

टीका—इस गाथा में विभूषा के संकल्पों का भी निषेध किया गया है। जिस साधु के चित्त में सदा यही संकल्प उठा करते हैं कि, 'मैं विभूषा द्वारा शरीर को ऐसा सुन्दर बनाऊँ कि लोग देखते ही रह जायँ ।' परन्तु तीर्थंकर देव, साधु के इस प्रकार के चित्त को रौद्र कर्मो के बन्ध का कारण मानते हैं । ऐसे आर्त (ध्यान युक्त) चित्त से साधु, उन महाकर्मों का संचय करता है, जो चिरकाल संसार सागर में परिभ्रमण कराते हैं । अतएव षट्काय के संरक्षक साधु, अपने चित्त को सदा पवित्र एवं मङ्गलमय बनाए रखने के लिये, कदापि ऐसे विभूषा सम्बन्धी मलिन विचार नहीं करते । पाठक विचार सकते हैं कि, जब सूत्रकार ने विभूषा के केवल संकल्पों का ही इतना अत्यन्त निकृष्ट फल बतलाया है तो फिर जो विभूषा करते हैं, उसके फल की निकृष्टता की तो सीमा ही क्या है ? सूत्रकार ने जो विभूषा के साथ 'वत्तिअं' 'प्रत्ययं' पद दिया है, उस का अर्थ कारण होता है। टीकाकार भी इसका यही अर्थ स्वीकार करते हैं, 'यथाच टीका—विभूषा प्रत्ययं विभूषा निमित्तम् ।'

उत्थानिका—अब आचार्य, अष्टादश स्थानों को शुद्ध रूप से पालन करने का फल प्रतिपादन करते हैं ।

खवंति अप्पाणममोहदंसिणो,
तवेरया संजम अज्जवगुणे ।

धुणंति पावाइं पुरे कडाइं,
नवाइं पावाइं न ते करंति ॥६८॥

क्षपयन्त्यात्मानममोहदर्शिनः ,
तपसिरताः संयमार्ज्जवगुणे ।
धुन्वन्ति पापानि पुराकृतानि,
नवानि पापानि न ते कुर्वन्ति ॥६८॥

पदार्थान्वयः—अमोहदंसिणो–व्यामोह रहित तत्व को देखने वाले तथा संजमअज्जवगुणे–संयम और आर्जवगुण संयुक्त तवे–तप में रया–रत रहने वाले ते–वे पूर्वोक्त अष्टादश स्थानों के पालक साधु पुरेकडाइं–पूर्व कृत पावाइं–पापों को धुणंति–क्षय करते हैं तथा नवाइं–आगे नवीन पावाइं–पाप कर्मों का बन्ध न करंति–नहीं करते हैं, किंवहुना इस प्रकार अप्पाणं–जन्म जन्मान्तर के पापों से मलिन हुई अपनी आत्मा को खवंति–सिद्ध करते हैं ।

मूलार्थ—जो साधु, भ्रान्ति रहित यथावत् तत्व स्वरूप के जानने वाले हैं, संयम और आर्जव गुणों से युक्त विशुद्ध तप में रत रहने वाले हैं, वे पूर्वकृत कर्मों को क्षय करते हैं और नवीन कर्मों को नहीं बाँधते (करते) हैं । एवं निजात्मा को पूर्ण विशुद्ध बनाकर स्व-स्वरूप में लाते हैं ।

टीका—इस (गाथा) में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, जो साधु उक्त अष्टादश सूत्रों, को सावधानता पूर्वक पालन करते हैं, उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है ? जो साधु मोह से रहित हो कर पदार्थों के स्वरूप को देखते हैं; वे पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ रूप से जान लेते हैं । क्योंकि, जब पक्षपात को जलांजली (त्यागपत्र) देकर वस्तु के स्वरूप को देखा जायगा, तभी वस्तु के (शुद्ध) स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, अमोहदर्शी कब और कैसे बना जाता है ? उत्तर में सूत्रकार का कहना है कि, जब तपः कर्म में संरक्तता धारण की जायगी, यथा-शक्ति तपः कर्म किया जायेगा, और जब संयम और आर्जव आदि सद्गुण धारण किये जायँगे, तभी आत्मा अमोह-दर्शी हो सकता

है। उक्त गुणों का अन्तिम परिणाम यह होता है कि, आत्मा, पूर्व-कृत ज्ञाना-वर्णीय-दर्शना-वर्णीय आदि दुष्कर्मों को क्रमशः क्षय कर देता है तथा आगे के लिये नये कर्मों को नहीं बाँधता है। जब पुराने और नये कर्मों के मैल से आत्मा निर्मुक्त हो जाता है, तब वह सदा के लिये पूर्ण-विशुद्ध बन जाता है। सूत्र का संक्षिप्त सार यह है कि, निश्चय से निर्मोही आत्मा ही सर्व-गुणों का धारक हो सकता है, मोही नहीं। क्योंकि, मोह दशा में तप संयम आदि सद्गुणों का यथा-वत् पालन नहीं हो सकता है। तप-संयम आदि गुणों का यथावृत् पालन न होने से आत्मा कृतकृत्य भी नहीं हो सकता। और कृतकृत्यता के अभाव में वास्तविक सुख नहीं मिल सकता।

उत्थानिका—अब आचार्य जी महाराज, 'अष्टादश स्थानों के पालन करने वाले साधुओं को शरद्-काल के चन्द्रमा की विमल उपमा से उपमित करते हुए' अपने व्याख्यान को समाप्त करते हैं:—

सओवसंता अममा अकिंचणा,
सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो।
उउप्पसन्ने विमलेव चंदिमा,
सिद्धिं विमाणाइं उवंति ताइणो ॥६९॥
त्ति बेमि।
इअ महायारकहा णाम छट्ठमज्झयणं सम्मत्तं।

सदोपशांताः अममा अकिञ्चना,
स्वविद्यविद्यानुगताः यशस्विनः।
ऋतु प्रसन्ने चन्द्रमा इव विमलाः,
सिद्धिं विमानानि उपयान्ति त्रायिनः ॥६९॥
इति ब्रवीमि।
इति महाचार कथा नाम षष्ठमध्ययनं समाप्तम्।

पदार्थान्वयः—**सओवसंता**–सदा-उपशान्त **अममा**–ममत्व रहित **अकिंचणा**–परिग्रह रहित **सविज्जविज्जाणुगया**–अपनी आध्यात्मिक विद्या के पार-गामी **ताइणो**–जगज्जीवों की अपनी आत्मा के समान रक्षा करने वाले **जसंसिणो**–यशस्वी तथा **उउप्पसन्ने**–ऋतु प्रसन्न होने पर **चंदिमाव**–चन्द्रमा के समान **विमले**–पूर्ण निर्मल साधु **सिद्धिं**–मुक्ति को **उवंति**–प्राप्त करते हैं, अथवा शेष कर्म के होने पर **विमाणाइं**–वैमानिक गति में उत्पन्न होते हैं **त्तिबेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो साधु सदा उपशांत, ममता शून्य, परिग्रह रहित और अपनी धार्मिक-विद्या से युक्त हैं, तथा शरद्-कालीन चन्द्रमा के समान विमल (स्वच्छ) हैं; वे जगज्जीव रक्षाव्रती संयमी प्रथम तो मोक्ष में जाते हैं, अन्यथा-वैमानिक देवों में तो अवश्य ही प्राप्त होते हैं।

टीका—यह अध्ययन समाप्ति की गाथा है। इसमें उपसंहार करते हुए आचार्य श्री जी कहते हैं, जो मुनि सदा उपशान्त हैं अर्थात् जिनको अपकार करने वाले पर भी कभी क्रोध नहीं आता, जो ममत्व भाव से रहित निष्परिग्रही हैं, अर्थात् द्रव्य परिग्रह सुवर्ण आदि, और भाव परिग्रह मिथ्यात्व आदि दोनों प्रकार के परिग्रहों से सर्वथा अलग हैं, जो केवल परलोकोपकारिणी श्रुतविद्या के धनी हैं, जो अपनी श्रुत-विद्या के अतिरिक्त इहलोकोपकारिणी शिल्प आदि कलाओं में प्रवृत्त नहीं हैं, जो परम यशस्वी हैं अर्थात्, 'शुद्ध पारलौकिक यशवन्त' परलोक की शुद्धि करने से जिनका पवित्र यश संसार मे छाया हुआ है, जो पाप-पंक की कालिमा से विमुक्त (सर्वथा शुद्ध) हैं, और जिस प्रकार शरद्-काल आदि प्रसन्न ऋतुओं में बादल, राहु तथा रजोघात आदि की मलिनता से मुक्त विमल चन्द्रमा प्रकाशवान् होता है, इसी प्रकार जिनकी विमल-आत्मा पाप-मल से रहित विशुद्ध प्रकाशवान् है, ऐसे षट्काय संरक्षक साधु, सर्वथा कर्म (बंधन) मल से रहित हो जाते हैं, और शाश्वत स्थान, मोक्ष में जा कर सिद्ध पद प्राप्त करते हैं। यदि कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, सर्वथा कर्म (बंधन) मल से रहित नहीं होते हैं, तो वैमानिक-देवों में जाकर महर्द्धिक देव होते हैं। जो उत्तम कर्म करते हैं, उन्हें उत्तम फल अवश्य मिलेगा। अध्ययन समाप्ति की इस गाथा का मननीय (ग्रहण करने लायक) सारांश यह है कि, साधु, अपने साधु-पद के

कर्तव्य का पूर्ण रूप से जैसा चाहिये वैसा ही पालन करें। कैसा ही क्यों न विकट समय हो, परन्तु निज कर्तव्य पालन में किसी प्रकार की भी त्रुटि न रहे। जो ऐसे दृढ़व्रती कर्तव्य-परायण साधु होते हैं, वे ही अजर अमर मोक्ष-पद प्राप्त करके परमात्मा, परब्रह्म-परमेश्वर बनते हैं। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने 'स्वविद्यविद्यानुगता' का अर्थ इस प्रकार किया है। स्वा आत्मीया विद्या स्वविद्या परलोकोपकारिणी केवल श्रुतरूपा, तया स्वविद्यविद्ययानुगता मुक्ता, न पुनः पर विद्यया इहलोकोप-कारिण्येति।

"श्री सुधर्मा स्वामी गणधर अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि, हे शिष्य! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पवित्र मुखारविन्द से मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययन का सुना है, वैसा ही तेरे से कहा है। अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा।"

षष्ठाध्ययन समाप्त।

नोट :—इस अन्तिम सूत्र में उठाए हुए विषय का उपसंहार तो कर दिया है, किन्तु जो राजा आदि लोग एकत्र हो कर आचार्य जी से प्रश्न पूछते थे, उन के विषय में फिर कोई उल्लेख नहीं किया गया। इससे सिद्ध होता है कि उन के विषय की कोई गाथा छूटी हुई है; जो किसी अन्य प्रति में अवश्य ही होगी। वर्तमान की प्रचलित प्रतियों में उक्त गाथा के न मिलने से उक्त विषय की त्रुटि बहुत ही खटक रही है। अतः आशा है कि, अन्वेषक विद्वान् अवश्य ही किसी प्राचीन शास्त्रभण्डार में इस रही हुई गाथा का अन्वेषण करेंगे—लेखक।

अह सुवक्क सुद्धी णाम सत्तमं अज्झयणं

अथ सुवाक्य-शुद्धिनामकं सप्तमाध्ययनम्

उत्थानिका—धर्मार्थ काम कथा (महाचार कथा) नामक छट्ठे अध्ययन मे यह वर्णन किया गया है कि, भिक्षार्थ गांव मे गये हुए साधु को यदि, कोई यह पूछे कि आप का अचार-गोचर किस प्रकार का है, तो उस साधु को वहाँ विस्तार से धर्म-कथा का प्रवन्ध नहीं करना चाहिये । वल्कि-यह कहना चाहिये कि, इस विषय में आप उपाश्रय मे विराजमान गुरु महाराज से पूछिए । वे आपको विस्तृत-रूप से स्पष्टतया वतलायेंगे । अव यदि कोई पृच्छक उपाश्रय मे ही आकर पूछे तो उसके साथ किस प्रकार निरवद्य (निर्दोप) भाषा में वार्तालाप करना चाहिये, यह इस सातवें अध्ययन में वतलाया जाता है । यही इस अध्ययन का छट्ठे अध्ययन के साथ सम्वन्ध है । इस अध्ययन का नाम 'सुवाक्य-शुद्धि' है । इसमे भाषा शुद्धि का सविस्तर वर्णन किया है । साधु का पद वहुत ऊँचा है । अतः उसे प्रत्येक विषय पर वार्तालाप करते समय भाषा शुद्धि की विशेष आवश्यकता रहती है । विना भाषा शुद्धि के जाने वात चीत करने में प्रायः अर्थ के स्थान मे अनर्थ ही हुआ करता है । अधिक कहने से क्या, हिताहित का विचार करके उपयोग पूर्वक निरवद्य भापण करना ही श्रेष्ठतर है । इसी मे बोलने वाले साधु का और सुनने वाले श्रोता का सभी प्रकार से कल्याण है । अव सूत्रकार, 'इस आदिम गाथा द्वारा भाषा को हेय और उपादेय रूप मे विभाजित करते हुए' अध्ययन का प्रारम्भ करते हैं—

चउन्हं खलु भासाणं, परिसंक्खाय पन्नवं ।
दुन्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो ॥१॥

चतसृणां खलु भाषाणां, परिसंख्याय प्रज्ञावान् ।
द्वाभ्यां तु विनयं शिक्षेत, द्वे न भाषेत सर्वशः ॥१॥

पदार्थान्वयः—**पन्नवं**–प्रज्ञावान् साधु **चउन्हं खलु**–सत्य आदि चारों ही **भासाणं**–भाषाओं के स्वरूप को **परिसंक्खाय**–सभी प्रकार से जान कर **दुन्हं तु**–दो उत्तम भाषाओं से ही **विणयं**–विनय पूर्वक शुद्ध प्रयोग करना **सिक्खे**–सीखे और शेष **दो**–दो अधम भाषाओं को **सव्वसो**–सर्व प्रकार से **न भासिज्ज**–भाषण न करे ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु, सत्य आदि चारों भाषाओं के स्वरूप को सम्यक्तया जान कर शुद्ध प्रयोग करने के लिये दो शुद्ध भाषाओं को विनय पूर्वक सीखे और दो अशुद्ध भाषाओं का सर्वथा परित्याग करे ।

टीका—इस प्रारम्भ की गाथा में भाषा के भेदों का तथा उनमें कितनी उपादेय हैं और कितनी हेय हैं, का विशद वर्णन किया गया है । प्रज्ञावान् साधु को सब से प्रथम भाषा के भेदों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । क्योंकि भेदों का ज्ञान हो जाने के पश्चात् ही उपादेय वा हेय रूप भाषाओं के विषय में यथोचित विचार किया जा सकता है, पहले नहीं । भाषा के मुख्यतया सत्य, असत्य, मिश्र, और व्यवहार ये चार भेद शास्त्रकारों ने वर्णन किये हैं । १. सत्यभाषा वह है, जो वस्तु स्थिति का यथार्थ परिबोध हो जाने के बाद विचार पूर्वक बोली जाती है । इस भाषा से बोलने वाले वक्ता और सुनने वाले श्रोता सभी का कल्याण है । यह अतीव श्रेष्ठ-भाषा है । संसार के सभी श्रेष्ठ पुरुषों को जगत्पूज्य बनाने वाली, जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाने वाली, पूर्ण स्वतंत्रता के आनन्द कारी हिंडोले मे झुलाने वाली यही एक सर्व प्रथम भाषा है । २. असत्यभाषा, वह है, जो वस्तु स्थिति का पूर्ण भान हुये बिना ही क्रोध, मान, माया लोभ आदि के कारणों से पूरे अविचार पूर्वक बोली जाती है । यह भाषा बोलने वाले और सुनने वाले सभी का अकल्याण करती है । यह अतीव निकृष्ट भाषा है । इस भाषा के चक्कर मे पड़ कर आज तक किसी ने वास्तविक शान्ति नहीं पाई । यह भाषा चिरकाल पर्यन्त संसार सागर के नरक

तुल्य रोमाञ्चकारी दु:खमय स्थानों में परिभ्रमण कराने वाली है। ३. मिश्रभाषा, वह है, जिसमें सत्य एवं असत्य दोनों भाषाओं का मिश्रण हो। जैसे कि, किसी को सोते-सोते सूर्य उदय हो जाय और थोड़ी देर बाद उसको कोई आदमी कहे कि, अरे, भले मानुष ? कैसा बेशुद्ध सोया पड़ा है, जरा उठकर तो देख ? दोपहर हो गया है। यह भाषा भी असत्य भाषा की सहचरी है, अतः निकृष्ट तथा अग्राह्य है। ४. व्यवहार भाषा वह है, जो जनता में विशेषकर बोली जाती है जिसका जनता पर अनुचित-प्रभाव नहीं पडता है जैसे—पर्वत पर जलती तो अग्नि है, परन्तु कहा जाता है कि, पर्वत जल रहा है। यह भाषा सत्य भाषा की सहचरी होने से ग्राह्य है। ये चार भाषाएँ हैं। इन में से सत्य और व्यवहार भाषा को तो साधु उपयोग पूर्वक सीखे असत्य और मृषा भाषा को नहीं। अर्थात् साधु को जब कभी बोलने का काम पड़े तो सत्य और व्यवहार भाषा ही बोलनी चाहिये, असत्य और मिश्र भाषा को, 'चाहे कैसा ही जरूरी काम क्यो न बिगडता-सुधरता हो' कदापि भाषण न करे। क्योंकि, 'विनीयतेऽनेन कर्मेति कृत्वा शिक्षेत जानीयात्' अर्थात् साधु का उद्देश्य कर्म दूर करने का है। अतः साधु जिन से कर्म दूर किये जा सकें उन भाषाओं के स्वरूप को जान कर केवल उन्हीं का भाषण करे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अनाचरित भाषाओं के त्याग के विषय में कहते हैं:—

जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा अ जा मुसा।
जा य बुद्धेहिं नाइन्ना, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥२॥

या च सत्या अवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा।
या च बुद्धैरनाचीर्णा, न तां भाषेत प्रज्ञावान् ॥२॥

पदार्थान्वयः—जा य-जो भाषा सच्चा-सत्य है परन्तु अवत्तव्वा-सावद्य होने से बोलने योग्य नहीं है जा-और जो सच्चामोसा-सत्या-मृषा है अ-तथा मुसा-मृषा है य-तथा जा-जो असत्या मृषाभाषा बुद्धहिं-तीर्थंकर-देवों द्वारा नाइन्ना-अनाचरित है तं-उस भाषा को पन्नवं-प्रज्ञावान् साधु न भासिज्ज-भाषण न करे।

मूलार्थ—जो सत्यभाषा सावद्य होने से अवक्तव्य है तथा जो मिश्र भाषा है अथवा जो केवल मृषाभाषा है अथवा जो पापकारिणी व्यवहार भाषा है, अभिप्राय यह कि, जो जो भाषाएँ तीर्थंकर देवों ने आचरण नहीं की हैं, उन सभी भाषाओं को प्रज्ञावान् साधु कदापि भाषण न करे।

टीका—इस गाथा में भाषाओं के भाषण करने के विषय में प्रतिपादन किया है। जो भाषा सत्य तो अवश्य है, किन्तु उसके द्वारा अनेक जीवों का वध होता है। अतः वह भाषा भी अवक्तव्य है (बोलने योग्य नहीं है)। इसी प्रकार सत्यामृषा मिश्रभाषा, अथ च केवल असत्यभाषा, 'च' शब्द से व्यवहारभाषा भी (जिसके बोलने से पाप कर्म का बंध होता है) सर्वथा अवक्तव्य है। कहने का प्रयोजन यह है कि, बुद्धों ने (तीर्थंकर देवों ने) जिन जिन भाषाओं का आचरण नहीं किया, उन सभी भाषाओं को प्रज्ञावान साधु कदापि भाषण नहीं करे। क्योंकि, साधु का मार्ग कल्याण का है। अतः साधु को जिस भाषा के बोलने से पाप कर्म का बंध तथा च किसी का अकल्याण होता हो तो वह भाषा किसी भी अवस्था में भाषण नहीं करनी चाहिये। असत्य और मिश्र भाषा तो प्रथम ही विवर्जित हैं। अवशिष्ट सत्य और व्यवहारभाषा इन दोनों में से भी जो पापकर्म के बंधन करने वाली हो, उसे नहीं बोलना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, साधु के बोलने योग्य भाषा के विषय मे कहते हैं:—

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं , गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥३॥

असत्या-मृषां सत्यां च, अनवद्यामकर्कशाम् ।
समुत्प्रेक्ष्य असंदिग्धां, गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३॥

पदार्थान्वयः—**पन्नवं**-बुद्धिमान् साधु **अणवज्जं**-पाप से रहित **अकक्कसं**-अकर्कश एवं **असंदिद्धं**-असंदिग्ध **असच्चमोसंगिरं**-असत्या मृषा-व्यवहार भाषा को **च**-और **सच्चं**-सत्य भाषा को **समुप्पेहं**-अच्छी प्रकार विचार कर **भासिज्ज**-बोले।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु, व्यवहारभाषा और सत्यभाषा भी वही बोले जो पाप से अदूषित हो, मधुर और असंदिग्ध हो। फिर वह भी हानि लाभ का पूर्ण विचार करके बोले, बिना विचारे नहीं।

टीका—बुद्धिमान् साधु का कर्तव्य है कि, वह उन्हीं असत्यामृषा भाषा (व्यवहार भाषा) और सत्य-भाषा को बोले, जो पाप से रहित विशुद्ध हो, कर्कशता-रहित-मधुर हो, संशय रहित-संस्पष्ट हो। क्योंकि, जो भाषा पाप-कारिणी कर्कश है, उससे स्वप्न मे भी कल्याण नहीं हो सकता। वह सत्य ही कैसा जो पाप पङ्क से सना हुआ और कर्कशता की अग्नि से जला होने के कारण झूठ का (प्रवर्तक) बना हुआ है। ऐसा सत्य शान्ति के स्थान में अशान्ति का विधायक है। इसी प्रकार संशयात्मक भाषा भी निन्दित है। भला जिस भाषा से स्वयं वक्ता ही भ्रम में पडा हुआ है, उससे श्रोता किस प्रकार (संशय रहित) हो सकते हैं। साधु की भाषा ऐसी सीधी, साधारण और सर्वथा स्पष्ट होनी चाहिये, जिसे साधारण से साधारण बुद्धि वाला भी बिना किसी प्रयास के समझ सके और तदनुसार कार्य मे प्रवृत्ति कर सके। बोलते समय भी एक बात और ध्यान में रखने योग्य है। वह यह है कि, जो बोले, वह पहले विचार करके ही बोले। बिना विचारे कभी भी कुछ न बोले। विचार-शून्य वचन कभी-कभी महान् अनर्थकारी हो जाता है। हृदय ने विचार की कसौटी से जिसकी जाँच नहीं की वह वचन सारगर्भित नहीं होता है और जो विचार की कसौटी में संघर्षित हो कर पूर्ण समुज्ज्वल होता है, वही वचन संसार को शान्ति के मार्ग पर लाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सत्यासत्य-भाषा और मृषा का निषेध करते हैं—

एअं च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं।
स भासं सच्चमोसं च, तंपि धीरो विवज्जए ॥४॥
एतंचार्थमन्यं वा, यस्तु नामयति शाश्वतम्।
स भाषां सत्यामृषांच, तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥४॥

पदार्थान्वयः—स—वह धीरो—धैर्यवान्-साधु एअं—पूर्वोक्त सावद्य तथा कर्कश-भाषारूप अट्ठं—अर्थ को वा—अथवा अन्नंच—इसी प्रकार के अन्य अर्थ को

आश्रित करके जं तु–जो अर्थ निश्चय ही सासयं–शाश्वत स्थान मोक्ष को नामेइ–प्रतिकूल करता है। तो फिर यह चाहे सच्चमोसंभासं–सत्यासत्य भाषा रूप हो तथा च–च शब्द से अन्य भी सत्य भाषा रूप हो तंपि–उसको भी विवज्जए–विशेष रूप से वर्जदे।

मूलार्थ—विचार-शील साधु, पूर्वोक्त सावद्य और कर्कश भाषाओं का तथा इसी प्रकार की अन्य भाषाओं का भी 'जो बोली हुई परम पुरुषार्थ मोक्ष की विघातक होती हैं' चाहे फिर वे मिश्रभाषा हों या केवल सत्यभाषा हों, विशेष रूप से परित्याग करे।

टीका—बुद्धिमान् साधु को योग्य है कि, वह जो भाषाएँ सावद्य और कर्कश हैं तथा इसी प्रकार की अन्य भाषाएँ भी जो कठिन और स्व-विषय से बाधित है तथा मोक्ष के अर्थ की विघातक हैं, अर्थात् 'जो शाश्वत सुख का स्थान मोक्ष है' उस स्थान से पराङ्मुख करने वाली हैं उन्हें कदापि भाषण न करे। चाहे फिर वे सत्य ही क्यों न हों। सूत्र का संक्षिप्त निष्कर्ष यह निकला कि, जो भाषाएँ सावद्य और कर्कश विषय का प्रतिपादन करने वाली हैं। और जिनके भाषण से वक्ता को मोक्ष सुख से पराङ्मुख होना पड़ता है, वे भाषाएँ चाहे फिर सत्य हों, मिश्र हों, या कैसी ही क्यों न हों; साधु को कदापि नहीं भाषण करनी चाहिएँ। क्योंकि जिस भाषा के भाषण से साधु का ध्येय जो मोक्ष है, वही नष्ट होता है तो फिर साधु को ऐसी भाषाएँ भाषण करके क्या लाभ है? इसलिये इनका भाषण करना सभी की दृष्टि से अनुचित है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मृषा-भाषण से उत्पन्न होने वाले दोषों का वर्णन करते हैं:—

वितहं पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेण, किं पुण जो मुसंवए॥५॥

वितथामपि तथा मूर्तिं, यां गिरं भाषते नरः।
तस्मात् सः स्पृष्टः पापेन, किं पुनर्यो मृषां वदेत्॥५॥

पदार्थान्वयः—नरो–जो मनुष्य तहामुत्तिं–सत्य वस्तु के आकार पर स्थित हुये वितहंपि–असत्य पदार्थ को भी जं–जिस गिरं–सत्य रूप भाषा मे भासए–भाषण करता है तम्हा–इससे सो–वह वक्ता पावेण–पाप कर्म से पुट्ठो–स्पृष्ट हो जाता है तो फिर जो–जो पुरुष मुसं–केवल मृषाभाषा का वए–भाषण करता है किंपुण–उसके विषय में क्या कहा जाय ? अर्थात् उसके पाप का तो कुछ परिमाण ही नहीं ।

मूलार्थ—जो मनुष्य सत्य पदार्थ की आकृति के समान आकृति वाले असत्य पदार्थ को भी सत्य पदार्थ कहता है, वह भी जब भीषण पाप कर्म का बंध करता है, तो फिर जो केवल असत्य ही बोलते हैं, उनके विषय में कहना ही क्या है ।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि जो असत्य, वस्तु, आकृति से सत्य वस्तु के समान भासती है, साधु उस को सत्य का स्वरूप देकर कथन न करे । जैसे कि, किसी पुरुष ने स्त्री का वेष धारण किया हुआ है, तो उस को साधु यह न कहे कि, यह स्त्री आती है, यह स्त्री गाती है । क्योंकि इस प्रकार बोलने से पाप कर्म का बंध होता है, फिर जो केवल असत्य ही बोलते हैं उनके विषय मे तो कहना ही क्या है ? अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि उस असत्य को सत्य रूप से नहीं कहना तो फिर किस प्रकार से कहना चाहिये ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि, जब तक स्त्री वा पुरुष का भली भाँति निर्णय नहीं हो सके, तब तक स्त्री का रूप या वेष तथा पुरुष का रूप या वेष ही कहना चाहिये । इस सूत्र से उन महानुभावों को कुछ समझना चाहिये, जो सरासर जड़ पदार्थों को चैतन्य रूप से देखते हैं । देखते ही नहीं, बल्कि जो वर्ताव एक चैतन्य के साथ किया जाता है, वही वर्ताव (व्यवहार) उनके साथ करते हैं ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, युग्म सूत्र द्वारा निश्चयकारिणी भाषा के बोलने का निषेध करते हैं :—

तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सइ ।
अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सइ ॥६॥

एवमाइउ जा भासा, एसकालंमि संकिया ।
संपयाइअमट्ठे वा, तंपि धीरो विवज्जए ॥७॥युं०

तस्माद् गमिष्यामो वक्ष्यामः, अमुकं वा नः भविष्यति ।
अहं वा तत् करिष्यामि, एष वा तत् करिष्यति ॥६॥
एवमाद्या तु या भाषा, एष्यत्काले शङ्किता ।
साम्प्रतातीतार्थयोर्वा , तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥७॥

पदार्थान्वयः—तम्हा–इसी पाप बंध के कारण से गच्छामो–कल हम अवश्य जायेंगे वक्खामो–व्याख्यान करेंगे वा–अथवा णे–हमारा अमुग–अमुक कार्य भविस्सइ–होगा वा–अथवा अहं–मैं णं–यह कार्य करिस्सामि–करूँगा वा–अथवा एसो–यह साधु णं–हमारा यह कार्य करिस्सइ–करेगा । एवमाइउ–इत्यादि भासा–भाषा जा–जो एसकालंमि–भविष्यत् काल मे वा–अथवा संपयाइअमट्ठे–वर्तमान काल में अथवा अतीत काल में संकिया–शङ्कित हो तंपि–ऐसी भाषा को भी धीरो–धैर्यवान् साधु विवज्जए–विशेष रूप से वर्ज दे ।

मूलार्थ—इसी पापबंध के कारण से बुद्धिमान् साधु, 'कल हम अवश्य जायँगे या व्याख्यान देंगे, हमारा अमुक कार्य होगा, मैं अमुक कार्य करूँगा अथवा यह साधु मेरा अमुक कार्य करेगा' इत्यादि भाषाएँ 'जो भविष्यत् काल, वर्तमान काल, एवं अतीत काल से सम्बन्ध रखती हों, और शङ्कित हों' उन्हें कदापि भाषण न करे ।

टीका—इस सूत्र-युग्म में निश्चय-कारिणी भाषा के बोलने का निषेध किया गया है । जैसे कि, कल हम यहाँ से अवश्य ही अमुक स्थान पर जायेंगे । कल हम वहाँ अवश्य व्याख्यान देंगे । अब हमारा अमुक कार्य अवश्य संपन्न हो जायेगा । कुछ भी हो मैं कल केश लोच आदि कार्य अवश्य करूँगा, इत्यादि निश्चयात्मक वचन साधु को कदापि नहीं बोलने चाहियें । इन वचनों से सत्याकार असत्य को सत्य कहने के अनुसार पाप कर्म का बंध होता है । अब यह प्रश्न होता है कि, ऐसे निश्चयात्मक वचन क्यों नहीं बोलने चाहियें, इस प्रकार बोलने में क्या आप-

त्तियाँ हैं ? मनुष्य अपने निश्चय के अनुसार ही काम करता है। क्या किसी भी कार्य के लिये निश्चय न करके सब दिन संयम के चक्कर में ही पड़ा रहे ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि, ऐसा निश्चय करना बुरा नहीं है। परन्तु ऐसे निश्चय का अनुचित प्रकार से असामयिक प्रकाशन करना श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि, भगवान् महावीर का कहना है, जो बात भविष्यत्काल मे होने वाली है, या वर्तमान काल मे हो रही है एवं अतीत काल मे हो चुकी है यदि वह शङ्कित हो तो उसे कभी नहीं बोलना चाहिये। कारण कि, इस प्रकार बोलने से जिन-शासन की लघुता होती है और अपने विषय मे लोगों को अविश्वास होता है। लोग कहेंगे कि, देखो यह कैसा जैनी साधु है, जो अपनी इच्छानुसार अप्रासंगिक बातें कहता है। इसकी तो वाणी भी वश मे नहीं है। अब प्रश्न यह होता है कि, यदि इस प्रकार नहीं कथन करना है तो फिर किस प्रकार कथन करना चाहिये ? अन्ततः अपना विचार तो कहना ही होता है ? उत्तर मे कहना है कि, प्रत्येक समय इस प्रकार बोलते हुए 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग अवश्य करते रहना चाहिये। क्योंकि व्यवहार शब्द के प्रयोग से भाषा फिर निश्चयकारिणी नही रहती। उसका केवल यही अर्थ हो जाता है कि, उस समय इस प्रकार के भाव थे। किन्तु स्पर्शना न होने से वे भाव तद्वत् न हो सके। सूत्रकार का स्पष्ट आशय यह है कि, साधु को हर समय बोलते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव को मध्य मे रखना चाहिये, ताकि भाषा की विशेष रूप से शुद्धि हो सके। भाषा शुद्धि से ही आत्म-शुद्धि है। अतः साधु को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं:—

अईअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए।
जमट्ठं तु न जाणिज्जा, एवमेअंति नो वए ॥८॥

१ भविष्यत्काल में यह कार्य अवश्यमेव ऐसा होगा, किन्तु भविष्य अन्धकारमय है। न मालूम क्या विघ्न हो जाय, काम पूरा न हो और झूठा बनना पड़ जाय। वर्तमान काल में पुरुष वेषधारिणी स्त्री को यह पुरुष ही है, ऐसा कहना और अतीत काल (भूत काल) में जिस का निर्णय ठीक नहीं हुआ है, यथा यह बैल है या गाय है—ऐसे शङ्कित विषय को वह गाय ही थी या बैल था, ऐसा कहना। इस प्रकार तीन काल से सम्बन्ध रखने वाली शङ्का युक्त सभी भाषाओं का साधु प्रयोग न करे।

अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
यमर्थं तु न जानीयात्, एवमेतदिति न वदेत् ॥८॥

पदार्थान्वयः—**अइअंमि कालंमि**–अतीतकाल सम्बन्धी **अ**–तथा **पच्चुप्पण्णमणागए**–वर्तमानकाल और भविष्यत्काल सम्बन्धी **जं**–जिस **अट्ठं**–अर्थ या वस्तु को **न जाणिज्जा**–नहीं जानता हो **तु**–तो उसको **एवमेअंति**–यह वस्तु ऐसी ही है इस प्रकार **नोवए**–नहीं बोलना चाहिये ।

सूलार्थ—अतीत काल, वर्तमान काल तथा अनागत (भविष्यत्) काल सम्बन्धी जिस पदार्थ के स्वरूप को नहीं जानता हो तो, उसके विषय में 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार कदापि साधु को कथन नहीं करना चाहिये ।

टीका—अतीत काल में जो पदार्थ हो चुके हैं, वर्तमान काल में जो हो रहे हैं, तथा अनागत काल मे जो होंगे, उन पदार्थो के स्वरूप को यदि साधु सम्यक्तया न जानता हो, तब उन पदार्थो के विषय मे निश्चयात्मक भाषण कभी न करे । जैसेकि, अमुक पदार्थ अमुक काल में इसी प्रकार हुआ था । इसी प्रकार वर्तमान और भविष्यत्काल सम्बन्धी भी जान लेना चाहिये । क्योंकि अबोध दशा मे बोलने से नाना प्रकार के उपद्रव समुपस्थित हो जाते हैं । इसी वास्ते सूत्रकर्ता ने यह अज्ञात भाषण का निषेध किया है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर इसी विषय को दूसरे शब्दों में कथन करते हैं :—

अइअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए ।
जत्थ संका भवे तं तु, एवमेअंति नो वए ॥९॥
अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
यत्र शंका भवेत् तत् तु, एवमेतदिति नोवदेत् ॥९॥

पदार्थान्वयः—**अइअंमि कालंमि**–अतीत काल में **अ**–और **पच्चुप्पण्णमणागए**–वर्तमान काल में तथा भविष्यत्काल मे **जत्थ**–जिस पदार्थ के विषय मे **संका**–शंका **भवे**–हो **तु**–तो **तं**–उस पदार्थ के विषय में **एवमेअंति**–यह इसी प्रकार है ऐसा **नोवए**–न बोले ।

मूलार्थ—भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्काल में जिस पदार्थ के विषय में यदि कोई शंका हो तो, उसके विषय में 'यह इसी प्रकार है' ऐसा न कहे।

टीका—भूतकाल, वर्तमानकाल, तथा भविष्यत्काल से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों के विषय में यदि कुछ शङ्का होवे तो, उन के विषय मे साधु को निश्चयात्मक भाषण नहीं करना चाहिये। क्योंकि शङ्का-युक्त पदार्थों के लिए निश्चयात्मक भाषण करने से जनता के मन मे शङ्का उत्पन्न हुए बिना कभी नहीं रहती। जिसका अन्तिम परिणाम यह निकलता है कि, बहुत से लोग शुद्ध सम्यग्दर्शन से पतित हो जाते हैं और जब दर्शन के विषय में शङ्का उत्पन्न हो गई तो फिर शुद्ध-चारित्र का पालन करना यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्यमेव हो जायेगा। यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि, शङ्का-युक्त भाषा का निषेध तो प्रथम ही किया जा चुका है, पुनः द्वितीय बार इस विषय का क्यों कथन किया गया है ? तो उत्तर मे कहना है कि, विशेष रूप से शङ्कित भाषा के भाषण का निषेध बतलाने के लिये ही यह पूर्वोक्त विषय का पुनः कथन किया गया है। अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, निःशङ्कित भाषा के कथन करने के विषय मे कहते हैं:—

अइअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए।
निस्संकिअं भवे जं तु, एवमेअं ति निद्दिसे ॥१०॥

अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते।
निशंकित भवेत् यत्तु, एवमेतादिति निर्दिशेत् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—अइअंमिकालंमि—अतीतकाल सम्बन्धी अ—तथा पच्चुप्पण्णमणागए—वर्तमान काल और अनागत काल सम्बन्धी जं—जो पदार्थ निस्संकिअं—निःशङ्कित भवे—हो तु—तो उस पदार्थ के विषय मे एवमेअंति—यह पदार्थ इसी प्रकार है ऐसा निद्दिसे—कह देवे।

मूलार्थ—गतकाल, वर्तमानकाल तथा आगामी काल सम्बन्धी पदार्थ-जात यदि निःशंकित हो (सन्देह रहित हो) तो साधु उस पदार्थ को 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार निश्चयात्मक कह सकता है ।

टीका—इस गाथा मे भाषण करने का उपदेश किया गया है । जैसे कि, जिस पदार्थ के विषय मे किसी भी प्रकार की शङ्का नहीं रही हो, जो तीनों कालों मे यथार्थ भाव से जान लिया गया हो, उस पदार्थ के विषय मे साधु, निश्चयात्मक भापण कर सकता है कि, 'यह पदार्थ इसी प्रकार का है' । सूत्रकार के कहने का यह आशय है कि, साधु को सर्वदा बोलते समय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम प्रमाण का अवश्य ध्यान रखना चाहिये । क्योंकि जिस प्रमाण के आश्रित होकर जो कहा जाता है वह उसी प्रमाण के विषय में निश्चयात्मक है । साधु को सदा हितकारी और परिमित ही बोलना चाहिये । मुख में आया हुआ अप्रासंगिक नहीं कहना चाहिये, इससे साधु का गौरव नष्ट होता है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, कठोर भाषा के बोलने का निषेध करते हैं:—

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥११॥
तथैव परुषा भाषा, गुरुभूतोपघातिनी ।
सत्यापि सा न वक्तव्या, यतः पापस्यागमः ॥११॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी प्रकार जो भासा-भाषा फरुसा-कठोर हो तथा गुरुभूओवघाइणी-बहुत प्राणियों की उपघात करने वाली हो सा-वह सच्चावि-सत्य होने पर भी न वत्तव्वा-अवक्तव्य है जओ-क्योंकि, ऐसी भाषा से पावस्स-पाप कर्म का आगमो-आगम होता है ।

मूलार्थ—इसी प्रकार जो भाषा कठोर (निष्ठुर) हो, बहु प्राणि विघातक हो, यदि वह सत्य भी हो; तो भी नहीं बोलनी चाहिए । क्योंकि, यह भाषा पाप कर्म का बंध करने वाली है ।

टीका—इस गाथा में जो भाषा भाषण करने योग्य नहीं है, उस के विषय मे निषेधात्मक प्रतिपादन किया गया है । जो भाषा स्नेह की कोमलता से रहित

होने के कारण कठिन है, नाना प्रकार के सूक्ष्म स्थूल आदि बहुत से प्राणियों का नाश करने वाली है, वह सत्य होने पर भी भाषण करने योग्य नहीं है। क्योंकि वह भाषा बाह्यार्थ की अपेक्षा सत्य मालूम होती है, परन्तु वस्तुतः भावार्थ की अपेक्षा से उसका पूर्णतः असत्य स्वरूप है। जैसे किसी दास्यकर्म में निरत (लगे हुए) कुल-पुत्र को लोगों के समक्ष दास कहना 'जिस प्रकार असत्य भाषा के बोलने से पाप कर्म का बंध होता है, ठीक उसी प्रकार' इस भाषा के बोलने से भी पाप कर्म का बंध होता है। अतः मुनि-धर्म में यह सर्वथा त्याज्य है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उदाहरणों द्वारा फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं:—

तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा।
वाहिअं वावि रोगित्ति, तेणं चोरत्ति नो वए ॥१२॥

तथैव काणं काण इति, पण्डकं पण्डक इति वा।
व्याधितं वाऽपि रोगीति, स्तेनं चोर इति नो वदेत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—तहेव-उसी प्रकार काणं-काणे को काणत्ति-यह काणा है वा-तथा पंडगं-नपुंसक को पंडगत्ति-यह नपुंसक है वावि-तथा वाहिअं-रोगी को रोगित्ति-यह रोगी है तथा तेणं-चोर को चोरत्ति-यह चोर है। इस प्रकार नो वए-नहीं कहे।

मूलार्थ—उसी प्रकार विश्व-प्रेमी साधु, काणे को काणा, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी एवं चोर को चोर भी न कहे।

टीका—इस गाथा मे इस बात का प्रकाश किया गया है कि, जो भाषा सत्य तो अवश्य है, किन्तु जिनके प्रति वह कही जाती है, उन सुनने वालों के हृदयों को दुःख पहुँचाने वाली है। इसलिए वह दुःखोत्पादक भाषा साधु को कदापि भाषण नहीं करनी चाहिये। जैसे किसी कारण से किसी व्यक्ति की एक आँख जाती रही, तब उसको सम्बोधन करते समय ओ काणे! इस प्रकार कहना अयोग्य है। क्योंकि, इस सम्बोधन से उसका हृदय बहुत दुःख मानता है और वह

अपने मन मे अत्यधिक लज्जित होता है। इसी प्रकार नपुंसक को हे नपुंसक ! रोगी को हे रोगी ! चोर को हे चोर ? इत्यादि दुर्वचन भी नहीं कहने चाहिएँ। जो मुनि बिना विचारे ऐसी पर पीड़ा कारी कठोरतर भाषा का प्रयोग करते हैं; उन्हे अप्रीति, लज्जा-नाश, स्थिररोग, और बुद्धि की विराधना आदि अनेक प्रकार के दोष लगते हैं। जिससे मुनि-संयम का अच्छी प्रकार पालन न होने के कारण प्रतिज्ञा भ्रष्ट हो जाता है।

उत्थानिका—पुनरपि इसी विषय का स्पष्टी करण किया जाता है :—

एएणन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मइ।
आयारभावदोसन्नू, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥१३॥

एतेन अन्येन अर्थेन, परो येनोपहन्यते।
आचारभावदोषज्ञः, न तं भाषेत प्रज्ञावान् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—**एएण**–इस **अट्ठेणं**–अर्थ से अथवा **अन्नेण**–अन्य **जेण**–जिस अर्थ से **परो**–दूसरा प्राणी **उवहम्मइ**–पीड़ित होता है **तं**–उस अर्थ को **आयारभावदोसन्नू**–आचार भाव के दोषों को जानने वाला **पन्नवं**–प्रज्ञावान् साधु, कदापि **न भासिज्ज**–भाषण न करे।

मूलार्थ—आचार-भाव के दोषों को जानने वाला प्रज्ञावान् मुनि, पूर्वोक्त अर्थों से अथवा अन्य जिन अर्थों से, किसी अन्य प्राणी को दुःख पहुँचता हो; उन्हें कदापि भाषण न करे।

टीका—जो पूर्वोक्त शब्द कहे गये हैं, उनके द्वारा तथा अन्य शब्दों के द्वारा जिनके सुनने से अन्य सुनने वाले व्यक्ति को व्यथा होती है, तो आचार भाव के दोषों को जानने वाला हिताहित विचारक मुनि उन्हें भूल कर भी कभी भाषण न करे। कारण यह है कि, हृदय में चुभने वाले वचनों के बोलने से अन्य आत्मा का हनन और अपनी गंभीरता का नाश होता है, जिससे फिर कोई व्यक्ति साधु का विश्वास नहीं करता। इसलिये भाषण करते समय साधु को प्रत्येक बात पहले खूब विचार लेनी चाहिये, फिर मुख से बोलनी चाहिये। तथा जो सूत्रकार ने

'आचारभावदोषज्ञ' और 'प्रज्ञावान्' ये दो विशेषण साधु के दिये हैं वे साधु की गम्भीरता और दक्षता के सूचनार्थ हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर भी पूर्वोक्त विषय के उपलक्ष मे ही कहते हैं:—

तहेव होले गोलित्ति, साणे वा वसुलित्ति अ।
दमए दुहए वावि, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥१४॥

तथैव होलः गोल इति, श्वा वा वसुल इति च।
द्रमको दुर्भगश्चाऽपि, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी प्रकार अमुक पुरुष होले-होल है तथा गोलित्ति-गोल है वा-तथा साणे-श्वान है अ-तथा वसुलित्ति-वसुल है तथा दमए-द्रमक है वावि-अथवा दुहए-दुर्भग है, एवं-इस प्रकार पन्नवं-प्रज्ञावान् साधु न भासिज्ज-भाषण न करे।

मूलार्थ—इसी प्रकार बुद्धिमान् साधु, हे होल! हे गोल! हे कुक्कुर! हे वसुल! हे द्रमक! हे दुर्भग! इत्यादि कठोर वाक्य कभी भी न बोले।

टीका—बुद्धिमान् साधु को चाहिये कि, जिस जिस देश में, जो जो नीचता के सूचक शब्द, संबोधन करने मे आते हैं, उन शब्दों से स्वयं किसी को सम्बोधित न करे, न किसी दूसरे से करावे और न अन्य करते हुओं को अच्छा समझे। जैसे—हे होल! हे गोल! हे कुत्ते! हे वसुल! हे द्रमक! हे दुर्भग! इत्यादि नीच शब्दों से किसी को सम्बोधित नहीं करना चाहिये। ये होल आदि शब्द उस उस देश प्रसिद्धि से निष्ठुरता आदि के वाचक हैं। तात्पर्य यह है कि, जो शब्द कठिन हों वा निर्लज्जता के सूचक हों, उन शब्दों द्वारा कदापि किसी को निमन्त्रित नहीं करना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्त्री-पुरुष का सामान्य रूप से प्रतिषेध करने के अनन्तर, केवल स्त्री के ही अधिकार को विशद रूप से वर्णन करते हैं:—

अज्जिए पज्जिए वावि, अम्मो माउसिअत्ति अ।
पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूए णत्तुणिअत्ति अ ॥१५॥
हले हलित्ति अन्नित्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि।
होले गोले वसुलित्ति, इत्थिअं नेव मालवे ॥१६॥युं०

आर्जिके प्रार्जिके वाऽपि, अम्ब मातृष्वस इति च।
पितृष्वसः भागिनेयीति, दुहितः नप्त्रीति च ॥१५॥
हले हले इति अन्ने इति, भट्टे स्वामिनि गोमिनि।
होले गोले वसुले इति, स्त्रियं नैवमालपेत् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—अज्जिए—हे आर्जिके अथवा पज्जिए—हे प्रार्जिके वावि—अथवा अम्मो—हे अम्ब अ—अथवा माउसिअत्ति—हे मौसी अथवा पिउस्सिए—हे बूआ अथवा भायणिज्जत्ति—हे भानजी अथवा धूए—हे पुत्री अ—अथवा णत्तुणिअत्ति—हे पौत्री हले हलेत्ति—हे हले हले अथवा अन्नित्ति—हे अन्ने अथवा भट्टे—हे भट्टे अथवा सामिणि—हे स्वामिनी गोमिणि—हे गोमिनी अथवा होले—हे होले गोले—हे गोले वसुलित्ति—हे वसुले एवं—इस प्रकार के सम्बोधन वचनों से साधु इत्थिअं—स्त्री से न आलवे—वातचीत न करे।

मूलार्थ—विद्वान् साधु को स्त्री के साथ हे आर्जिके! हे प्रार्जिके! हे अम्ब! हे मौसी! हे बूआ! हे भाणजी! हे पुत्री! हे पोत्री! हे हले हले! हे अन्ने! हे भट्टे! हे स्वामिनि! हे गोमिनि! हे होले! हे गोले! हे वसुले इत्यादि निन्दित शब्दों से बातचीत नहीं करनी चाहिये।

टीका—इस गाथा-युग्म में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, यदि किसी समय किसी साधु को किसी स्त्री के साथ वार्तालाप करना पड़ जाय तो उस स्त्री के साथ निम्नलिखित आमंत्रणों द्वारा आमंत्रित नहीं करना चाहिये। यथा—हे आर्जिके (दादी तथा नानी) हे प्रार्जिके (पड़दादी तथा पड़नानी) हे अम्ब (माता) हे मातृष्वसः (मौसी) हे पितृष्वसः (पिता की बहन) हे भागिनेयि

(भाणजी) हे दुहितः (पुत्री) हे नप्त्रि (पोती) हे हले हले (सखी के प्रति आमंत्रण) हे अन्ने (नीच सम्बोधन विशेष) हे भट्टे (भाटण) हे स्वामिनि (मालकिन) हे गोमिनि (गाय वाली-संबोधन विशेष) हे होले (गॅवारिन) हे गोले (जारजा-दासी) हे वसुले (छिनाल) ये शब्द सूत्रकार ने उदाहरण रूप से कह दिये हैं। अस्तु इसी प्रकार के आधुनिक समय के प्राचीन अन्य शब्द भी स्वबुद्धया जान लेने चाहिये। इन शब्दों के प्रयोग न करने का कारण यह है कि, इनमे कोई शब्द सांसारिक सम्बन्ध के सूचक है, यथा-आर्जिका, प्रार्जिका आदि। कोई शब्द काम राग के सूचक हैं, यथा–हे हले हले आदि। कोई शब्द प्रशंसा के सूचक हैं, यथा हे भट्टे आदि। कोई शब्द निन्दा के सूचक हैं, यथा हे होल आदि। कोई शब्द निर्लज्जता के सूचक हैं यथा हे गोल आदि। अस्तु अनुराग, अप्रीति एवं प्रवचन लघुता आदि दोषों के कारण से इन शब्दों को भूल कर भी कभी प्रयोग में नहीं लाना चाहिये। सूत्रगत 'होले, गोले, गोमिणि, आदि शब्द नाना देशों की अपेक्षा से कहे गये हैं। अर्थात् किसी देश मे कोई शब्द प्रचलित है तो किसी देश में कोई शब्द प्रचलित हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'यदि इस प्रकार कथन का निषेध है तो फिर किस प्रकार कथन करना चाहिये ?' इस प्रश्न के उत्तर मे कहते हैं:—

नामधिज्जेण णं बूआ, इत्थी गुत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥१७॥

नामधेयेन तां ब्रूयात्, स्त्री-गोत्रेण वा पुनः।
यथार्हमभिगृह्य , आलपेत् लपेत् वा ॥१७॥

पदार्थान्वयः—णं–उस स्त्री से नामधिज्जेण–नाम से बूआ–बोले वा पुणो–अथवा इत्थी गुत्तेण–उसी स्त्री का जो गोत्र हो उससे बोले जहारिहं–यथा योग्य अपेक्षा से अभिगिज्झ–गुण दोष का विचार कर आलविज्ज–एक बार बोले वा–अथवा लविज्ज–बारंबार बोले।

मूलार्थ—यदि कभी किसी कारण से साधु को, स्त्री से बोलना पड़े तो उसके प्रसिद्ध नाम से या उसके प्रसिद्ध गोत्र से या यथायोग्य अन्य किसी

सुन्दर शब्द से गुण दोष को विचार कर एक वार अथवा वारंवार बोले।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, यदि कभी किसी स्त्री को सम्बोधित करना हो तो, निम्न प्रकार से सम्बोधित करना चाहिये। जो उस स्त्री का शुभ नाम हो, उस नाम से बोलना चाहिये। यथा देवदत्ता, मंगला, कल्याणी, आदि। तथा उस स्त्री का जो गोत्र हो, उससे बोलना चाहिये। यथा—काश्यपी गौतमी आदि। अथवा यथायोग्य वय, देश, ईश्वरता आदि की अपेक्षा से सम्बोधित करना चाहिये। यथा—हे वृद्धे, हे मध्यमे, हे धर्मशीले, हे सेठाणी आदि। तात्पर्य यह है कि, साधु को उन्हीं शुद्ध संबोधन शब्दों से स्त्री को सम्बोधित करना चाहिये, जिस से सुनने वाली स्त्री को दुःख, लज्जा, संकोच आदि के एवं जनता में अपनी अप्रतीति, निन्दा, लघुता आदि के भाव न हों। जिस पवित्रात्मा मुनि के भाव शुद्ध हों, उस को चाहिये है कि, वह अपने भावों को प्रकाश करने के लिये 'वाक्य शुद्धि' की ओर विशेष ध्यान रक्खे। इसी वास्ते सूत्र मे लिखा है कि, साधु, प्रथम गुण वा दोषों को पूर्णतया विचार करके ही वचन बोले।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्त्री-अधिकार के अनन्तर पुरुष-अधिकार के विषय मे कहते हैं:—

अज्जए पज्जए वावि, बप्पो चुल्लपिउत्ति अ।
माउलो भाइणिज्जत्ति, पुत्ते णत्तुणिअत्ति अ ॥१८॥
हे भो हलित्ति अन्नित्ति, भट्टि सामिअ गोमिअ।
होल गोल वसुलित्ति, पुरिसं नेवमालवे ॥१९॥युग्म

आर्यकः प्रार्यकश्चाऽपि, पिता चुल्लपितेति च।
मातुलः भागिनेय इति, पुत्रः नप्ता इति च ॥१८॥
हे भो हल इति अन्न इति, भट्ट इति स्वामिन् गोमिन्।
होल गोल वसुल इति, पुरुषं नैवमालपेत् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—अज्जए–आर्यक पज्जए–प्रार्यक वावि–अथवा बप्पो–पिता अ–तथा चुल्लपिउत्ति–पितृव्य माउलो–मातुल भाइणिज्जत्ति–भागिनेय पुत्ते–पुत्र अ–अथवा णत्तुणिअत्ति–पौत्र तथा हे–हे भो–भो हलित्ति–हल अन्नित्ति–अन्न भट्टे–भट्ट सामिअ–स्वामिन् गोमिअ–गोमिन् होल–होल गोल–गोल (जारज) वसुलित्ति–वसुल एवं–इस प्रकार मुनि-वृत्ति के अयोग्य शब्दों से मुनि पुरिसं–किसी भी गृहस्थ पुरुष को सम्बोधित करके न आलवे–वार्तालाप न करे ।

मूलार्थ—लोक-व्यवहार-मर्मज्ञ, विचारवान् साधु को, पुरुष के साथ भी, आर्यक, प्रार्यक, पिता, चाचा, मामा, भानजा, पुत्र, पौत्र, हल, अन्न, भट्ट, स्वामिन्, गोमिन्, होल, गोल, वसुल, इत्यादि राग-वर्द्धक और द्वेष-वर्द्धक अयोग्य सम्बोधनों से वार्तालाप नहीं करना चाहिये ।

टीका—यदि कभी किसी गृहस्थ पुरुष के साथ साधु को वार्तालाप करने का प्रसंग हो तो, साधु को योग्य है कि, वह प्रथम सूत्रोक्त सांसारिक सम्बोधनों से उसके साथ बात न करे । यथा—हे आर्यक (दादा) हे प्रार्यक (पड़दादा) हे पितः (पिता) हे चुल्लपितः (चाचा) हे मातुल (मामा) हे भागिनेय (भानजा) हे पुत्र, हे पौत्र—इत्यादि । कारण यह कि, इस प्रकार बोलने से औदयिक भाव के उदय होने का विशेष प्रसंग रहता है, जिससे अन्ततोगत्वा कभी सच्ची साधुता से ही हाथ धोकर बैठ जाना पड़ जाता है । इसी प्रकार द्वितीय सूत्रोक्त होल, गोल, वसुल आदि शब्दों को भी प्रयोग मे नहीं लाना चाहिये । क्योंकि, ये शब्द भी निन्दा एवं स्तुति के वाचक होने से दोषोत्पादक है । होल, गोल आदि शब्दों के विषय मे विशेष वक्तव्य, पूर्व स्त्री प्रकरण की टीका मे कह दिया है । अतः पाठक वहाँ देखने का कष्ट उठावे । पूर्व स्त्री प्रकरण मे और इस पुरुष प्रकरण में जो यह शब्द सूची दी गई है, वह केवल सूचना मात्र है । अतः इसी प्रकार के अन्य शब्दों के विषय मे भी स्वयं विचार कर लेना चाहिये ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'यदि इस प्रकार का कथन निषिद्ध है तो फिर किस प्रकार का उपादेय है ?' इस प्रश्न का उत्तर देते है :—

नामधिज्जेण णं बूआ, पुरिसगुत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ , आलविज्ज लविज्ज वा ॥२०॥

नामधेयेन तं ब्रूयात्, पुरुषगोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य , आलपेत् लपेत् वा ॥२०॥

पदार्थान्वयः—नामधिज्जेण–पुरुष के नाम से वा पुणो–अथवा पुरिसगुत्तेण–पुरुष के गोत्र से णं–उस पुरुष से बूआ–बोले तथा जहारिहं–यथा योग्य अभिगिज्झ–गुण दोषों का विचार कर आलविज्ज–एक बार वा–अथवा लविज्ज–बारंबार बोले ।

मूलार्थ—यदि कभी किसी पुरुष से बोलना हो तो, उसके प्रसिद्ध नाम से या उसके प्रसिद्ध गोत्र से या किसी तदुचित सुन्दर शब्दों से गुण दोषों का विचार कर एक बार अथवा बारंबार बोलना चाहिये ।

टीका—साधु को जब कार्य-वश किसी गृहस्थ पुरुष से बातचीत करनी हो तो पुरुष के प्रसिद्ध शुभ नाम से तथा प्रसिद्ध शुभ गोत्र से तथा अन्य किसी ऐसे ही सुन्दर शब्द से पहले हानि लाभ का, गुण दोष का, पूर्णतया विचार करके ही बोलना चाहिये । सूत्रकार का यह आशय है कि, जो शब्द सभ्यता पूर्ण हों, शिष्ट जनोचित हों एवं श्रोतृ जनोचित हों या श्रोता जन को प्रिय प्रतीत होते हों, ऐसे हे धर्म प्रिय ! हे श्रावक ! हे भद्र ! हे धार्मिक ! इत्यादि हृदयग्राही मधुर शब्दोंके सम्बोधन से ही गृहस्थ से बात चीत करनी चाहिये । क्योंकि, इस प्रकार के सभ्योचित शब्दों से वक्ता, श्रोता और तटस्थ सभी प्रसन्न रहते हैं । और साथ ही इस से बोलने वाले साधु की योग्यता भी प्रकट होती है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पंचेन्द्रिय, तिर्यञ्च, सम्बन्धी संशयात्मक भाषा के कथन का निषेध करते हैं ।

पंचिंदियाण पाणाणं, एस इत्थी अयं पुमं ।
जाव णं न विजाणिज्जा, ताव जाइत्ति आलवे ॥२१॥

पंचेन्द्रियाणां प्राणिना, मेषा स्त्री अयं पुमान् ।
यावदेतद् न विजानीयात्, तावज्जातिरिति आलपेत् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—पंचिंदियाण—पंचेन्द्रिय पाणाणं—प्राणियों को दूर से देखकर जाव—जब तक एस—यह इत्थी—स्त्री है अथवा अयं पुमं—यह पुरुष है णं—यह निश्चयात्मक न विजाणिज्जा—न जान ले ताव—तब तक साधु को जाइत्ति—जाति के आश्रित होकर ही आलवे—बोलना चाहिये।

मूलार्थ—दूरवर्ती पंचेन्द्रिय प्राणियों के विषय में, जब तक यह स्त्री है अथवा यह पुरुष है इस प्रकार लिङ्ग विनिश्चय न हो जाय, तब तक भाषा विवेकी साधु को केवल जाति का आश्रयण करके ही बोलना चाहिये।

टीका—मनुष्य के विषय मे विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। अब सूत्रकार पशु जाति के विषय में विशद वर्णन करते हैं। जैसे कि, दूरस्थित गौ एवं अश्व आदि पशुओं को देख कर, जब तक यह स्त्री है या पुरुष है इस प्रकार लिङ्ग सम्बन्धी निर्णय न किया जाय, तब तक साधु को किसी लिङ्ग के आश्रित हो कर कुछ भी नहीं कहना चाहिये अर्थात यह गाय है, यह घोड़ा है, यह घोड़ी है, इस प्रकार के निर्णय रूप से साधु को नहीं बोलना चाहिये। यदि कभी प्रसंगवश स्वयं किसी से पूछे या अन्य कोई अपने से पूछे तो, जाति का आश्रय ले कर यह गोजाति है, यह अश्वजाति है या यह महिष जाति है; इस प्रकार चतुरता से बोलना उचित है। क्योंकि लिङ्ग व्यत्यय होने से अपने को तो मृषावाद के दूषण की और गोपाल आदि पशु पालक लोगों को अप्रतीति के उत्पन्न होने की निश्चित संभावना है। यदि ऐसे कहा जाय कि, जब लिङ्ग व्यत्यय होने से मृषावाद के दूषण की संभावना है, तो फिर बहुत से कीड़ी मकोड़ा आदि शब्द भी लिङ्ग व्यत्यय से बोले जाते हैं, उनके विषय में क्या समाधान है ? तब उत्तर मे कहा जाता है कि, जनपद सत्य अथवा व्यवहार सत्य आदि के आश्रित हो कर ही ये उक्त कीड़ी मकोड़ा आदि शब्द उच्चारण किये जाते हैं। अतएव इन शब्दों के उच्चारण से मुनिराजों को किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है।

---

[1] प्रश्नकार का स्पष्ट आशय यह है कि, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय आदि जीवों को जैन शास्त्रकार जब केवल एक नपुंसक लिङ्ग ही मानते हैं, तो फिर आप जैन साधु मिट्टी पत्थर एवं कीड़ी कीड़ा आदि आम तौर से स्त्रीलिङ्ग शब्द क्यों बोलते हैं ? क्या यह लिङ्ग व्यत्यय नहीं है ? क्या इस लिङ्ग व्यत्यय से मृषावाद का दूषण नहीं लगता ? संपादक।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, दूसरे प्रकार से वाक्य-शुद्धि-सम्बन्धी विषय का वर्णन करते हैं :—

तहेव माणुसं पसुं, पक्खिं वावि सरीसवं ।
थूले पमेइले वज्झे, पायमित्ति अ नो वए ॥२२॥

तथैव मानुषं पशुं, पक्षिणं वाऽपि सरीसृपम् ।
स्थूलः प्रमेदुरः वध्यः, पाक्य इति च नो वदेत् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—तहेव–इसी प्रकार दयाप्रेमी, साधु माणुसं–मनुष्यों को पसुं–पशु को पक्खिं–पक्षी को वा–तथा सरीसवंवि–सर्प आदि को देख कर थूले–यह स्थूल है पमेइले–यह विशेष मेदा वाला है, अतः वज्झे–यह वध के योग्य है अ–तथा पायमित्ति–यह पकाने योग्य है ऐसा नो वए–कदापि न बोले ।

मूलार्थ—दयासिन्धु साधु मनुष्य, पशु, पक्षी एवं सर्प आदि को जब कभी देखकर, भूल कर भी यह न कहे कि यह मांस से स्थूल है, यह विशेष मेदासंपन्न है । अतः यह वध करने योग्य है एवं यह पकाने योग्य है ।

टीका—बुद्धिमान् साधु को योग्य है कि, वह सदा सावद्य भाषा के भाषण से सावधान रहने का विशेष ध्यान रखे । जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी और सर्प आदि को देख कर साधु को यह नहीं कहना चाहिये कि, यह अमुक जीव मांस की अधिकता के कारण विशेष-स्थूल-वपु हो रहा है, तथा बहुत अधिक मेदा संपन्न (चर्बी वाला) है । अतएव अब यह जीव निःसंकोच वध करने तथा पका कर भक्षण करने योग्य है । सूत्रकार ने सूत्र में जो 'वए' यह 'वद' धातु का प्रयोग किया है, इससे यह नहीं समझना कि, 'सूत्रकार ने इस प्रकार केवल बोलने का ही निषेध किया है, अन्य मनोभाव प्रदर्शन के संकेत आदि साधन, इस निषेध से बहिर्भूत हैं ।'[1] किन्तु यहाँ वद धातु उपलक्षण है, अतः इस प्रकार वध आदि के अन्य संकेतों का भी स्पष्टतः निषेध है । साधु का प्रत्येक महाव्रत सम्बन्धी नियम, तीन करण और तीन योगों के सुदृढ़ प्राकार से परिरक्षित होना चाहिये । उपर्युक्त पद्धति से नहीं बोलने का कारण यह है कि, इस प्रकार बोलने से प्रथम तो

१ कोई आचार्य 'पाक्य' शब्द का अर्थ 'काल प्राप्त' भी करते हैं—लेखक ।

सभ्य-संसार मे साधु की अप्रतीति (निन्दा) होती है। दूसरे उन जीवों को जिनके विषय मे कहा जाता है साधु के कथन से प्राण नाश आदि की विभीषिकापूर्ण आपत्ति होने पर साधु का प्रथम महाव्रत नष्ट हो जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यह कथन करते हैं कि यदि प्रसंगवश बोलना ही हो, तो किस प्रकार बोलना चाहिये ?

परिवूढत्ति णं बूआ, बूआ उवचिअत्ति अ।
संजाए पीणिए वावि, महाकायत्ति आलवे ॥२३॥

परिवृद्ध इत्येनं ब्रूयात्, ब्रूयादुपचित इति च।
संजातः प्रीणितो वाऽपि, महाकाय इति आलपेत् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—णं–पूर्वोक्त पशु, पक्षी आदि को **परिवूढत्ति**–यह सभी प्रकार से अतीव वृद्ध है, ऐसा **बूआ**–कहे **अ**–तथा **उवचिअत्ति**–यह मांस से उपचित है, ऐसा **बूआ**–कहे **वावि**–तथा इसी प्रकार **संजाए**–यह संजात है **पीणिए**–यह प्रीणित है, (तृप्त है) **महाकायत्ति**–यह महाकाय है ऐसा **आलवे**–कहे।

मूलार्थ—पूर्वोक्त पशु, पक्षी आदि के विषय में, कारण-वश बोलना ही पड़े तो यह सब प्रकार से वृद्ध है, यह मांस से परिपुष्ट है, यह संजात है, यह प्रीणित है, यह महाकाय है इस प्रकार सम्यक्तया विचार कर बोलना चाहिये।

टीका—यदि कभी कारणवशात् साधु को बोलना ही पडे, तो अमुक जीव सभी प्रकार से वृद्ध है, मांसोपचित है, परिपुष्ट है, सतेज है और सचिक्कण है, तथा महान् हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला है इत्यादि सर्वथा निरवद्य भाषा से बोलना चाहिये। परन्तु जिस भाषा से अन्य आत्माओं को किसी प्रकार का दुःख उत्पन्न होता हो, तथा दुःख उत्पन्न होने की संभावना हो, वह भाषा कदापि भाषण नहीं करनी चाहिये। इस कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि, जिस में जो गुण हो उस गुण की अपेक्षा से ही उसे सम्बोधित करना चाहिये और उस को हानि पहुँचाने वाले शब्दों का उच्चारण कभी नहीं करना चाहिये।

उत्थानिका—फिर इसी विषय को अन्य उदाहरणों से स्पष्ट किया जाता है:—

तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहगत्ति अ।
वाहिमा रहजोगित्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥२४॥

तथैव गावो दोह्याः, दम्या गोरथका इति च।
वाह्या रथयोग्या इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी प्रकार गाओ-ये गायें दुज्झाओ-दोहने योग्य हैं अ-तथा गोरहगा-ये वृषभ दम्मा-दमन करने योग्य हैं, तथा वाहिमात्ति-भार वहने के योग्य हैं, तथा रहजोगित्ति-रथमें जोड़ने योग्य हैं, एवं-ऐसा पन्नवं-प्रज्ञावान् साधु न भासिज्ज-भाषण न करे।

मूलार्थ—पूर्व की भाँति ही बुद्धिमान् साधु को ये गायें दोहने योग्य हैं तथा ये वछड़े दमन करने योग्य हैं, भार वहने योग्य हैं, और रथ में जोतने योग्य हैं इत्यादि पर पीड़ाकारी वचन कभी नहीं बोलने चाहियें।

टीका—इस गाथा में भी भाषा समिति के विषय में कथन किया गया है। यथा ये गायें दोहने योग्य हैं, अर्थात् इनके दोहने का (दूध निकालने का) समय हो गया है। तथा ये छोटे बैल दमन करने योग्य हैं, अर्थात् वधिया करने लायक हो गये हैं। तथा ये नवयुवा बैल रथ के योग्य हैं, अर्थात् (सुन्दर रथ में जोतने योग्य हैं) तथा ये बैल पूर्ण परिपुष्ट हैं अतः अधिक से अधिक बोझ ले चलने योग्य हो गये हैं। इस प्रकार हिताहित-विचार-विचक्षण साधु, कदापि भाषण न करे। क्योंकि, इस अयोग्य भाषा से अधिकरण, लाघव आदि दुःखद दोष उत्पन्न होते हैं। सूत्र में जो यह कथन है, वह केवल सूचना मात्र है। अतः अपनी प्रतिभा बुद्धि द्वारा इसका विस्तार वक्ता को स्वयं ही या गुरु-शिक्षणा से कर लेना चाहिये। अर्थात् साधु को उन सभी शब्दों का ज्ञान कर लेना चाहिये जिन शब्दों से दूसरे प्राणियों को किसी प्रकार की पीड़ा होती हो।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यह कहते हैं कि, 'यदि प्रयोजन वश बोलना ही हो' तो किस प्रकार से बोलना चाहिये ?

जुवं गविति णं बूआ, धेणुं रसदयत्ति अ।
रहस्से महल्लए वावि, वए संवहणि त्ति अ ॥२५॥

युवा गौरित्येनं ब्रूयात्, धेनुं रसदा इति च।
ह्रस्वं महल्लकं वाऽपि, वदेत् संवहनमिति च ॥२५॥

पदार्थान्वयः—णं–दमन योग्य बैल को जुवंगविति–यह बैल युवा है, अ–तथा धेणुं–दोहन योग्य गाय को रसदयत्ति–यह गाय दुग्धदा है अ–तथा रहस्से–छोटे बैल को लघु वृषभ वा–तथा महल्लए वि–बड़े बैल को वृद्ध वृषभ एवं रथ योग्य बैल को संवहणित्ति–यह संवहन है, इस प्रकार साधु को निरवद्य वचन बूआ–बोलने चाहियें।

मूलार्थ—यदि कभी कारण वश बोलना ही हो तो दोह्य गाय को दुग्धदा, दम्य वृषभ को युवा, छोटे वृषभ को लघु, वृद्ध वृषभ को वृद्ध एवं रथ योग्य वृषभ को संवहन आदि बोलना चाहिए।

टीका—यदि कारणवशात् बोलना ही हो, तो निम्न प्रकार से बोलना चाहिये। जैसे कि, जो वृषभ युवा है उसे युवा ही कहना चाहिये, दमन करने योग्य नहीं। इसी प्रकार जो गाय नूतन प्रसूता है, उसे दुग्ध देने वाली कहना चाहिये। तथा जो रथ को चला रहा है (वहन कर रहा है) उसे संवहन कहना चाहिये। जैसे कि, किसी ने रथ से खोल कर बैलों को अलग बाँध दिया तब उन बैलों को देख कर यही कहना चाहिये कि, ये इस रथ के चलाने वाले हैं, तथा इस रथ को चला रहे हैं, इस प्रकार बोलना चाहिये। तात्पर्य इतना ही है कि, जिस प्रकार जिन जीवों के विषय में बोला जाय, उन जीवों को किसी आपत्ति का सामना न करना पड़े, उसी प्रकार के शुद्ध वचन साधु को बोलने चाहियें।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वनस्पति अधिकार के विषय में कहते हैं:—

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ।
रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥२६॥

तथैव गत्वा उद्यानं, पर्वतान् वनानि च।
वृक्षान् महतः प्रेक्ष्य, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—तहेव–इसी प्रकार उज्जाणं–उद्यान में पव्वयाणि–पर्वतों पर अ–तथा वणाणि–वनों मे गंतुं–जाकर महल्ल–महाकाय रुक्खा–वृक्षों को पेहाए–देखकर पन्नवं–प्रज्ञावान् मुनि एवं–इस प्रकार न भासिज्ज–भाषण न करे ।

मूलार्थ—भाषा-विवेकी साधु, उद्यानों, पहाड़ों एवं वनों में जाकर, वहां विशालकाय वृक्षों को देखकर, वक्ष्यमाण रीति से सावद्य भाषा न बोले ।

टीका—जहाँ पर लोग एकत्र होकर नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं, ऐसे जन-क्रीड़ा स्थान उद्यानों मे, तथा जो नाना भाँति के हरे भरे वृक्षों से विमण्डित रहते हैं, ऐसे रमणीय पर्वतों पर, तथा जिनमें नाना जाति के छोटे बड़े वृक्ष हों ऐसे सघन वनों मे जाकर प्रज्ञावान् साधु, यदि किन्हीं समुन्नत महाकाय वृक्षों को देखे, तो उन वृक्षों के विषय में अग्रिम सूत्र-त्रयी के अनुसार कभी नहीं बोलना चाहिये । इस प्रकरण के कथन का सारांश इतना ही है कि, विहारादि क्रियाएँ करते समय यदि कभी साधु का किसी उद्यान मे, वन में तथा पर्वत पर जाना हो जाय, तो वहाँ बड़े बड़े दीर्घकाय वृक्षों को देख कर साधु को सावद्यकारी भाषण नहीं करना चाहिये । क्योंकि हिंसा-युक्त भाषण से आत्मा-मलिन होकर पतित हो जाती है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'किस प्रकार भाषण नहीं करना चाहिये ?' इस शङ्का के समाधान मे कहते हैं :—

अलं पासाय खंभाणं, तोरणाणि गिहाणि अ ।
फलिहग्गल नावाणं, अलं उदगदोणिणं ॥२७॥

अलं प्रासाद-स्तंभयोः, तोरणानां गृहाणां च ।
परिघार्गलानावां ; अलमुदकद्रोणीनाम् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—ये विशाल वृक्ष पासाय खंभाणं–प्रासाद और स्तंभ वनाने के अ–तथा तोरणाणि–नगर द्वार वनाने के, वा गिहाणि–नाना भाँति के घर वनाने तथा फलिहग्गल नावाणं–परिघ, अर्गला एव नौका वनाने के अलं–योग्य हैं । तथा उदगदोणिणं–उदक, द्रोणी, अरघट्टजलधारिका, वनाने के भी अलं–योग्य हैं, इस प्रकार न कहे ।

मूलार्थ—ये वृक्ष, प्रासाद, स्तम्भ, तोरण, गृह, परिघ, अर्गला, नौका एवं उदकद्रोणी, डोंगी बनाने के योग्य हैं ऐसा साधु को कभी नहीं कहना चाहिये।

टीका—पूर्वोक्त वनादि स्थानों मे गया हुआ साधु, वहाॅ बड़े बड़े वृक्षों को देखकर निम्न प्रकार से कभी न बोले। यथा—ये वृक्ष तो, एक स्तम्भ प्रासाद (राज महल) तथा वृहत्स्तंभ बनाने के योग्य हैं, तोरण (नगर द्वार) वा गृहस्थों के सामान्य घर बनाने के योग्य हैं। नगर के द्वार की परिघा (अरली) और गोपुर कपाटादि की अर्गला बनाने के योग्य हैं, तथा इसी प्रकार वड़ी नाव और उदक द्रोणी बनाने के योग्य हैं। सूत्रोक्त 'उदक द्रोणी' शब्द प्रचलित रूप से तीन अर्थो मे व्यवहृत होता है, अतः यहाॅ ये तीनों ही अर्थ सूत्रकार के भावों से सम्मत हैं। किसी से भी सूत्रकार के भाव भंग नहीं होते। तीन अर्थ इस प्रकार हैं, एक तो अरहट की घट माला का जल जिस काष्ठ पात्र में गिर कर फिर नालिका द्वारा क्षेत्र मे जाता है, उस काष्ठ पात्र को उदक द्रोणी कहते हैं। दूसरे अरहट के पानी भरने के जो काष्ठ घट होते हैं, उन्हें भी द्रोणी कहते हैं। तीसरे उदक द्रोणी शब्द का अर्थ छोटी नाव (डोंगी) लिया जाता है।

उत्थानिका—यही विषय फिर और उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जाता है:—

पीढए चंगबेरे (रा) अ, नंगले मइअं सिआ।
जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिआ व अलं सिआ ॥२८॥

पीठकाय चंगबेराय, लाङ्गलाय मयिकाय स्युः।
यंत्रयष्टये वा नाभये वा, गण्डिकायै वा अलं स्युः ॥२८॥

पदार्थान्वयः—ये वृक्ष **पीढए**—चौकी के लिये **अ**—तथा **चंगबेरे**—काष्ठ पात्र के लिये तथा **नंगले**—हल के लिये तथा **मइअं**—बोये हुए बीजों को आच्छादन करने वाले मड़े के लिये **व**—अथवा **जंतलट्ठी**—किसी यंत्र की लकड़ी के लिये **वा**—अथवा **नाभी**—चक्र की पहिये की नाभी के लिये **व**—अथवा **गंडिआ**—सुवर्णकार आदि की ऐरण रखने की वस्तु विशेष के लिये **अलंसिआ**—पूर्ण योग्य हैं, ऐसा न कहे।

मूलार्थ—पूर्वसूत्र की भाँति ही 'ये वृक्ष चौकी के लिये, चंगेरी काष्ठ पात्र के लिये, हल के लिये, सुहागे (बीजाच्छादक मड़े) के लिये, यंत्र यष्टी के लिये, शकटादि के चक्र के पहिये की नाभी के लिये, सुनार आदि की ऐरण रखने की गण्डिका के लिये सर्वथा योग्य हैं' इस प्रकार न कहे।

टीका—जिस प्रकार पूर्व सूत्र में निषेध किया जा चुका है, उसी प्रकार 'इस वृक्ष के काष्ठ से पीठ (चौकी) चंगवेर (चंगेरी काष्ठ पात्र,) लाङ्गल (हल) मयिक 'जो बीज बोने के बाद बीजों को ढाँपने के लिये खेत में फेरा जाता है' वह मडा या सुहागा यंत्र-यष्टी (कोल्हू आदि यंत्रों की लाठ) नाभि (गाड़ी आदि के चक्र पहिये की नाभी-धुरी) गण्डिका (सुनार आदि की ऐरण रखने का एक लकड़ी का ढाँचा) जिस में ऐरण मजबूत होकर टिक जाती है ऐसी अधिकरणी आदि वस्तुएँ बहुत ही अच्छी बन सकती हैं' इत्यादि कथन न करे। कारण यह है कि, आत्म-रक्षा तथा संयम-रक्षा तभी हो सकती है, जब कि भाषण विवेक-पूर्ण हो। बिना विवेक के साधुत्व किसी भी प्रकार से नहीं स्थिर हो सकता। 'विवेक-भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।' प्रस्तुत सूत्र मे चतुर्थी-विभक्ति के स्थान में जो सर्वत्र 'पीढए' आदि प्रथमा विभक्ति का निर्देश किया है, वह प्राकृत भाषा के कारण से है। अतः पाठक, आर्ष भाषा में विभक्ति व्यत्यय के दोष का भ्रम न करें।

उत्थानिका—अब, फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए उपसंहारात्मक कथन करते हैं :—

आसणं सयणं जाणं, हुज्जा वा किंचुवस्सए।
भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥२९॥

आसनं शयनं यानं, भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये।
भूतोपघातिनीं भाषां, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—इसी प्रकार इस वृक्ष के आसणं—आसन सयणं—शय्या जाणं—यान रथादि वा—अथवा किंच—अन्य कोई वस्तु उवस्सए—उपाश्रय के योग्य हुज्जा—हो सकती है एवं—ऐसी भूओवघाइणिं—प्राणि संहारकारिणी भासं—भाषा को पन्नवं—प्रज्ञा संपन्न साधु न भासिज्ज—कदापि न बोले।

मूलार्थ—भाषा विवेकी साधु, किसी भी अवस्था में 'यह वृक्ष बहुत अच्छा है; अतः इस की आसन, शयन, यान अथवा उपाश्रय योग्य अन्य कोई द्वार कपाटादि वस्तु बहुत सुन्दर बन सकती है' इस प्रकार की भूतोपघातिनी भाषा का प्रयोग न करे।

टीका—पूर्व की भाँति ही वनादि स्थानों मे गया हुआ आशु-प्रज्ञ साधु, किसी महाकाय वृक्ष को देख कर इस प्रकार की भाषा का प्रयोग न करे-इस वृक्ष के तो आसन्दी आदि आसन, पर्यंक, खाट आदि शयन, बहल, रथ आदि यान सवारी, तथा उपाश्रय मे काम आने लायक किवाड़, पाटिया आदि बहुत ही मजबूत एवं सुन्दर साफ वस्तुएँ बन सकती हैं। ऐसा न कहने का कारण यह है कि, ऐसा कहने से वनस्वामी व्यन्तरादि देव के कुपित हो जाने की, अथवा वृक्ष को सलक्षण जान कर किसी के द्वारा वृक्ष के छेदन हो जाने की, एवं अनियमित भाषण से धर्म की लघुता हो जाने की, आशङ्का रहती है। दोषाशंकित भाषण करना शास्त्रकार द्वारा साधु को सर्वथा निषिद्ध है।

उत्थानिका—अब 'यदि वृक्षों के विषय में इस प्रकार नहीं कथन करना है, तो फिर किस प्रकार कथन करना चाहिये ?' इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महाराज देते हैं:—

तहेव गंतु मुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ।
रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥३०॥

तथैव गत्वा उद्यानं, पर्वतान् वनानि च।
वृक्षान् महतः प्रेक्ष्य, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३०॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी प्रकार उज्जाणं-उद्यान मे पव्वयाणि-पर्वतों पर अ-तथा वणाणि-वनों मे गंतुं-जाकर और वहां महल्ल-मोटे मोटे रुक्खा-वृक्षों को पेहाए-देख कर पन्नवं-प्रज्ञावान् साधु, एवं-इस प्रकार भासिज्ज-भाषण करे।

मूलार्थ—तथैव कारणवश उद्यानों, पर्वतों तथा वनों में गया हुआ साधु, महाकाय वृक्षों को देख कर अग्रिम सूत्रोक्त रीति से निरवद्य भाषा भाषण करे।

टीका—जब पूर्व गाथाओं मे निषेध विधि प्रतिपादित है, तो इससे स्वत एव ध्वनित हो जाता है कि, इस प्रकरण की विधान विधि भी अवश्यमेव होनी चाहिये। अतः इसी न्याय के आश्रित होकर अब सूत्र कर्ता जी, विधान विधि के विषय में कहते हैं। कोई महोदय कारण वशात् किसी वन, उद्यान एवं पर्वत आदि स्थानों में जाय और वहाँ बड़े बड़े विस्तार वाले फल फूलों से परिपूर्ण दर्शनीय आकृति वाले वृक्षों को देखे तब उस प्रज्ञावान् साधु को योग्य है, कि, वह निरवद्य वाणी द्वारा अग्रिम परिपूर्ण सूत्रोक्त रीत्या वृक्षों के विषय में भाषण करे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार भाषण-विधि का वर्णन करते हैं :—

जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया।
पयायसाला विडिमा, वए दरिसणित्ति अ ॥३१॥

जातिमन्त इमे वृक्षाः, दीर्घवृत्ताः महालयाः।
प्रजातशाखाः विटपिनः, वदेत् दर्शनीया इति च ॥३१॥

पदार्थान्वयः—इमे-ये **रुक्खा**-वृक्ष **जाइमंता**-उत्तम जाति वाले हैं **दीह**-दीर्घ हैं **वट्टा**-वृत्त हैं **महालया**-बड़े विस्तार वाले हैं **पयायसाला**-बड़ी-बड़ी फैली हुई शाखाओं वाले हैं **विडिमा**-छोटी छोटी शाखाओं वाले हैं तथा **दरिसणित्ति**-दर्शनीय हैं, इस प्रकार **वए**-बोले।

मूलार्थ—साधु को वृक्षों के विषय में 'ये वृक्ष उत्तम जाति वाले हैं, दीर्घ हैं, वृत्त हैं, विस्तार वाले हैं, शाखा वाले हैं, एवं अतिदर्शनीय हैं' इस प्रकार शुद्ध भाषण करना चाहिये।

टीका—पूर्वोक्त स्थानों में गये हुए साधु को, वृक्षों को देख कर इस प्रकार बोलना चाहिये कि ये अशोक आदि वृक्ष उत्तम जाति वाले हैं। ये नारियल आदि के वृक्ष दीर्घ हैं (लंबे हैं) ये नंदी आदि वृक्ष गोलाकार (वृत्त) हैं। तथा ये वट आदि वृक्ष बड़े विस्तार वाले हैं। ये बड़ी बड़ी प्रलम्ब शाखाओं से तथा बड़ी शाखाओं से निकली हुई छोटी छोटी शाखाओं से बहुत ही दर्शनीय हैं और देखने में सुन्दर लगते हैं। यहाँ एक बात और भी ध्यान मे रखनी चाहिये कि,

इस प्रकार भी किसी प्रयोजन के कारण से ही कहना ठीक है, बिना कारण से नहीं। बिना कारण व्यर्थ प्रलाप करने से भाषा मे निरवद्यता के स्थान में सावद्यता आये बिना नहीं रह सकती है। हित और मित भाषण में ही संयम-रक्षा एवं आत्म-रक्षा है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फलों के विषय में न कहने योग्य शब्दों का उल्लेख करते हैं :—

तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइं नो वए।
वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइत्ति नो वए ॥३२॥
तथा फलानि पक्वानि, पाकखाद्यानि नो वदेत्।
वेलोचितानि टालानि, द्वैधिकानीति नो वदेत् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—तहा—इसी प्रकार फलाइं-ये फल पक्काइं-पक हो गये हैं तथा पायखज्जाइं-पका करके खाने योग्य हैं, यों साधु को नोवए-नहीं बोलना चाहिए, तथैव ये फल वेलोइयाइं-ग्रहण कालोचित हैं, तोड़ने लायक हैं टालाइं-गुठलीरहित कोमल हैं वेहिमाइं-दो भाग करने योग्य हैं त्ति-इस प्रकार भी नोवए-नहीं कहना चाहिये।

मूलार्थ—साधु को 'ये फल परिपक्व हैं, पका कर खाने के योग्य हैं, लुंचन करने योग्य हैं, सकोमल हैं, और दो भागों में फांक करने योग्य हैं' इस प्रकार नहीं कहना चाहिये।

टीका—इस गाथा में फलों के विषय मे निषेधात्मक शब्दों का उल्लेख किया गया है। 'ये आम्र आदि फल सर्व प्रकार से पके हुए हैं, ये फल गर्तप्रक्षेप[1] कोद्रव के पलालादि द्वारा पका कर खाने के योग्य हैं, ये फल सब प्रकार से पक गये हैं, इस लिये अब इनके लुंचन का एवं छेदन का समय आगया है, ये फल अभी तक अबद्धास्थि होने से अत्यन्त सकोमल हैं, तथा ये फल बद्धास्थिक होने से दो भागों में विभाजित करने योग्य हैं, इत्यादि सावद्य भाषा प्रज्ञावान् साधु कदापि भाषण न करे। यदि कोई ऐसा कहे कि इस में दोष ही क्या है ? तो इस शङ्का के उत्तर मे

1 यथा अपक्व आम्रादि फलों को पुराल आदि घास के पुज में दबाकर पकाते हैं।

कहा जाता है कि, दोष क्यों नहीं ? इस भाषण से जीवों का विनाश होता है, यही महा दोष है। साधु के मुख से 'इस फल को इस प्रकार खाना चाहिये' यह सुन कर गृहस्थ अवश्य ही इस कार्य में प्रवृत्ति करेगा, जिस से फिर अधिकरण आदि दोष स्वयं सिद्ध हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फलान्वित वृक्षों के विषय में प्रयोजनवश कथन के योग्य शब्दों का उल्लेख करते हैं:—

असंथड़ा इमे अंबा, बहुनिव्वड़िमा फला।
वइज्ज बहुसंभूआ, भूअरूवत्ति वा पुणो ॥३३॥

असमर्था इमे आम्राः, बहुनिर्वर्तितफलाः ।
वदेत् बहुसंभूताः, भूतरूपा इति वा पुनः ॥३३॥

पदार्थान्वयः—इमे-ये प्रत्यक्ष अंबा-आम्र-वृक्ष असंथड़ा-फल भार सहने में असमर्थ हैं, तथा बहुनिव्वड़िमा फला-बहुत बद्धास्थिक-फल वाले हैं तथा बहु-संभूआ-बहुत परिपक्व फल वाले हैं वा पुणो-अथवा भूअरूवत्ति-भूतरूप अबद्धास्थि फल वाले हैं, इस प्रकार वइज्ज-कहे।

मूलार्थ—काम पड़ने पर आम्रादि वृक्षों के विषय में इस प्रकार बोलना चाहिये कि, ये आम्र वृक्ष फल भार सहने में असमर्थ हैं, इनमें गुठलियों वाले फल बहुत अधिक लगे हुये हैं, इनके बहुत से फल पूर्णतया पक्व हो गये हैं, तथा इन में ऐसे भी फल बहुत हैं जिन में अभी तक गुठली नहीं पड़ी है।

टीका—वनादि स्थानों में गया हुआ साधु, जब पुष्प-फलान्वित आम्रादि वृक्षों को देखे, तो उसे पूर्व सूत्रोक्त स्थानों पर निम्न रीति से बोलना चाहिये। यथा १. 'ये फल पूर्णतया पक्व हो रहे हैं' इस के स्थान पर 'ये आम्र आदि वृक्ष फल भार सहने मे असमर्थ हो रहे हैं'। २. 'ये फल पकाकर खाने योग्य हैं' इसके स्थान पर 'इन वृक्षों में पकी हुई गुठली वाले फल बहुत अधिक लगे हुए हैं' ३. 'ये फल तोड़ने योग्य हैं' इस के स्थान पर 'ये फल परिपक्व होगये हैं' और ४. 'ये फल अतीव कोमल हैं' इस के स्थान पर 'ये फल अभी बँधी हुई गुठलियों वाले

नहीं हुए हैं' इत्यादि उक्त प्रकार से कथन करना श्रेयस्कर है। तात्पर्य इतना ही है कि, वर्तमान में वृक्षों की जो अवस्था हो, उसी प्रकार उन्हें कहना चाहिये। किन्तु सावद्य भाषा, जिसके बोलने से आत्मा पाप कर्मो से लिप्त हो जाता हो, वह नहीं भाषण करनी चाहिये। यदि ऐसे कहा जाय कि, सूत्र में केवल आम्र वृक्ष का ही क्यों ग्रहण किया है, अन्य वृक्ष क्यों नहीं ग्रहण किये तो, इस शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि, आम्र वृक्ष की प्रधानता सिद्ध करने के लिये तथा आम के फलों को देख कर प्रायः लोग इसी प्रकार कहा करते हैं इस लिये आम्र का उल्लेखन किया है। अतः जिस प्रकार का यहाँ आम्र-वृक्ष का वर्णन किया है, ठीक इसी प्रकार अन्य सब फल वाले वृक्षों के विषय में भी जान लेना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, शाली आदि धान्यों के विषय में कहते हैं:—

तहेवोसहिओ पक्काओ, नीलिआओ छवीइ अ।
लाइमा भज्जिमाउत्ति, पिहुखज्जत्ति नो वए ॥३४॥

तथैवौषधयः पक्काः, नीलिकाश्छवयश्च।
लवनवत्यो भर्जनवत्य इति, पृथुकभक्ष्या इति नो वदेत् ॥३४॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी प्रकार ओसहिओ-ये ओषधियाँ पक्काओ-पकी हुई हैं अ-तथा नीलिआओ छवीइ-ये चौला-प्रमुख की फलियाँ नीली छवि वाली हैं तथा लाइमा-ये धान्य लवन करने योग्य हैं तथा भज्जिमाउत्ति-ये भूनने योग्य हैं तथा पिहुखज्जति-ये अग्नि मे सेक कर अर्द्धपक्क खाने योग्य है इस प्रकार साधु नो वए-न कहे।

मूलार्थ—इसी प्रकार विचार-शील साधु, क्षेत्रवर्ती धान्यों के विषय में ये धान्य पक्क गये हैं, ये नीली छाल वाले हैं, ये काटने योग्य हैं, ये भूनने योग्य हैं, ये अग्नि में सेक कर (अर्द्धपक्क) खाने योग्य हैं, इत्यादि सावद्य भाषण न करे।

टीका—यदि कभी साधु, किसी कार्य-वश खेतों की ओर जाय, तो वहाँ खेतों में धान्यों को देख कर इस प्रकार न कहे कि, ये धान्य सब प्रकार से परिपक्क हैं, इनकी अभी तक छवि नीली है, ये धान्य अब कटने योग्य हो गये हैं, ये फल

अब भून कर खाने चाहिएँ तथा इस वनस्पति का फल अग्नि में अर्द्ध पक्क कर खाया जाय तो बहुत स्वादिष्ट प्रतीत होगा और चणों के होले कैसे अच्छे स्वाद लगते हैं इत्यादि। इस गाथा में जो 'ओषधी' शब्द आया है, उससे गेहूँ, जुवार, बाजरा आदि धान्यों का ही ग्रहण है। क्योंकि औषधी उसे ही कहते हैं जिसके कट जाने पर फिर खेत में उसकी कोई जड़ न रहे। संक्षिप्त शब्दों में यों कहिये कि, जो वनस्पति फसल पर्यन्त (फल पकने तक ही) रहती है, पश्चात् काट दी जाती है उसे औषधी कहते हैं। सूत्र में आये हुए 'पिहुखज्जत्ति' का अर्थ है 'पृथुक भक्ष्या'। इसका मातृ-भाषा हिन्दी मे आशय होता है अग्नि में सेक कर अर्द्ध पक्क शाली आदि। देखिये हारिभद्री टीका—'पृथुका अर्द्ध पक्क शाल्यादिषु क्रियन्ते'।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'यदि ऐसा कथन अनुचित है, तो फिर कैसा कथन करना चाहिये ?' इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं :—

रूढा बहुसंभूआ, थिरा ओसढा वि अ।
गब्भिआओ पसूआओ, संसाराओ त्ति आलवे ॥३५॥

रूढाः बहुसम्भूताः, स्थिरा उत्सृता अपि च।
गर्भिताः प्रसूताः, संसारा इति आलपेत् ॥३५॥

पदार्थान्वयः—ये ओषधियाँ **रूढा**—उत्पन्न हो गई हैं **बहुसम्भूआ**—प्रायः निष्पन्न हो गई हैं **थिरा**—स्थिरी भूत हो गई हैं **विअ**—तथैव **ओसढा**—उपघात से निकल गई हैं **गब्भिआओ**—गर्भ से निकली हुई नहीं हैं **पसूआओ**—गर्भ से बाहर निकल आई हैं तथा **संसाराओ**—परिपक्क बीजवाली हो गई हैं **त्ति**—इस प्रकार **आलवे**—बोले।

मूलार्थ—यदि कभी पूर्वोक्त गोधूम आदि धान्यों के विषय में बोलना हो, तो इस प्रकार बोलना चाहिये कि, ये धान्य अंकुर रूप में रूढ हो गये हैं, अधिकांश में निष्पन्न हो गये हैं, स्थिर हो गये हैं, फल फूल कर बड़े होगये हैं, उपघात से निकल गये हैं, अभी सिट्टे (बालियां) नहीं निकले हैं, प्रायः सिट्टे (बालियां) निकल आये है एवं सिट्टों (बालियों) में बीज भी पड़ गये हैं।

टीका—यदि किसी कारण से बोलना ही पड़े तो निम्न प्रकार से निरवद्य वचन बोलना चाहिये। जैसे कि, इस धान्य का अंकुर भूमि से बाहर निकल आया है, ये धान्य प्रायः निष्पन्न हो गये है, अब ये धान्य बाहर के ऋतु सम्बन्धी शीत आदि उपद्रवों से बच गये हैं अर्थात् उपघातों की सीमा से निर्विघ्नता पूर्वक पार हो गये हैं, इस धान्य का सिट्टा (सिरा) अभी तक बाहर नहीं निकला है, इस धान्य का सिट्टा गर्भ से बाहर निकल आया है तथा इसमें तन्दुलादि सार पदार्थ अर्थात् बीज पड़ गये हैं। तात्पर्य यह है कि, जिस समय जिस प्रकार की अवस्था धान्यो की हो, उस समय उसी प्रकार की अवस्था से साधु को बोलना चाहिये, किन्तु सावद्य भाषा कदापि नहीं बोलनी चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जीमनवार आदि विषयों की भाषा शुद्धि का वर्णन करते हुये प्रथम निषेधात्मक कथन करते हैं:—

तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जंत्ति नो वए।
तेणगं वावि बज्झित्ति, सुतित्थित्ति अ आवगा ॥३६॥
तथैव संखडिं ज्ञात्वा, कृत्यं कार्यमिति नो वदेत्।
स्तेनक वाऽपि वध्य इति, सुतीर्था इति च आपगाः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी प्रकार दयालु साधु को संखडिं-किसी के यहाँ जीमनवार (निमन्त्रण) नच्चा-जान कर किच्चं-यह पुण्य कार्य कज्जंत्ति-करना ही योग्य है वावि-अथवा तेगगं-चोर को वज्झित्ति-यह मारने योग्य है अ-अथवा आवगा-ये नदियाँ सुतित्थित्ति-भले प्रकार तैरने योग्य हैं इस प्रकार पापानुमोदी वचन नोवए-नही बोलने चाहियें।

मूलार्थ—किसी गृहस्थ के यहाँ जीमनवार (निमंत्रण) जान कर 'यह पित्रादि निमित्त पुण्य कार्य गृहस्थ को करना ही योग्य है' तथा गृहीत चोर को देखकर 'यह चोर मारने ही योग्य है' जल पूर्ण सुन्दर नदी को देख कर 'इस नदी का तीर अच्छा है' अत यह नदी अच्छी तरह से तैरने योग्य है, इस प्रकार विवेकी साधु को सावद्य भाषा नहीं बोलनी चाहिये।

टीका—कोई साधु किसी ग्राम नगरादि में जाय, और वहाँ वह किसी गृहस्थ के घर में श्राद्ध, भोज आदि निमन्त्रण को होता हुआ देखे तब मुनि को योग्य है कि, वह निम्न प्रकार से न बोले—'यह भोज, जो पिता आदि की सांवत्सरिक श्राद्ध तिथि आदि के निमित्त किया है, वह गृहस्थ को अवश्यमेव करना उचित है। यह कार्य पुण्य की वृद्धि करने वाला है।' निषेध का कारण यह है कि, इस प्रकार अयोग्य भाषण करने से मिथ्यात्व की परि-वृद्धि होती है। इसी तरह किसी वध्यस्थान में ले जाते हुए पकड़े चोर को देख कर 'यह चोर महा-पापी है, यह जीवेगा तो लोगों को बहुत तंग करेगा, ऐसे दुष्ट को तो मार देना ही ठीक है' ऐसा न कहे। क्यों कि, इससे तदनुमत होने से घातक दोषों का प्रसंग आता है। इसी प्रकार किसी जल से भरी हुई बहती नदी को देख कर 'इस नदी के तट बहुत अच्छे हैं, यह सुख पूर्वक तैर कर पार करी जा सकती है, इसमें बहने का डर नहीं है अतः इसमें जल क्रीड़ा भी सुख पूर्वक करी जा सकती है' इत्यादि शब्द न कहे। क्योंकि इससे भी अधिकरण और विघातादि दोषों का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। सूत्र में आया हुआ 'संखड़ि' शब्द यौगिक है। इसका यह अर्थ है कि जिस क्रिया के करने से जीवों की आयु-खण्डित होती है, उस क्रिया को 'संखड़ि' कहते हैं। इसलिए यह शब्द सभी हिंसाकारी क्रियाओं के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है, परन्तु रूढि से यह शब्द केवल 'जीमनवार' (निमंत्रण) के अर्थ में ही व्यवहृत होता है अर्थात् 'संखड़ि' शब्द से अन्य अर्थ न लेकर केवल जीमनवार (निमंत्रण) का अर्थ ही लिया जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, संखड़ि आदि के विषय में कथन योग्य शब्दों का विधानात्मक उल्लेख करते हैं:—

संखडिं संखडिं बूआ, पणिअट्ठत्ति तेणगं।
बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं विआगरे ॥३७॥

संखड़िं संखड़िं ब्रूयात्, पणितार्थ इति स्तेनकम्।
बहुसमानि तीर्थानि, आपगानां व्यागृणीयात् ॥३७॥

पदार्थान्वयः—संखडिं–संखडि को संखडिं–संखडि तेणगं–चोर को पणिअट्ठत्ति–अपने प्राणों को कष्ट मे डाल कर स्वार्थ साधने वाला बूआ–कहे, और नदियों के लिये आवगाणं–इन नदियों के तित्थाणि–तीर्थ बहुसमाणि–बहुसम हैं त्ति–इस प्रकार वियागरे–विचार कर बोले ।

मूलार्थ—विद्वान् साधु, संखडि (जीमनवार) को यह संखडि है, चोर को यह अधिक संकट सहकर स्वार्थ सिद्ध करने वाला है, नदी को यह नदी समतल तट वाली है इस प्रकार विचार कर कहे ।

टीका—जब किसी कारण से बोलना ही पड़े, तो मुनि को निरवद्य ही भाषा बोलनी चाहिये । जब किसी गृहस्थ के यहा जीमनवार होती देखे तो यह कह सकता है कि, अमुक स्थान पर संकीर्ण जीमनवार हो रही है । यदि चोर को देखे, तो यह कह सकता है कि, वह चोर धन का अर्थी है, इतना ही नहीं किन्तु अपने स्वार्थ के लिये देखो किस प्रकार के कष्टों का सामना करता है । कभी नदी को देखे, तो इस प्रकार कहे कि, इस नदी का तीर्थ (किनारा-पानी) बहुसम है, अतः इस मे आकर बहुत से जीव पानी पीते हैं और लोग पानी भर कर ले जाते हैं । तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार किसी प्राणी को दुःख न पहुँचे, साधु को उसी प्रकार बोलना चाहिये । क्योंकि, सत्य ही वाणी का भूषण है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, नदी के विषय मे निषेधात्मक वचनों का उल्लेख करते हैं :—

तहा नईओ पुन्नाओ, कायतिज्जत्ति नो वए ।
नावाहिं तारिमाउत्ति, पाणिपिज्जत्ति नो वए ॥३८॥

तथा नद्यः पूर्णाः, कायतरणीया इति नो वदेत् ।
नौभिस्तरणीया इति, प्राणिपेया इति नो वदेत् ॥३८॥

पदार्थान्वयः—तहा–इसी प्रकार नईओ–ये नदियों पुन्नाओ–जल से पूर्ण भरी हुई हैं कायतिज्ज–भुजाओं से तैरने योग्य हैं त्ति–इस प्रकार नो वए–न कहे । तथैव नावाहिं–यह नावों द्वारा तारिमाउत्ति–तैरने योग्य है तथा पाणिपिज्ज–प्राणी इसके तट पर से ही सुख पूर्वक पानी पी सकते हैं त्ति–इस प्रकार नो वए–न बोले ।

बहुवित्थडोदगा—बहुत विस्तार वाला है 'अपने तट को अतिक्रमण कर गया है' एवं—इस प्रकार विवेक पूर्वक भासिज्ज—भाषण करे ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु को, नदियों को देख कर यदि कुछ कहना ही हो तो इस प्रकार कहना चाहिये कि, ये नदियाँ प्रायः जल से भरी हुई हैं, गंभीर हैं, (गहरी हैं) अन्य नदियों के जल-प्रवाह को पीछे हटाने वाली हैं, बहुत विस्तृत पानी वाली हैं और चौड़े पाट वाली हैं ।

टीका—साधु किसी समय स्वयं नदियों को देखे तथा कोई मार्गादि में गमन करते समय नदी विषयक प्रश्न ही करले तो साधु को निम्न प्रकार से बोलना चाहिये । यह नदी जल से पूर्ण भरी हुई पाटों पाट (लबालब) बह रही है । तथा यह नदी बहुत ही अगाध-गंभीर है । इतना ही नहीं, किन्तु इसका स्रोत (प्रवाह) अन्य नदियों के स्रोत (प्रवाह) को प्रतिहनन करने (रोकने) वाला है । अर्थात् इस नदी का जल प्रवाह और नदियों के जल प्रवाह को हटा रहा है, इसी कारण से इस का जल अपने तीर को अतिक्रम (लाँघ) कर इधर उधर अधिक फैल रहा है । उपर्युक्त पद्धति से भाषण करने से सावद्य पाप नहीं लगता और नदी की जो जो वर्तमान अवस्था होती है, उसका स्वरूप भी यथावत् कथन कर दिया जाता है । यदि किसी के पूछने पर इस प्रकार कहा जाय कि, 'इस विषय मे मैं कुछ नहीं जानता हूँ' तो प्रत्यक्ष मृषावाद होने से पृच्छक के हृदय से साधु के ऊपर द्वेष उत्पन्न हो जायगा अतएव सूत्रकार ने यह निरवद्य भाषण करने की प्रणाली बतलाई है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सावद्य योग के कुवचनों का निषेध करते हैं :—

तहेव सावज्जं जोगं, परस्सट्ठा अ निट्ठिअं ।
कीरमाणं त्ति वा नच्चा, सावज्जं न लवे मुणी ॥४०॥

तथैव सावद्यं योगं, परस्यार्थं च निष्ठितम् ।
क्रियमाणमिति वा ज्ञात्वा, सावद्यं न लपेत् मुनिः ॥४०॥

पदार्थान्वयः—तहेव-तथैव सावज्जं-पाप युक्त जोगं-योग (व्यापार) परस्सट्ठाअ-किसी दूसरे के लिये निट्ठिअं-भूत काल मे किया गया है कीरमाणं-

मूलार्थ—साधु को नदियों के विषय में 'ये नदियाँ जल से पूरी तरह भरी हुई बह रही हैं, बाहु-बल से तैरने योग्य हैं, नौकाओं द्वारा तैरने योग्य हैं, तथा इसके तट पर सभी प्राणी सुख पूर्वक अच्छी तरह जल पी सकते हैं' इस प्रकार नहीं बोलना चाहिये।

टीका—जब साधु, किसी समय किसी नदी को देखे, तब उसको देखकर इस प्रकार न कहे कि, 'यह नदी जल से परिपूर्ण भरी हुई एक प्रवाह से बह रही है, अतः यह भुजा द्वारा तैरने योग्य है। इस नदी का जल बहुत है, इसको तो तो नौका द्वारा पार करना चाहिये। इस नदी के तट ऐसे सम बने हुए हैं कि जिससे प्रत्येक प्राणी सुख पूर्वक जल पी सकता है।' क्योंकि, इस प्रकार की वाणी बोलने से प्रवृत्ति आदि दोषों की उत्पत्ति होती है और विघ्नादि आशङ्का से फिर उसमें अनेक प्रकार से अन्य उपाय करने पड़ते हैं। सूत्र में आये हुए 'पाणिपिज्ज' शब्द का कोई कोई टीकाकार यह भी अर्थ करते हैं कि, इस नदी का पानी पीने योग्य है। परन्तु वृत्तिकार तो 'प्राणिपेया-तटस्थप्राणिपेया इति नो वदेत्' जिसके तट पर ठहर कर प्राणी पानी पीते हैं ऐसा अर्थ करते हैं। तात्पर्य इतना ही है कि साधु को उसी प्रकार बोलना चाहिये। जिस प्रकार सुनने वालों की प्रवृत्ति सावद्य कार्य मे न हो सके।

उत्थानिका—अब 'यदि कभी प्रयोजन वश नदियों के विषय में बोलना हो तो किस प्रकार बोलना चाहिये ?' यह कहा जाता है :—

बहु वाहड़ा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा ।
बहुवित्थड़ोदगा आवि, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥३९॥

बहुभृता अगाधाः, बहुसलिलोत्पीड़ोदकाः ।
बहुविस्तीर्णोदका श्चापि, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—पन्नवं-प्रज्ञावान् साधु, नदियों को देख कर **बहुवाहड़ा**-ये नदियाँ प्रायः जल से भरी हुई हैं **अगाहा**-अतीव गम्भीर हैं **बहु सलिलुप्पिलोदगा**-अन्य नदियों के प्रवाह को पीछे हटाने वाली हैं, **आवि**-और इसका पानी

वर्तमान काल में किया जा रहा है वा-अथवा भविष्य काल में किया जायगा त्ति-इस प्रकार **नच्चा**-जान कर **मुणी**-मुनि को **सावज्जं**-पाप युक्त भाषा **न लवे**-नहीं बोलनी चाहिये ।

मूलार्थ—मननशील मुनि को पापमय व्यापार 'जो दूसरे के वास्ते भूत-काल में बनाया गया हो, या वर्तमान काल में बन रहा हो, या भविष्य काल में बनेगा' उसे जानकर सावद्य वाणी नहीं बोलनी चाहिये ।

टीका—जिस प्रकार पूर्व सावद्य भाषा बोलने का प्रतिषेध किया गया है, ठीक इसी प्रकार यहाँ भी जो अन्य किसी के लिये सावद्य व्यापार होता है, उसके प्रति सावद्य भाषा बोलने का निषेध किया गया है । इस गाथा में अतीत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों काल में पाप युक्त भाषा भाषण करने का प्रतिषेध किया है । यथा—पूर्व काल मे अमुक संग्राम बहुत ही अच्छा हुआ । तथा वर्तमान में जो ये संग्रामादि कार्य हो रहे हैं, सो वे बहुत ही अच्छे हो रहे हैं । एवं आगामी काल में जो अमुक संग्राम के होने की संभावना लोग कर रहे हैं, यदि वह संग्राम हो गया, तो बहुत ही अच्छा होगा । इत्यादि सावद्यभाषण साधु को नहीं करना ही उचित है । यह संग्राम का उदाहरण केवल समझाने के लिये दिया है, अतएव इसी प्रकार की अन्य सावद्य-क्रियाओं की भी संभावना कर लेनी चाहिये ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्वयं सावद्यभाषा का उदाहरण देकर बोलने का निषेध करते हैं :—

सुकडित्ति सुपक्कित्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥४१॥
सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुछिन्नं सुहृतं मृतम् ।
सुनिष्ठितं सुलष्टमिति, सावद्यं वर्जयेत् मुनि ॥४१॥

पदार्थान्वयः—**सुकडित्ति**—वह प्रीति भोज आदि कार्य अच्छा किया **सुपक्कित्ति**—वह तैल आदि पदार्थ अच्छा पकाया **सुछिन्ने**—वह वन आदि काट दिया अच्छा किया **सुहडे**—अच्छा हुआ, उस नीच की चोरी हो गई **मडे**—अच्छा हुआ

वह दुष्ट मर गया **सुनिट्ठिए**–अच्छा हुआ उस धनाभिमानी का धन नष्ट हो गया **सुलट्ठेति**–वह कन्या अतीव नवयौवना सुन्दर है, अतः विवाह करने योग्य है, इस प्रकार के **सावज्जं**–सावद्य वचनों को **मुणी**–मुनि **वज्जए**–सर्वथा छोड़ दे।

मूलार्थ—विचार-शील साधु को, यह कभी नहीं कहना चाहिये, 'अच्छा किया यह भव्य गृह आदि बना लिया, अच्छा हुआ यह सहस्र पाक तैल आदि पका लिया, अच्छा हुआ यह विकट वन आदि काट दिया, अच्छा हुआ उस नीच की चोरी हो गई, अच्छा हुआ वह दुष्ट निन्दक मर गया, अच्छा हुआ जो उस अभिमानी का धन मूलतः नष्ट हो गया, तथा अच्छा हो यह कुमारिका विवाही जाय क्योंकि यह बड़ी सुन्दर है'।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, जो वचन सावद्य हैं अर्थात् पापकर्म की अनुमोदना करने वाले हैं, वे साधु को कदापि नहीं बोलने चाहिएँ। यथा—"अच्छा हुआ—यह सभा स्थान आदि बना लिया, ये सहस्रपाक आदि पदार्थ पकाये गये, ये वन बहुत भयंकर थे काट दिये गये, इस कृपण का चिर संचित धन चोर चुरा ले गये, इस दुष्ट शत्रु की मृत्यु हो गई, क्योंकि यह नीच हमारी निन्दा किया करता था; इस अहंकार करने वाले व्यक्ति का धन नष्ट हो गया, यह कन्या बहुत अच्छी सुन्दर है और यह विवाह के योग्य है।" उपर्युक्त भाषा के बोलने से अनुमति आदि दोषों का प्रसंग आता है। अतएव दोषज्ञ एवं दोष परिहारक साधु, उक्त भाषाओं का प्रयोग वार्तालाप में कभी भूल कर भी न करे। एक बात यही विचारणीय है। वह यह कि, वस्तुतः शब्द बुरे नहीं होते, भाव बुरे होते हैं। भाव की बुराई के फेर में पड़ कर ही बेचारे शब्द बुरे हो जाते हैं। देखिये सूत्रोक्त 'सुकड़ित्ति' आदि शब्द, जो सावद्य के कारण बुरे मान कर त्याज्य बतलाये गये हैं, वे ही सुन्दर शुद्ध भाव के कारण कितने ग्राह्य हो जाते हैं—जैसे सुकड़ित्ति—अमुक मुनि ने अमुक वृद्ध मुनि की वैयावृत्त्य की, यह बहुत ही अच्छा किया। यह करना ही चाहिये था। सुपक्कित्ति—अच्छा हुआ, उस मुनि ने अपने ब्रह्मचर्य के व्रत को परिपक्क कर लिया। इस व्रत को जितना पकाया जाय, उतना ही अधिक अच्छा होता है। सुच्छिन्ने—बहुत उत्तम है कि अमुक मुनि ने दुःखकारी स्नेह बंधन को काट दिया। यह बंधन सभी

मोक्षाभिलाषी भव्यों को काट देना चाहिये। इसे काटे विना मोक्ष असंभव है। सुहडे—यह अच्छा हुआ अमुक मुनि का उपसर्ग समय उपकरण तो चोर ले गये, पर मुनि अपनी गृहीत प्रतिज्ञा में पूर्णतः दृढ़ रहा। या अमुक मुनि ने उपदेश देकर शिष्य का अज्ञान अपहरण कर लिया। सुमडे—यह अतीव सुन्दर है अमुक मुनिपण्डित समाधि-मरण से मरा। धन्य ? ऐसा मरण सभी सद्भागी सज्जन प्राप्त करें। समाधि-मरण किसी महाभागी के ही भाग्य मे होता है। सुनिट्ठिए—अमुक मुनि ने अप्रमत्तता के वल से भव भ्रमण में कारण भूत अष्टकर्मों का नाश कर दिया। ऐसा नाश सब कोई करें और सब किसी का हो तो उत्तमोत्तम है। सुलट्ठेत्ति—अमुक मुनि की क्रिया अतीव सुन्दर है। ऐसी सुन्दर क्रिया सबको अपनानी (करनी) चाहिये। क्योंकि, इस क्रिया के बल से ही परम मनोहरा मुक्तिवधू व्याही जा सकती है। उपर्युक्त भाषा पूर्ण-निरवद्य है। इस भाषा से आत्मा कर्ममल मुक्त होकर परम पवित्र हो जाती है। विचार शील मुनियों को इस प्रकार अन्य विषयों पर भी भाषा कल्पना करके शुद्ध-भाषा का समाश्रयण करना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उक्त-अनुक्त-अपवाद विधि के विषय मे कहते हैं :—

पयत्त पक्कत्ति व पक्कमालवे,
पयत्तछिन्नत्ति व छिन्नमालवे।
पयत्तलट्ठित्ति व कम्महेउअं,
पहारगाढत्ति व गाढमालवे ॥४२॥

प्रयत्न पक्वमिति वा पक्वमालपेत्,
प्रयत्नछिन्नमिति वा छिन्नमालपेत्।
प्रयत्नलष्टेति वा कर्म-हेतुकं,
प्रहारगाढ इति वा गाढमालपेत् ॥४२॥

पदार्थान्वयः—पक्कं-पक तैल आदि को पयत्तपक्कत्तिव-यह प्रयत्न से पकाया गया है ऐसा आलवे-कहे, व-तथा छिन्नं-छेदन किये हुये वनादि को पयत्त-

छिन्नत्ति–यह प्रयत्न से काटा गया है इस प्रकार आलवे–कहे व–तथा सुन्दर कन्या को पयत्तलिट्ठित्ति–यदि यह कन्या दीक्षित हो तो प्रयत्न से पालन करने योग्य हो, तथा कम्महेउअं–ये शृङ्गारादि क्रियाएँ सब कर्म बंधन की हेतु हैं व–तथा गाढं–गाढ प्रहार को पहारगाढत्ति–यह प्रहार मामूली नहीं है, गहरा है ऐसा आलवे–कहे।

मूलार्थ—शास्त्र विशारद साधु, काम पड़ने पर जो प्रयत्न से पकाया गया हो, उसे प्रयत्न से पकाया हुआ, जो प्रयत्न से काटा गया हो, उसे प्रयत्न से काटा हुआ; जो कन्या सुन्दर हो, उसे दीक्षित होने पर प्रयत्न से पालने योग्य; शृङ्गारादि को कर्म बंधन का कारण; एवं गाढ प्रहार को, गाढ प्रहार (गहरा घाव) कह सकता है।

टीका—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, यदि कारण वशात् उक्त क्रियाओं के विषय में बोलना पड़ जाय, तो निम्न प्रकार से बोलना चाहिये। यथा—यदि किसी साधु को किसी ग्लान आदि के लिये सहस्रपाक तेल आदि की जरूरत हो और जब वह पक्व तेल ले आया जाय, तब मुनि उस समय कह सकता है कि यह तेल बड़े प्रयत्न से पकाया गया है। इसी प्रकार विहारादि क्रियाएँ करते समय जब किसी वन में जाय और वहाँ छेदन किये हुये वन को देख कर मुनि अन्य मुनि को कह सकता है कि, यह वन बड़े प्रयत्न से काटा गया है। तथा यदि अमुक कन्या दीक्षा ले ले, तो वह बड़े प्रयत्न से (सावधानी से) सर्व प्रकार पालन पोषण करने योग्य है। तथा ये जो यावन्मात्र सांसारिक क्रियाएँ हैं, सब कर्मबंधन की ही कारण हैं। एवं यदि किसी चोर आदि पर अत्यन्त मार पड़ रही हो, तब कह सकता है कि, दुष्कर्म का फल अतीव कटु होता है; देखो, दुष्कर्म के कारण वेचारे चोर पर कितनी कठोर मार पड़ रही है। उपर्युक्त पद्धति के अनुसार बोलने से अप्रीति आदि दोषों का अभाव हो जाता है। क्योंकि, वर्तमान काल मे जिस पदार्थ की जो दशा हो, उसको यदि उसी रूप से कहा जाय, तो सावद्य भाषा से भली प्रकार वचाव हो सकता है।

उत्थानिका—अब शास्त्रकार, व्यवहार के विषय मे कहते हैं:—

सव्वुक्कसं परग्घं वा, अउलं नत्थि एरिसं ।
अविक्किअमवत्तव्वं , अचिअत्तं चेव नो वए ॥४३॥

सर्वोत्कृष्टं परार्घं वा, अतुलं नास्तीदृशम् ।
अविक्रुतमवक्तव्यं , अप्रीतिकरं चैव नो वदेत् ॥४३॥

पदार्थान्वयः—सव्वुक्कसं–इन वस्तुओं में यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, वा–अथवा परग्घं–यह वस्तु बड़े मूल्य वाली है, तथा यह वस्तु अउलं–अतुल है (अनुपम है) नत्थि एरिसं–इस के समान अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, यह वस्तु अविक्किअं–असंस्कृत है (बेचने योग्य नहीं है) तथा यह वस्तु अवत्तव्वं–अवक्तव्य है च–और यह वस्तु अचिअत्तं–अप्रीति करने वाली है एवं–इस प्रकार साधु नो वए–नहीं कहे ।

मूलार्थ—यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुत अधिक मूल्य वाली है, यह अनुपम (अनूठी) है, इस के तुल्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है, यह बेचने योग्य नहीं है, यह अमितगुणात्मक है, अवक्तव्य है, यह वस्तु घृणाकारक (गन्दी) है और यह बहुत ही मनोहर है इत्यादि व्यापार विषयक भाषण साधु को कभी नहीं करना चाहिये ।

टीका—ग्राम वा नगरादि में विचरता हुआ साधु, किसी के प्रश्न कर लेने पर या स्वयं ही निम्न प्रकार से व्यवहार विषय में भाषण न करे । यथा—"इन सब पदार्थों में अमुक पदार्थ सब से उत्कृष्ट है, अतः यह शीघ्रतया खरीदने योग्य है अथवा इस पदार्थ के समान और कोई पदार्थ कहीं नहीं है, यह असंस्कृत पदार्थ सब जगह सुलभता से मिल सकता है, और यह विक्री में आने लायक नहीं है । इस पदार्थ के गुण इतने हैं कि जिह्वा से वर्णन नहीं किये जा सकते, अतः यह पदार्थ अवक्तव्य है । एवं यह पदार्थ अप्रीति उत्पन्न करने वाला है और यह प्रीति करने वाला है ।" उपर्युक्त भाषा के न बोलने का कारण यह है कि, इस भाषा से अधिकरण और अन्तराय का दोष लगता है । साधु की कही हुई बात को सुनकर यदि कोई गृहस्थ व्यापार सम्बन्धी नाना प्रकार की क्रियाओं मे लग जाय, तो फिर बहुत से अनर्थों के उत्पन्न होने की संभावना है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'साधु को किसी का निश्चयात्मक संदेश कहना उचित नहीं है' यह कहते हैं :—

सव्व मेअं वइस्सामि, सव्वमेअंति नोवए।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥४४॥

सर्वमेतद् वदिष्यामि, सर्वमेतदिति नो वदेत्।
अनुचिन्त्य सर्वं सर्वत्र, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥४४॥

पदार्थान्वयः—सव्वमेअं वइस्सामि–ये तुम्हारी सब बातें मैं उससे अवश्य कहदूंगा, तथा सव्वमेअंत्ति–ये मेरी सब बातें तुम उससे कह देना इस प्रकार कभी नोवए–नहीं बोले; किन्तु पन्नवं–प्रज्ञावान् साधु सव्वत्थ–सभी स्थानों पर सव्वं–सब बातों को अणुवीइ–पूर्वापर रूप से विचार कर एवं–ही भासिज्ज–भाषण करे।

मूलार्थ—आप निश्चित रहें, ये आपकी सब बातें मैं उसको ठीक ठीक कह दूंगा और मेरी कही हुई ये सब बातें, तुम उसको इसी तरह अवश्यमेव कह देना, इस प्रकार विचार निपुण साधु को कभी नहीं बोलना चाहिये। जब बोलना हो तब सभी स्थानों पर सब बातों को एक एक करके विचार की कसौटी पर जॉच करके बोलना चाहिये।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, परस्पर वार्ता किस प्रकार करनी चाहिये। जैसे किसी ने साधु से कहा कि मेरी अमुक बात अमुक व्यक्ति से कह देना, तब साधु उत्तर मे यह न कहे कि हाँ, मैं सब कह दूंगा। कारण कि, जिस प्रकार उसने स्वर व्यञ्जन संयुक्त भाषा भाषण की है वह उसी प्रकार नहीं कही जा सकती। अथवा तू उसको ये मेरी बात यथार्थ रूप से अवश्य कह देना, इस प्रकार भी न कहे। इसका भी कारण वही ऊपर वाला ही है कि जिस प्रकार कोई बात कहता है, दूसरे से उसी प्रकार कहना सर्वथा असंभव है। तात्पर्य इतना ही है कि, बुद्धिमान् साधु को वार्तालाप आदि सब कार्यों के लिये सभी स्थानों पर विचार कर ही बोलना चाहिये। जिससे सत्य व्रत में किसी प्रकार का मृषावाद का दूषण न लगे। यदि साधु बिना विचार किये योंही मन कल्पित बोलेगा तो एक नहीं बल्कि अनेक नाना प्रकार की आपत्तियों पर आपत्तियाँ

ऊपर आती चली जायँगी, जिनका हटाना फिर अशक्य होगा । परन्तु यदि कोई साधु किसी साधु के प्रति अपना पत्र ही लिख कर दे देवे, तो वह बात ही और है।

उत्थानिका—पुनरपि व्यापार सम्बन्धी भाषा के विषय में ही कहते हैं:—

सुक्कीअं वा सुविक्कीअं, अकिज्जं किज्जमेव वा।
इमं गिण्ह इमं मुंच, पणिअं नो वियागरे ॥४५॥

सुक्रीतं वा सुविक्रीतं, अक्रेयं क्रेयमेव वा।
इदं गृहाण इदं मुञ्च, पणितं न व्यागृणीयात् ॥४५॥

पदार्थान्वयः—**सुक्कीअं**-अच्छा किया यह पदार्थ खरीद लिया **वा**-अथवा **सुविक्कीअं**-अच्छा किया अमुक पदार्थ वेच दिया **वा**-अथवा **अकिज्जं**-यह पदार्थ उत्तम नहीं, अतः खरीदने योग्य नहीं है अथवा **किज्जं**-यह पदार्थ अच्छा है खरीदने योग्य है, अथवा **इम**-इस **पणिअं**-किराने को **गिण्ह**-ग्रहण करलो और **इमं**-इस किराने को **मुंच**-वेचदो **एवं**-इस प्रकार मुनि को **नो वियागरे**-नहीं कहना चाहिये।

मूलार्थ—**संसार विरक्त साधु को व्यापार के विषय में 'अच्छा किया यह किराना खरीद लिया, और यह किराना वेच दिया, यह किराना खरीदने लायक है, और यह खरीदने लायक नहीं है, समय अच्छा है यह किराना ले लो और यह वेच डालो, इस प्रकार अयोग्य भाषण कभी नहीं करना चाहिये।**

टीका—इस गाथा में व्यापार विषयक वर्णन किया गया है। जैसे कि, किसी ने मुनि को अमुक पदार्थ दिखलाया तब साधु उससे यह न कहे कि अच्छा किया, तुमने यह पदार्थ खरीद लिया। तथा यह भी न कहे कि अच्छा किया, तुमने यह अमुक पदार्थ वेच दिया। क्योंकि जो तुमने खरीदा है, वह तो मँहगा (वहुमूल्य) होने वाला है और जो वेचा है वह मंदा (अल्पमूल्य) होने वाला है। तथा यह पदार्थ खरीदने योग्य नहीं है और यह खरीदने योग्य है। अतः तुम इस पदार्थ को खरीदो और इसको वेचो इस प्रकार की व्यापार सम्बन्धी किराने के खरीदने और वेचने की भाषा प्रज्ञापति साधु, कदापि भाषण न करे। कारण यह

है कि, इससे अप्रीति और अधिकरण आदि दोषों के लगने की संभावना की जा सकती है। अर्थात् यदि कथित वस्तु महार्घ वा अल्पार्घ न हुई तो साधु पर लोगों की तरफ से अप्रतीति उत्पन्न होगी। तथा यदि उसी प्रकार होगई तो अधिकरणादि दोषों की उपस्थिति होगी।

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय पर कहा जाता है :—

अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए वा विक्कए वि वा।
पणिअट्ठे समुप्पन्ने, अणवज्जं विआगरे ॥४६॥
अल्पार्घे वा महार्घे वा, क्रये वा विक्रयेऽपि वा।
पणितार्थे समुत्पन्ने, अनवद्यं व्यागृणीयात् ॥४६॥

पदार्थान्वयः—अप्पग्घे-अल्प मूल्य वाले वा-अथवा महग्घेवा-महान् मूल्य वाले पणिअट्ठे-किराने के लिये कएवा-खरीदने के विषय में वा-अथवा विक्कएवि-बेचने के विषय मे भी यदि कभी समुप्पन्ने-प्रसंग उत्पन्न होजाय तो अणवज्जं-निरवद्य वचन विआगरे-बोले (कथन करे)।

मूलार्थ—अल्प मूल्य वाले तथा बहुमूल्य वाले किराने के खरीदने और बेचने के विषय का यदि कभी कोई प्रसंग आपड़े तो, साधु को पूर्ण निरवद्य वचन बोलना चाहिये।

टीका—यदि कारण वशात् कभी बोलना ही पड़े तो जो पदार्थ अल्प मूल्य वाले तथा बहुमूल्य वाले हैं, उन पदार्थों के खरीदने और बेचने के विषय में यदि कभी कोई प्रश्न ही करे तो साधु को उन पदार्थों के विषय मे निरवद्य वचन ही बोलना चाहिये। जैसे कि—'नाधिकारोऽत्रतपस्विनां व्यापाराभावादिति' व्यापार का अभाव होने से मुनियों को यह कोई अधिकार नहीं है जो वे फिर व्यापार सम्बन्धी वार्तालाप करें। क्योंकि जिन मुनियों ने स्वयं ही व्यापार छोड़ रक्खा है, फिर उन्हें क्या अधिकार है कि वे उस विषय में अपनी सम्मति प्रदान करें। सम्मति वहीं दी जाती है, जहाँ कुछ किसी का अधिकार होता है। अतः यह कार्य गृहस्थों के हैं, न कि साधुओं के। साधु धार्मिक-व्यापार की बात जानते हैं, वह पूछना हो तो प्रसन्नतापूर्वक पूछ सकते हो।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गृहस्थ से उठने-बैठने आदि की क्रियाओं के कहने का निषेध करते हैं:—

तहेवासंजयं धीरो, आस एहि करेहि वा ।
सयं चिट्ठ वयाहि त्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥४७॥
तथैवाऽसंयतं धीरः, आस्व एहि कुरु वा ।
शेष्व तिष्ठ व्रज इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी प्रकार **पन्नवं**-प्रज्ञावान् और **धीरो**-धैर्यवान् साधु **असंजयं**-असंयमी-गृहस्थ के प्रति **आस**-यहाँ बैठो **एहि**-इधर आवो **करेहि**-यह कार्य करो **सयं**-यहाँ शयन कर लो **चिट्ठ**-यहाँ खड़े रहो **वा**-अथवा **वयाहि**-अमुक स्थान पर जावो **त्ति**-इस प्रकार **नेवंभासिज्ज**-निश्चयपूर्वक भाषण न करे ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् और धैर्यवान् साधु को असंयत गृहस्थों के प्रति यहाँ बैठो, इधर आवो, अमुक कार्य करो, सो जावो, खड़े रहो एवं चले जावो, इत्यादि सावद्य भाषा से नहीं बोलना चाहिये ।

टीका—बुद्धि के सागर एवं धैर्य के सुमेरु मुनिराजों को योग्य है कि, वे गृहस्थों के प्रति 'यहाँ आवो, यहाँ बैठो, यहाँ सोवो, वहाँ जावो' इत्यादि शब्दों का व्यवहार न करें । क्योंकि, ये शब्द आदेश के सूचक हैं; और गृहस्थ लोगों को उक्त क्रियाएँ करते समय प्रायः यत्न स्वल्प होता है । अतः यदि ये क्रियाएँ किसी प्राणी के वध की कारण हो जाएँ, तो साधु भी अनुमति आदि देने से पाप का भागी बन जायगा । इस गाथा के देखने से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि जब गृहस्थ को उक्त बातें भी नहीं कहनी तो फिर गृहस्थ को सांसारिक कार्यों के विषय में तो कहना ही सर्वथा विरुद्ध है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, असाधु को साधु कहने का निषेध करते हैं:—

बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो ।
न लवे असाहुं साहुत्ति, साहुं साहुत्ति आलवे ॥४८॥

बहव इमे असाधवः, लोके उच्यन्ते साधवः।
न लपेत् असाधुं साधुरिति, साधुं साधुरित्यालपेत् ॥४८॥

पदार्थान्वयः—बहवे-बहुत से इमे-ये प्रत्यक्ष असाहू-असाधु लोग भी लोए-संसार मे साहुणो-साधु ही वुच्चंति-कहे जाते हैं। किन्तु निर्ग्रन्थ साधु असाहुं-असाधु को साहुत्ति-यह साधु है ऐसा न लवे-न कहे, किंच साहुं-साधु को ही साहुत्ति-यह साधु है इस प्रकार आलवे-निःसंकोच होकर कहे।

मूलार्थ—संसार में बहुत से ये प्रत्यक्ष असाधु हैं, जो साधु कहे जाते हैं। किन्तु प्रज्ञावान् साधु, असाधु को साधु न कहे; अपितु साधु को ही साधु कहे।

टीका—इस गाथा मे असत्य व्रत के परित्याग के विषय में ही उपदेश किया गया है। इस लोक मे बहुत से असाधुजन हैं, किन्तु वे अपने आपको निर्वाण के साधक बतलाते हुए साधु ही बतलाते हैं, अतः बुद्धिमान् साधु, ऐसे असाधु पुरुषों को साधु न कहे अपितु साधु को ही साधु कहे, जिससे मृषावाद का प्रसंग उपस्थित न हो सके। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, जिसका वेष तो साधु का है, किन्तु भाव से कोई निर्णय नहीं हो सकता कि यह साधु है या असाधु। तब इस विषय मे क्या कहना चाहिये ? उत्तर में कहना है कि, जिसका लोक मे अपवाद फैला हुआ है उसको साधु कदापि न कहे, अपितु वेष-धारी कह सकता है। और जिसका दुनियाँ मे अपवाद नहीं है प्रत्युत पूरी-पूरी प्रशंसा है, उस की ठीक प्रकार से परीक्षा करके उसे साधु ही कहना चाहिये। क्योंकि प्रत्यक्ष में व्यवहार शुद्धि ही देखी जाती है, उसी पर अच्छे बुरे का निर्णय किया जाता है, परन्तु ठीक निश्चय तो केवली भगवान् ही कर सकते हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्वयं उत्तमोत्तम साधु के लक्षण बतलाते हैं:—

नाणदंसणसंपन्नं , संजमे अ तवे रयं।
एवं गुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे ॥४९॥

ज्ञानदर्शनसंपन्नं , संयमे च तपसि रतम्।
एवं गुणसमायुक्तं, संयतं साधुमालपेत् ॥४९॥

पदार्थान्वयः—नाणदंसणसंपन्नं-ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय से संपन्न तथा संजमे-संयम में अ-और तवे-तप में रयं-पूर्ण अनुरक्त एवं-इस प्रकार के गुणसमाउत्तं-सद्गुणी संजयं-साधु को ही साहुं-साधु आलवे-कहे ।

मूलार्थ—जो साधु ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण से संपन्न हो, संयम और तप की क्रियाओं में पूर्ण रूप से संलग्न हो, उसी को साधु कहना चाहिये ।

टीका—इस गाथा मे साधु की परीक्षा के लक्षण प्रतिपादित किये हैं । यथा—जो व्यक्ति सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन एवं सम्यक्-चारित्र से युक्त है, तथैव संयम और तप के विषय मे पूर्णतया रत है, किंबहुना जो इस प्रकार के साधु योग्य गुणों से युक्त है, उसी संयत व्यक्ति को साधु कहना चाहिये । तात्पर्य इतना ही है कि, जो सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र से संयुक्त हैं, वेही साधु कहे जा सकते हैं । और जिसमे पूर्वोक्त गुण न हों, उसे साधु कभी नहीं कहना चाहिये । वह केवल वेष-धारी है, अतः उसे द्रव्यलिङ्गी कहना ही ठीक है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, युद्ध में किसी एक की जय और पराजय के कहने का निषेध करते हैं :—

देवाणं मणुआणं च, तिरिआणं च वुग्गहे ।
असुगाणं जओ होउ, मा वा होउत्ति नो वए ॥५०॥

देवानां मनुजानां च, तिरश्चाञ्च विग्रहे ।
अमुकानां जयो भवतु, मा वा भवतु इति नो वदेत् ॥५०॥

पदार्थान्वयः—देवाणं-देवताओं के च-तथा मणुआणं-मनुष्यों के च-तथा तिरिआणं-तिर्यंचों के वुग्गहे-पारस्परिक संग्राम के हो जाने पर असुगाणं-अमुक पक्षवालों की जओ-जय होउ-हो वा-तथा अमुक पक्ष वालों की मा होउ-जय न हो त्ति-इस प्रकार साधु नोवए-नहीं बोले ।

मूलार्थ—देवता, मनुष्यों और पशुओं के परस्पर युद्ध होने पर 'अमुक की जीत हो और अमुक की हार हो' ऐसा साधु को अपने मुँह से नहीं कहना चाहिये ।

टीका—यदि कभी साधु, अपने अवधि आदि ज्ञान से देवों के संग्राम को देखे, तथा प्रत्यक्ष में मनुष्यों वा पशुओं के संग्राम को देखे, तो साधु यह नहीं कहे कि, अमुक पक्ष वालों की तो जीत हो और अमुक पक्ष वालों की हार हो। क्योंकि, इस प्रकार के बोलने से परस्पर द्वेष तथा अधिकरण आदि दोषों की कालिमा से आत्मा कलुषित होती है। सूत्र मे जो देवों के संग्राम के विषय मे लिखा है, वह मुनि के अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा से ही लिखा है। मनुष्य और पशुओं का संग्राम तो सब के प्रत्यक्ष होता है। सूत्र में आया हुआ 'विग्रह' शब्द वाग्युद्ध आदि सभी प्रकार के संग्रामों का वाचक है। अतः साधु को सभी प्रकार के युद्धों के विषय मे किसी भी पक्ष में एवं प्रतिपक्ष मे जय और पराजय की अपनी सम्मति नहीं प्रदान करनी चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'वर्षा आदि के होने और न होने के विषय मे स्वयं कुछ न कहने का' साधु को उपदेश करते हैं:—

वाओ वुट्ठं च सीउण्हं, खेमं धायं सिवंत्ति वा।
कयाणु हुज्ज एआणि, मा वा होउत्ति नो वए ॥५१॥

वातो(वायुः)वृष्टं च शीतोष्णं, क्षेमं ध्मातं शिवमिति वा।
कदा नु भवेयुः एतानि, मा वा भवेयुरिति नो वदेत् ॥५१॥

पदार्थान्वयः—वाओ-वायु वुट्ठ-वर्षा च-और सीउण्हं-शीत एवं उष्ण खेमं-रोगादि उपद्रव से शान्ति धायं-सुभिक्ष वा-अथवा सिवंत्ति-कल्याण एआणि-ये सब कयाणु-किस समय हुज्ज-होंगे वा-तथा मा होउ-ये कार्य अब न हों त्ति-इस प्रकार साधु नोवए-नहीं बोले।

मूलार्थ—धाम आदि से पीड़ित साधु को अपनी पीड़ा निवृत्ति के लिये वायु, वृष्टि, शीत, उष्ण, क्षेम (रोगादि निवृत्तिरूप) सुभिक्ष और कल्याण के

१. क्षेम का अर्थ बहुत से अर्थकार 'राज द्रोह की निवृत्ति' करते हैं, परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं। क्लेश शान्ति के लिये कामना ही नहीं प्रत्युत साधु अपनी मर्यादा में रहता हुआ प्रयत्न तक कर सकता है। टीकाकार का 'राजविज्वर शून्यम्' वाक्य भी राज रोग का अभाव ही बतलाता है, राज द्रोह का अभाव नहीं। सद्धर्ममण्डनकार श्री जवाहिराचार्य जी भी इसी अर्थ को स्वीकृत करते हैं। उन्होंने 'सद्धर्ममण्डन' में इस गाथा पर पठनीय विस्तृत विवेचन किया है। —सपादक

विषय में 'ये कब होंगे' अथवा 'ये न हों' इस प्रकार कभी नहीं कहना चाहिये ।

टीका—जो बाते स्वाभाविक होने वाली हैं, उनके विषय मे साधु को विवेक पूर्वक बोलना चाहिये । यथा शीतल पवन (मलय मारुतादि) वर्षा, शीत (जाड़ा), उष्ण (गर्मी), राज रोग की निवृत्ति (राजविज्वर शून्यम्), सुभिक्ष (सुकाल) और सब प्रकार के उपसर्गों से रहित हो जाने से कल्याण रूप समय, 'ये सब कार्य कब होंगे तथा ये कार्य नहीं हो' इस प्रकार मुनि आराम के लिये कदापि भाषण न करे । कारण यह है कि, एक तो अधिकरण के दोष का प्रसंग आता है । दूसरे वायु आदि के उत्पन्न होने से अनेक जीवों को पीड़ा होती है तथा साधु के कहे अनुसार यदि पूर्वोक्त कार्य न हों, तब साधु को आर्त ध्यान उत्पन्न होगा । इतना ही नही, किन्तु यदि कोई यह सुनले और फिर न हो, तो सुनने वाले की धर्म पर से या उस मुनि पर से श्रद्धा न्यून हो जायगी । इसी प्रकार की और भी वहुत सी हानियाँ हैं, इस लिये मुनि को उक्त क्रियाओं के विषय में अपनी सम्मति प्रदान नहीं करनी चाहिये ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मेघ आदि को देवता कहने का निषेध करते हैं:-

तहेव मेहं व नहं व माणवं,
न देव देवत्ति गिरं वइज्जा ।
समुच्छिए उन्नए वा पओए,
वइज्ज वा वुट्ठ बलाहयत्ति ॥५२॥

तथैव मेघं वा नभो वा मानवं,
न देवदेव इति गिरं वदेत् ।
सम्मूर्च्छित उन्नतो वा पयोदः,
वदेत् वा वृष्टो बलाहक इति ॥५२॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी भांति साधु मेहं-मेघ को व-अथवा नहं-आकाश को व-किंवा माणवं-किसी मनुष्य को देवदेवत्ति-यह देव है, यह देव

है इस प्रकार गिरं-भाषा न वइज्जा-न बोले। किन्तु मेघ को देखकर पओए-यह मेघ समुच्छिए-चढ़ा हुआ वा-तथा उन्नए-उन्नत हो रहा है वा-और वुट्ठवलाहय-यह मेघ वर्षा कर चुका है त्ति-इस प्रकार वइज्ज-बोले।

मूलार्थ—तत्वज्ञ-मुनि मेघ, आकाश तथा राजा आदि मनुष्य के प्रति 'यह देवता है' ऐसा न कहे। हां मेघ के लिये 'यह मेघ चढ़ा हुआ है 'वर्षणोन्मुख है' उन्नत हो रहा है, वर्ष गया है' इत्यादि कह सकता है।

टीका—निर्ग्रन्थ साधु मेघ के लिये, आकाश के लिये अथवा किसी प्रतिष्ठित राजा आदि मनुष्य के लिये 'यह देव है' ऐसा न कहे। क्योंकि यह कथन अत्युक्ति पूर्ण है। अतः इससे मृषावाद का दोष लगता है। वस्तुतः यह कथन बुद्धि से निश्चयात्मक देव कहने का ही प्रतिषेधक है, उपमालङ्कारादि की अपेक्षा से नहीं। आलङ्कारिक भाषा में यदि ऐसा कहीं कहा जाय, तो कोई दोष नहीं होता। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, जब बादल उन्नत शाली हो चारों ओर घिर कर आये हों, एवं वर्षने लगें तब उस समय क्या कहना चाहिये ? इस शङ्का के समाधान में सूत्रकार स्वयं वर्णन करते हैं कि 'यदि मेघ चढ़ा हुआ आवे' तो मेघ चढ़ा हुआ आ रहा है' 'एवं वर्षने लगे' तो मेघ वर्ष रहा है, इस प्रकार कहना चाहिये। सिद्धान्त यह निकला कि, मेघ को 'देवता आता है, तथा देवता वर्ष रहा है' इस प्रकार नहीं कहना चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय कि, इस काव्य में 'देव देव' यह द्विरुक्ति पद क्यों दिया गया है ? इस शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि, इस द्विरुक्ति पद का सम्बन्ध मेघ, आकाश वा मनुष्य के साथ है। इस लिये 'मेघ को हे देव !, आकाश को हे देव !, मनुष्य को हे देव !, नहीं कहना एतदर्थं' द्विरुक्तिपद है। तथा अतिशय अर्थ में द्विरुक्ति पद उपादेय है। अस्तु 'भृशाभीक्ष्ण्या विच्छेदे प्राग् द्विः—शा० २।३।२।' इस सूत्र द्वारा उक्त अर्थों के लिये द्विरुक्तिपद उच्चारण किया जाता है, यथा—वद वद, जय जय, नमोनमः इत्यादि।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आकाश एवं मनुष्य के विषय में कहते हैं :—

अंतलिक्खंत्ति णं बूआ, गुज्झाणुचरिअत्ति अ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स, रिद्धिमंतंत्ति आलवे ॥५३॥

अन्तरिक्षमिति एतद् ब्रूयात्, गुह्यानुचरितमिति च ।
ऋद्धिमन्तं नरं दृष्ट्वा, ऋद्धिमन्तमिति आलपेत् ॥५३॥

पदार्थान्वयः—णं–आकाश के प्रति अंतलिक्खंत्ति–अन्तरिक्ष अ–तथा गुज्झाणुचरिअत्ति–देवों से सेवित है इस प्रकार बूआ–कहे तथैव रिद्धिमंतं–ऋद्धिशाली नरं–मनुष्य को दिस्स–देखकर रिद्धिमंतंत्ति–यह ऋद्धिवाला है ऐसा आलवे–कहे ।

मूलार्थ–भाषा-शास्त्र-विशारद मुनि, आकाश को आँकाश एवं देवों से सेवित कहे । और इसी प्रकार सम्पत्तिशाली मनुष्य को सम्पत्तिशाली ही कहे ।

टीका—इस गाथा मे आकाश और मनुष्य के विषय मे वर्णन किया गया है । यथा—आकाश को आकाश तथा यह आकाश देवों के चलने का मार्ग है, इसलिये यह देवों द्वारा सेवित है, यह कहे । यही वक्तव्य मेघ के विषय में भी जान लेना । इसी प्रकार यदि किसी ऋद्धि वाले पुरुष को देखे, तव उसके विषय मे यह कहना चाहिये कि, यह ऋद्धि वाला पुरुष है । क्योंकि इस प्रकार बोलने से व्यवहार मे मृषावाद की आपत्ति नहीं होती । तात्पर्य इतना ही है, कि जो वस्तु जिस प्रकार से हो, उसे उसी प्रकार से कहना चाहिये । इसमे किसी प्रकार की भी दोषापत्ति नहीं हो सकती ।

उत्थानिका—अव सूत्रकार, परिहास आदि मे भी सावद्यानुमोदिनी भाषा के बोलने का निषेध करते हैं :—

तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा,
ओहारिणी जा अ परोवघाइणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वइज्जा ॥५४॥

तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः,
अवधारिणी या च परोपघातिनी ।
तां क्रोध-लोभ-भय-हासेभ्यो मानवः,
न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥५४॥

पदार्थान्वयः—तहेव-तथैव जा-जो गिरा-भाषा सावज्जणुमोअणी-पाप-कर्म की अनुमोदन करने वाली हो ओहारिणी-निश्चयकारिणी हो अ-और संशय-कारिणी हो एवं परोवघाइणी पर जीवों को पीडा उत्पन्न करने वाली हो से-उसे माणवो-मननशील साधु कोह लोह भय हास-क्रोध, लोभ, भय और परिहास से हासमाणोवि-हँसता हुआ भी गिरं-वाणी नवइज्जा-न बोले।

मूलार्थ-जो भाषा, पाप कर्म की अनुमोदन करने वाली हो, निश्चय-कारिणी हो, पर जीवों को पीड़ा पहुँचाने वाली हो, उसको क्रोध से, लोभ से, भय से तथा परिहास से हँसता हुआ भी साधु न बोले।

टीका—साधु को योग्य है कि, जो भाषा पाप कर्म की अनुमोदन करने वाली हो, यथा-अच्छा हुआ, यह ग्राम नष्ट कर दिया। अथवा जो निश्चय कारिणी हो, यथा-अमुक कार्य इसी प्रकार होगा। अथवा संशय कारिणी हो, यथा—यह देवदत्त नव कम्बल वाला है। या जिसके बोलने से पर जीवों को पीड़ा होती हो; यथा—मांस खाने मे कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी जान लेना चाहिये। साधु को इस प्रकार की भाषा क्रोध के, लोभ के, भय के तथा हास्य के वश होकर कदापि नहीं बोलनी चाहिये। यहाँ क्रोध आदि के साथ उप-लक्षण से मान एवं प्रेम आदि के भावों से कहने का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। यह भाषा क्यों नहीं बोलनी चाहिये? इसका उत्तर यह है कि, इससे प्रभूततर कर्मों का बंध होता है। क्योंकि, यह भाषा सत्य, प्रीति और अनुकंपा आदि की नाश करने वाली है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'शुद्ध भाषा-भाषी साधु की सत्पुरुषों मे पूर्णतया प्रशंसा होती है' यह कहते हैं :—

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मिअं अदुट्ठे (ट्ठं) अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहइ पसंसणं ॥५५॥

सद्वाक्यशुद्धिं सम्प्रेक्ष्य मुनिः,
गिरं च दुष्टां परिवर्जयेत् सदा।
मितामदुष्टामनुचिन्त्य भाषते,
सतां मध्ये लभते प्रशंसनम् ॥५५॥

पदार्थान्वयः—जो सुवक्क सुद्धिं-श्रेष्ठ वचन की शुद्धि की समुपेहिआ-भली भाँति आलोचना कर के सया-सदा दुट्ठं-दुष्ट गिरं-भाषा को परिवज्जए-सर्वथा छोड़ देता है च-और मिअं-परिमाण पूर्वक अदुट्ठं-दुष्टता से रहित शुद्ध वचन अणुवीइ-विचार कर भासए-बोलता है, वह मुणी-मुनि सयाणमज्झे-सत्पुरुषों के मध्य में पसंसणं-प्रशंसा लहइ-प्राप्त करता है।

मूलार्थ—जो मुनि भाषा की शुद्धि के समस्त भेद प्रभेदों की (विधि निषेध के पक्षों की) पूर्णरीत्या आलोचना करके निन्दित भाषा को तो छोड़ देता है और प्रथम हानि लाभ का पूर्ण विचार करके पश्चात् दुष्टता रहित हित, मित, सत्य, भाषा बोलता है, वह सत्पुरुषों में अनिर्वचनीय प्रशंसा प्राप्त करता है।

टीका—इस काव्य में वाक्य शुद्धि का फल वर्णन किया गया है। यथा-जो व्यक्ति वचन-शुद्धि की पूर्ण आलोचना करके सभी दुष्ट भाषाओं को छोड देता है और स्वर तथा परिमाण से परिमित देशकाल के अनुकूल सर्वथा शुद्ध भाषा को आगे पीछे (आदि अन्त) के पूरे पूरे सोच विचार के साथ बोलता है, वह मुनि साधुजनों में, श्रेष्ठ पुरुषों में पूर्ण प्रशंसा प्राप्त करता है। क्योंकि, यह बात भले प्रकार शिष्ट जन मान्य है कि, जिस की भाषा मधुर, संस्कृत और परिमाण पूर्वक होने से परिमित तथा सब प्रकार के दोषों से रहित होती है, वह जहाँ कहीं जायगा वहीं प्रशंसा प्राप्त करेगा। पाठक इस प्रशंसा के फल को अल्प न समझें। यह फल सर्व श्रेष्ठ फल है। समस्त संसार इस फल की प्राप्ति के लिये बेचैन हो रहा है, पर यह किन्हीं विरले साधु पुरुषों को ही मिलता है। संसार मानी श्रेष्ठ पुरुष भला जिस व्यक्ति की प्रशंसा करें, क्या यह उस व्यक्ति की कम सौभाग्य की बात है? श्रेष्ठ पुरुषों में प्रशंसा पाया हुआ मनुष्य ही आगे चलकर त्रिलोक-पूज्य होता है। सूत्र के प्रारम्भ मे प्रथम जो पद दिया है, वह 'सद्वाक्य शुद्धि' 'स्ववाक्य

शुद्धि' 'सुवाक्य शुद्धि'. 'स वाक्य शुद्धि' अर्थात् सद्वाक्य की शुद्धि को, अपने वाक्य की शुद्धि को, श्रेष्ठ वाक्य की शुद्धि को, और वह साधु, वाक्य शुद्धि को विचार कर– इस प्रकार कई रूपों में देखने में आता है। पर यह सभी पद वस्तुतः ठीक हैं; क्योंकि, इन सब पदों का अर्थ युक्ति-संगत एवं प्रकरण संगत है।

उत्थानिका:—अब फिर इसी विषय को दूसरे शब्दों में कथन किया जाता है:—

भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणिआ,
तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमिअं ॥५६॥

भाषायाः दोषांश्च गुणांश्च ज्ञात्वा,
तस्याश्च दुष्टायाः परिवर्जकः सदा।
षट्सुसंयतः श्रामण्ये सदा यतः,
वदेत् बुद्धो हितमानुलोमिकम् ॥५६॥

पदार्थान्वयः—छसु-षट्काय के विषय में संजए-यत्न करने वाला तथा सामणिए-श्रामण्य भाव में सया-सदा जए-यत्न शील रहने वाला बुद्धे-ज्ञानी साधु, भासाइ-भाषा के दोसे-दोषों को अ-तथा गुणेअ-गुणों को जाणिया-जान कर अ-तत्पश्चात् तीसे-उस दुट्ठे-दुष्ट भाषा को सया-सदैव काल परिवज्जए-छोड़ दे और हिअमाणुलोमिअं-हितकारी तथा सभी प्राणियों के अनुकूल भाषा को वइज्ज-बोले।

मूलार्थ—सदैव काल षट्कायिक जीवों की रक्षा करने वाला, तथा स्वीकृत संयम में पुरुषार्थ रत रहने वाला सम्यग्ज्ञान धारी मुनि; पूर्व कथित भाषा के गुण और दोषों को भली भाँति जान कर स्व पर वंचक दुष्ट भाषा को तो छोड़ दे और काम पड़ने पर केवल स्व-पर हितकारी एवं सुमधुर भाषा को ही बोले।

टीका—इस काव्य में भी पूर्वोक्त विषय का ही दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—जो साधु छः काय के जीवों की सदैव काल यत्ना करने वाला है तथा श्रामण्य भाव मे (चारित्र मे) पुरुषार्थ करने वाला है, उस तत्वज्ञ मुनि को योग्य है कि, वह भाषा के दोष और गुणों को ठीक प्रकार से जान कर दुष्ट-भाषा को, (दोष युक्त भाषा को) तो सदैव काल के लिये वर्जदे और सब जीवों के हित करने वाली तथा मधुर होने से सबको रुचने वाली शुद्ध भाषा का ही उच्चारण करे, जिस से अपनी और पर की विराधना न हो एवं आत्मरक्षा और संयमरक्षा भली प्रकार की जा सके। भाषा के गुण दोषों के सम्बन्ध मे एक बात और भी है। वह यह कि, आचारांग कथित एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन एवं लिङ्गादि व्याकरण सम्बन्धी गुणदोषों का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि व्याकरण शुद्ध भाषा ही प्रशंसनीय होती है। यहाँ सूत्रकार ने मुनि के लिये तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। वे तीन विशेषण, संक्षिप्त रूप से मनन करने योग्य शब्दों मे ये हैं—सकल जीव संरक्षक, विमल चारित्र-रत, और सकल-तत्वातत्व-मर्मज्ञ। इन तीन विशेषणों से सूत्रकार का यह भाव है कि, जो मुनि इन तीनों विशेषणों से विशेषित होते हैं, वे ही पूर्ण रूप से अनवद्य-भाषा के भाषी हो सकते हैं। भाषा-शुद्धि के लिये अन्तर्हृदय की स्वच्छता अतीव आवश्यक है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, भाषा-शुद्धि का फल बतलाते हुए इस अध्ययन को समाप्त करते हैं:—

परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए,
चउक्कसायावगए अणिस्सिए।
स निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं,
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥५७॥

त्ति बेमि।

इअ सुवक्कसुद्धी णाम सत्तमं अज्झयणं समत्तं।

परीक्ष्यभाषी सुसमाहितेन्द्रियः,
अपगतचतुःकषायः अनिश्रितः।
स निर्धूय धूतमलं पुराकृतं,
आराधयेत् लोकमिमं तथा परम् ॥५७॥
इति ब्रवीमि।

इति सद्वाक्यशुद्धि नाम सप्तममध्ययनम्।

पदार्थान्वयः—परिक्खभासी—परीक्षापूर्वक वचन बोलने वाला तथा सुसमाहिइंदिए—समस्त इन्द्रियों को वश मे रखने वाला, इसी प्रकार चउक्कसायावगए—चारों कषायों को वश में रखने वाला अणिस्सिए—प्रतिबन्ध रहित स—वह साधु पुरेकडं—पूर्वकृत धुन्नमलं—पाप मल को निद्धुणे—धूनकर (नष्ट कर) इणं—इस लोगं—लोक की तहा—तथा परं—परलोक की आराहए—आराधना करता है।

मूलार्थ—जो सदा परीक्षापूर्वक भाषण करने वाला है; जो समस्त इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला है, जो चार कषायों का पूर्ण निरोध करने वाला है, वही प्रतिबंधता रहित स्वतंत्र साधु; पूर्वजन्मोपार्जित कर्ममल को दूर कर लोक और परलोक दोनों की सम्यक् प्रकार से आराधना करता है।

टीका—इस काव्य में इस सद्वाक्य शुद्धि नामक सप्तम अध्ययन का उपसंहार किया है। यथा—जो साधु भाषा के गुणों की तथैव दोषों की परीक्षा करके वचन बोलने वाला है तथा जिसने पाँचों इन्द्रियों को भली प्रकार वश किया है, इतना ही नहीं, किन्तु जिसने क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष का भी निरोध कर लिया है वह इसी कारण से अनिश्रित है अर्थात् द्रव्य और भाव से सभी प्रकार की लौकिक प्रतिबन्धकताओं से रहित है। ऐसा वह सर्व श्रेष्ठ साधु, पूर्वकृत पापरूप मल को आत्म प्रदेशों से पृथक् कर इस लोक की और परलोक की समाराधना कर लेता है। अर्थात् वाक्-संयम द्वारा वह इस लोक में तो यश (कीर्ति) प्राप्त करता है और परलोक में निर्वाण पद प्राप्त करता है। सूत्रकार

के कथन का हृदयंगम करने योग्य तात्पर्य यह है कि, साधु को बोलते समय वचनशुद्धि अवश्यमेव करनी चाहिये। क्योंकि, वचन शुद्धि ही साधु को अपने ध्येय तक पहुँचाने में पूर्ण सहायक है। इससे दोनों लोकों मे अनुपम सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है।

"इस भाँति श्री सुधर्मा स्वामी जी महाराज, जंबू स्वामी जी से कहते हैं कि, हे वत्स ! जिस प्रकार मैंने श्री भगवान् महावीर जी से इस 'सुवाक्य शुद्धि' नामक सप्तम अध्ययन का अर्थ सुना है, उसी प्रकार मैंने तेरे को कहा है; अपनी बुद्धि से मैंने इस में कुछ भी नहीं जोड़ा है।"

सप्तमाध्ययन समाप्त।

अह आयार-प्पणिहि णाम अट्ठमज्झयणं

अथ 'आचार प्रणिधि' नामकमष्टमाध्ययनम्

उत्थानिका—सातवें अध्ययन में जो वचन-शुद्धि विषयक वर्णन किया गया है। यह वचन-शुद्धि उसी की हो सकती है, जो अपने आचार में स्थित होता है। इस लिये साधु को अचार पालन के लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। आठवें अध्ययन के साथ सातवें अध्ययन का यही सम्बन्ध है। क्योंकि सूत्रकार ने आठवें अध्ययन में आचार विषयक वर्णन किया है, जिस का आदिम प्रतिज्ञा सूत्र यह है:—

आयारप्पणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

आचार प्रणिधिं लब्ध्वा, यथा कर्तव्यं भिक्षुणा।
तद् भवद्भ्य उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मम ॥१॥

पदार्थान्वयः—**आयारप्पणिहिं**—आचार रूप उत्कृष्ट निधि को **लद्धुं**—पाकर **भिक्खुणा**—साधु को **जहा**—जिस प्रकार **कायव्व**—अपना क्रिया काण्ड करना चाहिये **तं**—वह प्रकार **भे**—तुम्हारे प्रति **उदाहरिस्सामि**—मैं कहूँगा अतः तुम **आणुपुव्विं**—अनुक्रम से **मे**—मुझ से **सुणेह**—श्रवण करो।

सूलार्थ—आचार रूप अनुपम निधि प्राप्त कर, साधु को किस प्रकार अपना क्रिया कलाप करना चाहिये यह मैं तुम्हारे से कहता हूँ। उसे तुम सावधान होकर यथा क्रम मेरे से सुनो।

टीका—निधि, कोष या खजाना एक ऐसी चीज़ है जिस के विना मनुष्य का काम नहीं चल सकता। किसी न किसी रूप मे मनुष्य निधि रखता ही है और निधिपति वनने का प्रयत्न करता है। निधि के दो भेद हैं द्रव्य-निधि और भाव-निधि। द्रव्य-निधि वह है जो पौद्गलिक (सामूहिक) धर्म रूप होता है जो राजा महाराजा सेठ साहुकारों के यहाॅ पाया जाता है। यह निधि, निधि तो अवश्य है, परन्तु प्रधान नहीं अपितु निकृष्ट है। यह केवल भोग विलासी संकुचित विचार वाले संसारी मनुष्यों के ही काम की चीज है। अविशिष्ट दूसरा भाव-निधि अतीव उत्कृष्ट है। इसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। यह निधि आचार रूप में निर्ग्रन्थ साधुओं के पास ही मिल सकती है। जिस प्रकार संसारी जीव अपने द्रव्य-कोष की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार उस से भी बढ़ कर साधु को भी अपने अद्वितीय भाव-कोष की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि, जिस प्रकार द्रव्य-कोष के विना राजा वा गृहस्थ तथा शब्द-कोष के विना विद्वान् शोभा नहीं पाता ठीक उसी प्रकार ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप भाव-कोष के विना साधु भी शोभा नहीं पा सकता। अतएव सूत्रकार, साधु-क्रिया-काण्ड-प्ररूपक दशवैकालिक सूत्र के इस अष्टम अध्ययन में भाव-निधि का वर्णन करते हैं। इसी लिये इस अध्ययन का नाम 'आचार प्रणिधि' रक्खा गया है। प्रारम्भ मे सावधान करने के लिये श्री भगवान् तथा गणधर देवादि कहते हैं कि, हे शिष्यो! जिस भिक्षु ने आचार रूप निधि को प्राप्त कर लिया है, उसे अपने क्रिया काण्ड मे किस प्रकार वर्तना चाहिये; उस प्रकरण को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ। अतः तुम मुझ से इसको क्रमानुसार श्रवण करो। कारण यह है कि, मति अवधि (से लेकर) मन पर्यन्त साधारण ज्ञान भी स्थापन करने योग्य है, किन्तु स्व और पर का उपकार करने वाला केवल श्रुत ज्ञान ही है। इसी लिये श्रुत ज्ञान की प्रधानता है, अतः यहाँ पर श्रुत ज्ञान का ही अधिकार है।

उत्थानिका— अव सूत्रकार, 'आचार रूप प्रणिधि' जीवों की रक्षा से होती है और जीव कितने प्रकार के हैं? प्रथम यह कहते हैं :—

पुढविदगअगणिमारुअ , तणरुक्खस्स बीयगा ।
तस्सा अ पाणा जीवत्ति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२॥

पृथिव्युदकाग्निमारुताः , तृणवृक्षसबीजकाः ।
त्रसाश्च प्राणिनो जीवा इति, इत्युक्तं महर्षिणा ॥२॥

पदार्थान्वयः—**पुढवि**–पृथ्वीकाय **दग**–अप्काय **अगणि**–अग्निकाय **मारुअ**–वायुकाय तथा **तणरुक्खस्स बीयगा**–तृण, वृक्ष और बीज रूप वनस्पतिकाय **अ**–तथा **तस्सा पाणा**–त्रस प्राणी ये सब **जीवत्ति**–जीव हैं, **इइ**–इस प्रकार **महेसिणा**–महर्षि ने **वुत्तं**–कथन किया है ।

मूलार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और तृण वृक्ष बीज आदि रूप वनस्पति तथा नाना प्रकार के द्वीन्द्रियादि त्रस प्राणी, ये सभी चेतना धर्म वाले जीव हैं, ऐसा पूर्व महर्षि गौतम या महावीर ने प्रतिपादन किया है ।

टीका—इस गाथा में सब से प्रथम षट्काय के जीवों का अस्तित्व सिद्ध किया है । यथा—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजः काय, वायुकाय, तथा वनस्पतिकाय ये पाँच स्थावरकाय हैं और द्वीन्द्रिय आदि सब जीव त्रसकाय हैं । अतः ये त्रस और स्थावर सभी जीव हैं, ऐसा महर्षि ने कथन किया है । अर्थात् महर्षि ने यह प्रतिपादन किया है कि, समस्त संसारी जीव षट्काय मे ही निवास करते हैं । इन छः काय के जीवों का प्रथम अस्तित्व सिद्ध करने का और नामोल्लेख करने का प्रयोजन यह है कि, निर्ग्रन्थ साधुओं का साधुत्व (सदाचार) निष्कलङ्क दया पर ही अवलम्बित है । और दया का सम्बन्ध जीवों से है, विना जीवों के जीव दया कैसी, विना जड़ के वृक्ष कैसा, या विना नींव के मकान कैसा ? षट् कायिक जीवों की अनुमान आदि से अस्तित्व सिद्धि चतुर्थ अध्ययन मे कर आये हैं, अतः वहाँ का स्थल जिज्ञासुओं को अवश्य द्रष्टव्य है । यहाँ यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि, सूत्रोक्त 'महर्षि' शब्द से श्री भगवान् महावीर स्वामी या गौतम स्वामी की ओर ही सूत्रकार का संकेत प्रतीत होता है । तथा च टीका 'महर्षिणा-वर्द्धमानेन गौतमेन वा इति ।'

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'षट्काय-जीवों के विषय में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये' यह कहते हैं:—

तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिआ।
मणसा कायवक्केण, एवं हवइ संजए ॥३॥

तेषामक्षणयोगेन , नित्यं भवितव्यं स्यात्।
मनसा कायेन वाक्येन, एवं भवति संयतः ॥३॥

पदार्थान्वयः—महाव्रत धारी मुनि को मणसा-मन से वक्केण-वचन से काय-काय से तेसिं-पूर्वोक्त छः काय के जीवों के साथ निच्चं-नित्य अच्छण-जोएण-अहिंसक व्यापार से ही होयव्वयं-वर्तना उचित है। कारण कि एवं-इस प्रकार वर्तने से ही संजए-संयत यत्नावान् साधु हवइ-हो सकता है।

मूलार्थ—साधु को मन, वचन और शरीर के योग से पूर्वोक्त जीवों के साथ सर्वदा अहिंसा मय प्रवृत्ति से ही वर्तना चाहिये; क्योंकि, ऐसा करने से ही साधु, सच्चा संयत अर्थात् यत्नावान् हो सकता है।

टीका—दया पालक साधुओं को, जो पूर्वोक्त षट्काय के जीव प्रतिपादन किये हैं, उनके साथ सदैव अहिंसक वर्ताव (व्यवहार) रखना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार पीड़ा न पहुँचे, उसी प्रकार उनके साथ व्यवहार रखना चाहिये। क्योंकि, सब जीवों के साथ अहिंसामय व्यवहार रखने से ही साधु को संयत कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि, साधु का नाम जो संयत है, वह षट्काय के जीवों की यत्ना करने से ही है अन्य कारण से नहीं। इसलिए अपने 'संयत' नाम की मर्यादा की रक्षा के लिये साधु, जीवन पर्यंत केवल अहिंसामय प्रवृत्ति ही रक्खे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सामान्य प्रकार से जीव रक्षा का उपदेश देकर विशेष प्रकार से जीव रक्षा का वर्णन करते हुए, प्रथम पृथ्वीकाय की रक्षा के विषय में कहते हैं:—

पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे।
तिविहेण करणजोएण, संजए सुसमाहिए ॥४॥

पृथिवीं भित्तिं शिलां लेष्टुं, नैव भिन्द्यात् न संलिखेत् ।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयतः सुसमाहितः ॥४॥

पदार्थान्वयः—सुसमाहिए–शुद्ध भाव वाला संजए–साधु तिविहेण करणजोएण–तीन करण और तीन योग से पुढविं–शुद्ध पृथ्वी को भित्तिं–भित्ति को सिलं–शिला को लेलुं पत्थर आदि के टुकड़े को नेव भिंदे–न स्वयं भेदन करे और नसंलिहे–नाँहीं संलेखन करे ।

मूलार्थ—शुद्ध समाधि वाला साधु, तीन करण और तीन योग से शुद्ध पृथ्वी का, भीत का, शिला का तथा पत्थर आदि के खण्ड आदि का भेदन (फोड़ना) और संघर्षण (घिसना) आदि न करे ।

टीका—पूर्व गाथा में सामान्य प्रकार से अहिंसक भाव दिखलाया गया था, किन्तु अब इस गाथा मे विस्तार पूर्वक अहिंसक भाव दिखलाया जाता है । जैसे कि, जो साधु, शुद्ध भावों से युक्त है और सदैव काल समाधि मार्ग में उद्यत रहता है, उसको योग्य है कि वह खान आदि की शुद्ध मिट्टी, नदी के तट की मिट्टी पत्थर की शिला तथा सचित पत्थर आदि का खंड इत्यादि सभी प्रकार की सचित्त पृथिवी का भेदन न करे और नाँही उन पर रेखा आदि निकाले तथा उनका परस्पर संघर्षण भी न करे । यह उपर्युक्त नियम केवल स्वयं नहीं करने तक ही सीमित नहीं है, किन्तु इसकी सीमा तीन करण और तीन योग तक है । अर्थात् स्पष्ट भाव यह है कि यह भेदन और संघर्षण आदि कार्य करना कराना और अनुमोदना तथा मन वचन और काय द्वारा कदापि न करे ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, साधु को पृथ्वी पर किस प्रकार बैठना चाहिये यह कहते हैं :—

सुद्धपुढवीं न निसीए, ससरक्खंमि अ आसणे ।
पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥५॥

शुद्धपृथिव्यां न निषीदेत्, सरजस्के वा आसने ।
प्रमृज्य तु निषीदेत्, याचित्वा यस्यावग्रहम् ॥५॥

पदार्थान्वयः—सुद्धपुढवीं-शुद्ध पृथ्वी पर ससरक्खंमि-सचित्त रजसे भरे हुए आसणे-आसन पर न निसीए-न बैठे, यदि अचित्त भूमि होवे तो जस्स-जिस की भूमि हो उस से उग्गहं-अवग्रह आज्ञा जाइत्ता-माँग कर अ-तथा पमज्जित्तु-प्रमार्जन कर निसीइज्जा-बैठ जावे ।

मूलार्थ—साधु को सचित्त पृथिवी पर तथा सचित्त रज से भरे हुए आसन पर, उठना-बैठना नहीं चाहिये । यदि भूमि अचित्त हो तो जिस की भूमि हो उससे आज्ञा लेकर और भूमि को सावधानी से साफ़ कर बैठना चाहिये ।

टीका—जो पृथिवी केवल शुद्ध है, जिस को किसी प्रकार के भी शस्त्र का स्पर्श नहीं हुआ है, तथा जो आसन सचित्त रज से भरा हुआ है, इसी प्रकार अन्य स्थान भी जहाँ पर सचित्त पृथिवी की आशङ्का हो उन स्थानों पर साधु न बैठे । यदि भूमि अचित्त प्रतीत हो, तो वह भूमि जिसकी हो पहले उसकी आज्ञा ले, जब आज्ञा मिल जावे, तब उस स्थान को रजोहरण द्वारा भले प्रकार प्रमार्जन करे और फिर यत्ना पूर्वक वहाँ बैठे । सूत्र मे जो 'निषीदन' शब्द आया उस से सोना, भोजन करना, परिष्ठापन करना आदि सभी क्रियाओं का ग्रहण किया जाता है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सचित्त जल की यत्ना के विषय में कहते हैं :-

सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्टं हिमाणि अ ।
उसिणोदगं तत्तफासुअं, पड़िगाहिज्ज संजए ॥६॥

शीतोदकं न सेवेत, शिलावृष्टं हिमानि च ।
उष्णोदकं तप्तप्रासुकं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥६॥

पदार्थान्वयः—संजए-साधु सीओदगं-शीतोदक न सेविज्जा-सेवन न करे तथैव सिलावुट्टं-कर (ओले) अ-और हिमाणि-हिम (बर्फ) भी सेवन न करे । किन्तु तत्तफासुअं-तप्त प्रासुक उसिणोदगं-उष्ण जल ही आवश्यकता पड़ने पर पड़िगाहिज्ज-ग्रहण करे ।

मूलार्थ—संयतात्मा साधु, शीतोदक (कच्चा जल) शिलावृष्ट (ओले) तथा हिम (बर्फ) आदि सचित्त जल का कदापि सेवन न करे। आवश्यकता होने पर तप्त प्रासुक उष्ण जल आदि अचित्त जल ही ग्रहण करे।

टीका—पृथिवी काय के पश्चात् अब सूत्रकार अप्काय की यत्ना के विषय में वर्णन करते हुए कहते हैं कि, निरन्तर यत्न शील भिक्षु पृथिवी से उत्पन्न हुआ सचित्त जल तथा शिला वृष्ट (ओले) तथा हिम (बर्फ) आदि यावन-मात्र सचित्त जल कदापि ग्रहण न करे। अब प्रश्न यह होता है कि, यदि सचित्त जल नहीं लेना तो फिर कैसा जल लेना चाहिये ? क्योंकि, बिना जल के निर्वाह कैसे हो सकता है। उत्तर में सूत्रकार का कहना है कि आवश्यकता पड़ने पर उष्णोदक ग्रहण करे। केवल उष्ण मात्र ही नहीं, अपितु तप्त प्रासुक जो ठीक रूप से तप्त होकर प्रासुक हो गया हो, वही ग्रहण करे। यहाँ उष्ण जल उपलक्षण है। अतः इससे नाना प्रकार के धोवन जल जो पूर्ण प्रासुक हो गये हों उन सभी का ग्रहण है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सचित्त जल का परिमार्जन आदि करने का निषेध करते हैं :—

उदउल्लं अप्पणोकायं, नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूअं, नो णं संघट्टए मुणी ॥७॥

उदकार्द्रमात्मनः कायं, नैव पुञ्छयेत् न संलिखेत्।
समुत्प्रेक्ष्य तथाभूतं, नैनं संघट्टयेत् मुनिः ॥७॥

पदार्थान्वयः—**मुणी**–साधु **उदउल्लं**–सचित्त जल से भीगे हुए गीले **अप्पणो**–अपने **कायं**–शरीर को **नेव**–नहीं **पुंछे**–पूँछे (मार्जन करे) और **न संलिहे**–न मले, तथा **तहाभूअं**–तथा भूत जलार्द्र **णं**–शरीर को **समुप्पेह**–देखकर, और तो क्या **न संघट्टए**–स्तोक मात्र संघट्टना (घर्षण) भी न करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु को योग्य है कि, वह सचित्त जल से भीगे हुए शरीर को वस्त्र आदि से मार्जन न करे और न हाथ से मले। तथैव तथा-भूत शीतोदक से आर्द्र शरीर को सम्यक्तया देख कर और क्रिया तो क्या स्तोकमात्र स्पर्श भी न करे।

टीका—इस गाथा मे भी जल-काय विषयक वर्णन किया गया है। यथा किसी समय विहारादि करते हुए मार्ग मे नदी के उतरने से अथवा वर्षा आदि के हो जाने से शरीर भीग जाय, तो साधु उस गीले शरीर को वस्त्र वा तृणादि से न पूँछे और न हाथ आदि से मर्दन करे। इतना ही नहीं, किन्तु तथा भूत (उस तरह) कच्चे जल से तर हुए शरीर को देखकर अणुमात्र भी स्पर्श न करे। कारण कि, स्पर्शादि के द्वारा अप्काय की विराधना होती है। अतएव जब तक वह स्वयमेव शुष्क न हो जाय (सूख न जाय) तब तक अन्य क्रियाएँ कदापि न करे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अग्निकाय की यत्ना के विषय में उपदेश देते हैं:-

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा स जोइअं।
न उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥८॥
अङ्गारमग्निमर्चिः , अलातं वा सज्योतिः।
नोत्सिञ्चेत् न घटयेत्, नैनं निर्वापयेत् मुनिः ॥८॥

पदार्थान्वयः—**मुणी**—मुनि **इंगालं**—अंगारों की अग्नि को **अगणिं**—लोह-पिण्डगत अग्नि को **अच्चिं**—त्रुटित ज्वाला की अग्नि को **वा**—अथवा **सजोइअं**—अग्नि सहित **अलायं**—काष्ठ आदि को **न उंजिज्जा**—उत्सेचन न करे **न घट्टिज्जा**—परस्पर संघर्षण न करे तथैव **णं**—इस अग्नि को **नो निव्वावए**—बुझावे भी नहीं।

मूलार्थ—मनन शील मुनि अंगारे की, लोह पिण्ड की, टूटी-हुई ज्वाला की, सिलगाते हुए काष्ठ आदि की अग्नि को न तिनके आदि डालकर धौंके, न परस्पर संघट्टन करे और न जल आदि डालकर ही बुझावे।

टीका—बुद्धिमान् साधु को योग्य है कि, वह अग्निकाय के जीवों की रक्षा करता हुआ निम्न प्रकार की चेष्टाएँ (क्रियाएँ) कदापि न करे। यथा—अङ्गार-ज्वाला रहित अग्नि, लोह पिण्ड के भीतर व्याप्त हुई 'जिसकी ज्वाला टूटी हुई हो' वह अग्नि, अलात 'काष्ठ के अग्रभाग पर लगी हुई' अग्नि, इत्यादि नानाविध रूप वाली अग्नि को किसी प्रकार के इन्धन आदि से न धौंके,

परस्पर संघर्षण न करे तथा जल आदि से भी नहीं बुझावे। क्योंकि ये अग्नि सम्बन्धी सभी क्रियाएँ सारम्भक होने से मुनि के लिये सर्वथा त्याज्य हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वायुकाय की यत्ना का उपदेश करते हैं:—

तालिअंटेण पत्तेण, साहाए विहुणेण वा।
न वीइज्ज अप्पणो कायं, बाहिरं वावि पुग्गलं ॥९॥

तालवृन्तेन पत्रेण, शाखया विधूननेन वा।
न वीजयेत् आत्मनः कायं, बाह्यं वाऽपि पुद्गलम् ॥९॥

पदार्थान्वयः—अप्पणो-अपने कायं-शरीर को वा-अथवा बाहिरं-शरीर बाह्य पुग्गलंवि-उष्ण दुग्ध आदि पदार्थों को तालिअंटेण-ताल वृक्ष के पंखे से पत्तेण-पत्ते से साहाए-वृक्ष की शाखा से वा-अथवा विहुणेण-सामान्य पंखे से न वीइज्ज-हवा न करे।

मूलार्थ—मोक्ष मार्ग साधक साधु, अपने शरीर को तथा शरीर से अतिरिक्त पुद्गलों को ताल वृक्ष के पंखे से, कमल आदि के पत्तों से, वृक्ष की शाखा से तथा अन्य किसी सामान्य पंखे से हवा न करे।

टीका—तेजः काय की विधि के कथन के पश्चात् अब सूत्रकार, वायुकाय की रक्षा के विषय में कहते हैं। बुद्धिमान् साधु गर्मी के कारण अपने शरीर के लिये तथा उष्ण आदि पदार्थों को ठण्डा करने के लिये ताल वृक्ष के पंखों से, कमल के पत्तों से, वृक्ष की शाखाओं से तथा मोर पंखों आदि के सामान्य पंखों से हवा न करे। कारण यह है कि, पंखा की वायु अचित्त होने पर भी अन्य वायु की विराधना का कारण बन जाती है। अतः साधु को पंखे से कभी हवा नहीं करनी चाहिए। वायुकाय की यत्ना कुछ हवा नहीं करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि साधु को अपने प्रत्येक काम मे वायुकाय की यत्ना करनी चाहिये। उठना, बैठना, वस्त्र झाड़ना इत्यादि सब कुछ यत्ना पूर्वक ही होना चाहिये। अयत्ना द्वारा प्रस्फोट आदि से वायु जीव-विघातक क्रियाएँ नहीं करनी चाहियें।

उत्थानिका—अब, वनस्पतिकाय की यत्ना के विषय में कहा जाता है:—

त्रस पाणे–प्राणियों की न हिंसिज्जा–हिंसा न करे, किन्तु विविहं–नाना प्रकार के चित्र विचित्र स्वरूप वाले जगं–जगत् को पासेज्ज–देखे।

मूलार्थ—सभी जीवों पर से हिंसा दण्ड को दूर कर दिया है जिसने ऐसा, समस्त स्थावर, जंगम प्राणियों पर उत्कृष्ट दया भाव रखने वाला मुनिः मन, वचन और काय के योग से त्रस जीवों की कदापि हिंसा न करे। किन्तु स्वीकृत अहिंसा भावों को प्रतिदिन सुदृढ़ बनाने के वास्ते नानाप्रकार के सुखी एवं दुःखी जीवों से व्याप्त इस जगत् के स्वरूप को सम्यक्तया निरीक्षण करता रहे।

टीका—इस गाथा में त्रसकाय के जीवों की रक्षा का उपदेश दिया गया है और कहा गया है कि, जो साधु, सब जीवों पर समान भाव रखने वाला है और इसी कारण से जिसने सब प्राणियों मे दण्ड का परित्याग कर दिया है; उस को योग्य है कि वह त्रस प्राणियों की मन, वचन और काय से कदापि हिंसा न करे। किन्तु इस जगत् 'जो जीवों से भरा हुआ है' के यथावत् स्वरूप को देखता रहे। तात्पर्य यह है कि, साधु प्रत्येक जीव के स्वरूप को देखे कि वह अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव योनियों में किस किस प्रकार के सुख दुःखों का अनुभव कर रहा है। इस प्रकार के भावों से निर्वेद भाव सदैव बना रहता है, और किसी को पीड़ा पहुँचाने का हृदय में विचार तक नहीं होता।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्थूल विधि के कथन के बाद सूक्ष्म विधि के विषय में कहते हैं:—

अट्ठसुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा॥१३॥

अष्टौ सूक्ष्माणि प्रेक्ष्य, यानि ज्ञात्वा संयतः।
दयाधिकारी भूतेषु, आसीत तिष्ठेत् शयीत वा॥१३॥

पदार्थान्वयः—संजए–यत्नावान् साधु जाइं–जिनको जाणित्तु–जानकर भूएसु–भूत जीवों पर दयाहिगारी–दया का अधिकारी होता है उन अट्ठ–आठ

सुहुमाइं–सूक्ष्मों को पेहाए–भली भांति देख कर ही आस–बैठे चिट्ठे–खड़ा होवे वा–अथवा सएहि–शयन करे।

मूलार्थ—जिन्हें जान कर ही वस्तुतः दया का अधिकारी बना जाता है, साधु उन आठ सूक्ष्मों को प्रथम अच्छी तरह देख कर ही शुद्ध निर्जीव स्थान पर उठने, बैठने, सोने आदि की यथोचित क्रियाएँ करे।

टीका—स्थूल विधि तो कथन की गई, अब सूक्ष्म जीवों की रक्षा के वास्ते सूक्ष्म विधि का वर्णन किया जाता है। जैसे कि, यत्न शील साधु को योग्य है वह प्रथम आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को भली प्रकार देखे और फिर उठने, बैठने, वा सोने आदि की क्रियाएँ करे। अर्थात् जितनी क्रियाएँ करनी हों, वे सब आठ सूक्ष्मों को देख कर ही करनी चाहिये। क्योंकि, उनके ठीक जान लेने पर फिर वह दया का अधिकारी बन जाता है। और जब जीवों को भली प्रकार जानता ही नहीं, तो फिर उनकी दया का अधिकारी कैसे बन सकता है। "पढमं नाणं तओ दया।" अतः सिद्ध हुआ कि, साधुओं को आठ प्रकार के जो सूक्ष्म जीव हैं, उनका अच्छी तरह ज्ञान करना चाहिये। बिना इनके जाने संयम शुद्ध नहीं पालन हो सकता। जो साधु ज्ञपरिज्ञा से अथवा प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनके स्वरूप को जानते हैं, वे दया के पूर्ण अधिकारी हो जाते हैं।

उत्थानिका—वे आठ सूक्ष्म कौन हैं? अब इसका उत्तर दिया जाता है :-

कयराइं अट्ठ सुहुमाइं, जाइं पुच्छिज्ज संजए।
इमाइं ताइं मेहावी, आइक्खिज्ज विअक्खणो ॥१४॥

कतराणि अष्टौ सूक्ष्माणि, यानि पृच्छेत् संयतः।
इमानि तानि मेधावी, आचक्षीत विचक्षणः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—संभव है, मैं दया का अधिकारी न हो सकूं? इस भय से जाइं–जिन सूक्ष्मों को संजए–साधु पुच्छिज्ज–पूछे, वे अट्ठसुहुमाइं–आठ सूक्ष्म कयराइं–कौन से हैं? शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में मेहावी–बुद्धिशाली विअक्खणो–विचक्षण गुरु आइक्खिज्ज–कहे कि ताइं–वे आठ सूक्ष्म इमाइं–ये हैं।

मूलार्थ—शिष्य प्रश्न करता है कि, हे भगवन् ! साधु को जिनका जानना अत्यावश्यक है, वे आठ सूक्ष्म कौन कौन से हैं ? मर्यादावर्ती शास्त्र विचक्षण गुरु उत्तर देते हैं कि, हे शिष्य ! वे आठ सूक्ष्म इस प्रकार हैं।

टीका—शिष्य ने प्रश्न किया हे भगवन् ! वे आठ सूक्ष्म पदार्थ कौन कौन से हैं ? तब गुरु ने, 'जो मेधावी विचक्षण हैं' उत्तर में कहा हे शिष्य ! वे पदार्थ निम्न कथनानुसार हैं। शिष्य ने प्रश्न इस लिए किया है कि, उनके जाने विना जब दया का अधिकारी ही नहीं बन सकता, तो उनका जानना बहुत आवश्यक है। क्योंकि उनके ठीक जान लेने से जीवों का उपकार होता है और विना जाने अपकार होने की संभावना है। सूत्र में उत्तर दाता गुरु के प्रति जो 'मेधावी' और 'विचक्षण' विशेषण लगाये हैं, उनका भाव यह है कि, उक्त गुण सयुक्त गुरु के वाक्य ही श्रोताओं को विशुद्धतया उपादेय हो सकते हैं। अन्यथा विपर्यय होने की संभावना रहती है। 'विद्याहीनं गुरुं त्यजेत्'।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आठ सूक्ष्मों के नाम बतलाते हैं :—

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिंगं तहेव य ।
पणगं बीअहरिअं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥१५॥

स्नेहं पुष्पसूक्ष्मं च, प्राणोत्तिंगं तथैव च ।
पनकं बीजहरितं च, अण्डसूक्ष्मं च अष्टमम् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—सिणेहं-स्नेह सूक्ष्म पुप्फसुहुमं-पुष्प सूक्ष्म च-और पाण-प्राणी सूक्ष्म उत्तिंग-कीटि का नगर सूक्ष्म य-और तहेव-इसी प्रकार पणगं-पनक सूक्ष्म बीअ-बीज सूक्ष्म हरिअं-हरित सूक्ष्म च-तथा अट्ठमं-आठवाँ अंडसुहुमं-अण्ड सूक्ष्म ये आठ सूक्ष्म हैं।

मूलार्थ—स्नेह सूक्ष्म, पुष्प सूक्ष्म, प्राणी सूक्ष्म, उत्तिंग सूक्ष्म, पनक सूक्ष्म, बीज सूक्ष्म, हरित सूक्ष्म और अण्ड सूक्ष्म ये आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव हैं।

टीका—इस गाथा में त्रस और स्थावर दोनों राशियों में से जो सूक्ष्म शरीर वाले जीव हैं, उनका वर्णन किया गया है, जिससे दया के अधिकारी को

उनकी रक्षा करने का सरल मार्ग मालूम हो जावे । यथा—प्रथम स्नेह सूक्ष्म–अवश्याय–ओस, हिम–वर्फ, महिका–धुंध, करक–ओले इत्यादि सूक्ष्म जल को स्नेह सूक्ष्म कहते हैं । द्वितीय पुष्प सूक्ष्म—वड़ और उंवर आदि के सूक्ष्म पुष्प, जो तद्वर्ण रूप होने से तथा अत्यन्त सूक्ष्म होने से सम्यक्तया सहसा दृष्टि गोचर नहीं होते । तृतीय प्राणी सूक्ष्म—कुंथुवा आदि जीव, जो चलते हुए तो देखने पर सूक्ष्म दृष्टि से देखे जा सकते हैं, किन्तु यदि वे स्थित हों तो सूक्ष्म होने से नहीं देखे जा सकते । चतुर्थ उत्तिंग सूक्ष्म—कीड़ी नगर को अर्थात् कीड़ियों के विल को उत्तिंग सूक्ष्म कहते हैं । क्योंकि, कीड़ी नगर में सूक्ष्म कीड़ियाँ अथवा अन्य वहुत से सूक्ष्म जीव होते हैं । पंचम पनक सूक्ष्म—प्रायः प्रावृटकाल (चौमासे) में भूमि और काष्ठ आदि में पाँच वर्णवाली तद् रूप लीलन फूलन हो जाया करती है । षष्ठ बीज सूक्ष्म—शाली आदि बीज का मुख मूल, जिससे अंकुर उत्पन्न होता है । तथा जिसको लोक मे तुष मुख कहते हैं । सप्तम हरित सूक्ष्म—नवीन उत्पन्न हुई हरित काय, जो पृथिवी के समान वर्ण वाली होती है उसे हरित सूक्ष्म कहते हैं । अष्टम अण्ड सूक्ष्म—मक्षिका, कीटिका (कीड़ी) गृह कोकिला (छिपकली) कृकलास (गिरगट) आदि के सूक्ष्म अंडे जो स्पष्टतः नहीं देखे जाते । ये उपर्युक्त आठ प्रकार के सूक्ष्म हैं । इनका ज्ञान होने पर ही इनके प्रत्याख्यान करने का प्रयत्न किया जाता है ।

उत्थानिका—अव आचार्य जी, इन आठ सूक्ष्मों की यत्ना करने का उपदेश देते हैं :—

एवमेआणि जाणित्ता, सव्व भावेण संजए ।
अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदिअसमाहिए ॥१६॥

एवमेतानि ज्ञात्वा, सर्वभावेन संयतः ।
अप्रमत्तो यतेत नित्यं, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—सव्विंदिअसमाहिए–समस्त इन्द्रियों के विषय मे राग द्वेष न करने वाला अप्पमत्तो–अप्रमत संजए–साधु एवं–इसी प्रकार एआणि–

पूर्वोक्त आठ प्रकार के सूक्ष्मों को जाणित्ता-जानकर सव्वभावेण-सर्व भाव से निच्च-सदैव काल इनकी जए-यत्ना करे।

सूलार्थ-सभी इन्द्रियों के अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों पर समभाव रखने वाला साधु, इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को सम्यक्तया जानकर, सदा अप्रमत्त रहता हुआ सर्व भाव से इनकी यत्ना करे।

टीका—जिस साधु ने शब्द, रूप, गंध रस और स्पर्श में मध्यस्थ भाव का अवलम्बन कर लिया है और साथ ही विषय कषाय आदि प्रमाद भी छोड़ दिया है, उस को योग्य है कि वह मन, वचन और काय से सदैवकाल पूर्वोक्त आठ प्रकार के सूक्ष्मों को भली भाँति जानकर उनकी यत्ना करे। कारण कि, यत्ना वही कर सकता है जिसने पाँचों इन्द्रियों के अर्थों मे समता भाव किया हुआ है, तथा जिसने प्रमाद छोड़ दिये हैं, और जो सर्व भाव से अर्थात् यथाशक्ति रूप से सब जीवों की रक्षा में प्रयत्न शील है, वही मुनि वास्तव में दया का अधिकारी हो सकता है। साधु, जब दया का अधिकारी हो गया तो फिर सत्य आदि का अधिकारी अपने आप हो जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, प्रतिलेखना के विषय मे उपदेश देते हैं:—

धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं।
सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवासणं ॥१७॥

ध्रुवं च प्रतिलेखयेत्, योगेन पात्रकम्बलम्।
शय्यामुच्चारभूमिं च, संस्तारमथवाऽऽसनम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—साधु धुवं-नित्य ही जोगसा-शक्ति पूर्वक पायकंबलं-पात्र और वस्त्र की तथा सिज्जं-शय्या की च-तथा उच्चारभूमिं-उच्चार भूमि की संथारं च-संस्तारक की अदुव-और आसणं-आसन की पडिलेहिज्जा-प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ—साधु को नित्य प्रति यथा काल वस्त्र, पात्र, उपाश्रय, स्थंडिल भूमि, संस्तारक और आसन आदि की शक्ति पूर्वक प्रतिलेखना करनी चाहिये।

टीका—इस गाथा में अप्रमत्त भाव का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा-जिस पदार्थ का जो प्रति लेखन काल सूत्रों में प्रतिपादन किया गया है, साधु उस

पदार्थ की उसी काल सूत्रानुसार यथाशक्ति प्रतिलेखना करे। प्रतिलेखना शब्द का अर्थ. सम्यक्तया देखना है। उपलक्षण से प्रमार्जना आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। कारण कि, जिन पदार्थों की सम्यक्तया प्रतिलेखना वा प्रमार्जना की जाती है, फिर उन में जीवोत्पत्ति बहुत स्वल्प होती है। निम्न लिखित सूत्रोक्त पदार्थ तो अवश्य ही प्रतिलेखनीय हैं। यथा काष्ठ आदि के पात्र, ऊर्ण आदि के कम्बल, वसति-उपाश्रय, स्थंडिल-उच्चार भूमि, तृण संस्तारक, तथा पीठ फलक आदि आसन। क्योंकि, इन के पुनः पुनः देखने से जीव रक्षा की उत्कटता बढ़ती है, आलस्य का परित्याग होता है और संयम की पुष्टि होती है।

उत्थानिका—अब, फिर इसी विषय को स्पष्ट किया जाता है:—

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाण जल्लिअं।
फासुअं पडिलेहित्ता, परिट्ठाविज्ज संजए ॥१८॥
उच्चारं प्रस्रवणं, श्लेष्म सिङ्घाण जल्लिकम्।
प्रासुकं प्रतिलेख्य, परिष्ठापयेत् संयतः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—संजए-साधु फासुअं-प्रथम प्रासुक स्थंडिल भूमि की पडिलेहित्ता-प्रतिलेखना करके फिर उस मे उच्चारं-पुरीष पासवणं-मूत्र खेलं-कफ सिंघाण-नाक का मल जल्लिअं-और प्रस्वेद आदि अशुचि पदार्थ परिट्ठाविज्ज-पलटे या गेरे।

मूलार्थ—साधु को मल मूत्र, कफ, नासिकामल, प्रस्वेद आदि अशुचि पदार्थ किसी प्रासुक स्थान में प्रथम प्रति लेखना करके ही त्यागने चाहिएँ।

टीका—इस गाथा में अपवित्र पदार्थों के त्यागने का विधान किया गया है। यथा—जो भूमि मलादि पदार्थों के पलटने के लिये हो, वह प्रासुक होनी चाहिये। अतः साधु उस प्रासुक स्थंडिल भूमि को खूब देख भाल कर फिर उसमे मल, मूत्र, मुख का मल कफ, नाक का मल तथा अन्य शरीर के मल जो त्यागने योग्य हैं, उन्हें यत्ना पूर्वक त्यागे। सूत्रकार के कथन का यह भाव है कि, साधु को मल आदि अशुचि पदार्थ इस प्रकार एकान्त प्रासुक स्थान में गेरने चाहिएँ जिससे प्रथम तो स्थानस्थ पूर्वोक्त स्नेह सूक्ष्म आदि जीवों का विनाश न हो। दूसरे गिराए

हुए पदार्थ में जीवोत्पत्ति संभवित न हो। तीसरे अन्य दर्शक लोगों के हृदय में घृणा न हो। चौथे गिराए हुए पदार्थ रोगोत्पत्ति के कारण न हों।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'गोचरी के लिए गृहस्थों के घरों में गये हुए साधु को किस प्रकार वर्तना चाहिये ?' यह कहते हैं:—

पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोअणस्स वा।
जयं चिट्ठे मिअं भासे, न य रूवेसु मणं करे ॥१९॥

प्रविश्य परागारं, पानार्थं भोजनाय वा।
यतं तिष्ठेत् मितं भाषेत, न च रूपेषु मनः कुर्यात् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—**पाणट्ठा**-पानी के लिये **वा**-अथवा **भोअणस्स**-भोजन के लिये **परागारं**-गृहस्थ के घर में **पविसित्तु**-प्रवेश कर साधु **जयं**-यत्न से **चिट्ठे**-खड़ा रहे। **मिअं**-प्रणाम पूर्वक **भासे**-भाषण करे **य**-तथा **रूवे**-गृहस्थ की स्त्री के रूप में **मणं**-अपने मन को **न करे**-न लगावे।

मूलार्थ—आहार पानी के लिये गृहस्थ के घर में गया हुआ साधु, यथोचित स्थान पर खड़ा होवे, विचार पूर्वक हित मित भाषण करे तथा स्त्री आदि के रूप को देख कर मन को डांवा डोल (चलायमान) भी न करे।

टीका—जब साधु, आहार आदि के वास्ते गृहस्थ के घर में जाय, तो वहाँ उसे यत्न पूर्वक खड़ा होना चाहिये, तथा प्रमाण पूर्वक और सभ्यतानुसार भाषण करना चाहिये। इतना ही नहीं, किन्तु घर में जो गृहस्थ की स्त्री आदि जन हों उनके रूप सौन्दर्य पर अपना मन कदापि न डिगावे (विचलित करे)। कारण यह है कि, ऐसा करने पर नाना प्रकार की शंकाएँ तथा संयम और ब्रह्मचर्य व्रत को आघात पहुँचने की संभावना की जा सकती है। जिस प्रकार रूप का ग्रहण है उसी प्रकार भोज्य पदार्थों के रस आदि के विषय में भी जान लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि, साधु, ग्लान आदि की औषधी के लिये भी यदि गृहस्थ के घर में जाय, तो वहाँ गवाक्ष आदि को न देखता हुआ एकान्त स्थान पर खड़ा न होवे। आगमन प्रयोजन आदि सब बात विचार पूर्वक थोड़े शब्दों में ही कहे तथा स्त्री आदि के रूप पर स्वचित्त को विकृत न करे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'गृहस्थ के यहाँ दृष्ट तथा श्रुत बातों को प्रकट नहीं करना चाहिये यह कहते हैं' अथवा उपदेशाधिकार मे सामान्य प्रकार से उपदेश का वर्णन करते हैं :—

बहुं सुणेहिं कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥२०॥

बहु शृणोति कर्णाभ्यां, बहु अक्षिभ्यां पश्यति ।
न च दृष्टं श्रुतं सर्वं, भिक्षुराख्यातुमर्हति ॥२०॥

पदार्थान्वयः—भिक्खू-भिक्षु कन्नेहिं-कानों से बहुं-बहुत से शब्द सुणेहिं-सुनता है, उसी प्रकार अच्छीहिं-आँखों से बहुं-बहुत से रूप पिच्छइ-देखता है । किन्तु दिट्ठं-देखा हुआ रूप य-तथा सुयं-सुना हुआ शब्द सव्वं-सर्व प्रकार अक्खाउं-प्रकट करने के लिये न अरिहइ-योग्य नहीं है ।

मूलार्थ—गृहस्थों के घरों में गया हुआ साधु, कानों से अच्छे बुरे सभी प्रकार के शब्द सुनता है और इसी प्रकार आँखों से भी अच्छे-बुरे सभी प्रकार के रूप देखता है । किन्तु, जो कुछ देखे और सुने वह सभी प्रकार से लोगों के समक्ष प्रकट करने के योग्य नहीं है ।

टीका—इस गाथा मे पूछने पर उत्तर तथा उपदेशाधिकार में शिक्षा प्रदान करते हैं । यथा—जब साधु, गोचरी आदि के वास्ते घरों मे जाता है, तब वह अनेक प्रकार के शोभन या अशोभन शब्दों को सुनता है, ठीक उसी प्रकार अनेक प्रकार के शोभन या अशोभन रूपों को देखता है । किन्तु, साधु को अपने या पर के तथा दोनों के हित के लिये वे शब्द या इष्ट बातें सर्वत्र सभी प्रकार से लोगों के समक्ष कहने योग्य नहीं हैं । जैसे कि—'अमुक घर में लड़ाई हो रही है, आज अमुक स्त्री रो रही है, तथा अमुक स्त्री सुरूपा है या कुरूपा है इत्यादि ।' प्रकट न करने का यह कारण है कि, लोगों के सामने इस प्रकार किसी के घर की बात कहने से अपने चारित्र का उपघात होता है तथा लोगों में अप्रीति होती है । यदि जिसके प्रकट करने से अपना और दूसरों का हित होता है तो ऐसे वृतान्त

को साधु आनन्द से प्रकट कर सकता है। जैसे अमुक व्यक्ति ने न्याय पूर्वक शान्ति स्थापित कर दी और बढ़ते हुए क्लेश को मिटा दिया।

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं:—

सुअं वा जइ वा दिट्ठं, न लविज्जोवघाइअं।
न य केण उवाएण, गिहिजोगं समायरे ॥२१॥
श्रुतं वा यदि वा दृष्टं, न लपेत् औपघातिकम्।
न च केनचित् उपायेन, गृहियोगं समाचरेत् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—ऊवघाइअं-उपघात से उत्पन्न हुई वा उपघात को उत्पन्न करने वाली बात सुअं वा-सुनी हो जइवा-अथवा दिट्ठं-देखी हो तो न लविज्ज-साधु न कहे; य-और इसी प्रकार केण उवाएण-किसी उपाय से भी गिहिजोगं-गृहस्थ के साथ सम्बन्ध वा गृहस्थ के व्यापार न समायरे-समाचरण न करे।

मूलार्थ—किसी से सुनी हुई तथा स्वयं देखी हुई, कोई भी औपघातिक बात साधु को किसी के आगे नहीं कहनी चाहिये; और नाँही साधु को किसी अनुरोध आदि उपायों से गृहस्थ के व्यापार का आचरण करना चाहिये।

टीका—यदि कभी साधु, उपघात से उत्पन्न हुई तथा उपघात करने वाली बात किसी से सुने या स्वयं देखे, तो साधु को वह बात किसी के आगे नहीं कहनी चाहिये। जैसे तू चोर है, तू व्यभिचारी है, तू मूर्ख है इत्यादि। ये बातें यद्यपि सत्य हैं, फिर भी शान्ति भङ्ग करने वाली हैं। ऐसी बात कहने से जीवोपघात हुए बिना कभी नहीं रहता। इसी प्रकार चाहे कोई कैसा ही क्यों न अनुरोध आदि उपाय करे; परन्तु साधु, गृहस्थ के व्यापार का कदापि आचरण न करे। अर्थात् साधु प्रेम प्रदर्शन के लिये गृहस्थ के बालकों को खिलाने आदि का काम भी कभी न करे। कारण यह है कि, गृहस्थ व्यापार के समाचरण से साधु फिर भाव से गृहस्थ ही हो जायगा और जो मोक्ष मार्ग का साधक बना हुआ है, उससे पतित हो जायेगा। इसी लिए साधु, गृहस्थ के साथ विशेष परिचय या संस्तव आदि न करे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, लाभालाभ के विषय में कुछ नहीं कहने का उपदेश देते हैं:—

निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगं त्ति वा।
पुट्ठो वावि अपुट्ठो वा, लाभा लाभं न निद्दिसे ॥२२॥

निष्ठानं रसनिर्यूढं, भद्रकं पापकमिति वा।
पृष्टो वाऽपि अपृष्टो वा, लाभालाभौ न निर्दिशेत् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—साधु **पुट्ठो**—पूछने पर **वावि**—अथवा **अपुट्ठो**—नहीं पूछने पर **निट्ठाणं**—सर्व गुणों से युक्त आहार को **भद्दगं**—यह भद्र है **वा**—अथवा **रसनिज्जूढं**—रस रहित आहार को **पावगंत्ति**—यह पापक (बुरा) है ऐसा तथा **लाभालाभं**—आज सुंदर आहार का लाभ हुआ है **वा**—अथवा आज लाभ नहीं हुआ है **त्ति**—इस प्रकार कदापि **न निद्दिसे**—निर्देश न करे।

मूलार्थ—चाहे कोई पूछे या कोई न पूछे, साधु को कभी भी सरस आहार को सरस और नीरस आहार को नीरस नहीं कहना चाहिये। तथैव लाभालाभ के विषय में भी कुछ नहीं कहना चाहिये।

टीका—इस गाथा मे मध्यस्थ भाव का वर्णन किया गया है। जैसे कि, जो आहार सब गुणों से संयुक्त है या सब गुणों से विवर्जित है, उसके विषय मे साधु किसी के पूछने पर या न पूछने पर यह अच्छा है, या बुरा है इत्यादि गुण दोषों का वर्णन न करे। तथैव आज हमें सुन्दर आहार का लाभ हुआ ही नहीं, आज तो हमे परम मनोहर आहार प्राप्त हुआ है। इस प्रकार भी साधु, जनता के सम्मुख वर्णन न करे। कारण यह है कि, ऐसा कहने से साधु की अधीरता प्रकट होती है और संयम का उपघात होता है। तथा श्रोताओं के मन में नाना प्रकार के शुभ, अशुभ संकल्प उत्पन्न होने लग जाते हैं, जिससे फिर 'आरम्भ-समारम्भ' आदि के उत्पन्न हो जाने की भी संभावना की जा सकती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अप्रासुक क्रीतकृत आदि पदार्थों के न ग्रहण करने का उपदेश देते हैं:—

न य भोअणंमि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो ।
अफासुअं न भुंजिज्जा, कीअमुद्देसिआहडं ॥२३॥

न च भोजने गृद्धः, चरेत् उंच्छमजल्पाकः ।
अप्रासुकं न भुञ्जीत, क्रीतमौद्देशिकमाहृतम् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—साधु **भोअणंमि**—सरस भोजन में **गिंद्धो**—गृद्ध (लालायित) होकर किसी धन-सम्पन्न गृहस्थ के घर में **न चरे**—न जावे, किन्तु **अयंपिरो**—व्यर्थ न बोलता हुआ **उंछं**—सभी ज्ञात-अज्ञात कुलों में समान भाव से **चरे**—जावे; **य**—तथा **अफासुअं**—अप्रासुक आहार **कीअं**—मोल लिया हुआ आहार **उद्देसिअं**—साधु का उद्देश रखकर तैयार किया हुआ आहार और **आहडं**—सम्मुख लाया हुआ प्रासुक आहार भी **न भुंजिज्जा**—न खावे ।

मूलार्थ—साधु को सरसभोजनासक्त होकर अपनी जान पहचान के अच्छे अच्छे धन संपन्न घरों में नहीं जाना चाहिये; किन्तु मौनविधि से ज्ञात और अज्ञात सभी कुलों में समान भाव से जाना चाहिये । तथा वहाँ से भी साधु को औद्देशिक, क्रीतकृत, आहृत तथा अप्रासुक आहार लाकर नहीं भोगना चाहिये ।

टीका—गोचरी के लिये गृहस्थों के घरों में जाना हो, तो साधु सरस आहार के लोभ से ताक-ताक (देख देख) कर अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित घरों में न जावे, किन्तु मौन विधि से मार्ग मे जो भी ज्ञात, अज्ञातकुल आएँ, सभी में समान भाव से केवल क्षुधा निवृत्ति योग्य आहार के लिये जावे । परन्तु वहाँ से भी साधु-विधि के अनुसार सम्यक् प्रकार से देख कर, अपने लायक प्रमाण-पूर्वक ही आहार लावे । यदि कभी किसी कारण से अप्रासुक (सचित्त) एवं मिश्रित आहार, औद्देशिक 'साधु का निमित्त रख कर तैयार किया हुआ आहार' क्रीत 'साधु के वास्ते मोल लिया हुआ आहार' आहृत 'साधु के वास्ते ग्रामान्तर से लाया हुआ आहार' ले भी लिया हो तो खाना नहीं चाहिये । क्योंकि, इस से शिथिलता की वृद्धि होती है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, संनिधि नहीं करने के विषय में कहते हैं :—

संनिहिं च न कुव्विज्जा, अणुमायं पि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए ॥२४॥
संनिधिं च न कुर्यात्, अणुमात्रमपि संयतः।
मुधाजीवी असंबद्धः, भवेत् जगन्निश्रितः ॥२४॥

पदार्थान्वयः—संजए–साधु अणुमायंपि–अणुमात्र भी संनिहिं–संनिधि न कुव्विज्जा–न करे, वह सदा मुहाजीवी–सावद्य व्यापार से रहित जीवन व्यतीत करने वाला असंबद्धे–गृहस्थों से अनुचित सम्बन्ध न रखने वाला च–और जगनिस्सिए–सब जीवों की रक्षा करने वाला हविज्ज–होवे।

मूलार्थ—साधु, स्वल्प मात्र भी अशनादि पदार्थ रात्रि में न रक्खे, सावद्य व्यापार रहित जीवन व्यतीत करे, गृहस्थों से अयोग्य सम्बन्ध न रक्खे और चर अचर सभी जीवों की रक्षा करे।

टीका—इस गाथा मे इस बात का उपदेश किया गया है कि, साधु को स्तोक मात्र भी अशनादि पदार्थों का रात्रि मे संग्रह नहीं करना चाहिये और न किसी पदार्थ पर ममत्व भाव रखना चाहिये। अपितु गृहस्थों के सम्बन्ध से कमल के समान सदा निर्लेप होकर चराचर सभी जीवों का सदा संरक्षण करना चाहिये। क्योंकि, शास्त्रकारों ने साधु की वृत्ति हिंसा के दोष से सर्वथा रहित बतलाई है। अतः साधु को अपना संयमी जीवन सर्वथा शुद्ध, "सावद्य व्यापार से रहित होकर" बिताना चाहिये। इसीलिये सूत्रकार ने सूत्र में साधु के लिये 'मुधाजीवी' शब्द का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ होता है, 'सर्वथा अनिदान जीवी'–अर्थात् गृहस्थ का किसी प्रकार का भी साँसारिक कार्य न करके प्रतिबन्धता रहित भिक्षा वृत्ति द्वारा संयमीय जीवन बिताने वाला। इस शब्द के विषय मे विशेष जिज्ञासा रखने वाले सज्जन 'पिण्डैषणाध्ययन' के प्रथमोद्देश की अन्तिम गाथा का भाष्य देखें। हम वहाँ विशेष रूप से वर्णन कर आये हैं। सूत्र का समझने योग्य संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि, साधु कमल के समान आशा-जल के लेप से निर्लेप होकर, शत्रु-मित्र, निन्दक-स्तावक आदि सभी पर समान दृष्टि रख कर सब जीवों की रक्षा करे और आगामी काल के लिये स्तोक मात्र भी खाद्य आदि पदार्थों का संग्रह न करे।

उत्थानिका—अब, फिर इसी भोजन के विषय में कथन किया जाता है :—

लूहवित्ति सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिया ।
आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चा णं जिणसासणं ॥२५॥

रूक्षवृत्तिः सुसन्तुष्टः, अल्पेच्छः सुभरः स्यात् ।
आसुरत्वं न गच्छेत्, श्रुत्वा जिन शासनम् ॥२५॥

पदार्थान्वयः—साधु लूहवित्ति—रूक्ष वृत्ति वाला सुसंतुट्ठे—सदा सन्तुष्ट रहने वाला अप्पिच्छे—अल्प इच्छा वाला सुहरे—सुख पूर्वक निर्वाह करने वाला सिया—होवे तथा जिणसासणं—क्रोधविपाक प्रतिपादक जिन प्रवचनों को सुच्चा—सुनकर आसुरत्तं—क्रोध के प्रति भी न गच्छिज्जा—न जावे णं—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—पूर्ण रूक्ष वृत्ति वाला, रूखा सूखा जो मिले उसी में सन्तुष्ट रहने वाला, अल्प इच्छा वाला एवं सुख पूर्वक जीवन निर्वाह करने वाला साधु; जिन प्रवचनों के अध्ययन और श्रवण से क्रोध के कटुफल को जान कर कभी किसी पर क्रोध भाव न करे।

टीका—सच्चा साधु वही है जो सरस भोजनाकांक्षी न होकर सदा रूक्ष वृत्ति वाला है अर्थात् जो, चने आदि रूक्ष पदार्थों से ही अपना काम चला लेता है। तथा जो रूखा सूखा वह भी थोड़ा ही जैसा मिल जाता है, उसी में पूर्ण सन्तुष्ट रहने वाला है। और जो अल्पेच्छा वाला है, जिसकी आवश्यकताएँ बहुत ही थोड़ी हैं, जो किसी को भार रूप नहीं पड़ता। तथा जो ऊनोदरी तप का धारक होने से थोड़े से आहार से ही पूर्ण तृप्त होजाता है अर्थात् जो क्षुधा का स्वयं आधीन न होकर क्षुधा को अपने आधीन में रखता है। ऐसा साधु ही वस्तुतः 'स्व पर तारक' पद वाच्य हो सकता है। ऐसे साधु ही मे पूर्ण धैर्य होता है। अधिक क्या, पूर्वोक्त गुण वाला साधु कठिन से कठिन दुर्भिक्ष आदि के समय मे भी पूर्ण दृढ़ रह कर सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकता है और अधीर होकर संयम से किसी भी अंश मे विचलित नहीं हो सकता। पूर्वोक्त गुण विशिष्ट साधु के लिये सूत्रकार ने एक गुण और बताया है जिसके विना पूर्वोक्त गुणों

के होते हुए भी साधु, सच्चा साधु नहीं होसकता। वह गुण है क्षमा का। साधु को वीतराग प्रतिपादक शास्त्रों मे जो क्रोधादि के दारुण फल वर्णन किये गये हैं, उनको ठीक प्रकार से श्रवण करके चाहे कोई कैसा ही क्यों न अपने प्रति दुर्व्यवहार करे, उस पर कभी क्रोध नहीं करना चाहिये। यदि क्रोध उदय होने के कारण उपस्थित भी होजायं तो सम्यग् विचार से उन्हें शान्त करना चाहिये। जैसे कि, जो अमुक कष्ट मुझे होगया है, सो सब मेरे ही कर्मो का दोष है। अतः मुझे सम्यक्तया इसे सहन करना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, कर्ण आदि को प्रिय लगने वाले शब्दादि विषयों पर राग भाव न करने के विषय मे कहते हैं:—

कन्नसुक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहिआसए ॥२६॥

कर्णसौख्येषु शब्देषु, प्रेमं नाभिनिवेशयेत्।
दारुणं कर्कशं स्पर्शं, कायेन अध्यासीत ॥२६॥

पदार्थान्वयः—कन्नसुक्खेहिं-श्रोत्रेन्द्रिय को सुख उत्पन्न करने वाले सद्देहिं-शब्दों में, साधु पेमं-राग भाव नाभिनिवेसए-स्थापन न करे तथा दारुणं-अनिष्ट और कक्कसं-कर्कश फासं-स्पर्श को काएण-शरीर से अहिआसए-सहन करे।

मूलार्थ—साधु को श्रोत्रेन्द्रिय सुख कारक शब्दों में राग नहीं करना चाहिये। तथा अनिष्ट और कर्कश स्पर्श को शरीर द्वारा समभाव से सहन करना चाहिये।

टीका—जो शब्द कर्णेन्द्रिय को सुख रूप हैं, उन्हें सुन कर साधु रागभाव न करे, और ठीक इसी प्रकार दारुण एवं कर्कश स्पर्श के होने पर द्वेष भाव न करे अर्थात् कठिन स्पर्शो को समभाव से ही सहन करे। इस गाथा में प्रथम श्रुतेन्द्रिय और पाँचवीं स्पर्शेन्द्रिय के बतलाने से यह सिद्ध किया है कि, शेष तीनों इन्द्रियाँ इनके ही अन्तर्गत आ जाती हैं। सारांश यह है कि, पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल विषयों में राग न करे और प्रतिकूल विषयों पर द्वेष न करे, किन्तु

मध्यस्थ भाव पूर्वक उनका अनुभव करे। सूत्र में जो 'कन्नसुक्खेहिं सद्देहिं' तृतीया विभक्ति दी गई है, वह सप्तमी विभक्ति के अर्थ में दी है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, क्षुधा और तृषा आदि दुःखों को समभाव से सहने का उपदेश देते हैं :—

खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सीउन्हं अरइं भयं।
अहिआसे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं ॥२७॥

क्षुधं पिपासां दुःशय्यां, शीतोष्णमरतिं भयम्।
अध्यासीत अव्यथितः, देहदुःखं महाफलम् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—साधु अव्वहिओ-दीन भाव से रहित होकर खुहं-भूख को पिवासं-पिपासा को दुस्सिज्जं-दुःशय्या को सीउन्हं-जाड़ा और गर्मी को अरइं-अरति को तथा भयं-भय को अहिआसे-सहन करे; क्योंकि, देहदुक्खं-शारीरिक दुःखों को समभाव पूर्वक सहने से ही महाफलं-मोक्ष रूप महाफल प्राप्त होता है।

मूलार्थ—साधु को क्षुधा, तृषा, दुःशय्या, शीत, उष्ण, अरति एवं भय आदि कष्टों के होने पर कभी भयभीत नहीं होना चाहिये, बल्कि पूर्ण दृढता से इन आये हुए दुःखों को सहन करना चाहिये। क्योंकि, असार शरीर से सम्बन्ध रखने वाले कष्टों को समभाव पूर्वक सहने से ही मोक्ष महाफल की प्राप्ति होती है।

टीका—इस गाथा में भी, साधु-वृत्ति विषयक ही उपदेश किया गया है। जैसे श्री भगवान् उपदेश करते हैं कि, हे आर्य साधुओं! साधु को अदीन भावों से भूख और प्यास, शीत और उष्ण, दुःशय्या विषम भूमि, मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुई अरति (चिंता) तथा व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं से उत्पन्न हुआ भय, इन सब कष्टों को सहन करना चाहिये। क्योंकि, क्षुधा आदि द्वारा साधु के शरीर को जो दुःख होते हैं, उन्हें सम्यक्तया सहन किया जाय तो साधु को मोक्षरूप महाफल की प्राप्ति होती है। 'यह शरीर असार है इसका क्या मोह ? एक न

एक दिन इसे छोड़ना ही है, इससे जो कुछ कमा लिया जाय वही थोड़ा है।' इस प्रकार के भावों से मुनि को कष्टों के समय धैर्य धारण करना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, रात्रि भोजन का निषेध करते हैं:—

अत्थं गयंमि आइच्चे, पुरच्छा अ अणुग्गए।
आहारमाइअं सव्वं, मणसा वि ण पत्थए॥२८॥

अस्तंगते आदित्ये, पुरस्तात् च अनुद्गते।
आहारमादिकं सर्वं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत्॥२८॥

पदार्थान्वयः—आइच्चे—सूर्य के अत्थंगयंमि—अस्त हो जाने पर अ—तत्पश्चात् पुरच्छाअणुग्गए—प्रातः काल में सूर्य के उदय होने से पूर्व सव्वं—सब प्रकार के आहारमाइअं—आहारादि पदार्थों की मणसावि—मन से भी न पत्थए—प्रार्थना न करे।

मूलार्थ—दयालु मुनि को सूर्यास्त होने से लेकर प्रातः काल जब तक सूर्योदय न हो तब तक सभी प्रकार के आहार रूप पदार्थों की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

टीका—सूर्यास्त हो जाने के पश्चात् जब तक सूर्योदय न हो तब तक रात्रि में जितने भी आहार आदि पदार्थ हैं; उन सभी के खाने की साधु को मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। जब मन से इच्छा तक करने का निषेध है, तो फिर वचन और कर्म का तो कहना ही क्या? उनका तो मन के साथ वैसे ही पूर्ण निषेध हो गया। सारांश यह है कि, साधु को इस व्रत का पालन पूर्ण दृढता से करना उचित है। क्योंकि, इस व्रत के पालन मे असावधानी करने से साधु को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ती है। इस व्रत के प्रति असावधानी करने से समस्त व्रतों के प्रति असावधानी होजाती है। यह स्पष्ट सिद्ध है कि, इस रात्रि भोजन विरमण व्रत के भंग से प्रथम अहिंसा महाव्रत दूषित हो जाता है। और जब अहिंसा व्रत दूषित हो गया, तो फिर अन्य व्रत अछूते कैसे रह सकते हैं? वे भी दूषित हो जाते हैं। अतः सूत्रकार ने इसीलिये जोर देकर यह कहा है कि, 'मणसा वि न पत्थए।' सूत्र में जो सूर्य के लिये 'अस्त' शब्द का प्रयोग

किया है, उससे कुछ 'सूर्य नष्ट हो जाता है या गिर जाता है' यह बात नहीं है। अस्त शब्द से यहाँ केवल 'पर्वतं प्राप्ते अदर्शनीभूते' ही अर्थ लिया जाता है। अर्थात् पश्चिमाचल के कारण सूर्य के अदृश्य हो जाने को ही अस्त कहते हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'यदि साधु को दिन मे भी थोड़ा (स्वल्प) ही आहार मिले, तो फिर क्या करना उचित है' यह कहते हैं:—

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मिआसणे।
हविज्ज उयरे दंते, थोवं लद्धुं न खिंसए ॥२९॥

अतिंतिणः अचपलः, अल्पभाषी मिताशनः।
भवेत् उदरे दान्तः, स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—साधु को **अतिंतिणे**—आहार न मिलने पर तनतनाहट न करने वाला **अचवले**—चपलता रहित स्थिर स्वभावी **अप्पभासी**—अल्प भाषी **मिआसणे**—प्रमाण पूर्वक आहार करने वाला **उयरे दंते** तथा उदर का दमन करने वाला **हविज्ज**—होना चाहिये और **थोवं**— स्तोक आहार आदि पदार्थों को **लद्धुं**—प्राप्त कर **न खिंसए**—गृहस्थ की या पदार्थ की निन्दा नहीं करनी चाहिये।

मूलार्थ—जो आहार के न मिलने पर अप्रासंगिक बकवाद नहीं करता है, किसी प्रकार की चंचलता नहीं करता है, काम पड़ने पर थोड़ा बोलता है और भोजन भी थोड़ा ही करता है, अधिक क्या जो अपने उदर को पूरी तरह से अपने वश में रखता है, और उदर पूर्ति न हो सकने लायक थोड़ा आहार मिलने पर दातार गृहस्थ की एवं पदार्थ की प्रकट रूप से या अप्रकट रूप से किसी प्रकार भी निन्दा नहीं करता है; वही सच्चा साधु है।

टीका—श्री भगवान् उपदेश करते है कि, यदि कभी साधु को आहार नहीं मिले, तो साधु उस अलाभ को जनता के आगे प्रगट न करे। जैसे यह क्षेत्र कैसा निकृष्ट है जो पुरुषार्थ करने पर भी यहाँ यथेष्ट लाभ नहीं होता। तथा साधु को योग्य है वह चपलता को छोड़ कर हमेशा स्थिर चित्त रहे, वाक्प्रपञ्च न करे, कारण पड़ने पर भी थोड़ा ही बोले, एवं प्रमाण से अधिक आहार भी न करे। सूत्र का यह आशय है कि, साधु को अपने उदर पर स्वाधीनता रखनी चाहिये।

अर्थात् आहारादि पदार्थ भले ही न मिले, यदि मिलें तो चाहे निकृष्ट और स्वल्प मिलें, पर साधु को उस की निन्दा नही करनी चाहिये। क्योंकि, गृहस्थ की इच्छा है, गृहस्थ की चीज है, देवे या न देवे। साधु का क्या अधिकार है कि, वह दातार की या पदार्थ की निन्दा करे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अहंकार परित्याग के विषय मे कहते हैं:—

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुअलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए॥३०॥

न बाह्यं परिभवेत्, आत्मानं न समुत्कर्षेत्।
श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत, जात्या तपस्विबुद्ध्या॥३०॥

पदार्थान्वयः—साधु बाहिरं–अपने से भिन्न किसी जीव का न परिभवे–तिरस्कार न करे और अत्ताणं–अपनी आत्मा को न समुक्कसे–सब से बड़ा भी न माने तथा सुअलाभे–ज्ञान से, आहारादि के यथेच्छ लाभ से, जच्चा–जाति से तवस्सि–तप से, और बुद्धिए–बुद्धि से बड़ा होने पर न मज्जिज्जा–अहंकार न करे।

मूलार्थ—चाहे कोई कैसा ही क्यों न हो साधु को किसी का तिरस्कार नहीं करना चाहिये तथा अपने आप को बड़ा नहीं समझना चाहिये। और तो क्या अपने श्रुत, लाभ, जाति, तप एवं बुद्धि आदि गुणों पर भी अहंभाव नहीं करना चाहिये।

टीका—इस गाथा मे मद नहीं करने का उपदेश किया गया है। जैसे—श्री भगवान् उपदेश करते हैं कि, हे आर्यो! साधु को किसी जीव का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये और नाहीं अपने आप को सब से बड़ा मानना चाहिये। इतना ही नहीं, किन्तु श्रुत, लाभ, जाति, तप, एवं बुद्धि आदिक गुणों का भी मद नहीं करना चाहिये। जैसे कि, मैं बड़ा शास्त्र पारंगत पण्डित हूँ, मैं सब से श्रेष्ठ जाति वाला हूँ, मै बड़ा घोर तपस्वी हूँ, मैं बड़ा तीव्र बुद्धि वाला हूँ इत्यादि। सूत्र मे आये हुए श्रुत, लाभ आदि शब्द उपलक्षण हैं अतः साधु को कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य आदि सभी प्रकार का अहंकार नहीं करना चाहिये। सूत्रकार ने जो यह अहंकार का निषेध किया है, इसका कारण यह है अहंकार

आत्म विकाश की क्रिया का बाधक है। अहंकार के होते ही आत्मा पतन की ओर जाने लग जाती है। औरों का तो क्या कहना, मोक्ष द्वार तक पहुँचे हुए बड़े बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी भी इसके भ्रमजाल मे पड़ कर इस संसार सागर मे समा गये जिन का आज तक कुछ पता नहीं। अहंकारी साधु, साधुत्व का अभिमान नहीं कर सकता। क्योंकि, अहंकार के करने से इस प्रकार के सचिक्कण कर्मो का बंध होता है, जिससे साधुत्व-भाव किसी भी हालत में स्थिर नहीं हो सकता। उत्तम साधुत्व तो केवल नम्रता मे ही है, इसी से एक से एक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति होती है। अतः साधुत्व की कामना करने वाले साधु को अहंकार के दुर्गुण को छोड़ देना चाहिये और नम्रता के गुण को अपनाना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'यदि कभी कारण वश साधु से कोई अकार्य हो जाय तो फिर क्या उपाय करना चाहिये' यह कहते हैं:—

से जाणमजाणं वा, कट्टु आहम्मिअं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीअं तं न समायरे ॥३१॥

स जानन् अजानन् वा, कृत्वा अधार्मिकं पदम्।
संवृणुयात् क्षिप्रमात्मानं, द्वितीयं तत् न समाचरेत् ॥३१॥

पदार्थान्वयः—से-वह साधु जाणं-जानता हुआ वा-अथवा अजाणं-न जानता हुआ आहम्मिअं-अधार्मिक पयं-कार्य को कट्टु-कर के खिप्पं-शीघ्र ही अप्पाणं-अपनी आत्मा को संवरे-पाप से हटाले तथा फिर बीअं-दूसरे तं-उस पाप कार्य का न समायरे-समाचरण न करे।

मूलार्थ—जानते हुए या न जानते हुए यदि कभी साधु से कोई अधार्मिक कार्य बन पड़े, तो साधु को योग्य है कि, शीघ्र ही उस पाप से अपनी आत्मा का संवरण करे और भविष्य में फिर वह कार्य कभी नहीं करे।

टीका—इस गाथा मे दोष से निवृत्त होने की सूचना दी गई है। यथा-किसी साधु से जान कर या भूल कर मूल गुण वा उत्तर गुण की यदि कभी विराधना हो जाय, तब उसको योग्य है कि, बहुत शीघ्र ही आलोचना, प्रत्यालोचना, आदि करके उस पाप की विशुद्धि करे और अपनी आत्मा को कुमार्ग

गामी होने से बचा ले। तथा द्वितीय वार फिर कभी उस कार्य का आचरण न करे। क्योंकि, यदि आलोचना और प्रायश्चित आदि से उस कृत पाप की शुद्धि न की गई तो फिर अनुबन्ध पड जायगा, जिसका फल फिर चारों दुःखमय गतियों मे परिभ्रमण करके भोगना पड़ेगा। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्'। सूत्रकार ने जो 'कृत्वा' पद दिया है, इस का यह भाव है कि, राग और द्वेष के कारण से चाहे मूल गुण की विराधना हुई हो, चाहे उत्तर गुण की विराधना हुई हो साधु को दोनों ही से निवृत होना चाहिये। छोटे बड़े दोष की अयोग्य भावना से किसी एक को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये।

उत्थानिका—अव सूत्रकार, आलोचना करते समय दोषों को न छिपाने का आवश्यक उपदेश करते हैं :—

अणायारं परक्कम, नेव गूहे न निन्हवे।
सुई सया वियड़भावे, असंसत्ते जिइंदिए ॥३२॥

अनाचारं पराक्रम्य, नैव गूहयेत् न निह्नुवीत।
शुचिः सदा विकटभावः, असंसक्तः जितेन्द्रियः ॥३२॥

पदार्थान्वयः—सुई-पवित्र मति वाला सया-सदा वियड़भावे-प्रकट भाव धारण करने वाला असंसत्ते-किसी प्रकार की भी आसक्ति न रखने वाला तथा जिइंदिए-इन्द्रियों को जीतने वाला साधु, अणायारं-अनाचार का परक्कम-सेवन करके गुरु के समक्ष आलोचना करे, तब दोष को नेव गूहे-थोड़ा सा कह कर वीच मे ही गुप्त न करे तथा न निन्हवे-सर्वथा ही गुप्त न करे।

मूलार्थ—विशुद्ध बुद्धि वाला, सदा प्रकट भाव रखने वाला, किसी प्रकार का प्रतिवंध न रखने वाला, तथा चंचल इन्द्रियों को जीतने वाला साधु; संयम में किसी प्रकार का दोप लगने के पश्चात् गुरु श्री के समक्ष आलोचना करे। और आलोचना करते समय दोष को यत्किंचित् स्थूल रूप से कह कर गुप्त न करे, तथा सर्वथा ही गुप्त न करे। जैसी घटना घटी हो स्पष्टतया वैसी ही पूर्वापर कथन करे।

१. 'गूहन' किंचित्कथनम्। २. 'निह्नवः' सर्वथापलाप. इति टीका।

टीका—इस गाथा में आत्मा की विशुद्धि का वर्णन किया गया है। यथा—जिस साधु की बुद्धि पवित्र है, जिसके सदैव पवित्र भाव प्रकट रहते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु जो अप्रतिबद्ध है और जितेन्द्रिय भी है। यदि कभी ऐसा मुनि भी किसी कर्म योग से आचरण न करने योग्य कुकृत्य सेवन कर ले, तो उस को भी योग्य है कि, वह आत्म-विशुद्धि के लिये गुरु के पास उस पाप की आलोचना करे, जिससे किये हुए पाप की निवृत्ति हो जावे। किन्तु, आलोचना करते समय दोष को स्तोक मात्र कहकर गुप्त न करे तथा सर्वथा ही गुप्त न करे। अर्थात् जिस प्रकार दोष सेवन किया गया हो, उसी प्रकार स्पष्ट कह देवे। क्योंकि, जिस प्रकार वैद्य के पास रोग की सर्व व्यवस्था कहने से ही रोग की ठीक औषधि की जा सकती है, उसी प्रकार गुरु के पास ठीक ठीक आलोचना करने से ही पाप कर्म की विशुद्धि की जा सकती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, साधु को आचार्य की आज्ञा मानने का उपदेश देते हैं:—

अमोहं वयणं कुज्जा, आयरिअस्स महप्पणो।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥३३॥

अमोघं वचनं कुर्यात्, आचार्यस्य महात्मनः।
तत् परिगृह्य वाचा, कर्मणा उपपादयेत् ॥३३॥

पदार्थान्वयः—महप्पणो-श्रुतादि गुणों से श्रेष्ठ महात्मा आयरिअस्स-आचार्य के वयणं-वचन को अमोहं-सफलीभूत कुज्जा-करे, भाव यह है कि, तं-आचार्य के वचन को वायाए-एवमस्तु आदि वचन से परिगिज्झ-ग्रहण कर के कम्मुणा-कर्म से उववायए-संपादन करे।

मूलार्थ—साधु का कर्तव्य है कि, वह महापुरुष आचार्यों की आज्ञा को प्रथम 'तहत्ति' आदि शब्दों द्वारा प्रमाण करे और तत्पश्चात् शीघ्र ही उस को शरीर द्वारा कार्य रूप में संपादन कर सफल करे।

टीका—श्रुतादि गुणों से युक्त आचार्य महाराज यदि किसी काम के लिये आज्ञा प्रदान करें तो शिष्य को योग्य है कि, उनकी आज्ञा को पहले तो 'तथास्तु'

या 'एवमस्तु' आदि आदर सूचक शब्दों से नम्रतया प्रमाण (स्वीकार) करे और फिर काय द्वारा उस काम को शीघ्र ही सुचारु रूप में आज्ञानुसार संपादन करे। अपने पर कुछ भी कठोर आपत्ति सामना करती हो किन्तु, महात्मा-आचार्यों के वचनों को निष्फल न होने देवे। और जब आचार्य का वचन कार्य द्वारा सफली भूत किया जाता है, तब उनको प्रसन्नता होती है, जिससे फिर सेवा भावी शिष्य को नाना प्रकार के सद्गुणों की प्राप्ति होती है। क्योंकि, आचार्य के वाक्य न्याय-युक्त होने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि करने वाले होते हैं।

उत्थानिका— अब आचार्य, कामभोगों से निवृत्त रहने का उपदेश करते हैं :-

अधुवं जीविअं नच्चा, सिद्धिमग्गं विआणिआ।
विणिअट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमिअप्पणो ॥३४॥
अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा, सिद्धिमार्गं विज्ञाय।
विनिवर्त्तेत भोगेभ्यः, आयुः परिमितमात्मनः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—**जीविअं**-अपने जीवन को **अधुवं**-अस्थिर **नच्चा**-जान कर तथा **सिद्धिमग्गं**-मोक्ष के मार्ग को **विआणिआ**-जान कर तथैव **अप्पणो**-अपनी **आउं**-आयु को **परिमिअं**-परिमित स्वल्प जान कर, साधु **भोगेसु**-भोगों से **विणिअट्टिज्ज**-निवृत्त हो जावे।

मूलार्थ—अपने जीवन को अध्रुव, रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग को सत्य, एवं अपनी आयु को स्वल्प जान कर, साधु को हमेशा काम भोगों से निवृत्त ही रहना चाहिये।

टीका—इस गाथा मे श्री भगवान् उपदेश करते हैं कि, हे साधुओ! यह तुम्हारा जीवन अस्थिर है, इस का कोई विश्वास नहीं कि यह किस समय समाप्त हो जावे। अतः तुम अपने इस जीवन को अस्थिर जान कर तथा इसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र रूप जो सिद्धि मार्ग है, उस को ठीक-ठीक समझ कर; और अपने आयुष को भी स्वल्पतर[1] जान कर काम भोगों से

१. जैसे आज कल की अपेक्षा से देखा जाय तो प्रायः मध्य खण्ड में सौ वर्ष की आयु होती है।

सर्वथा निवृत्त करो। क्योंकि, फिर तुम्हें यह समय मिलना दुर्लभ है। मनुष्य जन्म बार बार नहीं मिलता। जब जीव का अनंत पुण्योदय होता है, तब कहीं यह मनुष्य जन्म मिलता है। जिस प्रकार शास्त्रकार ने जीवन को अस्थिर प्रतिपादन किया है, ठीक इसी प्रकार इसके प्रतिकूल मोक्ष को स्थिर बतलाया है। अतएव मोक्ष के मार्ग को ठीक समझ कर साधु को काम भोगों से निवृत्ति करनी चाहिये। जिससे शीघ्र ही मोक्ष पद की प्राप्ति हो सके, और शाश्वत सुख के अनुभव करने का अवसर मिल सके।

उत्थानिका—अब, फिर प्रकारान्तर से इसी विषय को स्पष्ट किया जाता है:—

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए॥३५॥

बलं स्थाम प्रेक्ष्य, श्रद्धामारोग्यमात्मनः।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय, तथात्मानं नियुञ्जीत॥३५॥

पदार्थान्वयः—**अप्पणो**—अपनी **बलं**—इन्द्रियों की शक्ति को **थामं**—शारीरिक शक्ति को **सद्धां**—श्रद्धा को **च**—तथा **आरुग्गं**—नीरोगता को **पेहाए**—देख भाल कर **च**—और **तह**—इसी प्रकार **खेत्तं**—क्षेत्र को **कालं**—काल को **विन्नाय**—जान कर **अप्पाणं**—अपनी आत्मा को **निजुंजए**—धर्म कार्य मे नियुक्त करे।

मूलार्थ—मानसिक बल, शारीरिक बल, श्रद्धा, अरोगता तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि का ठीक-ठीक विचार कर के साधु अपनी आत्मा को धर्म कार्य में नियुक्त करे।

टीका—धर्म कृत्य करने के लिये छः बल प्राप्त हुए हैं, तो फिर मुमुक्षु को प्रमाद नहीं करना चाहिये। जैसे कि, मानसिक बल, शारीरिक बल, तथा ऋद्धि आदि का सांसारिक बल, कर्म विषयिक पूर्ण निष्ठा, शरीर को पूर्ण स्वस्थता, आर्य क्षेत्र आदि निर्विघ्न समय, जब ये पदार्थ प्राप्त हो जायँ, तो फिर कैसा ही क्यों न कोई सांसारिक कारण हो, किसी प्रकार से भी धार्मिक कार्यों के करने में आलस्य नहीं करना चाहिये। कारण यह है कि, ये पूर्वोक्त पदार्थ बार-बार प्रत्येक

जीव को प्राप्त नहीं होते। जो द्रव्य क्षेत्र काल एवं भाव की ठीक ठीक योग्यता मिलने पर भी धर्म कृत्य नहीं करता, उससे बड़ा मूर्ख संसार मे और कौन मिल सकता है। सूत्र मे आया 'बल' शब्द सभी बलों का वाचक होता; किन्तु दूसरा 'स्थाम' शब्द, जो केवल शारीरिक बल के लिये दिया हुआ है; उससे 'बल' शब्द यहाँ सूत्र में केवल मानसिक और शारीरिक बल का ही वाचक रह जाता है। बृहद्वृत्ति मे इस गाथा पर वृत्ति नहीं लिखी, किन्तु दीपिकाकार ने इस गाथा पर दीपिका टीका लिखी है। बालावबोधकारों ने तो प्रायः सभी ने इस पर अपना बालावबोध लिखा है। अतः हमने भी दीपिकाकार एवं बालावबोधकारों के मत को मान्य रख के इस वैराग्य पूर्ण परमोपयोगी गाथा को यहाँ सादर अङ्कित की है।

उत्थानिका—पुनरपि उपदेश देकर शिष्य वर्ग को सावधान किया जाता है:—

जरा जाव न पीडेई, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥३६॥

जरा यावन्न पीडयति, व्याधिर्यावन्न वर्द्धते।
यावदिन्द्रियाणि न हीयंते, तावद् धर्मं समाचरेत् ॥३६॥

पदार्थान्वयः—**जाव**–जब तक **जरा**–वृद्धावस्था **न पीडेई**–पीड़ित नहीं करती है **जाव**–जब तक **वाही**–शरीर मे व्याधि **नवड्ढई**–नहीं बढ़ती है **जाव**–जब तक **इंदिआ**—इन्द्रियां **हायंति**–शक्ति हीन नहीं होती हैं **ताव**–तब तक भव्य पुरुष **धम्मं**–धर्म का **समायरे**–समाचरण करे।

मूलार्थ—जब तक शरीर पर जरा राक्षसी का आक्रमण नहीं होता है जब तक शरीर पर बलवान् रोगों का इकट्ठा (स्थिर पूर्वक) डेरा नहीं लगता है, जब तक शरीर की श्रोत्र आदि इन्द्रियां शक्ति हीन होकर काम करने से निषेध नहीं करती हैं; तब तक शीघ्र ही सावधान होकर धर्म का आचरण करना चाहिये, नहीं तो फिर सिवाय पश्चात्ताप के और कुछ नहीं हो सकता।

टीका—इस गाथा में भी पूर्ववत् उपदेश दिया गया है। यथा—श्री भगवान् उपदेश करते हैं। हे आर्य साधुओ! जब तक वयोहानि रूप वृद्धावस्था तुम्हारे

शरीर को पीड़ित कर जर्जर नहीं बनाती है और जब तक क्रिया सामर्थ्य के शत्रु रोग, शरीर में नहीं बढ़ पाते हैं और जब तक तुम्हारी पाँचों इन्द्रियाँ शक्ति-संपन्न हैं अर्थात् इन्द्रियों का बल हीन नहीं हुआ है तब तक तुम धर्म की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी सभी क्रियाओं मे अपूर्व पुरुषार्थ को बड़े उत्साह के साथ कर सकते हो। यदि उक्त अङ्गों में किसी भी अंग की हानि हो गई, तो समझो फिर धर्म कार्य किसी भी प्रकार न कर सकोगे। 'संदीप्ते भुवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।' अतः जब तक तुम्हारे पूर्वोक्त कार्य ठीक हैं, अर्थात् यह धर्म-साधन-भूत शरीर स्वस्थ एवं सुदृढ बना हुआ है; तब तक प्रारम्भ में सुख स्वरूप और अंत में दुःख स्वरूप तुच्छ विषय भोगों से उदासीन होकर धार्मिक क्रियाओं का आचरण करते रहो। कारण यह है कि, धार्मिक क्रियाओं के आचरण से अक्षय सुख की उपलब्धि होती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, कषाय परित्याग का सदुपदेश देते हैं:—

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो ॥३७॥

क्रोधं मानं च मायां च, लोभं च पापवर्द्धनम्।
वमेत् चतुरो दोषाँस्तु, इच्छन् हितमात्मनः ॥३७॥

पदार्थान्वयः—अप्पणो-अपने हिअं-हित की इच्छंतो-इच्छा करता हुआ साधु पाववड्ढणं-पाप के बढ़ाने वाले कोहं-क्रोध च-तथा माणं-मान च-तथा मायं-माया च-तथा लोभं-लोभ इन चत्तारि-चार दोसे-दोषों को उ-निश्चय रूप से वमे-छोड़ दे।

मूलार्थ—जो साधु, वस्तुतः अपना हित चाहता है; उसे क्रोध, मान, माया, तथा लोभ इन चार महादोषों का पूर्ण रूप से परित्याग कर देना चाहिये। क्योंकि ये चारों दोष पूरी-पूरी पाप-वृद्धि करने वाले हैं और जहाँ पाप वृद्धि है वहाँ हित कहाँ?

टीका—इस गाथा में हित प्राप्ति के उपाय कथन किये हैं। जैसे कि, जो साधु अपनी आत्मा का हित चाहता है उसे योग्य है कि, वह अपने आत्म-

हित के लिये जो पाप कर्म के बढ़ाने वाले चार आध्यात्मिक दोष हैं, उनको सर्वथा छोड़ देवे। कारण यह है कि, उन दोषों के त्यागने से ही सर्व-संपद् रूप हित की प्राप्ति होती है। अब प्रश्न यह होता है कि, वे चार आध्यात्मिक दोष कौन से हैं ? उत्तर में कहा जाता है कि, क्रोध, मान, माया और लोभ इन्हीं के द्वारा पापकर्म की वृद्धि होती है। ये चारों ही पापकर्म संपादन करने के मूल कारण हैं। अतएव विचार शील साधु को चाहिये कि इन चारों महादोषों का सर्वथा परित्याग करदे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार 'क्रोध आदि दोषों से क्या हानि होती है' यह कहते हैं :—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३८॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः।
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः ॥३८॥

पदार्थान्वयः—कोहो-क्रोध पीइं-प्रीति का पणासेइ-नाश करता है माणो-अहंकार विणयनासणो-विनय का नाश करता है माया-माया मित्ताणि-मित्रता का नासेइ-नाश करती है और लोभो-लोभ तो सव्वविणासणो-सभी श्रेष्ठ गुणों का नाश करता है।

मूलार्थ—क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का नाश होता है, माया से मित्रता का नाश होता है और चौथा लोभ सभी सद्गुणों का नाश करने वाला है।

टीका—इस गाथा में उक्त चारों दोषों का ऐहलौकिक फल दिखाया गया है। जैसे—क्रोध प्रीति का नाश करने वाला है; क्रोधान्ध मनुष्य ऐसे दुर्वचन बोलता है, जिससे प्रीति का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। इसी प्रकार मान, विनय का नाश करने वाला है, क्योंकि, मानी पुरुष अपने से भिन्न किसी और की पर्युपासना नहीं कर सकता, पर्युपासना तब करे जब कि वह किसी को अपने से बड़ा माने। माया, मैत्री-भाव की नाश करने वाली है, जब मनुष्य का छल प्रकट हो जाता है, तब फिर मित्र भी उसका विश्वास नहीं करते। वे भी उसे

मायाचारी (धोखेबाज) जानकर छोड़ देते हैं । अब चौथा लोभ है । वह प्रीति, विनय और मैत्री आदि सब सद्‌गुणों का जड़ मूल से नाश करने वाला है । इसकी नीचता में कोई सीमा ही नहीं है । अतएव ये चारों महादोष, कल्याणाभिलाषी मनुष्य के लिये सर्वथा त्याज्य हैं । कारण यह है कि, अनुमान से अनुमेय का ज्ञान होता है, जब ये चारों इस लोक में घोर कष्टों के देने वाले हैं, तो फिर परलोक में क्यों न अतीव घोर कष्टप्रद होंगे ? अपितु अवश्यमेव होंगे ।

उत्थानिका—अब, ये चारों दोष कैसे नष्ट किये जा सकते हैं, यह कथन करते हैं :—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं च अज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥३९॥

उपशमेन हन्यात् क्रोधं, मानं मार्दवेन जयेत् ।
मायां च आर्जवभावेन, लोभं सन्तोषतः जयेत् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—**कोहं**-क्रोध को **उवसमेण**-शान्ति से **हणे**-हनन करना चाहिये **माणं**-अहंकार को **मद्दवया**-मार्दव भाव से **जिणे**-जीतना चाहिये **मायं**-माया को **अज्जवभावेण**-सरल भाव से नष्ट करना चाहिये **च**-एवं **लोभं**-लोभ को **संतोसओ**-संतोष से **जिणे**-जीतना चाहिये ।

मूलार्थ—**शान्ति से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को, एवं सन्तोष से लोभ को जीत कर, समूल नष्ट करना चाहिये ।**

टीका—इस गाथा में उक्त चारों दोषों के जीतने का मार्ग प्रतिपादन किया गया है । जैसे—शान्ति से क्रोध को जीतना चाहिये, क्योंकि, बैर से बैर कभी नहीं जीता जाता । जो बैर से बैर मिटाना चाहते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं । बैर (विरोध) के मेटने वाली एक अचूक शान्ति ही है, इसी से वास्तविक सुख मिल सकता है । मृदुभाव से अर्थात् सकोमल-वृत्ति के भावों से मान को जीतना चाहिये, तथा पदार्थों की क्षण क्षण में होने वाली अवस्थाओं का पुनः पुनः अनुप्रेक्षण करके मान को निर्मूल करना चाहिये । क्योंकि, जब किसी भी पदार्थ का कोई पौद्गलिक पर्याय एकसा नित्य नहीं रहता है, तो फिर मान किस प्रकार

किया जाय। ऋजुभावों से माया का नाश करना चाहिये, जिसके भाव सदैव सरल बने रहते हैं, उस के अन्तः करण मे फिर माया का निवास किसी प्रकार से भी नहीं हो सकता। और सर्वनाश कारी लोभ शत्रु को संतोष के तीक्ष्ण शस्त्र से जीतना चाहिये, सन्तोष का और लोभ का तो सदैव दिन रात जैसा वैर है। अतः हृदय में संतोष के विराजते ही लोभ इस प्रकार भाग जाता है, जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार भाग जाता है। सूत्रकार का भाव यह है—कल्याणकामी जीव को प्रथम तो इन कषायों के उदय होने के कोई कारण ही नहीं करने चाहिये। तथापि यदि कभी दैवयोग से इन के उदय होने के कारण बन ही आवें तो उपर्युक्त उपायों का अवलंबन करके इनके उदय का निरोध और उदय-प्राप्त को विफल कर देना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, कषायजन्य पारलौकिक-कष्ट का वर्णन करते हैं:—

कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ,
माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥४०॥

क्रोधश्च मानश्च अनिगृहीतौ,
माया च लोभश्च प्रवर्द्धमानौ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः,
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥४०॥

पदार्थान्वयः—अणिग्गहीआ—वश मे नहीं किये हुए कोहो—क्रोध अ—तथा माणोअ—मान पवड्ढमाणा—बढ़े हुए माया—छल अ—और लोभो अ—लोभ एए—ये चत्तारि—चार कसिणा—क्लिष्ट (कठोर) कसाया—कषाय पुणब्भवस्स—पुनर्जन्म रूपी संसार वृक्ष की मूलाइं—जड़ों को सिंचंति—सींचते हैं।

मूलार्थ—अनिगृहीत क्रोध और मान, तथा प्रवर्द्धमान माया और लोभ, ये चारों ही क्लिष्ट-कषाय पुनर्जन्म रूप विषवृक्ष की जड़ों का सिंचन करने वाले हैं।

टीका—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, पूर्वोक्त चारों ही दोष संसार-वृद्धि के कारण हैं। जैसे—वश में नहीं हुए क्रोध और मान तथा बढ़े हुए माया और लोभ, ये चारों ही कषाय-कृष्ण (काले) वा क्लिष्ट पुनर्जन्म रूपी विषवृक्ष के मूल का सिंचन करते हैं। अर्थात् अशुभ भाव रूपी जल से तथाविध कर्म रूप का सिंचन करते हैं, जिससे जन्म-मरण की विशेष वृद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार ये चारों कषाय इस लोक में नाना प्रकार के बंधन, ताड़न, एवं भर्त्सन आदि दुःखों के देने वाले हैं, ठीक इसी प्रकार परलोक में भी दुःखप्रद ही हैं। इसलिये सब से बड़ा धर्म-कृत्य यही है कि, इन चारों महादोषों को आत्मा से पृथक् कर दिया जाय। जब तक ये पृथक् नहीं होंगे, तब तक यह आत्मा मोक्ष मन्दिर में जाकर स्थायी सुख शान्ति से नहीं बैठ सकेगी।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, कषायों के निग्रह करने का ससाधन सदुपदेश देते हैं:—

रायणिएसु विणयं पउंजे,
धुवसीलयं सययं न हावइज्जा।
कुम्मुव्व अल्लीणपलीणगुत्तो,
परक्कमिज्जा तव संजमंमि ॥४१॥

रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत,
ध्रुवशीलतां सततं न हापयेत्।
कूर्म इव आलीनप्रलीनगुप्तः,
पराक्रमेत तपः संयमयोः ॥४१॥

पदार्थान्वयः—रायणिएसु-रत्नाधिकों-आचार्यों के प्रति विणयं-विनय का पउंजे-प्रयोग करे तथा सययं-निरन्तर धुवसीलयं-ध्रुव शीलता का न हावइज्जा-

ह्रास न करे तथैव कुम्मुव्व-कूर्म के समान अल्लीणपलीणगुत्तो-अपने अङ्गोपाङ्गों की सम्यक्तया पापों से रक्षा करता हुआ तवसंजमंमि-तप संयम के विषय में परक्कमिज्जा-पराक्रम करे।

मूलार्थ—मोक्षार्थी साधु को चिरदीक्षित एवं विद्यावृद्ध आचार्य प्रमुख की विनय भक्ति करनी चाहिये, तथा शील सम्बन्धी दृढ़ता का कभी ह्रास नहीं करना चाहिये, और कछवे के समान अपनी इन्द्रियों को गुप्त रखके तप संयम की क्रियाओं में बड़ी तत्परता से पराक्रम करना चाहिये।

टीका—इस काव्य में रत्नाधिकों की विनय का और स्वीकृत सदाचारों मे दृढ़ता का विधान किया गया है। जैसे—जो साधु अपने से दीक्षा में बड़ा है, उसकी सम्यक् तथा अभ्युत्थानादि रूप विनय करनी चाहिये। तथा जो अष्टादश-सहस्र-शीलाङ्ग पालन रूप ध्रुव-शीलता (ब्रह्मचर्य) है उसकी कभी भी हानि नहीं करनी चाहिये। इतना ही नहीं, किन्तु कूर्म के समान अपने अङ्गोपाङ्गों को सम्यक्तया पाप क्रिया से गुप्त रखना चाहिये। और जो तप प्रधान संयम है, उस में सदैव काल पराक्रम करना चाहिये। सारांश यह है कि, दीक्षा वा ज्ञानादि में बड़ों की विनय, अपने शील मे दृढ़ता तथा तप-संयम में पुरुषार्थ, ये तीनों कृत्य साधु को अवश्यमेव करने चाहिये। क्योंकि, उपर्युक्त क्रियाओं के करने से पूर्ण आत्म-विशुद्धि होती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, निद्रा एवं हास्य परित्याग के विषय में कहते हैं:—

निद्दं च न बहुमन्निज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायंमि रओ सया ॥४२॥

निद्रां च न बहु मन्येत, सप्रहासं विवर्जयेत्।
मिथः कथासु न रमेत, स्वाध्याये रतः सदा ॥४२॥

पदार्थान्वयः—साधु निद्दं-निद्रा को न बहुमन्निज्जा-बहुमान न दे च-तथा सप्पहासं-अत्यन्त हास को विवज्जए-वर्जे दे, उसी प्रकार मिहो कहाहिं-परस्पर की

विकथा रूप वार्त्ताओं में न रमे-रमण न करे, किन्तु सया-सदा सज्झायंमि-स्वाध्याय के विषय में रओ-रत रहे।

मूलार्थ—साधु को निद्रालु, प्रहास-प्रिय एवं परस्पर की विकथा रूप बातों में तल्लीनता रखने वाला नहीं होना चाहिये; अपितु सर्वदा महान् स्वाध्याय-तप के विषय में पूर्णतया रत रहना चाहिये।

टीका—साधु को निद्रा का सत्कार नहीं करना चाहिये, जैसे—प्रकाम-शायी होना या जिस प्रकार निद्रा अधिक आवे, ऐसा उपाय करना। और अत्यन्त हँसना भी नहीं चाहिये। क्योंकि, अत्यन्त हँसने से अविनय और अपनी असभ्यता प्रकट होती है, कर्मों का महान् बंधन होता है तथा किसी समय उपहास द्वारा कलह भी उत्पन्न हो सकता है। साधु को किसी एकान्त स्थान में इकट्ठे हुए साधु-वर्ग में बैठ कर परस्पर विकथाओं द्वारा अमूल्य समय भी नष्ट नहीं करना चाहिये। क्योंकि, जो समय विकथा में जाता है, उसका सदुपयोग नहीं किया जा सकता है और विकथा के व्यसन में पड़ जाने के बाद मनुष्य सभी धर्म कर्मों से भ्रष्ट हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि, जब साधु को ये काम वर्जित हैं, तो फिर क्या काम करना चाहिये, जिससे पाप भी न लगे और धर्म से भी भ्रष्ट नहीं होना पड़े और समय भी भाररूप न होकर आनन्द पूर्वक व्यतीत हो जाय? उत्तर में कहा जाता है कि, पढ़ना, पूछना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्म कथा रूप स्वाध्याय तप में सदैव काल रत रहना चाहिये क्योंकि, स्वाध्याय से ज्ञानावर्णीय कर्म का क्षयोपशम और ज्ञान की प्राप्ति होती है और साथ ही समय भी आनन्द पूर्वक व्यतीत हो जाता है।

उत्थानिका—अब, फिर आलस्य-परित्याग के विषय में ही कहते हैं:—

जोगं च समणधम्मंमि, जुंजे अनलसो धुवं।
जुत्तो अ समणधम्मंमि, अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥४३॥

योगं च श्रमणधर्मे, युञ्जीत अनलसो ध्रुवम्।
युक्तश्च श्रमणधर्मे, अर्थं लभते अनुत्तरम् ॥४३॥

पदार्थान्वयः—धुवं—सदाकाल अनलसो—आलस्य से रहित होकर समण-धम्मंमि—श्रमण धर्म मे जोगं च—तीनों योगों को जुंजे—जोड़े, क्योंकि, समणधम्मंमि—श्रमण धर्म में जुत्तो अ—युक्त साधु अणुत्तरं—सब से बढ़ कर अट्ठं—अर्थ को (मोक्ष को) लहइ—प्राप्त करता है ।

सूलार्थ—साधु को स्वीकृत श्रमणधर्म में आलस्य का सर्वथा परित्याग करके योग-त्रय को जोड़ना चाहिये। क्योंकि, श्रमणधर्म में योग-त्रय से युक्त साधु ही सर्व प्रधान अर्थ जो मोक्ष है, उसको प्राप्त करता है।

टीका—इस गाथा मे आज्ञा और फल के विषय में वर्णन किया गया है। श्री भगवान् उपदेश करते हैं—हे साधुओ ! तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम अपने क्षमार्जवादि लक्षण श्रमण-धर्म में मन वचन और काय रूप तीनों योग को जोड़ो। इस कार्य में तनिक भी आलस्य मत करो। कारण यह है कि, श्रमण धर्म में निश्चलता पूर्वक योग जोड़ने से साधु मोक्ष सुख की एवं सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि अर्थों की प्राप्ति कर लेता है। स्पष्टार्थ यह है—अनुप्रेक्षा काल में मनो-योग, अध्ययन काल मे वचन-योग और प्रत्युपेक्षण काल में काय-योग, इस प्रकार तीनों योगों को श्रमण धर्म में जोड़ देना चाहिये, जिस के फल स्वरूप मोक्ष सुख की प्राप्ति सहज मे ही हो जाती है। 'ध्रुव' कहने का शास्त्रकार का यह आशय है कि, साधु को आत्म विश्वासी होकर उत्साह पूर्वक श्रमण धर्म में योग जोड़ना चाहिये। क्योंकि, विना आत्म विश्वासी और उत्साही बने श्रमण धर्म में तीन काल में योग नहीं जुड़ सकता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, ज्ञान प्राप्ति के लिये गुरुजनों की सेवा करने का उपदेश देते हैं:—

इह लोगपारत्तहिअं, जेण गच्छई सुग्गइं।
बहुस्सुअं पज्जुवासिज्जा, पुच्छिज्जत्थविणिच्छयं ॥४४॥

इह लोके परत्र हितं, येन गच्छति सुगतिम्।
बहुश्रुतं पर्युपासीत, पृच्छेत् अर्थविनिश्चयम् ॥४४॥

पदार्थान्वयः—जेण-जिससे इहलोगपारत्तहिअं-इस लोक में और पर-लोक में हित होता है तथा सुग्गइं-सुगति की गच्छई-प्राप्ति होती है, ऐसे ज्ञान को प्राप्त करने के लिये साधु, बहुस्सुअं-किसी बहुश्रुत मुनि की पज्जुवासिज्जा-पर्युपासना करे और पर्युपासना करता हुआ अत्थविणिच्छयं-अर्थ विनिश्चय की पुच्छिज्जा-पृच्छना करे।

मूलार्थ—जिसके द्वारा लोक परलोक दोनों में हित होता है तथा सद्गति की प्राप्ति होती है, ऐसे सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के लिये साधु को शास्त्र विशारद बहुश्रुत मुनि की सेवा भक्ति करनी चाहिये और सेवा भक्ति करते हुए पदार्थ के यथार्थ निश्चय की पृच्छना करनी चाहिये।

टीका—अकुशल प्रवृत्ति के निरोध से और कुशल प्रवृत्ति के अनुबंध से मनुष्य को दोनों लोकों में सुख शान्ति की उपलब्धि होती है। जिससे कुशल और अकुशल प्रवृत्ति का ज्ञान होता है, जिससे लोक परलोक दोनों में हित होता है तथा जिससे सद्गति की प्राप्ति होती है, अर्थात् परंपरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसे सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के लिये साधु को विनम्र भाव से बहुश्रुत मुनियों की पर्युपासना करनी चाहिये और पर्युपासना करते हुए ही प्रश्न पूछ पूछ कर पदार्थों का यथार्थ निश्चय करना चाहिये। इसमें मुख्य हेतु यही है कि, एक मात्र बहुश्रुत मुनियों से ही पदार्थों का यथार्थ निश्चय हो सकता है, औरों से नहीं। बहुश्रुत मुनियों की सेवा करने वाला ही जान सकता है कि, यह मार्ग कल्याण का है, यह मार्ग दुःख का है, यह कार्य अर्थकारी है और यह कार्य अनर्थकारी है। जो जिस विद्या का अधिपति होता है, वही जिज्ञासु को उस विद्या का यथार्थ ज्ञान करा सकता है। बहुश्रुत मुनि, अध्यात्म विद्या के अधिपति हैं, अतः वे मुमुक्षु को अध्यात्म-विद्या का याथातथ्य ज्ञान कराकर उसे संयम में ध्रुव (निश्चल) कर देते हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'गुरु के पास में हस्त पादादि को संकोच कर बैठना चाहिये' इस विषय में प्रतिपादन करते हैं:—

हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी ॥४५॥

हस्तं पादं च, कायं च, प्रणिधाय जितेन्द्रियः।
आलीनगुप्तः निषीदेत्, सकाशे गुरोः मुनिः ॥४५॥

पदार्थान्वयः—जिइंदिए-जितेन्द्रिय मुणी-साधु हत्थं-अपने हाथ को च-तथा पायं-अपने पैर को च-तथा कायं-अपने शरीर को पणिहाय-मर्यादित करके अल्लीणगुत्तो-उपयोग पूर्वक गुरुणो गुरु श्री के सगासे-पास में निसिए-बैठे।

मूलार्थ—जितेन्द्रिय साधु को गुरु श्री के पास में उपयोग पूर्वक अपने हाथ, पैर और शरीर को मर्यादित रूप में संकोच कर बैठना चाहिये।

टीका—इस गाथा में गुरु श्री की पर्युपासना करने की विधि का विधान किया गया है। इन्द्रियों के जीतने वाले मुनि को योग्य है कि, वह अपने हाथ, पैर और शरीर को इस प्रकार संकोच कर गुरु श्री के पास बैठे; जिस से गुरु श्री की अविनय (अवहेलना) न हो सके। तथा बैठते समय ईषल्लीन (उपयोग युक्त) होना चाहिये, जिससे प्रत्येक कार्य में सावधानता हो सके। सूत्र में जो 'प्रणिधाय' शब्द आया है, उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि, साधु को गुरु श्री के समक्ष बैठते समय अपने हस्त, पादादि शारीरिक अवयवों को सङ्कोच कर पूर्ण सभ्यता से बैठना चाहिये। क्योंकि, असभ्यता से अड़कर बैठने में अपनी, गुरु श्री की और साथ ही जैन शासन की निन्दा होती है।

उत्थानिका—अब, फिर इसी विषय में कहा जाता है:—

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य ऊरुं समासिज्ज, चिट्ठिज्जा गुरुणंतिए ॥४६॥
न पक्षतः न पुरतः, नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न च ऊरुं समाश्रित्य, तिष्ठेत् गुर्वन्तिके ॥४६॥

पदार्थान्वयः—किच्चाणं-आचार्यों के न पक्खओ-न पार्श्वभाग में तथा न पुरओ-न अग्रभाग में तथा नेव पिट्ठओ-नाहीं पृष्ठ भाग में बैठे य-एवं गुरुणंतिए-गुरु श्री के समीप ऊरुंसमासिज्ज-जांघ पर जांघ रख कर भी न चिट्ठिज्जा-न बैठे।

मूलार्थ—साधु को आचार्य प्रमुख गुरुजनों के समीप बराबर, आगे, पीठ पीछे तथा जांघ पर जांघ रखकर नहीं बैठना चाहिये।

टीका—इस गाथा में शरीर से पर्युपासना करने का वर्णन किया गया है। साधु आचार्यो के बराबर न बैठे, इस प्रकार बैठने से अविनय का प्रदर्शन होता है। तथा उन के अतीव आगे भी न बैठे, इससे अन्य वन्दना करने वालों को अन्तराय पड़ता है। तथा पीठ पीछे भी न बैठे; इस तरह बैठने से गुरु श्री की कृपापूर्ण दृष्टि अपने ऊपर नहीं पड़ने पाती, जिससे शारीरिक चेष्टादि के न देखने से अविनय भाव का प्रसंग आता है। तथा सामने न होने पर शास्त्रों के अर्थों का निश्चय भी ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता। गुरु श्री के समीप जंघा पर जंघा रख कर नहीं बैठना चाहिये। क्योंकि इससे गुरु श्री की अशासनता होने का दोष लगता है। भाव यह कि, ये सब आसन अविनय भाव के सूचक हैं, अतएव इन आसनों से आचार्य वा गुरु श्री के पास में शिष्य को नहीं बैठना चाहिये; किन्तु यथायोग्य, सभ्यता पूर्वक ही बैठना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, काय-प्रणिधि के पश्चात् वचन-प्रणिधि के विषय में कहते हैं:—

अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥४७॥
अपृष्टो न भाषेत, भाषमाणस्यान्तरा।
पृष्ठमांसं न खादेत्, मायामृषां विवर्जयेत् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—आज्ञाकारी शिष्य **अपुच्छिओ**-गुरु श्री के विना पूछे तथा **भासमाणस्स**-गुरु श्री के बात करते हुए **अंतरा**-बीच में **नभासिज्जा**-न बोले तथा **पिट्ठिमंसं**-पिशुनता भी **नखाइज्जा**-न करे और **मायामोसं**-कपट तथा असत्य को भी **विवज्जए**-वर्ज देवे।

मूलार्थ—सच्चा आज्ञाकारी शिष्य वही होता है, जो गुरु श्री के विना पूछे नहीं बोलता, जो गुरु श्री के बात करते हुए बीच-बीच में अपना वार्तालाप नहीं छेड़ता, जो पीठ पीछे चुगली नहीं करता और जो कपट तथा असत्य का अल्प भी आश्रय नहीं लेता।

टीका—इस गाथा में वचन-प्रणिधि-विषयक वर्णन किया गया है। जैसे—शिष्य को अकारण-विना गुरु श्री के बुलाये नहीं बोलना चाहिये और साथ ही जब गुरु श्री किसी से वार्तालाप कर रहे हों; तब बीच में भी न बोलना चाहिये। इससे अविनय का दोष लगता है, जिसके कारण जीव को नीच योनियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करना पड़ता है। इतना ही नहीं, किन्तु पीठ पीछे किसी की निन्दा बुराई भी नहीं करनी चाहिये और छल तथा असत्य का भी सदा परित्याग कर देना चाहिये। क्योंकि, इन पिशुनता, छल, असत्य आदि दोषों से आत्मा अत्यन्त मलिन हो जाती है। जिसके कारण सद्गति का प्राप्त होना असम्भव हो जाता है। सूत्र में आया हुआ 'पिट्ठिमंसं न खाइज्जा' पद अतीव गम्भीर है। इस का व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ होता है—'पीठ का मांस न खाना चाहिये।' यह अर्थ यहाँ नहीं बैठता; क्योंकि भाषा के प्रकरण में भला मांस का क्या प्रयोजन? अतः इस का तात्पर्यार्थ यह है—'साधु को परोक्ष-दोष-कीर्तन नहीं करना चाहिये।' अर्थात् परोक्ष में (पीठ पीछे) किसी का अवर्ण वाद (चुगली) नहीं करना चाहिये। परोक्ष में किसी की निन्दा करना पीठ का मांस खाने जैसा है। पिशुनता के स्थान में इस द्रव्यतः कठोर एवं भावतः कोमल 'पृष्ठमांस' शब्द का प्रयोग किया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अहित-कारिणी भाषा के बोलने का निषेध करते हैं:—

अप्पत्तिअं जेण सिआ, आसु कुप्पिज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणिं ॥४८॥

अप्रीति र्येय स्यात्, आशु कुप्येत् वा परः।
सर्वशः तां न भाषेत्, भाषामहितगामिनीम् ॥४८॥

पदार्थान्वयः—जेण—जिस भाषा के बोलने से अप्पत्तिअं—अप्रीति सिआ—होती हो वा—अथवा परो—सुनने वाला दूसरा व्यक्ति, आसु—शीघ्र ही कुप्पिज्ज—कुपित होता हो तं—ऐसी अहिअगामिणिं—अहित करने वाली भासं—भाषा को सव्वसो—सभी प्रकार से सभी अवस्थाओं में न भासिज्जा—भाषण न करे।

मूलार्थ—जिस भाषा के बोलने से अपनी अप्रीति होती हो एवं दूसरा कोई सुन कर शीघ्र ही क्रुद्ध होता हो; ऐसी उभय लोक विरुद्ध अहितकारिणी भाषा का भाषण सभी प्रकार से परित्याज्य है।

टीका—जिस भाषा के बोलने से अपनी तथा अपने धर्म की अप्रीति होती हो, तथा जिस भाषा के बोलने से दूसरा कोई सुनने वाला व्यक्ति शीघ्र ही क्रोध में आता हो, तथा जो भाषा दोनों लोकों में अहित करने वाली हो; ऐसी दुष्ट एवं कठोर भाषा को सभी स्थानों में सभी प्रकार से साधु को कदापि भाषण नहीं करना चाहिये। कारण यह है कि, भाषा समिति के ठीक न रहने से क्लेश की वृद्धि होती है और आत्मिक शुद्धता का नाश होकर आत्मा महा मलिन हो जाती है। सूत्र में जो 'यया' स्त्रीलिङ्ग के स्थान में 'जेण' 'येन' यह पुलिङ्ग का प्रयोग किया है, सो प्राकृत भाषा के कारण से है। तथा यह आर्ष प्रयोग भी है। आर्ष प्रयोग, लिङ्ग-बंधन के पूर्ण रूप से बंधे हुए नहीं होते हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, साधु को कैसी भाषा बोलनी चाहिये यह उपदेश करते हैं:—

दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअं जिअं।
अयंपिरमणुव्विग्गं , भासं निसिर अत्तवं ॥४९॥
दृष्टां मितामसंदिग्धां, प्रतिपूर्णां व्यक्तां जिताम्।
अजल्पाकी मनुद्विग्नां, भाषां निसृजेत् आत्मवान् ॥४९॥

पदार्थान्वयः—अत्तवं-आत्मवान् साधु दिट्ठं-देखी हुई मिअं-परिमित असंदिद्धं-सन्देह रहित पडिपुन्नं-प्रतिपूर्ण विअं-प्रकट जिअं-परिचित अयंपिरं-अजल्पनशील और अणुव्विग्गं-अनुद्विग्न भासं-भाषा को निसिर-भाषण करे।

मूलार्थ—आत्मोपयोगी साधु, वही भाषा बोले जो स्वयं अनुभव में आई हुई हो। यों ही किसी चलते आदमी से सुनी सुनाई न हो, जो असंदिग्ध हो अर्थात् जिस में किसी प्रकार की शङ्का न हो, जो प्रति पूर्ण हो अधूरी (उपक्रम उपसंहार से रहित) न हो, जो अच्छी प्रकार स्पष्ट हो गुनगुनात्मक न हो तथा जो परिचित, अजल्पनशील, अनुद्विग्न एवं परिमित हो।

टीका—आत्मवान् विचार शील साधु को योग्य है—वह वही भाषा बोले जिसे स्वयं उसने भली प्रकार देख लिया हो; जो स्वरूप और प्रयोजन से परिमित हो; जो श्रोताओं के अन्तः करण में सन्देह उत्पन्न करने वाली न हो; जो व्यञ्जन और स्वरादि से प्रति पूर्ण हो, जो व्यक्त हो—'मुम्मुण' वचनात्मक न हो, जो सर्व प्रकार से परिचित हो; जो अति ऊँची नीची न हो, और जो किसी प्राणी को उद्वेग करने वाली न हो। ऊपर बतलायी हुई समयोचित भाषा ही मुनि को भाषण करनी चाहिये। कारण यह है कि, सर्वदा शुद्ध भाषा के बोलने से ही अपनी आत्म-समाधि और अन्य श्रोता व्यक्तियों को महान् ज्ञान रूप लाभ की प्राप्ति होती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'यदि कभी कोई विद्वान मुनि वचनस्खलित हो जाय, तो उसकी हँसी नहीं करनी चाहिये' यह कहते हैं:—

आयारपन्नत्तिधरं , दिट्ठिवायमहिज्जगं ।
वायविक्खलिअं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ॥५०॥

आचार-प्रज्ञप्ति-धरं , दृष्टिवादमधीयानम् ।
वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा, न तमुपहसेत् मुनिः ॥५०॥

पदार्थान्वयः—मुणी–साधु आयारपन्नत्तिधरं–आचार और प्रज्ञप्ति के धारण करने वाले एवं दिट्ठिवायमहिज्जगं–दृष्टिवाद के पढ़ने वाले साधु को वायविक्खलिअं–वचन से स्खलित हुआ नच्चा–जान कर तं–उसका न उवहसे–उपहास न करे।

मूलार्थ—आचार-प्रज्ञप्ति के धारक एवं दृष्टिवाद के पढ़ने वाले बहुश्रुत मुनि भी, यदि कभी बोलते समय प्रमादवश वचन से स्खलित हो जायँ और अशुद्ध शब्द का प्रयोग करें तो साधु को उन महापुरुषों का उपहास नहीं करना चाहिये।

टीका—जो साधु, आचार-प्रज्ञप्ति के धरने वाले हैं और दृष्टिवाद के पढ़ने वाले हैं, यदि वे भी किसी समय बोलते हुए प्रमादवश शुद्ध वचन से स्खलित हो-

१. 'इह च दृष्टिवादमधीयानमित्युक्तमतं इदं गम्यते—नाधीतदृष्टिवादम्।' तस्य ज्ञानाप्रमादातिशयतः स्खलनासंभवात्, इति टीका।

कर अशुद्ध वचन का प्रयोग कर बैठें अर्थात् लिङ्ग आदि से प्रतिकूल कुछ कह बैठें तो उनका उपहास नहीं करना चाहिये। जैसे कि, लो भाई, यह बहुश्रुत कहाने वालों का वचन-कौशल देख लो। आश्चर्य है, ये कैसे आचार-प्रज्ञप्ति के धर्ता एवं दृष्टि-वाद के अध्येता हैं, जो इस प्रकार के महान् अशुद्ध शब्दों का प्रयोग करते हैं, ऐसे अशुद्ध शब्द तो साधारण पढ़ा लिखा भी नहीं बोलता इत्यादि। उपहास नहीं करने का कारण यह हैं—छद्मस्थ के पीछे भूल लगी हुई है। छद्मस्थ मनुष्य, भूल न करने की पूरी पूरी सावधानी रखता हुआ भी भूल के चक्कर में आ जाता है। भूल की सत्ता का लोप तो सर्वज्ञ बन जाने पर ही होता है। अतएव भूल से बोले हुए शब्दों को पकड़ कर वक्ता को अवर्ण वाद नहीं बोलना चाहिये। प्रतिष्ठित वक्ताओं की मामूली सी बात को पकड़ कर उपहास करना असभ्यता की चरम-सीमा है। इससे बढ़कर कोई असभ्यता नहीं हो सकती है। ऐसा करने वाले समझते तो यह हैं कि, इससे हमारी विद्वत्ता की प्रशंसा होगी; परन्तु इस समझ से सर्वथा विपरीत काम होता । निन्दा करने वाला ही स्वयं निन्दा का पात्र बन जाता है। ऊपर के वक्तव्य से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि, चलो छद्मस्थ तो हैं ही भूल भी अनिवार्य है इस लिये यदि अशुद्ध बोला जाय तो, क्या दोष है। कौन शुद्ध भाषा भाषी बनने का कष्ट उठावे ? प्रयत्न बड़ा है। बल्कि शुद्ध बोलने का सदा काल प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। सूत्र में आये हुए 'आचार प्रज्ञप्ति' और 'दृष्टिवाद' से क्रमानुसार यह अभिप्राय है–आचारधर उसे कहते हैं जो स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग आदि का ज्ञान रखता है। प्रज्ञप्तिधर उसे कहते हैं जो स्त्रीलिङ्ग आदि के विशेषणों को भी विशेष रूप से जानता है। दृष्टिवाद के कहने से यह भाव है जो प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्ण विकार और लकार आदि सभी व्याकरण के अङ्गों को भली प्रकार जानता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'साधु को मंत्र तंत्रादि करने योग्य नहीं हैं' यह कहते हैं :—

नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंतभेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूआहिगरणं पयं ॥५१॥

नक्षत्रं स्वप्नं योगं, निमित्तं मंत्रभेषजम्।
गृहिणः तत् न आचक्षीत, भूताधिकरणं पदम् ॥५१॥

पदार्थान्वयः—साधु नक्खत्तं-नक्षत्र सुमिणं-स्वप्न जोगं-वशीकरण आदि योग निमित्तं-निमित्त विद्या मंतभेसजं-मंत्र और औषधि आदि तं-प्रसिद्ध अयोग्य बातें गिहिणो-गृहस्थ को न आइक्खे-न बतलावे; क्योंकि ये भूआहिगरणंपयं-प्राणियों के अधिकरण के स्थान हैं।

मूलार्थ—भवितात्मा साधु को नक्षत्र, स्वप्न, योग, निमित्त, मंत्र और औषधि आदि की अयोग्य प्ररूपणा गृहस्थों के प्रति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि, इनकी प्ररूपणा करने से षट् कायिक जीवों की हिंसा होती है।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि, साधु को नक्षत्र विद्या, स्वप्नों का शुभाशुभ फल बतलाने वाली स्वप्न विद्या, वशीकरण आदि योग विद्या, अतीतादि फल सूचिका निमित्त विद्या, वृश्चिकादि विषहारिका मंत्र विद्या, अतिसार आदि रोगनिवारिका औषधि विद्या इत्यादि विद्याएँ असंयतों-गृहस्थों के प्रति कभी नहीं कहनी चाहिये। इन सावद्य वचनों का उपदेश करने से प्राणी, भूत, जीव, सत्वों का नाश अथवा उन को संताप होता है। यदि कोई गृहस्थ साग्रह पूछे भी तो उसे कह देना चाहिये कि, 'अनधिकारोऽत्रतपस्विनामिति' साधुओं को इन बातों के कहने का अधिकार नहीं है, ये सब सावद्य स्थान हैं। अतः आप मुझे अपना काम करने दें।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, साधु के ठहरने योग्य स्थान का उल्लेख करते हैं:—

अन्नट्ठं पगडं लयणं, भइज्ज सयणासणं।
उच्चारभूमिसंपन्नं, इत्थीपसुविवज्जिअं ॥५२॥
अन्यार्थं प्रकृतं लयनं, भजेत शयनासनम्।
उच्चारभूमिसंपन्नं, स्त्रीपशुविवर्जितम् ॥५२॥

पदार्थान्वयः—अन्नट्ठं-अन्य के वास्ते पगडं-बनाये हुए उच्चारभूमिसंपन्नं-उच्चार भूमि युक्त तथा इत्थीपसुविवज्जिअं-स्त्री और पशुओं से रहित लयणं-स्थान का

तथा इसी प्रकार अन्यार्थं निर्मित सयणासणं-शय्या और आसन आदि का भइज्ज-सेवन करे।

मूलार्थ—साधु को उसी मकान में ठहरना चाहिये जो गृहस्थ ने अपने लिये बनाया हो अर्थात् जो साधु के वास्ते न बनाया गया हो, जो उच्चार प्रस्रवण भूमि वाला हो, जो स्त्री, पशु, आदि से रहित हो तथा इसी प्रकार की शय्या तथा आसनादि वस्तुएँ भी अन्यार्थ कृत हों अपने उपयोग में लानी चाहिएँ।

टीका—इस गाथा में उपाश्रय और शयनासन आदि के सेवन के विषय में वर्णन किया गया हैं। जैसे कि, जो उपाश्रय (स्थानक) अन्य के वास्ते बनाया गया है अर्थात् जो साधु का निमित्त रख कर नहीं बनाया गया है। तथा जो उच्चार भूमि संपन्न है; क्योंकि, जिस स्थान में मलमूत्र आदि त्यागने के लिये स्थान नहीं होता, वह स्थान साधु के ठहरने के लायक नहीं होता। तथा जो स्त्री पशु और नपुंसक आदि से भी रहित है, ऐसे उपाश्रय में ही साधु को ठहरना चाहिये। तथा इसी प्रकार जो संस्तारक और पीठ फलक आदि वस्तुएँ भी अन्यार्थ कृत हों, साधु के लिये नहीं बनाई गई हों, तो साधु उनको अपने काम में ला सकता है। साधु को वे ही पदार्थ अग्राह्य होते हैं, जो केवल साधु के उद्देश से बनाये हुए होते हैं। यदि ऐसा कहा जाय कि, उपाश्रय उच्चार भूमि संपन्न होना चाहिये, ऐसा क्यों लिखा है तो इस के उत्तर में कहा जाता है कि, यदि उपाश्रय उच्चार भूमि युक्त नहीं होगा तो पुनः पुनः बाहर जाने से लोगों में अविनय की प्रवृत्ति होगी। तथा रात्रि में नाना प्रकार के दोषों के लगने की संभावना की जा सकेगी।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, 'उपर्युक्त स्थानों में किस प्रकार धर्म कथा कहनी चाहिये' यह प्रतिपादन करते हैं:—

विवित्ता अ भवे सिज्जा, नारीणं न लवे कहं।
गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं ॥५३॥

विविक्ता च भवेत् शय्या, नारीणां न लपेत् कथाम्।
गृहिसंस्तवं न कुर्यात्, कुर्यात् साधुभिः संस्तवम् ॥५३॥

पदार्थान्वयः—सिज्ञा-यदि उपाश्रय विवित्ता-अन्य साधुओं से रहित भवे-हो अ-तो वहाँ अकेला नारीणं-स्त्रियों के मध्य में कहं-कथा-वार्ता न लवे-न कहे तथा गिहिसंथवं-गृहस्थों से परिचय न कुज्ञा-न करे, किन्तु साहूहिं-साधुओं के साथ ही संथवं-संस्तव (परिचय) कुज्ञा-करे।

मूलार्थ—उपाश्रय में यदि और साधु न हों केवल अकेला ही हो तो स्त्रियों से अन्य बातचीत तो क्या, धर्म-कथा-प्रवचन का भी दुस्साहस न करे। तथा गृहस्थों के साथ संस्तव-परिचय भी न करे, क्योंकि वह स्वयं साधु है; अतः साथी साधुओं के साथ ही उसको परिचय करना चाहिये।

टीका—यदि उपाश्रय विविक्त है, अर्थात् अन्य साधु या गृहस्थ नहीं है, जिस प्रकार अपने बिल में सर्प अकेला ही रहता है, ठीक उसी प्रकार साधु भी अपने उपाश्रय मे अकेला ही ठहरा हुआ हो तो वहाँ कदापि अकेली स्त्रियों को कथा वार्ता न सुनावे। कारण यह है कि, इससे अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। 'एकान्त स्थान में स्त्रियों का संसर्ग ब्रह्मचारी के लिये कितना हानिकारक होता है' इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, समय देख कर पुरुषों को धर्म कथा अवश्य सुना सकता है। यदि अन्य साधु और गृहस्थ उपाश्रय मे पास मौजूद हों, तो स्त्रियों को भी धर्म कथा सुना सकता है, अन्यथा नहीं। अब प्रश्न होता है कि यदि गृहस्थों के साथ परिचय नहीं करना, तो फिर किन के साथ परिचय करना चाहिये, इसका सूत्रकार उत्तर देते हैं कि केवल साधुओं के साथ ही संस्तव (परिचय) करना चाहिये, इससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुणों की विशेष प्राप्ति होती है। 'संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति' के नीति वाक्य से मनुष्य जैसा संसर्ग करेगा वैसा होकर ही रहता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, ब्रह्मचर्य की रक्षा का सदुपदेश देते हैं:—

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थी विग्गहओ भयं ॥५४॥

यथा कुक्कुटपोतस्य, नित्यं कुललतः भयम्।
एवं खलु ब्रह्मचारिणः, स्त्रीविग्रहतः भयम् ॥५४॥

पदार्थान्वयः—जहा-जिस प्रकार कुक्कुडपोअस्स-मुर्गे के बच्चे को निच्चं-हमेशा कुललओ-मार्जार से भयं-भय रहता है एवंक्खु-इसी प्रकार बंभयारिस्स-ब्रह्मचारी पुरुष को इत्थी विग्गहओ-स्त्री के शरीर से भयं-भय है।

मूलार्थ—जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को बिलाव से भय बना रहता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री के शरीर से भय बना रहता है। अतः साधु को स्त्रियों से अणुमात्र भी संपर्क नहीं रखना चाहिये।

टीका—जिस प्रकार मुर्गे का बच्चा बिलाव से सदैव भय मानता रहता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष को भी स्त्री के शरीर से भय मानते रहना चाहिये। कारण यह है कि, कुक्कुट के बच्चे को मार्जार सुखदाई न होकर उसका घातक होता है, ठीक इसी प्रकार स्त्री का शरीर भी ब्रह्मचारी को सुखदाई न होकर उसके ब्रह्मचर्य का घातक होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि, 'स्त्री के शरीर से भय है' इसके स्थान पर 'स्त्री से भय है' इस शब्द को क्यों नहीं कहा। उत्तर में कहा जाता है कि, शरीर के ग्रहण से शास्त्रकार का यह आशय है, कि ब्रह्मचारी को स्त्री के चेष्टा शून्य मृत शरीर से भी भय मानना चाहिये। क्योंकि, स्त्री का मृत शरीर भी ब्रह्मचर्य के शान्त समुद्र को क्षुब्ध बनाने में कारण बन जाता है। सूत्रकार ने साधु पुरुषों की मुख्यता से यह उपलक्षणरूप सूत्र प्रतिपादित किया है। अतः जिस प्रकार ब्रह्मचारी के विषय में वर्णन किया है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचारिणी के विषय में भी जानना चाहिये। अर्थात् जैसे ब्रह्मचारी स्त्री के शरीर से भय रखता है, इसी तरह ब्रह्मचारिणी को भी पुरुष के शरीर से भय रखना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, ब्रह्मचारी को स्त्री के चित्र देखने का निषेध करते हैं:—

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकिअं।
भक्खरं पिव दट्ठुणं, दिट्ठिं पड़िसमाहरे ॥५५॥

चित्रभित्तिं न निध्यायेत्, नारीं वा स्वलंकृताम्।
भास्करमिव दृष्ट्वा, दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् ॥५५॥

पदार्थान्वयः—चित्तभित्तिं–दीवार पर चिते हुए स्त्री के चित्र को वा–अथवा सुअलंकिअं–वस्त्र आभूषण भूषित नारिं–प्रत्यक्ष स्त्री को न निज्झाए–साधु कभी नहीं देखे; यदि कभी स्वतः सहसा ही स्त्री देखने में आ जाय तो भक्खरंपिव–सूर्य के समान दट्ठुणं–देख कर शीघ्र ही दिट्ठिं–अपनी दृष्टि को पडिसमाहरे–पीछे हटा ले।

मूलार्थ—चाहे कोई स्त्री, वस्त्राभूषण से विभूषित हो या फटे पुराने मैले कुचैले वस्त्रों से युक्त हो, किसी भी रूप में हो उसको कभी नहीं देखे। और दीवार पर चित्रित स्त्री के निर्जीव चित्र (तसवीर) भी न देखे। यदि कभी कोई स्त्री स्वतः ही देखने में आ जाय तो देखते ही अपनी दृष्टि को शीघ्र ही वापिस इस तरह हटा ले जैसे लोग मध्याह्न काल में सूर्य को देखकर हटा लेते हैं।

टीका—इस गाथा में भी उक्त विषय का समर्थन किया गया है। यथा–साधुओं को चाहिये कि जो दीवार स्त्रियों के चित्रों से चित्रित हों उन्हें वे न देखें। इस प्रकार के देखने से स्वाध्याय आदि पवित्र क्रियाओं में विघ्न पड़ता है। तथा जो स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्रों से तथा चमकीले आभूषणों से भली भाँति समलंकृत हों, उन्हें भी न देखे। उनके देखने से काम राग के उत्पन्न होने की संभावना है। यह 'अलंकृत' शब्द उपलक्षण है। अतः इससे अनलंकृत स्त्रियों के देखने का निषेध भी साथ ही हो जाता है। यदि किसी समय स्वतः ही कोई स्त्री देखने में आ जाय, तो जिस प्रकार लोग मध्याह्न काल में सूर्य को देखकर शीघ्र ही दृष्टि हटा लेते हैं, उसी प्रकार स्त्री को देखकर भी शीघ्र ही अपनी दृष्टि हटा लेनी चाहिये। क्योंकि, सूर्य को बारबार देखते रहने से जैसे दृष्टि निर्बल हो जाती है, ठीक इसी भाँति स्त्री को भी वारवार सतृष्ण नेत्रों द्वारा देखने से मानसिक दृढता निर्बल हो जाती है। यह कथन सभी ब्रह्मचर्यव्रत धारी व्यक्तियों के लिये है, अतः सूत्रोक्त ब्रह्मचारी की तरह ही ब्रह्मचारिणी भी पुरुषों को न देखे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वृद्धा स्त्री को देखने का भी निषेध करते हैं:–

हत्थपायपलिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥५६॥

हस्तपादप्रतिछिन्नां , कर्णनासाविकृताम् ।
अपि वर्षशतिकां नारीं, ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥५६॥

पदार्थान्वयः—**बंभयारी**-ब्रह्मचारी साधु **हत्थपायपलिच्छिन्नं**-जिसके हस्त, पाद छेदन किये हुए हैं तथा **कन्ननासविगप्पिअं**-जिसके कान नाक काटे गये हैं तथा जो **वाससयं अवि**-सौ वर्ष की आयु वाली पूर्ण वृद्धा हो ऐसी **नारिं**-स्त्री के संसर्ग को भी **विवज्जए**-वर्ज देवे।

मूलार्थ—जिसके हाथ, पैर एवं कान, नाक कटे हुए हैं तथा जो पूर्ण सौ वर्ष की वृद्धा है-ऐसी विकृताङ्ग स्त्री के संसर्ग का भी ब्रह्मचारी साधु, विशेष रूप से परित्याग करे।

टीका—इस गाथा में भी ब्रह्मचर्य का ही वर्णन किया गया है। ब्रह्मचारी साधु को योग्य है कि, वह जिस स्त्री के हाथ और पैर छेदन किये हुए हैं तथा जिसके कान और नाक भी विकृत हैं (कटे हुए हैं)। इतना ही नहीं, किन्तु जो सौ वर्ष की अवस्था वाली वृद्धा भी है और जिसका शरीर अनेकानेक रोगों से पीड़ित है, ऐसी विकृत शरीर वाली स्त्री का भी संसर्ग न करे। कारण यह है कि, मन अतीव चंचल है । न मालूम कब यह कारण पाकर संयम की सीमा से बाहर हो जाय ? इसलिये, इसको जितना वश में रखा जायगा, उतना ही ठीक रहेगा। स्वल्प भी प्रमाद करने से चिरकाल संचित तपस्या को समूल नाश कर देता है। इस विकृत शरीर वाली स्त्री के संसर्ग का निषेध करके सूत्रकार ने यह सिद्ध किया है कि, जब ऐसी स्त्री भी ब्रह्मचर्य को भग्न करने वाली हो सकती है, तो फिर युवती स्त्री का तो कहना ही क्या, वह तो साक्षात् ही ब्रह्मचर्य की घातिका राक्षसी है। उसका संपर्क तो ब्रह्मचारी साधु को किसी प्रकार से भी उचित नहीं है। जिस प्रकार धनी पुरुष चोरों से अपने धन की रक्षा करता है और रक्षा के लिये अनेक प्रकार के उपाय सोचता रहता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी योग्य है कि, वह ब्रह्मचर्य रूपी अपने महा धन की रक्षा करे और उसकी रक्षा के लिये मनो-निग्रह आदि अनेक प्रकार के सदुपायों की अन्वेषणा करता रहे।

उत्थानिका—अब फिर सूत्रकार ब्रह्मचर्य के घातक कारणों का उल्लेख करते हैं :—

विभूसा इत्थीसंसग्गो, पणीअं रसभोअणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स , विसं तालउडं जहा ॥५७॥
विभूषा स्त्रीसंसर्गः, प्रणीतरसभोजनम् ।
नरस्यात्मगवेषिणः , विषं तालपुटं यथा ॥५७॥

पदार्थान्वयः—अत्तगवेसिस्स–आत्म शोधक नरस्स–मनुष्य को विभूसा–शरीर की शोभा इत्थीसंसग्गो–स्त्री का संसर्ग तथा पणीअंरसभोअणं–स्निग्ध रस का भोजन, ये सब तालउडं विसं जहा–तालपुट नाम के विष के समान हैं।

मूलार्थ—आत्म शोधक मनुष्य के लिये शरीर की विभूषा, स्त्री का संसर्ग, और पौष्टिक सरस भोजन तालपुट नामक भयंकर विष के समान हैं।

टीका— इस गाथा में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये शिक्षा दी गई है। जो ब्रह्मचारी आत्म-गवेषी है अर्थात् आत्म हित की इच्छा करने वाला है, उस के लिये वस्त्रादि द्वारा शरीर की विभूषा करना, येन केन प्रकारेण स्त्रियों का संसर्ग करना और बल वर्द्धक स्निग्ध रस के भोजन का आहार करना, ये सब तालपुट विष के समान हैं। क्योंकि, जिस प्रकार 'तालमात्रव्यापत्तिकरविषकल्पमहितम्' ताल मात्र विष व्यापत्ति का कारण होता है, उसी प्रकार उपर्युक्त बातें भी ब्रह्मचर्य के नाश के लिये कारण बन जाती हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्त्री के अंग प्रत्यंग के देखने का निषेध करते हैं :—

अंगपच्चंगसंठाणं , चारुल्लविअपेहिअं।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥५८॥
अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं , चारुलपित-प्रेक्षितम् ।
स्त्रीणां तत् न निध्यायेत्, कामरागविवर्द्धनम् ॥५८॥

पदार्थान्वयः—तं–शृङ्गार रस प्रसिद्ध इत्थीणं–स्त्रियों के अंगपच्चंगसंठाणं–अंग तथा प्रत्यंगों के संस्थान को तथा चारुल्लविअपेहिअं–मनोहर बोलने को एवं

मनोहर देखने को न निज्झाए—ब्रह्मचारी कदापि न देखे, क्योंकि, ये सब कामराग-विवड्ढणं—काम राग के बढ़ाने वाले हैं।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी पुरुष को कदापि स्त्रियों के अङ्ग प्रत्यङ्गों के संस्थान चारुभाषण और मनोहर 'कटाक्ष आदि को' नहीं देखना चाहिये। क्योंकि, ये सब काम-राग के बढाने वाले और ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले हैं।

टीका—इस सूत्र में वे बातें बतलाई गई हैं, जिन से काम-राग की वृद्धि होती है और ब्रह्मचर्य का भंग होता है। यथा-ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रियों के अंग—शिर आदि, प्रत्यंग—नेत्र आदि, संस्थान—शारीरिक संगठन सम्बन्धी सौन्दर्य आदि तथा स्त्रियों का मनोहर बोलना एवं कटाक्षपूर्वक मनोहर देखना ये शारीरिक चेष्टाएँ कदापि नहीं देखनी चाहिएँ। क्योंकि, ये सब बातें कामराग के बढ़ानेवाली हैं। इन से शान्त हुई मैथुन की अभिलाषा तीव्र हो उठती है और शान्त मन भी चंचल हो कर विक्षुब्ध हो जाता है। मन में क्षुब्धता के आते ही ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्य के साथ संयम सर्वथा नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। यद्यपि स्त्रियों के देखने का निषेध पहले किया जा चुका है, तथापि यह बहुत भयंकर है। इस का विशेष रूप से परित्याग करना उचित है। अतएव इसकी प्रधानता ख्यापन के लिये यह फिर निषेधात्मक उपदेश दिया गया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विषय भोगों से स्नेह नहीं करने का उपदेश देते हैं :—

विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पुग्गलाण उ ॥५९॥

विषयेषु मनोज्ञेषु, प्रेम नाभिनिवेशयेत्।
अनित्यं तेषां विज्ञाय, परिणामं पुद्गलानां तु ॥५९॥

पदार्थान्वयः—तेसि—उन पुग्गलाण—पुद्गलों के परिणामं—परिणाम की अणिच्चं—अनित्यता जान कर मणुन्नेसु—मनोज्ञ विसएसु—विषयों में पेमं—राग भाव को नाभिनिवेसए—स्थापन न करे उ—'तु' शब्द वितर्क अर्थ में व्यवहृत है।

मूलार्थ—विचारवान् साधु पुद्गलों के परिणाम को अनित्य जान कर मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विषयों में कदापि राग भाव न करे।

टीका—इस गाथा मे भी ब्रह्मचर्य का वर्णन किया गया है। यथा–पुद्गलों के परिणाम को ठीक तौर से समझ कर जो प्रिय वा अप्रिय शब्द रूपादि के विषय हैं, उन के प्रति साधु को राग द्वेष नहीं करना चाहिये। कारण यह है कि, प्रत्येक पुद्गल की अवस्था अनित्य है अर्थात् प्रत्येक वस्तुओं में क्षण क्षण में पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति रहती है। इसी कारण पुद्गलों की प्रत्येक क्षण मे मनोज्ञ से अमनोज्ञ और अमनोज्ञ से मनोज्ञ अवस्था होती हुई प्रत्यक्ष देखने में आती है। और पदार्थों का पर्याय जब क्षण भर भी स्थायी रूप में नहीं रह सकता, तो फिर उन में राग-भाव और द्वेष भाव कैसे किया जा सकता है? 'विज्ञाय' शब्द का यह तात्पर्य है कि, श्रीजिन वचनानुसार पुद्गल व्यवस्था को ठीक ठीक जान कर पुद्गलों की पर्यायों के विषय में राग द्वेष नहीं करना चाहिये।

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय को स्पष्ट किया जाता है :—

पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीअतिण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा ॥६०॥

पुद्गलानां परिणामं, तेषां ज्ञात्वा यथा तथा।
विनीततृष्णो विहरेत्, शीतीभूतेन आत्मना ॥६०॥

पदार्थान्वयः—तेसिं–उन परिवर्तन शील पोग्गलाणं पुद्गलों के परिणामं–परिणाम को जहा तहा यथावत् जैसा है वैसा नच्चा जानकर विणीअतिण्हो तृष्णा से रहित एवं सीईभूएण अप्पणा प्रशान्तात्मा हो कर साधु विहरे–विचरण करे।

मूलार्थ—निर्वाण पद प्राप्ति के लिये कठोर श्रम करने वाला तत्त्वज्ञ मुनि, पुद्गलों के परिणाम को यथास्थित जान कर, तृष्णा के जाल से सर्वथा मुक्त हो कर, क्षमा रूप अमृत जल से आत्मा को शीतीभूत बनाकर, सर्वदा स्वतंत्र रूप से विचरण करे।

टीका—जिसकी आत्मा क्रोधादि विकारों से सर्वदा शुद्ध प्रशान्त हो गई है और जो तृष्णा राक्षसी के जाल में से बाहर निकल गया है, ऐसे मोक्ष नगर

का अनथक पथिक साधु, पुद्गलों के परिणाम को जो प्रतिक्षण शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ होते रहते हैं, गुरूपदेश से, शास्त्राध्ययन से एवं प्रत्यक्ष निरीक्षण से भली भाँति जानकर, शब्दादि विषयों में समभाव रखता हुआ सर्वथा शान्तचित्त हो कर महीमण्डल में विचरे। कारण यह है कि पुद्गलों के परिणाम को शान्ति-युक्त आत्मावाले ही मुनि (महात्मा) देख सकते हैं। और जिनकी आत्माएँ विकल हैं 'शान्त नहीं हुई हैं, वे किस प्रकार पदार्थों के परिणाम का यथार्थ ज्ञान कर सकते हैं; क्योंकि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान सूक्ष्म एवं गंभीर विचारणा से होता है और वह विचारणा शान्ति से हो सकती है तथा जो तृष्णा से रहित हैं वे ही शान्त रूप हो सकते हैं। क्योंकि संसार में यह एक तृष्णा ही अशान्ति की बढाने वाली है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जिन शुद्ध भावों से संयम लिया जाय, उन्हीं शुद्ध भावों से उसे पालना चाहिये, इस विषय में कहते हैं :—

जाइ सद्धाइ निक्खंतो, परिआयट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिअसंमए ॥६१॥

यया श्रद्धया निष्क्रान्तः, पर्यायस्थानमुत्तमम् ।
तामेवाऽनुपालयेत् , गुणेषु आचार्यसम्मतेषु ॥६१॥

पदार्थान्वयः—जाइ–जिस सद्धाइ–श्रद्धा से निक्खंतो–संसार से निकला है और उत्तमं–प्रधान परिआयट्ठाणं–पर्याय स्थान प्राप्त किया है तमेव–उसी आयरिअसंमएगुणे–आचार्य सम्मत गुणों में रही हुई श्रद्धा को अणुपालिज्जा–निरंतर पालन करे।

मूलार्थ—जिस श्रद्धा से संसार से निकल कर प्रव्रज्या पद प्राप्त किया है, उसी आचार्यसम्मत गुणों में रही हुई श्रद्धा का साधु को, पूर्ण दृढता के साथ पालन करना उचित है।

टीका—इस गाथा में श्रीभगवान् ने शिक्षा प्रदान की है। जिस श्रद्धा से संसार रूपी कीचड़ से निकल कर परमोत्तम स्थान पर्याय पद रूप (दीक्षा) प्राप्त किया है फिर उसी श्रद्धा द्वारा जो आचार्य सम्मत पर्याय के मूल गुण वा उत्तर गुण हैं, उनकी पालना करे। कारण यह है कि, यावन्मात्र जो पर्याय के

गुण हैं, वे सब तीर्थंकरों को सम्मत हैं, सो साधु को उन गुणों का श्रद्धापूर्वक पालन करना उचित है। 'आचार्य सम्मत' इस लिये पाठ दिया गया है कि— 'नतु स्वाग्रहकलङ्कितास्' वे गुण आचार्य सम्मत हैं, कुछ अपनी बुद्धि से परिकल्पित नहीं है।

उत्थानिका—अब शास्त्रकार, आचार प्रणिधि के विषय में कहते हैं:—

तवं चिमं संजमजोगं च,
सज्झायजोगं च सया अहिट्ठिए।
सूरे व सेणाइ समत्तमाउहे,
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥६२॥

तपश्चेदं संयमयोगं च,
स्वाध्याययोगं च सदाऽधिष्ठेत्।
शूर इव सेनया समस्तायुधः,
अलमात्मनो भवति अलं परेभ्यः ॥६२॥

पदार्थान्वयः—सेणाइ-सेना से घिरे हुए समत्तमाउहे-सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रों वाले सूरेव-शूरवीर पुरुष के समान इमं-सूत्रोक्त तवं-तप का च-तथा संजमजोगं-संयम योग का च-तथा सज्झायजोगं-स्वाध्याय योग का सया-सदा अहिट्ठिए-धारण करे अप्पणो-अपनी रक्षा करने में अलं-समर्थ होइ-होता है और परेसिं-अन्य शत्रुओं के हटाने मे अलं-समर्थ होता है।

मूलार्थ—बाह्याभ्यन्तर तप का धारक, संयम योग का पालक एवं स्वाध्याय-योग-निष्ठ साधु,[1] इन्द्रिय और कषाय रूप सेना से घिरा हुआ पूर्वोक्त तप आदि शस्त्रों से अपनी आत्म रक्षा करने में और कर्म शत्रुओं को पराजित करने में उसी प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार एक शस्त्रधारी वीर योद्धा

१ इह च तपोऽभिधानात् तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनाऽभिधानमिति।

विशाल सेना से घिरा हुआ, आत्म रक्षा करने में और शत्रुओं का मुँह मोड़ने में समर्थ होता है।

टीका—इस काव्य में आचार प्रणिधि का फल उपमालङ्कार द्वारा वर्णन किया गया है। यथा—जो साधु अशनादि तप, पृथ्वी आदि के विषय में संयम व्यापार और वाचनादि स्वाध्याय योग का सदा करने वाला है, वह उसी प्रकार इन्द्रियों और कषायों की सेना से घिरा हुआ सम्पूर्ण तप प्रभृति खड्ग आदि आयुधों से अपनी आत्म रक्षा करने में और पर कषाय आदि शत्रुओं के निराकरण करने में समर्थ होता है, जिस प्रकार एक शूरवीर योद्धा शस्त्र और अस्त्रों से युक्त चतुरङ्गिणी सेना द्वारा घिरा हुआ अपनी रक्षा करने मे और पर शत्रुओं के निराकरण करने में समर्थ होता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आत्म विशुद्धि के होने का वर्णन करते हैं:-

सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो,
अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झइ जंसि मलं पुरे कडं,
समीरिअं रुप्पमलं व जोइणा ॥६३॥

स्वाध्यायसद्ध्यानरतस्य त्रायिणः,
अपापभावस्य तपसिरतस्य।
विशुद्ध्यते यदस्यमलं पुराकृतं,
समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा ॥६३॥

पदार्थान्वयः—**सज्झायसज्झाणरयस्स**-स्वाध्याय रूप सद्ध्यान में रत **ताइणो**-अपनी और पर की रक्षा करने वाले **अपावभावस्स**-पाप से रहित भाव वाले **तवे**-तप के विषय में पूर्ण रूपेण **रयस्स**-रत **सि**-इस पूर्व गुण विशिष्ट साधु का **ज**-जो **पुरेकडं**-पूर्व जन्म कृत **मलं**-कर्म मल है, वह **जोइणा**-अग्नि द्वारा **समीरिअं**-तपाये हुए **रुप्पमलंव**-रूप्य मल के समान **विसुज्झइ**-विशुद्ध हो जाता है।

मूलार्थ—स्वाध्याय रूप सद्ध्यान में रत, जगज्जीव संरक्षक, एवं पाप कालिमा रहित विशुद्धभाव वाले साधु का पूर्वकृत कर्म उसी प्रकार दूर हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाये हुए सोने का एवं चाँदी का मल दूर हो जाता है।

टीका—इस काव्य में फल विषयक वर्णन किया गया है। यथा—जो साधु अपनी स्वाध्याय आदि प्रधान क्रियाओं का करने वाला है, धर्म तथा शुक्लध्यान का ध्याने वाला है, अपनी और पर आत्मा की रक्षा करने वाला है, लब्धि आदि की अपेक्षा रहित होने से शुद्ध चित्त वाला है एवं यथाशक्ति अनशनादि तपःकर्म मे रत रहने वाला है, वह पूर्वकृत कर्म मल से इस प्रकार शुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि से प्रेरित किया (तपाया हुआ) सोना और चाँदी, मल के निकल जाने से विशुद्ध हो जाता है। सूत्र में जो 'स्वाध्याय' शब्द दिया है, उससे आत्मध्यान और स्वविद्या का ही ग्रहण है, लौकिक विद्या का नहीं। प्राकृत भाषा के कारण प्राकृत व्याकरण से 'अस्य' शब्द के स्थान पर 'सि' आदेश किया गया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आचार प्रणिधि से मोक्ष रूप महाफल की प्राप्ति बतलाते हुये, अध्ययन का उपसंहार करते हैं:—

से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए,
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्मघणंमि अवगए,
कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमा ॥६४॥

त्ति बेमि।

इअ आयार पणिही णाम अट्ठमज्झयणं।

स तादृशः दुःखसहः जितेन्द्रियः,
श्रुतेनयुक्तः अममः अकिंचनः।

विराजते कर्मघनेऽपगते,
कृत्स्नाभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमा ॥६४॥

इति ब्रवीमि ।

इति 'आचार प्रणिधि' नाम अष्टममध्ययनं समाप्तम् ।

पदार्थान्वयः—तारिसे–पूर्वोक्त गुण वाला दुक्खसहे–परीषहों को सहन करने वाला जिइंदिए–इन्द्रियों को जीतने वाला सुएण जुत्ते–श्रुत से युक्त अममे–ममत्व भाव से रहित अकिंचणे–परिग्रह से रहित स–वह साधु कम्मघणंमि–कर्म रूप श्याम मेघों के अवगए–अलग हो जाने पर कसिणब्भपुडावगमे–संपूर्ण अभ्रपटल से विमुक्त हो जाने पर चंदिमाव–चन्द्रमा के समान विरायइ–शोभा पाता है ।

मूलार्थ—पूर्वोक्त क्षमा दयादि सद्गुणों वाला, परीषहों (दुःखों) को समभाव से सहन करने वाला, चंचल इन्द्रियों को जीतने वाला, श्रुत विद्या को धारण करने वाला, किसी प्रकार की भी ममता नहीं रखने वाला, परिग्रह के भार से हलका रहने वाला, पूर्ण संयमी साधु; कर्म रूप मेघावरण के हट जाने पर उसी प्रकार सुशोभित होता है, जिस प्रकार सम्पूर्ण बादलों के पटल से पृथक् होने पर चन्द्रमा सुशोभित होता है ।

टीका—इस काव्य में उपमा अलंकारपूर्वक अध्ययन का उपसंहार किया गया है । यथा—जो पूर्वोक्त मुनि योग्य गुणों से संयुक्त है, जो सब प्रकार के भीषण से भीषण परिषहों को अविचल रूप से सहन करने वाला है, जो पाँचों इन्द्रियों को और मन को जीतने वाला है, इतना ही नहीं, किन्तु जो श्रुत विद्या से युक्त है, जो ममत्व भाव से रहित है, तथा जो द्रव्य और भाव से अकिंचन है, वह साधु, ज्ञानावरणीय आदि कर्मरूप मेघ के नष्ट हो जाने पर इस प्रकार शोभा पाता है, जिस प्रकार शरत्काल में पूर्णमासी का चन्द्रमा सब प्रकार के बादलों के समूह से विमुक्त होकर अनंत नीलाकाश में शोभा पाता है । इस काव्य में जो 'सुएण जुत्ते'—'श्रुतेनयुक्तः' पद दिया है, उसका यह भाव है कि, काव्य के प्रथम पाद मे क्रिया का विधान किया गया है, अतः द्वितीय पाद के प्रथम पाद में फिर

ज्ञान विषयक वर्णन किया गया है, जिसका सारांश यह है कि ज्ञान और क्रिया के युगल से ही मोक्ष होता है, दोनों में किसी एक से ही नहीं। सूत्रकार ने चन्द्रमा की उपमा देकर शुद्ध-मुक्त जीवों का वर्णन किया है। जिस प्रकार बादलों के समूह से विमुक्त होकर चन्द्रमा चराचर जीवों का, एवं प्रमेय पदार्थों का प्रकाशक हो जाता है, ठीक उसी प्रकार कर्म बादलों से विमुक्त होकर आत्मा लोकालोक का प्रकाशक हो जाता है।

सम्पूर्ण अध्ययन का संक्षिप्त रूप से मननीय एवं करणीय तत्व यह है कि मोक्षाभिलाषी मनुष्यों को ज्ञान पूर्विका क्रिया के करने में ही पुरुषार्थ करना चाहिये, क्योंकि, सत् क्रिया पूर्वक ही अध्ययन किया हुआ श्रुत ज्ञान सफलीभूत हो सकता है।

"श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं, हे वत्स ! भगवान् महावीर प्रभु के मुखारविन्द से जैसा अर्थ इस अष्टम अध्ययन का सुना है, वैसा ही मैंने तेरे से कहा है। अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा।"

अष्टमाध्ययन समाप्त।

अह विणय समाही णाम णवमज्झयणं

अथ 'विनय समाधि' नामके नववाँ अध्ययन ।

उत्थानिका—आठवे अध्ययन मे आचार प्रणिधि का वर्णन करते हुए, कथन किया है कि "आचारप्रणिधियुक्त साधु ही निरवद्य वचन बोल सकता है; अतः साधु को आचार प्रणिधि में यत्नवान् होना चाहिये ।" और जो साधु, आचार प्रणिधि वाला होता है, वह यथोचित बिनयधर्मसंपन्न होता है, क्योंकि विना विनय धर्म के आचार प्रणिधि का ठीक तौर से पालन नहीं हो सकता । अतः आठवे अध्ययन के अनन्तर नववें 'विनय-समाधि' नामक अध्ययन का वर्णन किया जाता है । यही इन दोनों अध्ययनों का परस्पर सुदृढ सम्बन्ध है । नवम अध्ययन का प्रथम सूत्र इस प्रकार है :—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीअस्स वहाय होई ॥१॥

स्तम्भाद्वा (मानाद्वा) क्रोधाद्वा मायाप्रमादात्,
गुरोः सकाशे विनयं न शिक्षेत ।

स चैव तु तस्य अभूतिभावः,

फलमिव कीचकस्य वधाय भवति ॥१॥

पदार्थान्वयः—थंभा-अहंकार से वा-अथवा कोहा-क्रोध से -अथवा मयप्पमाया-माया से एवं प्रमाद से, जो गुरुस्सगास-गुरुदेव के समीप विणयं-विनय न सिक्खे-नहीं सीखता है सो चेव-सो वे अहंकार आदि उ-निश्चय ही तस्स-उस साधु की अभूइ भावो-ज्ञानादि सम्पत्ति के नाश के लिये होते हैं, व-जिस प्रकार कीअस्स-बांस का फलं-फल स्वयं बांस के वहाय-नाश के लिये ही होइ-होता है।

मूलार्थ—जो शिष्य अहंकार से, क्रोध से, छल से, तथा प्रमाद से गुरुश्री की सेवा मे रहकर विनय धर्म की शिक्षा नहीं लेता है; सो ये अहंकार आदि दुगुण उसके ज्ञान आदि सद्गुणों के उसी प्रकार नाशक होते हैं, जिस प्रकार बांस का फल स्वयं बांस का नाशक होता है।

टीका—इस अध्ययन का नाम विनय समाधि है। इसमें समाधि कारक विनय धर्म का वर्णन है। क्योंकि, जिस प्रकार वृक्ष, रथादि के योग्य होता है तथा सुवर्ण, कटक कुण्डलादि के योग्य होता है, ठीक इसी प्रकार आत्मा भी विनय धर्म के द्वारा समाधि के योग्य होती है। यद्यपि विनय के अनेक भेद हैं, तथापि मुख्यतया इसके पाँच भेद वर्णन किये गये हैं।

(१) लोकोपचार विनय—लौकिक फल के लिये अनेक प्रकार से विनय भक्ति, सेवा शुश्रूषा करना। (२) अर्थ विनय—धन प्राप्ति के लिये राजा एवं सेठ आदि धनाढ्य पुरुषों की विनय करना अर्थात् उनकी आज्ञाओं का पालन करना। (३) काम विनय—अभ्यास वृत्यादि द्वारा तथा धनादि द्वारा वेश्या एवं अपनी स्त्री आदि की सेवा करना। (४) भय विनय—स्वामी आदि की विनय करना। यथा—वेतनभोगी दास भयभीत होकर अपने स्वामी की (मालिक की) विनय भक्ति किया करता है। (५) मोक्ष विनय—मोक्ष प्राप्ति के लिये गुरुश्री की तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की सम्यक्तया आराधना करना।

यह सूत्र मोक्ष प्रतिपादक है, अतः इसमें यहाँ अन्तिम मोक्ष-विनय का

ही वर्णन किया जाता है। यही सकल सुख-सम्पादक है। जो व्यक्ति, विनय धर्म को ग्रहण नहीं करते हैं; उनके विषय में सूत्रकार कहते हैं कि, जो जीव जाति, कुल आदि का अभिमान रखने वाले हैं, जो यह समझते हैं कि हम उच्च जाति वाले होकर इस नीच जाति वाले गुरु से किस प्रकार विद्याध्ययन करें; वे विनय धर्म के पात्र नहीं हो सकते। तथा जो क्रोधी हैं, बात-बात में आग-बबूला होते हैं, गुरु से शिक्षा लेते समय जिनकी त्यौरियां चढ़ जाती हैं, वे भी विनय धर्म के अधिकारी नहीं हो सकते। किञ्च जो मायावी हैं, शिक्षा के डर से "आज तो मेरे पेट में दर्द हो रहा है शिर दुःख रहा है" इत्यादि छल कपट करके खाली पड़े रहने में प्रसन्न रहते हैं, वे भी विनय धर्म द्वारा कभी अपनी आत्मा को उन्नत नहीं कर सकते। तथा जो प्रमादी हैं, जिन्हें पढ़ने, लिखने, सेवा करने में जोर पड़ता है, वे भी गुरुश्री के समीप विनय धर्म की शिक्षा नहीं ले सकते। भाव यह है कि उक्त अवगुण वाले व्यक्ति, गुरुश्री के पास विनय करने में कदापि नहीं ठहर सकते। वे अवसर पाकर झट पट विनय धर्म की मर्यादा से च्युत हो जाते हैं। क्योंकि ये अहंकार आदि दुर्भाव विनय शिक्षा में विघ्न के हेतु हैं।

इन उपर्युक्त अहंकार आदिक भावों का यह फल होता है कि, ये अहंकार आदि दुर्गुण उस जड़मति शिष्य के अभूतिभाव के लिये होते हैं, एवं अभूतिभाव के होने से ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप जो भाव प्राण हैं, उनके विनाश के लिये भी होते हैं। तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार बांस का फल बांस के नाश के लिये ही होता है, ठीक तद्वत् अहंकार आदि भाव भी ज्ञानादि के नाश के लिये ही माने गये हैं। तथा जिस प्रकार बांस परस्पर के संघर्षण से नाश को प्राप्त हो जाते हैं, तद्वत् अहंकारादि भाव भी आत्म शक्तियों को विकसित न होने के लिये प्रबलतम कारण बन जाते हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गुरुश्री को अल्पश्रुत समझ कर निन्दा करने वाले कुशिष्यों के विषय में कहते हैं :—

जे आवि मंदित्ति गुरुं विइत्ता,
डहरे इमे अप्पसुअत्ति नच्चा।

हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा,
करंति आसायण ते गुरूणं ॥२॥

ये चापि मन्द इति गुरुं विदित्वा,
डहरो(अल्पवयाः)ऽयमल्पश्रुत इति ज्ञात्वा ।
हीलयन्ति(अनाद्रियन्ते)मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानाः,
कुर्वन्ति आशातनां ते गुरूणाम् ॥२॥

पदार्थान्वयः—जे आवि–जो द्रव्य साधु गुरुं–गुरु को मंदत्ति–यह मन्द है ऐसा विइत्ता–जानकर, अथवा इमे–यह डहरे–अल्पवयस्क है, अतः, अप्पसुअत्ति–यह अल्पश्रुत है ऐसा नच्चा–जानकर हीलंति–गुरु की अवहेलना करते हैं, ते–वे मिच्छंपडिवज्जमाणा–मिथ्यात्व को ग्रहण करते हुए गुरूणं–गुरुओं की असायण–आशातना करते हैं ।

मूलार्थ—जो दुर्बुद्धि शिष्य अपने गुरुओं को मन्दबुद्धि, अल्पवयस्क एवं अल्पज्ञ जान कर उनकी हीलना (निन्दा) करते हैं; वे मिथ्यात्वभाव को प्राप्त हुए अपने गुरुजनों की बड़ी भारी आशातना करते हैं ।

टीका—इस काव्य में इस बात का वर्णन किया गया है कि, मिथ्यात्व का ग्रहण किस प्रकार किया जा सकता है । जैसे कि, जो कोई द्रव्यलिङ्गी साधु, अपने गुरु के विषय में 'यह मेरा गुरु मूर्ख है, सत्प्रज्ञा-विकल है, शास्त्रों की युक्तियों का विचार करने में असमर्थ है । अथवा यह छोटी अवस्था वाला है, इतना ही नहीं किन्तु, अल्पश्रुत है अर्थात् पठित भी नहीं है ।' इत्यादि प्रकार से गुरुश्री की हीलना-अवज्ञा-निंदा करता है, वह मूर्ख शिष्य सर्व पाप शिरोमणि रूप मिथ्यात्व का बन्ध करता है, जिससे अनन्त काल तक संसार अटवी मे परिभ्रमण करना पड़ता है । अतएव किसी भी दशा में किसी प्रकार से शिष्य को गुरु की हीलना नहीं करनी चाहिए । कारण कि, ऐसा करने से गुरुजनों की आशातना होती है । दूसरे शब्दों में यों कहिये कि सम्यग्ज्ञान आदि की ही आशातना होती है । क्योंकि, उक्त सम्यग्ज्ञान आदि गुण गुरुओं से ही प्राप्त होते

हैं, और जब गुरुओं की अवहेलना की जाती है तो फिर उक्त गुणों की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है। वृक्ष का मूलोच्छेदन करके मधुर फलों के खाने की इच्छा करना बड़ी मूर्खता है; जिस की तुलना कहीं भी नहीं हो सकती। यह गुरुजनों की अवज्ञा 'सूया' और 'असूया' नामक दो रीतियों से होती है। 'सूया' उस रीति को कहते हैं जो ऊपर से तो स्तुतिरूप मालूम देती है; परन्तु अन्दर से निंदारूप विप-नदी हिलोरे लेती रहती है। यथा-बस गुरुजी क्या हैं। विद्या में तो बृहस्पति को भी पराजित करने वाले हैं। सभी शास्त्रों में इन की अव्याहतगति है। वैसे भी पूर्ण वयोवृद्ध हैं, इनके अनुभवों का क्या ठिकाना है, इन्हें सभी प्रकार के धार्मिक कृत्यों का पूरा-पूरा अनुभव है। अतः इन की सेवा करनी ही चाहिये इत्यादि। यह हमसे सभी तरह बड़े हैं। आदि आदि। असूया उस रीति को कहते हैं जिस में स्पष्ट निन्दा की जाती है। यथा-तुझे क्या आता है। तेरे से तो हम ही अच्छे जो थोड़ा बहुत कुछ जानते तो हैं। तब तो सब का सत्यानाश हो गया जो तुझ जैसे निरक्षर भट्टाचार्य गुरु बन बैठे। अवस्था भी तो कितनी छोटी है ? हमें तो इस छोकरे से शिक्षा लेते लज्जा आती है, इत्यादि।

सूत्रकार का यह अभिप्राय है कि, विचार शील साधु को इन दोनों ही कलंकों से सर्वथा पृथक् रहना चाहिये। प्रकट रूप से, या गुप्त रूप से, गुरुजनों की निन्दा करके अपनी जिह्वा को अपवित्र नहीं बनाना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अग्नि की उपमा द्वारा गुरू की आशातना करने का निषेध करते हैं :—

पगईइ मंदावि भवंति एगे,
डहरावि जे सुअबुद्धोववेआ।
आयारमंतो गुणसुट्ठिअप्पा,
जे हीलिआ सिहिरिव भास कुज्जा ॥३॥

प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्ति एके,
डहरा अपि च ये श्रुत-बुद्ध्युपपेताः।

आचारवन्तो गुणस्थितात्मानः,
　　ये हीलिताः शिखीव भस्म कुर्युः ॥३॥

पदार्थान्वयः—एगे-कोई एक वयोवृद्ध साधु पगईइ-प्रकृति से मंदावि-मन्द बुद्धि भी भवंति-होते हैं अ-तथा जे-कोई एक डहरावि-अल्पवयस्क साधु भी सुअबुद्धोववेआ-श्रुत और बुद्धि से युक्त भवंति-होते हैं तथा कोई एक आयारमंतो-आचार वाले और गुणसुट्ठिअप्पा-गुणों मे स्थिर आत्मा वाले होते हैं, अस्तु जे-जो ये साधु हीलिआ-हीलना किये हुए सिहिरिव-अग्नि के समान भासं-गुणों को भस्मसात् कुज्जा-करते हैं ।

मूलार्थ—बहुत से वयोवृद्ध मुनि भी स्वभाव से मन्द बुद्धि होते हैं तथा बहुत से छोटी अवस्था वाले नवयुवक भी श्रुतधर एवं बुद्धि-शाली होते हैं । अतः ज्ञान में न्यूनाधिक कैसे ही हों, परन्तु सदाचारी और सद्गुणी गुरुजनों की कभी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इनकी अवज्ञा अग्नि के समान सभी सद्गुणों को भस्मीभूत कर देती है ।

टीका—इस काव्य में उपमालङ्कार से गुरु श्री की आशातना करने का फल दिखलाया गया है । यथा—कोई साधु बड़ी अवस्था वाले तो होते हैं, किन्तु स्वभाव से ही मन्द बुद्धि अर्थात् सत्प्रज्ञा विकल, कर्म की विचित्रता से सद्बुद्धि रहित होते हैं । तथा इसके विपरीत कोई साधु छोटी अवस्था वाले भी श्रुत और बुद्धि से युक्त होते हैं । परन्तु ये सब आचार संपन्न और आत्मिक गुणों मे भले प्रकार स्थित साधु, अणुमात्र भी हीलना करने योग्य नहीं हैं । अतएव इन गुरुजनों की भूलकर भी कभी आशातना नहीं करनी चाहिये । कारण यह है कि, जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि-शिखा क्षण मात्र मे बड़े से बड़े इन्धन आदि पदार्थों के समूह को भस्मसात् करती (जला देती) है, इसी प्रकार गुरुजनों की करी हुई हीलना भी करने वाले साधु के ज्ञानादि गुणों को भस्म कर देती है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सर्प की उपमा देकर अल्पवयस्क गुरुजनों की हीलना से होने वाले दोषों का कथन करते हैं :—

जे आवि नागं डहरंति नच्चा,
आसायए से अहिआय होइ ।
एवायरियंपि हु हीलयंतो,
निअच्छइ जाइपहं खु मंदो ॥४॥

यश्चापि नागं डहर इति ज्ञात्वा,
आशातयति तस्य अहिताय भवति ।
एवमाचार्यमपि हीलयन्,
नियच्छति जातिपन्थानं खलु मन्दः ॥४॥

पदार्थान्वयः—जे आवि–जो कोई अज्ञानी पुरुष नागं–सर्प को डहरंति–छोटा बच्चा नच्चा–जानकर आसायए–उसकी कदर्थना करता है से–सो जिस प्रकार वह सर्प उस कदर्थक को अहिआय–अहित के लिये होइ–होता है एवं–इसी प्रकार आयरियंपि–आचार्य की हीलयंतो–हीलना करता हुआ मदो–मूर्ख भी खु–निश्चय ही जाइपहं–एकेन्द्रिय आदि जातियों के मार्ग को निअच्छइ–जाता है ।

मूलार्थ—जिस प्रकार 'यह तो बहुत छोटा है, यह क्या कर सकेगा' इस विचार से कदर्थित किया हुआ भी लघु-सर्प, कदर्थक को अहितकारक होता है; ठीक इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी हीलना करने वाला मन्द बुद्धि शिष्य, एकेन्द्रिय आदि ज्ञान शून्य जातियों के पथ का पथिक बनता है ।

टीका—इस काव्य में दृष्टान्त द्वारा आचार्य की आशातना करने का फल दिखलाया गया है । यदि कोई मूर्ख साँप को छोटा-बच्चा जान कर उसको लकड़ी आदि से पीड़ित करता है तो वह साँप पीड़ित हुआ जिस प्रकार कदर्थना करने वाले के अहित के लिये समुद्यत होता है अर्थात् काट खाता है, इसी प्रकार जो शिष्य, अपने आपको वृद्ध वा बहुश्रुत मानता हुआ किसी कारण विशेष से आचार्य-पद प्रतिष्ठित लघुवयस्क आचार्य की वा गुरु महोदय की आशातना करता है, वह एकेन्द्रिय आदि दुःखमय जातियों के मार्ग को जाता है अर्थात् एकेन्द्रिय आदि योनियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है । यही उक्त दृष्टान्त का अर्थोपनय

है। कारण यह है कि, जब सामान्य रूप से की हुई निन्दा का अन्तिम परिणाम संसार परिभ्रमण ही कथन किया गया है तो फिर आचार्य वा गुरु की निन्दा के विषय में तो कहना ही क्या है। सूत्रकार ने जो यह लघुसर्प का दृष्टान्त देकर आचार्य की आशातना का कुफल प्रदर्शित किया है, इसका स्पष्ट भाव यह है—जिस प्रकार लघुसर्प की आशातना इस लोक में हितकर नहीं होती, उसी प्रकार आचार्य वा गुरु की आशातना भी इस लोक और परलोक दोनों में हितकर नहीं होती है अतः हिताभिलाषी शिष्य का कर्तव्य है कि वह कदापि गुरुजनों की आशातना न करे।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में महान् अन्तर दिखलाते हैं :—

आसीविसो वावि परं सुरुट्ठो,
किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा।
आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना,
अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो ॥५॥

आशीविषश्चाऽपि परं सुरुष्टः,
किं जीवितनाशात् परं नु कुर्यात्।
आचार्यपादाः पुनः अप्रसन्ना,
अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्षः ॥५॥

पदार्थान्वयः—परं-अत्यन्त सुरुट्ठो-क्रुद्ध हुआ आसीविसो वावि-जहरीला साँप भी जीवनासाउ-प्राण नाश से परं-अधिक और किंनु कुज्जा-क्या कर सकता है। पुण-परन्तु आयरिअपाया-पूज्यपाद आचार्य तो अप्पसन्ना-अप्रसन्न हुए अबोहिं-अबोधि के करने वाले होते हैं, अतः आसायण-आशातना से मुक्खो-मोक्ष नत्थि-नहीं होती।

मूलार्थ—अतीव क्रुद्ध हुआ भी दृष्टि-विष सर्प, बेचारा प्राण नाश से अधिक और क्या कर सकता है, कुछ नहीं। परन्तु पूज्यपाद आचार्य तो

अप्रसन्न हुए उस अबोधि को करते हैं, जिससे अनेक जन्म-जन्मान्तरों में असह्य दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः आचार्य की आशातना करने से कभी मोक्ष नहीं मिल सकती है।

टीका—इस काव्य में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का महदन्तर दिखलाया गया है। आशीविष नामक महा जहरीला सर्प यदि कभी छेड़ा हुआ अतिशय कुपित हो जाय, तो भी वह प्राण नाश से बढ़ कर और कुछ नहीं कर सकता। अर्थात् क्रुद्ध सर्प अधिक से अधिक मृत्यु दण्ड दे सकता है; इस से आगे की कोई बात उसके वस की नहीं। परन्तु यदि कभी आशातना द्वारा पूज्य आचार्य, अप्रसन्न हो जाय तो उनकी अप्रसन्नता के कारण से अज्ञान की प्राप्ति होती है और अज्ञान से मिथ्यात्व की प्राप्ति अपने आप हो जाती है, इसमें संदेह नहीं है। अन्ततः मिथ्यात्व की प्राप्ति से आशातनाकारक को अनन्त संसार चक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है। सूत्रकार ने आशातना का यह अबोधि फल तो बतलाया ही है, परन्तु "आसायण नत्थि मुक्खो" पद देकर तो और भी दुर्विनीत शिष्यों की आँखें खोल दी हैं। इस वाक्य का यह आशय है कि, जो साधु, वैसे तो अनेकानेक कठोर से भी कठोर जप तप क्रियाएँ करता है तथा शुद्ध, साधुता द्वारा मोक्ष पाने के लिये कठोरतम परिश्रम करता है; परन्तु साथ ही आचार्य श्री जी की आशातना करता है, तो उस साधु को मोक्ष नहीं मिल सकता, उसका समस्त क्रिया काण्ड निष्फल हो जाता है। अतः यदि मोक्ष पाने की सच्ची अभिलाषा है तो विनय द्वारा गुरु श्री को हमेशा प्रसन्न रखना चाहिये। गुरु श्री की प्रसन्नता में ही मोक्ष है।

उत्थानिका—अब फिर यही विषय स्पष्ट किया जाता है :—

जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा,
आसीविसं वावि हु कोवइज्जा।
जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी,
एसोवमासायणया गुरूणं ॥६॥

यः पावकं ज्वलितमपक्रामेत्,
आशीविषं वाऽपि हि कोपयेत्।
यो वा विषं खादति जीवितार्थी,
एषा उपमा आशातनया गुरूणाम् ॥६॥

पदार्थान्वयः—जो–जो कोई जलिअं–प्रज्वलित पावगं–अग्नि को पैरों से वक्कमिज्जा–अपक्रमण करे वा–अथवा आसीविसं वि–आशीविष सर्प को भी हु–निश्चय ही कोवइज्जा–क्रोधित करे वा–अथवा जीविअट्ठी–जीवन का अर्थी होकर जो–जो कोई विसं–हालाहल विष को खायइ–खावे एसोवमा–ये सब उपमाएँ गुरुणं–गुरुओं की आसायणया–आशातना से सम्बन्ध रखने वाली हैं।

मूलार्थ—जो अभिमानी शिष्य, आचार्य जी की आशातना करता है, वह प्रचण्ड धधकती हुई अग्नि को पैरों से मलकर बुझाता है, बड़े भारी ज़हरी सर्प को क्रुद्ध करता है, तथा जीने की इच्छा से सद्यः प्राणहारी 'हलाहल' नामक विष को खाता है।

टीका—इस काव्य मे भी उपमा द्वारा गुरु की आशातना करने का फल दिखलाया गया है। यथा–गुरु श्री की आशातना करने वाले मदान्ध शिष्य, अपने मन से पूरे अनुभवी दिग्गज पण्डित बनते हैं परन्तु वे वास्तव में बिलकुल मूर्ख और अज्ञानी हैं। जिसे अपने हित-अहित का ज्ञान नहीं, तथा अपने कर्तव्य का कुछ भान नहीं, वह मूर्ख नहीं है तो फिर और क्या हो सकता है। अवश्य ही वह मूर्ख—मूर्ख नहीं, महामूर्ख है। सूत्रकार स्वयं ही ऐसे अभिमानी शिष्य की मूर्खता प्रकट करते हुए कहते हैं कि, जिस धधकती हुई, प्रतिपल में भीषण रूप धारण करने वाली अग्नि के पास से गमन करने तक में भय रहता है, उसी अग्नि को जो पैरों से कुचल-कुचल कर बुझाने की चेष्टा करे वह मूर्ख है। जिस करिकराकार (हाथी सूंड के समान) कृष्ण सर्प के देखने मात्र से हृदय दहल उठता है, उसी सर्प को जो क्रीड़ा मनोरञ्जन के वास्ते छेड़ कर अतिशय क्रुद्ध करता है, वह निश्चय ही मूर्ख है। किञ्च—जिस विष की एक नन्हीं सी बूँद ही क्षणमात्र में अनेक मनुष्यों के जीवन का अन्त कर सकती है; उसी भयंकर विष को जो आयु-

वृद्धि के लिये यथेच्छ पीता है, वह भी मूर्ख शिरोमणि है। ये तीनों काम करने वाले जिस तरह एक से एक बढ़कर मूर्ख हैं, उसी तरह वह भी मूर्ख है, जो धर्मोपदेशक आचार्य श्री जी की अभिमान या प्रमाद के कारण से आशातना करता है। सारांश यह है कि, जिस प्रकार पूर्वोक्त क्रियाएँ क्रिया-कारक को महाकष्ट की करने वाली होती हैं, ठीक उसी प्रकार गुरुजनों की आशातना भी आशातनाकारक शिष्य को महान् कष्ट पहुँचाती है।

उत्थानिका—अब पूर्वसूत्रोक्त उपमाओं से आशातना की विशेषता दिखलाई जाती है:—

सिआ हु से पावय नो डहिज्जा,
आसीविसो वा कुवियो न भक्खे।
सिआ विसं हालहलं न मारे,
न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥७॥

स्यात् खलु स पावकः न दहेत्,
आशीविषो वा कुपितो न भक्षयेत्।
स्यात् विषं हलाहलं न मारयेत्,
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥७॥

पदार्थान्वयः—सिआ—कदाचित् से—वह पावय—प्रचण्ड अग्नि हु—निश्चय ही नोडहिज्जा—दहन न करे वा—अथवा कुवियो—कुपित हुआ भी आसीविसो—आशीविष सर्प न भक्खे—नहीं काटे वि—इसी प्रकार सिआ—कदाचित् से—वह हालहलं—हलाहल नामक तीव्र विष भी खाया हुआ न मारे—न मारे, किन्तु गुरुहीलणाए—गुरु की हीलना से न आवि मुक्खो—मोक्ष कभी नहीं होता है।

मूलार्थ—कदाचित् अपक्रमण की हुई प्रचण्ड अग्नि भी भस्म न करे, छेड़ा हुआ क्रुद्ध सर्प भी न काटे, तथा खाया हुआ हलाहल विष भी न मारे, अर्थात् ये सब बातें असंभव भी संभव हो सकती हैं, परन्तु गुरु की आशातना करने वाले दुर्बुद्धि शिष्य को मोक्ष संभव नहीं हो सकता है।

टीका—इस काव्य में उक्त विषय की विशेषता दिखलाई गई है। यथा—कदाचित् मंत्रादि के प्रतिबन्ध से पूर्वोक्त जलती हुई अग्नि भी पाँव को भस्म न कर सके। कदाचित् मंत्र आदि के बल से कुपित हुआ भी पूर्वोक्त सर्प किसी प्रकार की क्षति न पहुँचा सके। इसी प्रकार मंत्रादि के योग से पूर्वोक्त हालाहल नामक भयंकर विष भी खाया हुआ मारक न हो सके। परन्तु जो गुरुओं की आशातना की हुई है, उसके अशुभ फल भोगे विना कोई भी जीव मुक्त नहीं हो सकता है। अर्थात् सांसारिक दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता। कारण यह है कि, आशातना, संसार परिभ्रमण का मूल कारण है। सूत्रकार के इस कथन का सारांश इतना ही है कि किसी औषधि आदि द्वारा या मंत्र आदि द्वारा उक्त अग्नि आदि पदार्थ, विपर्यय किये जा सकते हैं, परन्तु गुरुओं की आशातना की हुई, कभी विपर्यय नहीं हो सकती। चाहे कुछ भी हो, वह तो अपना फल अवश्य देती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पर्वत भेदन आदि की उपमा देकर गुरुश्री की आशातना करने का निषेध करते हैं:—

जो पव्वयं सिरसा भित्तुमिच्छे,
सुत्तं वा सीहं पडिबोहइज्जा।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं,
एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥८॥

यः पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत्,
सुप्तं वा सिंहं प्रतिबोधयेत्।
यो वा ददीत शक्त्यग्रे प्रहारं,
एषा उपमा आशातनया गुरूणाम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—जे—जो कोई पुरुष पव्वय—पर्वत को सिरसा—शिर से भित्तुं—फोड़ने की इच्छा करे व—तथा कोई पुरुष सुत्तं—सोते हुये सीहं—सिंह को पडिबोहइज्जा—प्रतिबोधित करे वा—तथा जे—जो कोई सत्तिअग्गे—शक्ति की धारा

पर पहारं-हाथ पैर आदि का प्रहार दए-मारे, एसोवमा-सो^ये ही सब उपमाएँ गुरूणं-गुरुओं की आसायणया-आशातना से जाननी चाहिए।

मूलार्थ—जो मदान्ध शिष्य गुरुजनों की आशातना करता है, वह कठिन पर्वत को मस्तक की टक्कर से फोड़ना चाहता है, सोते हुए सिंह को जगाता है, तथा शक्ति की तीक्ष्ण धार पर अपने हाथ-पैर का प्रहार करता है।

टीका—जिस पर्वत को तोपों के सर्वसंहारी विशाल गोलों की वर्षा भी क्षत-विक्षत नहीं कर सकती, उसी पर्वत को जो स्वयं टक्कर मार मार कर चकना चूर करना चाहता है, वह मूर्ख है। क्योंकि, इससे अपना ही शिर टकराकर खंड-खंड हो जाता है, और पर्वत का कुछ नुकसान नहीं होता। जिस सिंह का दर्शन मात्र भी प्राणों को कँपा देता है, उसी सोते हुए केसरी को जो निरस्त्र पुरुष लात मार कर जगाता है, वह मूर्ख है। क्योंकि, इससे सिंह की कुछ हानि नहीं होती। प्रत्युत हानि उसी की है। वह ही अपने जीवन से हाथ धोकर काल के मुख मे जा पड़ता है। और जिस शक्ति की धारा जरा सी भी लगी हुई शरीर से रक्त धारा बहा देती है, उसी शक्ति की धारा को जो पाद प्रहार एवं मुष्टि प्रहार करके तोड़ता है, वह निश्चय ही महामूर्ख है। क्योंकि, इस से शक्ति की धारा खण्डित नहीं होती, प्रत्युत प्रहार करने वाले के ही हाथ-पैर कट जाते हैं। एवं जिस तरह उपर्युक्त तीनों काम करने वाले मूर्ख हैं और अपने कर्मो से दुःख पाते हैं, उसी प्रकार जो दुर्मति शिष्य, अभिमान से आचार्य की येन केन प्रकारेण आशातना करता है, वह सब मूर्ख शिरोमणियों का भी शिरोमणि है, और इस लोक, परलोक दोनों मे अतीव महान् दुःख पाता है। उसके उपार्जित संयम कर्म सब निष्फल हो जाते हैं। और मोक्ष नहीं मिल सकता।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में महान् अन्तर दिखलाते हैं:—

सिआ हु सीसेण गिरिंपि भिंदे,
सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे।

सिआ न भिंदिज्ज व सत्तिअग्गं,
न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥९॥
स्यात् खलु शिरसा गिरमपि भिन्द्यात्,
स्यात् सिंहः कुपितो न भक्षयेत् ।
स्यात् न भिन्द्यात् वा शक्त्यग्रं,
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥९॥

पदार्थान्वयः—सिआ-कदाचित् हु-निश्चय ही कोई सीसेण-शिर से गिरिंपि-पर्वत को भी भिंदे-भेदन कर दे, तथा सिआ-कदाचित् कुविओ-कुपित हुआ सीहो-सिंह भी हु-निश्चय ही न भक्खे-भक्षण न करे, वा-तथा सिआ-कदाचित् सत्तिअग्गे-प्रहार की हुई शक्ति की धारा भी न भिंदिज्ज-हस्तादि को खण्डित न करे, ये सब बातें तो कदाचित् हो भी सकती हैं, किन्तु न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए-गुरु की अवहेलना करके कोई मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता ।

मूलार्थ—कदाचित् कोई शिर की टक्कर से पर्वत को भी फोड़ दे, कुपित हुआ सिंह भी न मारे, शक्ति की धारा पर प्रहार किये हुए भी हस्त पादादि न कटें; किन्तु गुरुहीलना-कारक शिष्य, कभी मोक्ष पाकर दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता ।

टीका—इस काव्य मे पूर्व अलङ्कारों के विषय मे विशेषता दिखलाई गई है । यथा—कोई शक्तिशाली वासुदेव आदि महापुरुष अपने शिर की एक टक्कर से ही पर्वत को खण्ड-खण्ड करके भेदन कर सके । तथा मंत्र आदि की सामर्थ्य से कुपित हुआ सिंह भी बकरा हो जाय और मार न सके । तथा किसी देवानुग्रह से शक्ति की तीक्ष्ण धारा भी प्रहार करने पर तिलमात्र चोट न पहुँचा सके । ये सब बातें, जो पूरी असंभव दिखाई देती हैं, साधनवशात् पूर्णतया संभव हो सकती हैं । परन्तु गुरु की आशातना करने से जो दुष्कर्म बंधते हैं, उनका फल भोगे विना दूषित वाक्य बोलने वाले शिष्य को मोक्ष संभव नहीं हो सकता है उसे मोक्ष संभव कराने में मंत्र, तंत्र, जड़ी-बूटी आदि कोई भी वस्तु फलीभूत नहीं हो सकती ।

सूत्रकार का स्पष्ट एवं संक्षिप्त भाव यह है कि, स्व-शक्ति किंवा देव-शक्ति द्वारा असंभव से असंभव और कठिन से कठिन कार्य भी सुसंभव एवं सुसरल हो सकते हैं, परन्तु गुरुश्री की अवहेलना से मोक्ष-पद प्राप्ति कदापि किसी भी मंत्र यंत्रादि साधन से संभव एवं सरल नहीं हो सकती। अतः मोक्ष-पद के उत्कट अभिलाषी शिष्यों को भूलकर भी गुरु की आशातना नहीं करनी चाहिये।

उत्थानिका—अब, सूत्रकार आचार्य की अप्रसन्नता से अबोधित की प्राप्ति बतलाते हैं :—

आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना,
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाह सुहाभिकंखी,
गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥१०॥

आचार्यपादाः पुनः अप्रसन्ना,
अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्षः ।
तस्मात् अनाबाधसुखाभिकाङ्क्षी,
गुरुप्रसादाभिमुखोः रमेत ॥१०॥

पदार्थान्वयः—आयरिअपाया—पूज्यपाद आचार्य अप्पसन्ना—अप्रसन्न हुए अबोहि—अबोधिकारक होते हैं, अतः यह निश्चित है कि, आसायण—आशातना से मोक्खो—मोक्ष नत्थि—नहीं होती है, तम्हा—इस लिये अणाबाहसुहाभिकंखी—मुक्ति के अनाबाध सुख की इच्छा रखने वाला भव्य जीव गुरुप्पसायाभिमुहो—गुरु की प्रसन्नता के लिये रमिज्जा—सचेष्ट प्रवृत्ति करे।

मूलार्थ—पूज्यपाद आचार्यों को अप्रसन्न करने वाले व्यक्ति को अबोधि की प्राप्ति होती है तथा वह कदापि मोक्ष के सुख का भागी नहीं बन सकता। अतएव अनाबाध मुक्ति सुख की इच्छा करने वाले सज्जनों का कर्तव्य है कि, वे अपने धर्म गुरुओं को प्रसन्न करने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहें।

टीका—इस काव्य में गुरुभक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—यदि पूज्यपाद आचार्य किसी कारण से अप्रसन्न हो जायँ तो शिष्य को मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है। कारण कि, गुरु द्वारा सम्यग्ज्ञान के पढ़े विना शङ्काएँ उत्पन्न होंगी और फिर आत्मा मिथ्यात्व की ओर प्रवृत्त हो जाएगी। अतः मुक्ति के बाधा रहित अनुपम सुखों की इच्छा करने वाले भव्य व्यक्ति को योग्य है कि, वह गुरु को प्रसन्न रखने के लिये सदैव उद्यत रहे अर्थात् जिन जिन क्रियाओं के करने से गुरुदेव प्रसन्न होकर ज्ञानदान देते रहें, वे क्रियाएँ अवश्य शिष्य को करनी योग्य हैं। इस कथन से यह स्पष्टतया सिद्ध हो गया है कि, मोक्षसुखाभिलाषी को गुरुभक्ति अवश्यमेव करनी चाहिये। क्योंकि, गुरुदेव ही सच्चे मोक्ष-पद प्रदर्शक हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अग्नि की उपमा से गुरुश्री की पूज्यता बतलाते हैं :—

जहाहि-अग्गी जलणं नमंसे,
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं।
एवायरिअं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥११॥

यथा आहिताग्निः ज्वलनं नमस्यति,
नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम्।
एवमाचार्यमुपतिष्ठेत्,
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥११॥

पदार्थान्वयः—जहा—जिस प्रकार आहिअग्गी—अग्नि पूजक ब्राह्मण नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं—नाना प्रकार की आहुतियों और मंत्र-पदों से अभिषिक्त की हुई जलणं—अग्नि को नमंसे—नमस्कार करता है एव—उसी प्रकार अणंतनाणोवगओ वि संतो—अनन्त ज्ञानधारी होने पर भी शिष्य आयरिअं—आचार्य की उवचिट्ठइज्जा—विनय पूर्वक सेवा भक्ति करे।

मूलार्थ—जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण, मधु-घृतादि की विविध आहुतियों से एवं मंत्रों से अभिषिक्त अग्नि की नमस्कार आदि से पूजा करता है; ठीक उसी प्रकार अनन्तज्ञानसंपन्न हो जाने पर भी शिष्य को आचार्य श्री की नम्रभाव से उपासना करनी उचित है।

टीका—इस काव्य में भी गुरुभक्ति का दृष्टान्त द्वारा वर्णन किया गया है। यथा—जो ब्राह्मण अग्निहोत्री बनने के लिये अपने घर में अग्नि स्थापन करता है, वह अग्नि को नाना प्रकार की मधु-घृत प्रक्षेपादि रूप आहुतियों से तथा 'अग्नये स्वाहा' आदि मंत्र-पदों से अभिषिक्त करता है और फिर उस दीक्षासंस्कृत अग्नि की निरन्तर भक्ति भाव से पूजा करता है; ठीक तद्वत् सुशिष्य भी स्वपरपर्यायविषयक अनन्तज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी आचार्य की भक्ति भावना पूर्वक उपासना करता है। तात्पर्य इतना ही है कि, जिस प्रकार क्रिया-काण्डी ब्राह्मण दत्तचित से अग्नि की पूजा करता है, उसी प्रकार विनयी शिष्य को भी अपने गुरु की उपासना करनी चाहिये। भले ही आप अनन्तज्ञानी हो और गुरु अल्पज्ञानी हों। ज्ञान का गर्व करके कदापि गुरु-सेवा से पराङ्मुख नहीं होना चाहिये।

यहाँ सूत्रोक्त 'अनन्त ज्ञान' से केवल ज्ञान का ग्रहण है या अन्य किसी ज्ञान का, इस विषय पर टीकाकारों ने कोई स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है, तथापि यहाँ यह अवश्य है कि, वस्तु के अनन्त पर्यायों के जानने से ही अनन्तज्ञान कहा जाता है। सूत्र में जो "आहिताग्नि" पद पढ़ा है, उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि, "कृतावसथादि ब्राह्मणो" जिसने उपासना करने के लिये अपने स्थान में अग्नि की स्थापना की है, वह ब्राह्मण।

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करके दिखलाया जाता है :—

जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे,
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,
कायग्गिरा भो मणसा अ निच्चं ॥१२॥

यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत,
तस्यान्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत ।
सत्कारयेत् शिरसा प्राञ्जलिकः,
कायेन गिरा भो मनसा च नित्यम् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जस्संतिए—जिसके समीप धम्मपयाइं—धर्मशास्त्रोंको सिक्खे—सीखे तस्संतिए—उस गुरु के समीप शिष्य को सदा वेणइयं—विनय का पउंजे—प्रयोग करना चाहिये । किस प्रकार करना चाहिये इसके लिये गुरु कहते हैं कि भो—हे शिष्य ! पंजलीओ—हाथ जोड़कर सिरसा—शिर से तथा कायग्गिरा—वचन और शरीर से अ—तथा मणसा—मन से निच्चं—सदा काल शिष्य, गुरु का सक्कारए—सत्कार करे ।

मूलार्थ—शिष्य का कर्तव्य है कि जिस गुरु से आत्मविकाशी धर्मशास्त्रों के गूढ़ पदों की शिक्षा ले, उसकी पूर्ण रूप से विनय भक्ति करे अर्थात् हाथ जोड़ कर शिर से नमस्कार करे और मन, वचन, काय के योग से सदैव काल यथोचित सत्कार करे ।

टीका—जिन धर्म पदों के शिक्षण से या मनन से आत्म गुणों का विकाश होता है, उन धर्म पदों (सिद्धान्त पदों) की कल्याण कारिणी शिक्षा, जिस गुरु से ली जाय, उस गुरु की शिष्य को विनय भक्ति यथाशक्ति करनी चाहिये । यह विनय भक्ति सत्कार सम्मान कई प्रकार से होता है, प्रथम सत्कार नमस्कार का होता है, क्योंकि यह 'नमस्कार' अवश्य ही जिसको नमस्कार किया जाता है उसकी गुरुता का और अपनी हीनता का द्योतक होता है । जब मनुष्य स्वयं अपने को हीन समझेगा, तभी वह हीनता से गुरुता की ओर बढ़ेगा । अतः शिष्य, कर युग जोड़ कर मस्तक झुका कर गुरुश्री को प्रणाम करे । दूसरी विनय शरीर से होती है । यथा—गुरु के पधारने पर खड़ा होना, पैर पोंछने, आहार पानी लाकर देना रुग्णावस्था आदि में चरण चंपी (दबाना) करना आदि । तीसरा सत्कार वचन का होता है । यथा—कहीं आते जाते प्रेमपूर्वक 'मत्थएण वंदामि' कहना, प्रसंगोपात्त स्तुति करना, गुरुश्री की किसी कार्य के लिये आज्ञा मिलने पर

'तहत्ति, आदि स्वीकारार्थक शब्द बोलना आदि । चौथी विनय मन की होती है । यथा—गुरु को सर्वोपरि पूज्य मानना, गुरु को क्लेशप्रद कारणों के न होने का नित्य ध्यान रखना, गुरुश्री में उत्कृष्ट एवं अविचल श्रद्धा विश्वास रखना आदि ।

सूत्र मे जो 'नित्य' पद पढ़ा गया है, उसका यह भाव है कि यह गुरु-भक्ति केवल श्रुताध्ययन के समय में ही नहीं प्रतिपादन की गई है; परन्तु यह गुरुभक्ति सदैव काल करनी चाहिये । यदि ऐसा न हो तो कुशलानुबंध का व्यवच्छेद उपस्थित होता है ।

उत्थानिका—अब, गुरुभक्ति करते हुए मन में कैसे भाव रखने चाहियें यह कथन करते हैं :—

लज्जा दया संजम बंभचेरं,
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति,
तेहिं गुरू सययं पूअयामि ॥१३॥

लज्जा दया संयम ब्रह्मचर्यं,
कल्याणभाजः विशोधिस्थानम् ।
ये मां गुरवः सततमनुशासयन्ति,
तान् अहं गुरून् सततं पूजयामि ॥१३॥

पदार्थान्वयः—कल्लाणभागिस्स—कल्याणभागी साधु के लज्जा—लज्जा दया—दया संजम—संयम तथा बंभचेरं—ब्रह्मचर्य, ये सब विसोहिठाणं—कर्म मल दूर करने के स्थान हैं । और शिष्य जे—जो गुरू—गुरु मे—मुझे सययं—निरन्तर अणुसासयंति—हित शिक्षा देते हैं तेहिं गुरू—उन गुरुओं की मैं सययं—निरन्तर पूअयामि—पूजा करता हूँ, यह भाव रक्खे ।

मूलार्थ—लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याणभागी साधु की आत्मा को विशुद्ध करने वाले हैं । एतदर्थ शिष्य को सदैव यही भावना रखनी

चाहिये कि 'जो गुरु मुझे निरन्तर हित-शिक्षा देते रहते हैं, उन गुरुओं की मुझे निरन्तर पूजा करनी उचित है'।

टीका—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि साधु अपने मन मे यह बात सदैव निश्चयरूप से विचारता रहे कि जो साधु अपने कल्याण के भागी हैं, उनके लिये लज्जा—अपवाद भयरूप, दया—अनुकम्पारूप, संयम—पृथिवी आदि जीवरक्षा रूप, ब्रह्मचर्य—विशुद्धतपोऽनुष्ठान रूप, ये सब आत्मविशुद्धि के स्थान हैं अर्थात् कर्म-मल के दूर करने के स्थान हैं। क्योंकि ये सब सन्मार्ग की प्रवृत्ति के कारण हैं। तथा जो गुरु मुझे सदैव कल्याणरूप मार्ग में ले जाने के लिये शिक्षा देते रहते हैं, उन गुरुओं की मैं सदैव शुद्ध चित्त से पूजा करता हूँ। उनकी इच्छा मुझे योग्य बनाने की है। यह बात भली भाँति मानी हुई है कि शिक्षक की इच्छा शिष्य को केवल योग्य बनाने की ही हुआ करती है, इसी लिये शिक्षा करने वाले गुरुजनों की नित्यप्रति पूजा अर्थात् विनय भक्ति करनी चाहिये। उनसे बढ़ कर संसार में और कोई पूजा के योग्य नहीं है। इस उपर्युक्त कथन से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि गुरुओं की शिक्षा समयानुसार तथा व्यक्त्यनुसार मधुर और कटु दोनों ही प्रकार की होती हैं। इसलिये प्रसंगोपात्त यदि कभी गुरुश्री कटु शिक्षा दें तो शिष्य को गुरु पर क्रोध नहीं करना चाहिये; प्रत्युत जिस शिक्षा से लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य की परिवृद्धि होती है, उसके शिक्षक गुरु के प्रति उपर्युक्त पद्धति से विनय भक्ति ही सुदृढ़ करनी चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आचार्य को सूर्य और इन्द्र की उपमा देते हैं:—

जहा निसंते तवणच्चिमाली,
पभासई केवल भारहं तु।
एवायरिओ सुअसीलबुद्धिए,
विरायई सुरमज्झेव इंदो ॥१४॥

यथा निशान्ते तपन् अर्चिर्माली,
प्रभासयति केवल भारतं तु ।
एवमाचार्यः श्रुत-शील-बुद्ध्या,
विराजते सुरमध्य इव इन्द्रः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—जहा–जिस प्रकार निसंते–रात्रि के अन्त में तवणच्चिमाली–प्रकाश करता हुआ सूर्य, अपनी किरणों से तु–निश्चय ही केवल भारहं–सम्पूर्ण भारतवर्ष को पभासई–प्रकाशित करता है एव–उसी प्रकार आयरिओ–आचार्य सुअसील बुद्धिए–श्रुत, शील और बुद्धि से जीवादि पदार्थों का प्रकाश करता है। तथा व–जिस प्रकार सुरमज्झे–देवों के मध्य में इंदो–इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार आचार्य भी साधुओं के मध्य में विरायई–शोभित होता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार प्रातःकाल रात्रि के अन्त में देदीप्यमान सूर्य समस्त भरत खण्ड को अपने किरण समूह से प्रकाशित करता है, ठीक इसी प्रकार आचार्य भी श्रुत, शील और बुद्धि से युक्त हुए उपदेश द्वारा जीवादि पदार्थों के स्वरूप को यथावत् प्रकाशित करता है। तथा जिस प्रकार स्वर्ग में देव सभा के मध्य इन्द्र शोभा देता है, उसी प्रकार साधुसभा के मध्य आचार्य शोभा देता है।

टीका—इस काव्य में 'आचार्य अतीव पूजनीय हैं, यह बात दो उपमाओं द्वारा बतलाई गई है। जब रात्रि का अन्त होता है और प्रभात का समय आता है, तब भास्वर सूर्य उदयाचल पर उदय होकर सम्पूर्ण भारतवर्ष को प्रकाशित कर देता है, सोते हुए लोगों को जगा कर अपने अपने कामों में दृढ़ता के साथ लगा देता है; इसी प्रकार आचार्य भी श्रुत—आगम से, शील—परद्रोहविरतिरूप संयम से तथा तर्कणा रूप बुद्धि से युक्त होता हुआ स्पष्ट उपदेश द्वारा समस्त जड़ और चैतन्य पदार्थों के भावों को प्रकाशित करता है और शिष्यों को प्रबोधित कर आत्मसिद्धि के कार्य मे पूर्ण उत्साह के साथ संलग्न कर देता है। यह सूर्य की उपमा कही गई। अब दूसरी उपमा इन्द्र की दी जाती है। स्वर्ग लोक में छोटे बड़े सभी देवों के बीच जिस प्रकार रत्नासनासीन (रत्नों के सिंहासन पर विराजमान) इन्द्र महाराज सुशोभित

होते हैं, उसी प्रकार यहाँ मनुष्य लोक में छोटे बड़े सभी साधुओं के बीच 'पट्टपर' आचार्य महाराज सुशोभित होते हैं। यह उपमा, आचार्य जी की संघ पर होने वाली अखण्ड शासकता को द्योतित करती है। इस सूत्र से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ के निर्णय करने के लिये श्रुत, शील और बुद्धि नामक तीन वस्तुओं की अत्यधिक आवश्यकता है। जब तीनों वस्तु एकत्र हो जाएँ तो फिर वह कौनसा विषय है जो निर्णीत न हो सके। अर्थात् इनसे सब पदार्थों का सुखपूर्वक निर्णय किया जा सकता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार चन्द्रमा की उपमा द्वारा आचार्य की शोभा वर्णन करते हैं :—

जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो,
नक्खत्ततारागण परिवुडप्पा।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के,
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥१५॥

यथा शशी कौमुदीयोगयुक्तः,
नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा ।
खे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते,
एवं गणी शोभते भिक्षुमध्ये ॥१५॥

पदार्थान्वयः—जहा-जैसे कोमुइजोगजुत्तो-कौमुदी के योग से युक्त नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा-नक्षत्र और ताराओं के समूह से परिवृत ससी-चन्द्रमा अब्भमुक्के-बादलों से रहित विमले-अत्यन्त निर्मल खे-आकाश में सोहई-शोभा पाता है एवं-इसी प्रकार गणी-आचार्य भिक्खुमज्झे-भिक्षुओं के मध्य में सोहइ-शोभता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार कौमुदी के योग से युक्त तथा नक्षत्र और ताराओं के समूह से परिवृत चन्द्रमा, बादलों से रहित अतीव स्वच्छ आकाश में शोभित

होता है; ठीक इसी प्रकार आचार्य भी साधु समूह में मस्यकतया शोभित होते हैं।

टीका—इस काव्य में आचार्य को चन्द्रमा की उपमा से वर्णन किया है। जिस प्रकार कार्तिकी पौर्णमासी की विमल रात्रि में बादलों के न होने से अतीव निर्मल आकाश में चन्द्रमा, नक्षत्र और नानाविध ताराओं के समूह से चहुँ ओर घिरा हुआ शोभता है; ठीक इसी प्रकार गणाधिपति आचार्य भी भिक्षुओं के मध्य में शोभित होता है। सूत्र में जो 'कौमुदी योगयुक्तः'—'कार्तिकपौर्णमास्यामुदितः' पद दिया है, उसका यह भाव है कि कार्तिक का महीना स्वभावतः ही शान्त और प्रिय होता है और फिर दिशाओं के अत्यन्त निर्मल हो जाने से चन्द्रमा अपनी अतीव शुभ्र किरणों द्वारा अन्धकाराच्छन्न वस्तुओं को प्रकाशित करता है, जिसके देखने से चित्त में आह्लाद उत्पन्न होता है; ठीक तद्वत् आचार्य भी साधुओं के बीच में विराजते हुए दर्शकजनों के चित्तों को आह्लादित करता है और अपने विशुद्ध श्रुतज्ञान द्वारा सब गूढ़ भावों को प्रकाशित करता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार आचार्य को आकर (खान) की उपमा से वर्णन करते हैं:—

महागरा आयरिआ महेसी,
समाहिजोगेसुअसीलबुद्धिए।
संपाविउ कामे अणुत्तराइं,
आराहए तोसइ धम्मकामी ॥१६॥

महाकराः आचार्याःमहैषिणः,
समाधियोगेनश्रुतशीलवुद्ध्या ।
सम्प्राप्तुकामः अनुत्तराणि,
आराधयेत् तोषयेत् धर्मकामी ॥१६॥

पदार्थान्वयः—अणुत्तराइं-सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि रत्नों को संपाविउकामे-प्राप्त करने का इच्छुक धम्मकामी-धर्म की कामना करने वाला साधु महागरा-ज्ञान आदि रत्नों के आकर तथा समाहि जोगे सुअसील बुद्धिए-समाधियोग श्रुत, शील और बुद्धि से युक्त महेसी-महर्षि आयरिआ-आचार्यों की आराहए-आराधना करे तथा तोसइ-उनको विनयादि से प्रसन्न करे।

मूलार्थ—सम्यग् ज्ञान आदि सर्वप्रधान भावरत्नों के पाने की इच्छा करने वाले एवं धर्म की कामना करने वाले साधुओं को योग्य है कि वे समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि से युक्त, महाकररूप मोक्षाभिलाषी आचार्य की आराधना करें और निरन्तर की सेवा से उन्हें सदा प्रसन्न रक्खें।

टीका—इस काव्य में आचार्य की स्तुति का और उनको प्रसन्न करने का वर्णन किया गया है। यथा-जो आचार्य ज्ञान आदि भावरत्नों की अपेक्षा से महाकर के समान हैं, तथा समाधियोग—ध्यान से, श्रुत—द्वादशाङ्ग के अभ्यास से, शील—परद्रोहविरति रूप से, और बुद्धि—सद् विचार रूप से संयुक्त हैं; उन महान् आचार्यों की ज्ञानादि प्रधान भावरत्नों की प्राप्ति के लिये विनय द्वारा आराधना करनी चाहिये। यह आराधना कुछ एक बार ही नहीं करनी, किन्तु धर्म की कामना (निर्जरा की कामना) करने वाला साधु, सदा ही विनयादि के करने से उन्हे अतीव प्रसन्न करे। क्योंकि वे आचार्य मोक्षगमन की अनुप्रेक्षा करने वाले हैं, अतः उनकी सदैव विनय भक्ति करनी उचित है। सूत्र में जो 'महागरा' और 'आयरिआ' पद दिये हैं, वे प्रायः प्रथमान्त माने जाते हैं; परन्तु किसी २ अर्थकार आचार्य के मत में 'महाकरान्'-'आचार्यान्' इस प्रकार द्वितीयान्त भी कथित किये हैं। सूत्रोक्त 'महेसी' शब्द का संस्कृत रूप 'महर्षि' और 'महैषी' दोनों ही होते हैं। महर्षि का अर्थ सर्वोत्कृष्ट ऋषि और 'महैषी' का अर्थ महान् मोक्ष की इच्छा करने वाला होता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार प्रस्तुत उद्देश का उपसंहार करते हुए 'आचार्य सेवा से मोक्ष फल की प्राप्ति होती है' यह कहते हैं:—

सुच्चाण मेहावि सुभासिआइं,
सुस्सूसए आयरिअप्पमत्तो ।
आराहइत्ता ण गुणे अणेगे,
से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥१७॥
त्ति बेमि ।

इति विणयसमाहिज्झयणे पढमो उद्देसो समत्तो ॥

श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि,
शुश्रूषयेत् आचार्यान् अप्रमत्तः ।
आराध्य गुणान् अनेकान् सः,
प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तराम् ॥१७॥
इति ब्रवीमि ।

इति विनयसमाध्यध्ययनेप्रथमउद्देशः समाप्तः ॥

पदार्थान्वयः—मेहावि-बुद्धिमान् साधु सुभासिआइं-सुभाषित वचनों को सुच्चा-सुन कर अप्पमत्तो-प्रमाद को छोड़ता हुआ आयरिअ-आचार्यों की सुस्सूसए-सेवा शुश्रूषा करे और फिर से-वह साधु अणेगे-अनेक गुणे-गुणों की आराहएत्ता-आराधना करके अणुत्तरं-सर्वोत्कृष्ट सिद्धि-सिद्धि को (मोक्ष को) पावई-प्राप्त करता है त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु को योग्य है कि, वह सुभाषित प्रवचनों को सुन कर अप्रमत्त भाव से आचार्य जी की सेवा करे; क्योंकि, इससे साधु, अनेक सद्गुणों की आराधना कर लेता है और आराधना करके अनुत्तर (सर्व श्रेष्ठ) सिद्धिस्थान को पा लेता है ।

टीका—इस काव्य में सेवा का अन्तिम परिणाम वा गुणों की आराधना का फल दिखलाया गया है । यथा—जो बुद्धिमान् साधु है, वह आचार्यों के

सुभाषित वाक्यों को श्रवण कर अर्थात् गुरु की आराधना का फल सुनकर निद्रादि प्रमादों को छोड़ता हुआ आचार्य श्री की आज्ञा का पालन करे। क्योंकि इस सेवा से अनेक ज्ञान आदि समीचीन गुणों की आराधना करके साधु, सब से प्रधान जो मुक्तिरूप सिद्धि है, उसको प्राप्त कर लेता है और अजर अमर हो जाता है। सूत्रकार के कथन का स्पष्ट भाव यह है—गुरु सेवा का फल स्वल्प नहीं है। गुरु सेवा से ही सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की आराधना होती है, और फिर उसी भवश्या सुकुलादि में जन्म लेता हुआ सुखपूर्वक अनुक्रम से अक्षय मोक्ष धाम की प्राप्ति होती है।

"श्रीसुधर्मा जी जम्बू स्वामी जी से कहते हैं कि हे वत्स ! जैसा मैंने वीर प्रभु से इस नवम अध्ययन के प्रथम उद्देश का वर्णन सुना था, वैसा ही मैंने तेरे प्रति कहा है।"

नवमाध्ययन प्रथमोद्देश समाप्त।

अथ नवमाध्ययने द्वितीय उद्देशः।

उत्थानिका—प्रस्तुत अध्ययन में विनय का अधिकार है; अतः इस दूसरे उद्देश में भी अविनय का खण्डन करके विनय का ही मण्डन किया जाता है। सम्पूर्ण धर्मों का मूल विनय है, यह दृष्टांत द्वारा कहते हैं :—

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ सि पुप्फं च फलं रसो अ ॥१॥

मूलात् स्कन्धप्रभवः द्रुमस्य,
स्कन्धात् पश्चात् समुपयान्ति शाखाः।
शाखाभ्यः प्रशाखाः विरोहन्ति पत्राणि,
ततः तस्य पुष्पं च फलं च रसश्च ॥१॥

पदार्थान्वयः—मूलाउ—मूल से दुमस्स—वृक्ष का खंधप्पभवो—स्कन्ध उत्पन्न होता है पच्छा—पश्चात् खंधाउ—स्कन्ध से साहा—शाखाएँ समुविंति—उत्पन्न होती हैं साहप्पसाहा—शाखाओं से प्रशाखाएँ विरुहंति—उत्पन्न होती हैं तओ—तदनन्तर पत्ता—पत्र उत्पन्न होते हैं और फिर सि—उस वृक्ष के पुप्फं—पुष्प च—फिर फलं—फल च—फिर रसो—रस उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—वृक्ष के मूल से प्रथम स्कन्ध उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ, प्रशाखाओं से पत्र, पत्रों के बाद पुष्प और पुष्पों के अनन्तर फल एवं फिर अनुक्रम से फलों में रस होता है।

टीका—अब सूत्रकार, दृष्टान्त देकर विनय धर्म से जो सद्गुण उत्पन्न होते हैं उनका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं। यथा—मूल से वृक्ष का स्कन्ध (स्थूलरूप) उत्पन्न होता है। और फिर स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ उत्पन्न होती हैं। शाखाओं से प्रशाखाएँ उत्पन्न होती हैं। और फिर प्रशाखाओं से पत्र उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर पत्रों के पश्चात् वृक्ष के पुष्प लगते हैं और पुष्पों के पश्चात् फल एवं फलों में फिर रस पड़ता है। ये सब अनुक्रम पूर्वक ही उत्पन्न होते हैं। इस दृष्टांत के देने का सारांश यह निकलता है कि, वाचक-वर्ग वा श्रोता-गण को वनस्पति की उत्पत्ति का भी भली भाँति ज्ञान हो जाय। कारण यह है कि, प्रत्येक पदार्थ अपनी शैली के अनुसार अर्थात् अपनी अनुक्रमतापूर्वक उत्पादधर्म वा व्यय-धर्म को प्राप्त होता रहता है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ का मूल धर्म 'ध्रौव्य' ही रहता है। वह कभी विनष्ट नहीं होता।

उत्थानिका—अब दृष्टांत के कथन के बाद दार्ष्टान्तिक की योजना की जाती है :—

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो अ से मुक्खो ।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

एवं धर्मस्य विनयो मूलं, परमस्तस्य मोक्षः ।
येन कीर्तिं श्रुतं श्लाघ्यं, निःशेषं चाधिगच्छति ॥२॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इसी प्रकार **धम्मस्स**—धर्मरूप वृक्ष का **मूलं**—मूल **विणओ**—विनय है **च**—और **से**—उस धर्मरूप वृक्ष का **परमो**—उत्कृष्ट-रस-युक्त फल **मुक्खो**—मोक्ष है। विनय वह है **जेण**—जिससे विनयी शिष्य **कित्तिं**—कीर्ति **सुअं**—श्रुत **च**—और **नीसेसं**—सम्पूर्ण **सिग्घं**—श्लाघा को **अभिगच्छइ**—प्राप्त करता है।

मूलार्थ—धर्मरूप कल्प वृक्ष का विनय तो मूल है और मोक्ष उत्कृष्ट फल का रस है। क्योंकि विनय से ही यश कीर्ति, श्रुत एवं श्लाघा आदि पूर्ण-रूप से प्राप्त किये जाते हैं।

टीका—इस गाथा में दार्ष्टान्तिक का भाव दिखलाया गया है। यथा—धर्म-रूप कल्प-वृक्ष का आदि प्रबन्ध रूप मूल तो विनय है और अन्तिम फल का मधुर रस रूप मोक्ष है। तथा जिस प्रकार वृक्ष की शाखाएँ और प्रशाखाएँ प्रतिपादन की गई हैं, इसी प्रकार धर्म-रूप कल्प-वृक्ष के भी देवलोक-गमन, श्रेष्ठकुल गमन आदि जानने चाहिएँ। क्योंकि संसार मे यावन्मात्र जो शब्दादि विषयों के सुख हैं, वे सभी धर्म रूप वृक्ष के ही फल हैं। धर्म के बिना सांसारिक सुख भी प्राप्त नहीं हो सकते। विनय-विनीत मनुष्य को पारलौकिक मोक्ष आदि फल तो मिलते ही हैं, परन्तु विनयी इस लोक में भी कोई साधारण निम्न श्रेणी का मनुष्य नहीं होता; प्रत्युत उस अतीव उच्च श्रेणी का होता है, जो सुखाभिलाषी मनुष्य संसार के सामने एक आदर्श रूप होता है। यही कारण है कि जो विनयी पुरुष होता है, उसकी सर्वत्र यशः कीर्ति होती है। वह श्रुतविद्या मे पारंगत होता है। उसकी श्लाघा वे भी करेंगे जो कभी किसी की श्लाघा करनी नहीं जानते। ये सब बातें विनयी की कुछ अधूरी नहीं होती, प्रत्युत सम्पूर्ण रूप से होती हैं। इसीलिये सूत्रकार ने 'नीसेसं' पद का प्रयोग किया है। सूत्रकार ने जो यह वृक्ष का दृष्टान्त दिया है, इसका यह तात्पर्य है कि, जो मुमुक्षु मोक्ष सुख की इच्छा करता है और तदर्थ कठिन से कठिन धर्म क्रियाएँ करता है, उसे उचित है कि वह प्रथम विनय को स्वीकार करे। क्योंकि यही धर्म रूप वृक्ष का मूल है। विना मूल का वृक्ष कैसा। यह आबाल वृद्ध प्रसिद्ध है। 'छिन्ने मूले कुतः शाखा'।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अविनय के दोष दिखलाते हैं—

जे अ चंडे मिए थद्धे,
दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीअप्पा,
कट्ठं सोअगयं जहा ॥३॥

यश्च चण्डः मृगः स्तब्धः,
दुर्वादी निकृती (निकृतिमान्) शठः।
उह्यतेऽसौ अविनीतात्मा,
काष्ठं स्रोतोगतं यथा ॥३॥

पदार्थान्वयः—जे-जो चडे-क्रोधी है मिए-मूर्ख है थद्धे-अहंकारी है दुव्वाई-दुर्वादी है, कठोर भाषी है नियडी-कपटी है अ-तथा सढे-संयम योग में आदर हीन है से-वह अविणीअप्पा-अविनीतात्मा सोअगयं-जल-प्रवाह-पतित कट्ठं-काष्ठ जहा-जैसे वह जाते हैं, तद्वत् वुज्झइ-संसारसागर में वह जाता है।

मूलार्थ—जो क्रोधी, अज्ञानी, अहंकारी, कटुवादी, कपटी और संयम अविनीत पुरुष होते हैं; वे जिस प्रकार जल प्रवाह में पड़ा हुआ काष्ठ वह जाता है; तद्वत् संसार समुद्र में वह जाते हैं।

टीका—इस गाथा में अविनय का फल दिखलाया गया है। यथा—जो पुरुष क्रोध करने वाला है, हितकारी वात को नहीं मानने वाला है, जात्यादि के मद से उन्मत्त रहता है, कठोर भाषा बोलता है, छल कपट मे फँसा रहता है और संयम के शुभ योगों का अनादर करने वाला है; वह अविनीत है। वह किसी पूज्य पुरुष की विनय नहीं कर सकता। वह अविनीतात्मा, "सकलकल्याणैक-निवन्धन" विनय-गुण से रहित हुआ और "सकलदुःखैकनिवन्धन" अविनय-दोष से युक्त है, और इस प्रकार संसार सागर में वह जाता है, जिस प्रकार स्रोतोगत काष्ठ अर्थात् नदीजल के प्रवाह मे पड़ा हुआ काठ वह जाता है। अतएव कल्याणा-भिलाषी सज्जनों को योग्य है कि, वे कटु-फल-प्रदाता अविनय को छोड़ कर मधुर-फल-प्रदाता विनय की शरण लें। विना विनय की शरण लिये सुख शान्ति की सुधा धारा का आस्वादन नहीं किया जा सकता।

उत्थानिका—अब पुनः इसी विषय में कहते हैं:—

विणयंपि जो उवाएणं, चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमिज्जंतिं, दंडेण पडिसेहए ॥४॥

विनये य उपायेन, चोदितः कुप्यति नरः।
दिव्यामसौ श्रियमायान्तीं, दण्डेन प्रतिषेधयति ॥४॥

पदार्थान्वयः—जो-जो **नरो**-मनुष्य **उवाएण**-किसी उपाय से **विणयंपि**-विनय धर्म के प्रति **चोइओ**-प्रेरित किया हुआ **कुप्पइ**-क्रुद्ध होता है **सो**-वह **इज्जंतिं**-आती हुई **दिव्वं**-प्रधान **सिरिं**-लक्ष्मी को **दंडेण**-दण्ड से **पडिसेहए**-प्रतिषेधित करता है।

मूलार्थ—जो पुरुष किसी उपाय से विनय धर्म में प्रेरित करने पर क्रोध करता है, वह मूर्ख सम्मुख आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डंडे से उलटा हटाता है।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया है कि, वस्तुतः विनय ही लक्ष्मी है। जैसे कि कोई पुरुष विनय धर्म से स्खलित हो जाता है, तब कोई पुरुष उसे एकान्त स्थान में मधुर एवं कोमल वाक्यों से शिक्षित करता है कि, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये। तुम मनुष्य हो, तुम्हें नम्र होना चाहिये। तब यह अविनीत पुरुष शिक्षा सुनते ही क्रोध के आवेश में आवेश मे आ जाता है, तो वह वास्तव में अपने घर मे आती हुई अलौकिक-प्रभा-वाली लक्ष्मी को डंडों की मार देकर, घर से बाहर कर देता है अर्थात् लक्ष्मी को डंडा मार कर वापिस ही लौटाता है। यहाँ सूत्र मे जो लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है, वह विनय के लिये किया है। सूत्रकार का इससे यह भाव है कि जो अविनीत पुरुष, शिक्षक गुरु की शिक्षा पर ध्यान नहीं देता और उलटा अपमान के झूठे विचार से क्रुद्ध होता है; वह अपने हृदय भवन में आती हुई सकल-सुख-साधिका विनय लक्ष्मी को क्रोध रूपी कठोरतर दण्डे से तिरस्कृत कर बाहर निकालता है। अतः यदि संसार मे यशः कीर्ति फैला कर अपना नाम अमर करना है, तो विनय लक्ष्मी की आदर पूर्वक उपासना करनी चाहिये। क्योंकि इस विनयरूप भाव-लक्ष्मी के समक्ष द्रव्य लक्ष्मी कोई अस्तित्व नहीं रखती।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अविनीत अश्व गजादि की उपमा देकर अविनय का दुःख बतलाते हैं:—

तहेव अविणीअप्पा, उववज्झा हया गया।
दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिआ ॥५॥
तथैव अविनीतात्मानः, औपवाह्या हया गजाः।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः, आभियोग्यमुपस्थिताः ॥५॥

पदार्थान्वयः—तहेव–तथैव उववज्झा–प्रधान सेनापति आदिक लोगों के अविणीअप्पा–अविनीतात्मा हया–घोड़े गया–हाथी दुहमेहंता–दुःख भोगते हुए तथा आभिओगमुवट्ठिआ–आभियोग्यभाव में (सेवक भाव मे) लगे हुए दीसंति–देखे जाते हैं।

मूलार्थ—राजा आदि प्रधान पुरुषों क हाथी और घोड़े आदि पशु भी, अविनीतता के कारण, प्रत्यक्ष में महा दुःख भोगते हुए एवं आभियोग्य भाव को प्राप्त हुए, देखे जाते हैं।

टीका—इस गाथा मे अविनय के दोष दिखलाये गये हैं। यथा—जो विनयगुण रहित आत्माएँ हैं, वे सदैव दुःख ही पाते हैं। उन्हें कभी सुख नहीं मिलता। जिस प्रकार राजा आदि महापुरुषों के हाथी और घोड़े आदि पशु, जो अपने स्वामी की आज्ञापालन नहीं करते हैं; वे घोर से घोर दुःखों का अनुभव करते हुए प्रत्यक्ष में देखे जाते हैं, तथा सेवक भाव में सदैव काल तत्पर रहते हैं। जैसे—अत्यंत भार का उठाना, यथा समय भोजन का न मिलना, कोरड़ों (चाबुक) की मार खाना आदि। तथा सूत्र में जो 'उववज्झा'—'औपवाह्याः' पद दिया है, उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि—"राजादि वल्लभानामेते कर्मकरा इत्यौपवाह्याः" राजा आदि महा पुरुषों की सेवा के काम में आने वाले अश्व गजादि पशु।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अपने स्वामी की आज्ञानुसार चलने वाले विनयी पशु सुख पाते हैं, यह कहते हैं—

तहेव सुविणीअप्पा, उववज्झा हया गया।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥६॥

तथैव सुविनीतात्मानः, औपवाह्या हया ० गजाः ।
दृश्यंते सुखमेधमानाः, ऋद्धिं प्राप्ताः महायशसः ॥६॥

पदार्थान्वयः—तहेव–इसी प्रकार उववज्झा–सेनापति आदि लोगों के सुविणीअप्पा–सुविनीतात्मा हया–घोड़े तथा गया–हाथी सुहमेहंता–सुख भोगते हुए इड्ढिपत्ता–ऋद्धि को प्राप्त हुए महायसा–महायशवंत दीसंति–देखे जाते हैं ।

मूलार्थ—राजा आदि प्रधान पुरुषों के हाथी और घोड़े आदि श्रेष्ठ पशु सुविनीतता के कारण परम सुख भोगते हुए, ऋद्धि को प्राप्त कर, और महान् यश वाले देखे जाते हैं ।

टीका—इस गाथा में कहा गया है कि, जो अपने स्वामी की सर्वथा आज्ञापालन करने वाले राजा राजमंत्री आदि लोगों के घोड़े वा हाथी हैं, वे महान् सुख भोगते हुए, साथ ही सुन्दर आभूषण वा सुन्दर सरस भोजन को प्राप्त करते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु अपने सद्गुणों के कारण से महान् यशः कीर्ति वाले प्रत्यक्ष में देखे जाते हैं । तात्पर्य यह है कि, चाहे कोई मनुष्य हो, चाहे कोई पशु हो, स्वामी की आज्ञा पालन करने से ही सुख की प्राप्ति होती है, स्वामी की आज्ञा के विराधना से नहीं । आज्ञा-विराधक तो केवल दुःख के ही भागी होते हैं । किसी प्रति में 'इड्ढि पत्ता' के स्थान पर 'सुद्धि पत्ता' ऐसा पाठ भी है । उसका यह भाव है कि, विनय गुण के कारण से ही प्रधान सेनापति आदि पुरुषों के हाथी और घोड़े आदि पशुओं के पास उनकी सेवा के लिये सदैव दास रहते हैं; जो नित्य प्रति उनके रहने के स्थान को एवं उनके शरीर को साफ सुथरा रखते हैं और मलादि दूर करते रहते हैं ।

उत्थानिका—अब अविनयी मनुष्य का अधिकार करते हैं :—

तहेव अविणीअप्पा, लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति दुहमेहंता, छाया ते विगलिंदिआ ॥७॥
तथैव अविनीतात्मानः, लोके नरनार्यः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः, छाताः ते विकलेन्द्रियाः ॥७॥

पदार्थान्वयः—तहेव–उसी प्रकार लोए–लोक में जो अविणीअप्पा–अविनीत हैं ते–वे सब नरनारिओ–पुरुष और स्त्रियाँ दुहमेहंता–दुःख भोगते हुए छाया–कशा के आघात से वर्णाङ्कित शरीर वाले तथा विगलिंदिआ–नासिकादि इन्द्रियों से हीन दीसंति–देखे जाते हैं ।

मूलार्थ—संसार में अविनय करने वाले बहुत से पुरुष और स्त्रियाँ नाना प्रकार के कष्टों को भोगते हुए, कशा आदि के आघात से पीड़ित हुए, एवं कान नाक आदि के छेदन से विरूप हुए, देखे जाते हैं ।

टीका—इस गाथा मे विनय और अविनय का फल मनुष्य को लक्ष्य करके कथन किया है । जैसे कि, इस मनुष्य लोक मे बहुत से पुरुष या स्त्रियाँ घोरातिघोर दुःख भोगते हुए, तथा कशा "हंटर" आदि के आघात से घायल हो कर और नाक कान आदि अङ्गोपाङ्ग के काटने से विकलेन्द्रिय बने हुए, प्रत्यक्ष देखने मे आते हैं । कारण यह है कि, जो चोर हैं, जो पर-स्त्री के लंपटी हैं, उन की इसी प्रकार की बुरी गति देखी जाती है । और यह सब अविनय के ही फल हैं । सदनुष्ठान का (सत्कर्मो का) न करना ही अविनय है, इसीलिये उक्त फल असदाचारी लोगों को भोगने पड़ते हैं ।

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय पर कहते हैं :—

दंडसत्थपरिज्जुन्ना , असब्भवयणेहि अ ।
कलुणा विवन्नछंदा, खुप्पिवासाइपरिग्गया ॥८॥

दण्डशस्त्रपरिजीर्णाः , असभ्यवचनैश्च ।
करुणाः व्यापन्नच्छन्दसः, क्षुत्पिपासापरिगताः ॥८॥

पदार्थान्वयः—अविनीतात्मा पुरुष दंडसत्थपरिज्जुन्ना–दण्ड और शस्त्रों से जर्जरित अ–तथा असब्भवयणेहि–असभ्य वचनों से ताड़ित कलुणा–अतीव दीन विवन्नच्छंदा–पराधीन और खुप्पिवासाइपरिगया–भूख और प्यास से पीड़ित दीसंती–देखे जाते हैं ।

मूलार्थ—अविनीत पुरुष दण्ड और शस्त्र से क्षत-विक्षत शरीर वाले, असभ्य वचनों से सर्वत्र तिरस्कार पाने वाले, दीन-भाव दर्शाने वाले, पराधीन

जीवन विताने वाले एवं क्षुधा-तृषा की असह्य वेदना भोगने वाले, देखे जाते हैं।

टीका—इस गाथा में भी अविनय के ही फल दिखाये गये हैं। यथा—वेंत आदि के मारने से अथवा खड्गादि शस्त्रों के आघात से जिनका शरीर क्षत-विक्षत होकर सब प्रकार से दुर्बल हो गया है। तथा जो नित्य-प्रति असभ्य वा कर्कश वचनों के सुनने के कारण दुःखी और सत्पुरुषों के लिये करुणा के पात्र बने हुए हैं। तथा जिनकी सदैव काल पराधीन वृत्ति है, अर्थात् जो स्वेच्छानुसार कहीं इधर उधर जा आ नहीं सकते और कोई काम नहीं कर सकते। तथा जो भूख प्यास से भी पीड़ित रहते हैं, राजा आदि के आदेश से कारागार में पड़े हुए अन्न पानी के निरोध का दुःख भोगते हैं। वे सब अविनयी, असदाचारी, अभिमानी, एवं क्रोधी पुरुष होते हैं। क्योंकि, ये कष्ट अविनय के दोष से ही होते हैं। अविनीतात्मा इसी लोक में ऐसे दुःख पाते हैं, यह बात नहीं है; किन्तु अकुशलानुष्ठान के कारण ये परलोक में भी इसी प्रकार के घोर दुःख पाते हैं। अतः यह अविनय सर्वांश से ही त्याज्य है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विनीत मनुष्यों की सुखमयी अवस्था का वर्णन करते हैं :—

तहेव सुविणीअप्पा, लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिपत्ता महायसा ॥९॥

तथैव सुविनीतात्मानः, लोके नरनार्यः।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः, ऋद्धिं प्राप्ताः महायशसः ॥९॥

पदार्थान्वयः—तहेव-उसी प्रकार लोगंसि-लोक में सुविणीअप्पा-आज्ञा मानने वाले सुविनीत नरनारिओ-नर और नारियाँ सुहमेहंता-सुख भोगते भये इड्ढिपत्ता-ऋद्धि को प्राप्त हुए तथा महायसा-महायशवंत दीसंति-देखे जाते हैं।

मूलार्थ—संसार में विनीत पुरुष और स्त्रियाँ सुख भोगते हुए, समृद्धि को प्राप्त हुए, तथा महान् यश कीर्ति से युक्त देखे जाते हैं।

टीका—जिस प्रकार विनीत पशु नाना प्रकार के एक से एक मनोहर सुख भोगते हैं, ठीक इसी प्रकार इस मनुष्य लोक में बहुत से स्त्री और पुरुष

नानाविध सुखों का अनुभव करते हुए तथा नाना प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि को प्राप्त कर अपने जगद्व्यापी शशधर रूपी धवल महान् विमल यश से चारों दिशाओं को विशुभ्र करते हुए देखे जाते हैं। कारण यह है कि राजा आदि की अथवा गुरु-जनों की विनय पूर्वक शुद्ध चित्त से की हुई सेवा कभी निष्फल नहीं जाती है। इन की सेवा सदा सुख ही देने वाली होती है। परन्तु राजा आदि लोगों की तथा गुरुजनों की सेवा मे महान् अन्तर है। वह अन्तर यह है कि राजा आदि की सेवा इसी लोक मे कुछ काल के लिये ही सुखदायक होती है और गुरुजनों की सेवा लोक परलोक दोनों ही मे सुखकारिका होती है। जिस प्रकार प्रत्येक धान्य वा वृक्षों की वृद्धि का कारण केवल एक जल ही है, तद्वत् प्रत्येक सुख का कारण एक विनय ही है। इसी वास्ते सूत्रकार ने विनयी के लिये 'महायशसः' का विशेषण दिया है। वस्तुतः विनयी का ही विश्वव्यापी महायश हो सकता है।

उत्थानिका—अब अविनीत देवताओं के विषय में कहते हैं:—

तहेव अविणीअप्पा, देवा जक्खा अ गुज्झगा।
दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिआ ॥१०॥

तथैव अविनीतात्मानः, देवाः यक्षाश्च गुह्यकाः।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः, आभियोग्यमुपस्थिताः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—तहेव–उसी प्रकार अविणीअप्पा–अविनीतात्मा देवा–देव जक्खा–यक्ष अ–और गुज्झगा–गुह्यक (भवनपति देव) दुहमेहंता–दुख भोगते हुए तथा आभिओगमुवट्ठिआ–सेवकभाव को प्राप्त हुए दीसंति–देखे जाते हैं।

मूलार्थ—जिस प्रकार अविनयी मनुष्य दुःख भोगते हैं, ठीक उसी प्रकार अविनीत देव[1], यक्ष और गुह्यक भी निरन्तर दुःख भोगते हुए तथा परा-धीन सेवा वृत्ति में लगे हुए, देखे जाते हैं।

---

१. यहाँ पर 'देव' शब्द समुच्चय देवजाति का वाचक न होकर, केवल ज्योतिष एवं वैमानिक देवों का ही वाचक है। क्योंकि सूत्रकार ने आगे ही यक्ष और गुह्यक जाति के देवों का नाम निर्देश किया है।

टीका—जिस प्रकार पूर्वसूत्रों में तिर्यंच और मनुष्यों को लेकर अविनय के कुफल का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार सूत्रकार ने इस सूत्र में देवों को लेकर अविनय के कुफल का वर्णन किया है। तथाहि—जो किसी प्रकार का विनय नहीं करने वाले वैमानिक वा ज्योतिष्क देव हैं, तथा यक्षादि व्यन्तर देव हैं, तथा भवनपति आदि गुह्यक देव हैं, वे सब पराधीनता के कारण से तथा पर की समृद्धि देखने से नाना भाँति के असह्य दुःख भोगते हुए तथा दूसरे देवों की सेवा में कुत्ते के सदृश कुत्सित जीवन बिताते हुए देखे जाते हैं। यहाँ 'दीसंति' क्रियापद पर प्रश्न होता है कि, देवलोक के देवताओं के कष्टों का देखना किस प्रकार बन सकता है? उत्तर में कहना है कि, सूत्र में जो 'दीसंति' क्रिया दी है, वह सापेक्ष है, अतः अपेक्षा की पूर्ति के लिये यहाँ अनुक्त अवधिज्ञान एवं श्रुतज्ञान आदि अभ्यन्तर ज्ञान चक्षुओं का अध्याहार किया जाता है। जिस कारण ज्ञानी पुरुष अवधिज्ञान एवं श्रुतज्ञान आदि से देवलोकस्थ अविनीत देवों के कष्टों को देखते हैं। सूत्रगत 'आभियोग्य' शब्द जैन परिभाषा का है, और पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सहसा हर कोई नहीं समझ सकता। अस्तु यहाँ आभियोग्य शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध स्पष्ट अर्थ यह किया जाता है—अभियोगः—आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीति अभियोगी, तद्भाव आभियोग्यं कर्मकरभावमित्यर्थः। अर्थात् 'अभियोगी' दास को कहते हैं और अभियोगी का भाव 'आभियोग्य' दासता कहलाता है। भाव यह है कि, अविनीत देव देव होकर भी कुछ सुख नहीं पाता। वहाँ पर भी वह दासता में लगा हुआ संख्यात असंख्यात काल पर्यन्त घोर दुःख भोगता है। तथा सेवा मे यत्किंचित् असावधानी हो जाने से स्वामी या देवों के वज्र आदि प्रहार से पीड़ित होता है।

उत्थानिका—अब विनीत देवों के विषय में कहते हैं:—

तहेव सुविणीअप्पा, देवा जक्खा अ गुज्झगा।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिंपत्ता महायसा ॥११॥

तथैव सुविनीतात्मानः, देवा यक्षाश्च गुह्यकाः।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥११॥

पदार्थान्वयः—तहेव—उसी प्रकार सुविणीअप्पा—आज्ञा पालन करने वाले देवा—देव जक्खा—यक्ष अ—और गुज्झगा—गुह्यक सुहमेहंता—सुख को भोगते हुए इड्ढिपत्ता—ऋद्धि को प्राप्त हुए तथा महायसा—महायश से युक्त दीसंति—देखे जाते हैं।

मूलार्थ—तथैव भले प्रकार विनयगुणोपपेत देव, यक्ष और गुह्यक जाति के देवता भी, सभी सुखों को भोगते हुए, उत्कृष्ट समृद्धि को प्राप्त हुए महायशस्वी देखे जाते हैं।

टीका—इस गाथा में विनय के फल दिखाये गये हैं। यथा—विनयगुणी वैमानिक और ज्योतिष्क देव यक्ष और गुह्यक देव नाना प्रकार के कायिक वाचिक मानसिक सुखों को भोगते हुए, नाना प्रकार के रूप परिवर्तन आदि ऋद्धि को प्राप्त कर महायशवन्त देखे जाते हैं। सूत्र में जो 'दीसंति' वर्तमान काल का क्रियापद दिया है, सो इससे यह भाव जानना चाहिये कि यह देवों का सुख केवल ज्ञानियों के ज्ञान में प्रत्यक्ष है और आजकल आगम ज्ञान में प्रत्यक्ष है। तथा विनय का फल तीनों काल में एक ही रसमय होता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, लोकोत्तर विनय का फल वर्णन करते हैं:—

जे आयरिअ उवज्झायाणं, सुस्सूसावयणं करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥१२॥

ये आचार्योपाध्यायानाम्, शुश्रूषावचनकराः।
तेषां शिक्षाः प्रवर्द्धन्ते, जलसिक्ता इव पादपाः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जे—जो शिष्य आयरिअउवज्झायाणं—आचार्यों और उपाध्यायों की सुस्सूसवयणं करे—सेवा-शुश्रूषा करते हैं और उनके वचनों को मानते हैं तेसिं—उनकी सिक्खा—शिक्षाएँ जलसित्ता इव पायवा—जल से सींचे हुए वृक्षों के समान पवड्ढंति—वृद्धि को प्राप्त होती हैं।

मूलार्थ—जो भव्य आचार्यों एवं उपाध्यायों के प्रिय सेवक और आज्ञापालक होते हैं; उनका शिक्षाज्ञान खूब अच्छी तरह जल से सींचे हुए वृक्षों की तरह क्रमशः बढ़ता ही जाता है।

टीका—नारकीय जीवों को छोड़ कर शेष जीवों के विनय और अविनय का फल दिखाये जाने पर अब सूत्रकार, इस विशेष सूत्र से लोकोत्तर विनय का फल वर्णन करते हुए कहते हैं कि, जो शिष्य आचार्यों और उपाध्यायों की विशुद्ध रूप से सेवा-शुश्रूषा करने वाले हैं और उनकी प्राण-पण से आज्ञा मानने वाले हैं; उन पुण्य भागी शिष्यों की ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार जल से यथा समय सिंचन किये हुए वृक्ष यथाशक्ति बढ़ते हैं। क्योंकि आज्ञा के मानने से आचार्य आदि पूज्य पुरुषों की आत्मा प्रसन्न होती है, जिससे वे विशेषतया श्रुतज्ञान द्वारा शिष्य को शिक्षित करते हैं। फिर उस शिक्षा के फलस्वरूप शिष्य की आत्मा को अनन्त कल्याण रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार 'किस भाव को रखकर विनय करनी चाहिये' यह कथन करते हैं:—

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, सिप्पा णेउणिआणि अ।
गिहिणो उवभोगट्ठा, इह लोगस्स कारणा ॥१३॥

आत्मार्थं वा परार्थं वा, शिल्पानि नैपुण्यानि च।
गृहिण उपभोगार्थं, इह लोकस्य कारणात् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—गिहिणो-गृहस्थ लोग इहलोगस्स-इस लोक के कारणा-निमित्त उवभोगट्ठा-उपभोग के लिए अप्पणट्ठा-अपने लिए वा-अथवा परट्ठा-पर के लिए सिप्पा-शिल्प कलाओं को अ-और नेउणिआणि-नैपुण्य कलाओं को सीखते हैं।

मूलार्थ—गृहस्थ लोग लौकिक सुखोपभोगों के लिए, अपनी आजीविका के लिए तथा दूसरों के हित के लिए शिल्पकलाओं एवं नैपुण्य कलाओं को सीखते हैं।

टीका—यह संसार सुख-दुःख-मिश्रित है, इसमें वे ही मनुष्य कुछ सुखी हो सकते हैं, जो कला-कुशल होते हैं। अतएव बहुत से अपने लिए तथा दूसरों

के लिए तथा इससे मेरी आजीविका सुखपूर्वक चल सकेगी, इस विचार से अथवा इससे मेरे पुत्र-पौत्र आदि लाभ उठा कर सुख भोगेंगे, यह उद्देश्य रखकर अन्न-पानादि लौकिक सुखोपभोगार्थ शिल्प कलाएँ बड़े प्रयत्न से सीखा करते हैं। माँ बाप अपने प्राण-प्यारे पुत्रों को कलाकुशल बनाने के लिये सुदूर विदेशों मे भेजते हैं। और पुत्र भी वहाँ अपने परिवार से अलग बिछुड़े हुए नाना प्रकार के भोजन, पान, परिधान, शयन आदि के एक से एक कठोर कष्ट उठाते हैं। इन कष्टों के साथ साथ कलाचार्य की तरफ से जो तर्जनाएँ होती हैं, उनका दुःख अलग है। इसका वर्णन सूत्रकार स्वयं इसी अग्रिम सूत्र मे करेंगे। सूत्र में आये हुए 'शिल्प' और 'नैपुण्य' शब्द क्रमशः कुम्भकार, स्वर्णकार, लोहकार आदि की और चित्रकार, वादक, गायक आदि की कलाओं का वाचक है।

उत्थानिका—अब कला सीखते समय क्या-क्या कष्ट भोगे जाते हैं, यह कहते हैं:—

जेण बंधं वहं घोरं, परिआवं च दारुणं।
सिक्खमाणा निअच्छंति, जुत्ता ते ललिइंदिआ ॥१४॥

येन बन्धं वधं घोरं, परितापं च दारुणम्।
शिक्षमाणा नियच्छन्ति, युक्तास्ते ललितेन्द्रियाः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—जेण—कलाओं के सीखने में जुत्ता—लगे हुए ललिइंदिआ—सुकोमल शरीर वाले ते—वे राजकुमार आदि सिक्खमाणा—कला सीखते हुए गुरुद्वारा बंधं—बन्धन को घोरं—भयंकर वहं—वध को च—तथा दारुणं—कठोर परिआवं—परितापना को नियच्छंति—प्राप्त करते हैं।

मूलार्थ—पूर्वोक्त शिल्प आदि कलाओं को सीखते हुए राज-कुमार आदि कोमल शरीर वाले छात्र भी बन्धन, ताड़न एवं परितापन के रौद्र तथा दारुण कष्ट शिक्षक गुरु से प्राप्त करते हैं।

टीका—राजकुमार आदि बड़े बड़े धन-बल शाली एवं कमल कोमल शरीर वाले विद्यार्थी भी, जिस समय कलाचार्य के पास कलाओं की शिक्षा लेते हैं, तब वे कभी तो रस्सों से बाँधे जाते हैं, कभी चमड़ी उखाड़ देने वाली कोरड़ों की मार

खाते हैं, और कभी कर्कश वचनों से दारुण परितापना पाते हैं। क्योंकि, शिक्षक व्यर्थ तो अपने पुत्रोपम शिष्यों को पीटते ही नहीं हैं। जब शिष्य ही पढ़ाते पढ़ाते भी पाठ भूल जाता है, कला सीखने में उपेक्षा करता है, अपने उद्देश से स्खलित हो जाता है, तभी शिक्षक उसको (शिष्य को) भर्त्सनादि द्वारा मार्ग पर लाते हैं और कला-शिक्षण में दृढ़ करते हैं। सूत्रकार ने कला सीखने वाले छात्रों के लिये जो 'ललितेन्द्रियाः' शब्द का प्रयोग किया है, उसका यह भाव है कि, जब राजकुमार आदि प्रतिष्ठित वंशों के लड़कों की ही यह अवस्था होती है तो फिर अन्य साधारण श्रेणी के लड़के तो गुरु की मार से बच कैसे सकते हैं? 'ललितेन्द्रिय' शब्द ध्वनित करता है कि शिक्षक, राजकुमार और दरिद्र-कुमार के बीच कोई अन्तर नहीं रखते। जो अच्छा पढ़ता है, वे उसी से प्रेम करते हैं और जो पढ़ने से जी चुराता है, उसी को ताड़ित करते हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, ताड़न करने पर भी वे शिष्य गुरु की पूजा ही करते हैं, यह कथन करते हैं:—

तेऽवि तं गुरुं पूअंति, तस्स सिप्पस्स कारणा।
सक्कारंति नमंसंति, तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥१५॥

तेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति, तस्य शिल्पस्य कारणात्।
सत्कारयन्ति नमस्यन्ति, तुष्टाः निर्देशवर्तिनः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—त वि—वे राजकुमार आदि छात्र निद्देसवत्तिणो—गुरुश्री की आज्ञा मे रहने वाले तुट्ठा—प्रसन्न होते हुए तस्स सिप्पस्स कारणं—उन शिल्प आदि कलाओं के निमित्त तं—उस शिक्षक गुरुं—गुरु का पूअंति—पूजन करते हैं सक्कारंति-सत्कार करते हैं, तथैव उसको नमंसंति—नमस्कार करते हैं।

मूलार्थ—राजकुमार आदि सभी आज्ञावर्ती छात्र, ताड़न करने पर भी प्रसन्न होते हुए, शिल्प शिक्षा के कारण से शिल्पाचार्य को पूजते हैं, सम्मानित करते हैं एवं नमस्कार करते हैं।

टीका—जब कलाचार्य पूर्वोक्त रीत्या राजकुमार आदि शिष्यों को ताड़ित करते हैं, तब जिनके हृदय में कला ग्रहण करने की सच्ची लगन लगी हुई है, वे गुरु पर किसी प्रकार का क्रोध नहीं करते हैं, प्रत्युत प्रसन्न भाव से गुरु की मधुर वचनों से स्तुति करते हुए पूजा करते हैं, वस्त्र अलंकार आदि का उपहार देकर सत्कार करते हैं, तथा हाथ जोड़ कर घुटने टेक कर उन्हें सप्रेम प्रणाम करते हैं, और गुरु जो आज्ञा देते हैं तदनुसार आचरण करते हैं। यह सत्कार केवल विद्याध्ययन के समय ही नहीं करते, किन्तु विद्याध्ययन के पश्चात् भी ऐसा ही सत्कार करते हैं। क्योंकि, शिक्षक को सन्तुष्ट रखने से ही शिष्य शिल्प आदि कलाओं मे जगन्मोहिनी चतुरता प्राप्त करता है, असन्तुष्ट रखने से नहीं। सूत्रकार का स्पष्ट भाव यह है कि, केवल एक इसी लोक मे सुख पहुँचाने वाली कलाओं की शिक्षा के लिये 'राजकुमार' आदि कलाचार्य की भक्ति करते हैं और कलाचार्य द्वारा की हुई मार-पीट (ताड़ना भर्त्सना) आदि को कदापि स्मृति पथ में नहीं लाते हैं। क्योंकि संसार में नाम अमर करने वाली कला कष्ट सहे विना कैसे प्राप्त हो सकती है ?

उत्थानिका—अब सूत्रकार, श्रुतग्राही शिष्यों के प्रति कहते हैं :—

किं पुणं जे सुअग्गाही, अणंतहिअकामए ।
आयरिआ जं वए भिक्खू, तम्हा तं नाइवत्तए ॥१६॥

किं पुनर्यः श्रुतग्राही, अनन्तहितकामकः ।
आचार्याः यद् वदेयुः भिक्षुः, तस्मात् तन्नातिवर्तयेत् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जे—जो पुरुष सुअग्गाही—श्रुत ग्रहण करने वाला है, तथा अणंतहिअकामए—अनन्त हित की कामना करने वाला है, किं पुणं—उसका तो कहना ही क्या है तम्हा—इसलिये आयरिआ—आचार्य जं—जो वए—कहे त—उस वचन को भिक्खू—साधु नाइवत्तए—अतिक्रम न करे।

मूलार्थ—जब राजकुमार आदि लौकिकविद्याप्रेमी ऐसा करते हैं, तो फिर श्रुत ग्रहण करने वाले एवं अनन्त कल्याण की इच्छा रखने वाले, विनयी

साधुओं का तो कहना ही क्या; उन्हें तो विशेष रूप से धर्माचार्य की आज्ञा का पालन करना चाहिये, अर्थात् वे जो वचन कहें उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिये।

टीका—इस गाथा मे लोकोत्तर विनय का स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। यथा जब राजकुमार आदि लोग स्वल्प सुख देने वाली लौकिक कलाओं की प्राप्ति के लिये गुरुश्री के प्रति ऐसा व्यवहार रखते हैं, तो फिर जो व्यक्ति परम-पुरुषप्रणीत आगम के ग्रहण करने की अभिलाषा रखता है, तथा मोक्ष सुख की कामना करने वाला है, उसके विषय में तो कहना ही क्या है, उसे तो अवश्यमेव गुरु की पूजा करनी चाहिये। अतः सूत्रकार अन्तिम चरण में कहते हैं कि अपने धर्माचार्य जो कुछ आज्ञा प्रदान करें, उसका विचारशील भिक्षु कदापि उल्लंघन न करे। साधु को आचार्य की समस्त आज्ञाएँ शिरोधार्य करनी चाहिएँ। किंच यह बात अवश्यमेव ध्यान में रखनी चाहिये कि गुरु श्री जो आज्ञाएँ दें, वे ज्ञान दर्शन और चारित्र की वृद्धि करने वाली तथा सूत्रानुसार हों। क्योंकि सूत्रानुसारिणी आज्ञा के आराधन से ही आत्मा का वास्तविक कल्याण होता है। सूत्र-प्रतिकूल आज्ञा तो आज्ञाकारक एवं आज्ञापालक दोनों को संसार सागर में डुबाने वाली होती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार विनय विधि का विधान करते हैं :—

नीअं सिज्जं गइं ठाणं, नीअं च आसणाणि अ।
नीअं च पाए वंदिज्जा, नीअं कुज्जा अ अंजलिं ॥१७॥

नीचां शय्यां गतिं स्थानं, नीचानि च आसनानि च।
नीचं च पादौ वन्देत, नीचं कुर्यात् च अञ्जलिम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—आचार्य से नीअं–नीची सिज्जं–शय्या, गइं–नीची गति, ठाणं–नीचा स्थान च–और नीअं–नीचा आसणाणि–आसन कुज्जा–करे। च–तथा आचार्य जी को नीअं–सम्यक् प्रकार से नम्र होकर अंजलिं–अंजली-नमस्कार करे। अ–तथैव सम्यक्तया नम्र होकर ही पाए–आचार्य के चरणकमलों की वंदिज्जा–वन्दना करे।

मूलार्थ—शिष्य का कर्तव्य है कि गुरु से शय्या, गति, स्थान और आसन आदि सब नीचे ही रक्खे। और सम्यक् प्रकार से नीचे झुक कर हाथ जोड़े। तथा गुरुश्री के चरणकमलों में नतमस्तक होकर विधियुक्त वन्दना करे।

टीका—इस गाथा में विनय धर्म के उपाय वर्णन किये गये हैं। यथा, वही शिष्य विनय धर्म का पूर्ण रूप से पालन कर सकता है, जो आचार्य की शय्या और गति से अपनी शय्या और गति नीची रखता है; अर्थात् जो न तो गुरु से ऊँची शय्या करता है, और न गुरु के आगे चलता है, न बराबर चलता है एवं न पीठ पीछे अतिदूर अतिनिकट ही चलता है; किन्तु पीठ पीछे मध्यम रूप मे चलता है। तथा जो आचार्य के स्थान से अपना स्थान भी नीचा ही करता है, अर्थात् जिस स्थान पर आचार्य बैठते हैं, उस स्थान से आप नीचा बैठता है। तथा जो आचार्य के आसन से अपना आसन नीचा करता है और उनकी आज्ञा से ही ऊपर बैठता उठता है। तथा जो विनम्र भावों से युक्त मस्तक झुका कर आचार्य के चरणकमलों की वन्दना करता है, इतना ही नहीं, किन्तु जो संशय-निवृत्ति के लिये यदि कभी कोई शास्त्र सम्बन्धी प्रश्न पूछता है, तो बड़े ही भक्ति भाव से नीचे झुक कर दोनों हाथ जोड़ कर प्रश्न पूछता है, और स्थाणु के समान स्तब्ध होकर अकड़ से खड़ा नहीं होता।

उत्थानिका—अब संघट्टा का अपराध क्षमा करने के विषय में कहते हैं:—

संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणुत्ति अ ॥१८॥
संघट्य (स्पृष्ट्वा) कायेन, तथोपधिनापि ।
क्षमस्व अपराधं मे, वदेत् न पुनः इति च ॥१८॥

पदार्थान्वयः—आचार्य के काएण-शरीर को तथा उवहिणामवि-उपकरणों को संघट्टइत्ता-स्पर्श करके, शिष्य आचार्य जी से वइज्ज-कहे कि भगवन्! मे-मेरा अवराहं-यह अपराध खमेह-क्षमा करो न पुणुत्ति-फिर ऐसा नहीं होगा।

मूलार्थ—यदि कभी असावधानी से गुरुश्री के शरीर तथा उपकरणों का संघट्टा हो जाय, तो उसी समय शिष्य को नम्रता से कहना चाहिये कि हे भगवन्! दास का यह अपराध क्षमा करें, फिर कभी ऐसा नहीं होगा।

टीका—किसी समय अज्ञानता से आचार्य के हस्त पादादि शारीरिक अवयवों का तथा यावन्मात्र धर्मसाधनभूत उपकरणों का पादादि से संघट्टा हो जाय, तो उसी समय शिष्य नम्र होकर पश्चात्ताप के साथ मुख से 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द कहता हुआ आचार्य जी के चरणकमलों को स्पर्श कर अपराध की क्षमा याचना करे और प्रतिज्ञा करे कि "हे भगवन्! मैं बड़ा मन्दभागी हूँ, जो मेरे से आपका यह अविनय हुआ। इसके लिये मुझे बहुत ही पश्चात्ताप है। यह अपराध यद्यपि क्षम्य नहीं है, तथापि दास के अपराध को तो क्षमा करना ही होगा। आप करुणा के क्षीर समुद्र हैं, अतः कृपया दास पर भी एक करुणा की अमृत धारा प्रवाहित कीजिये। जैसी असावधानी आज हुई है, ऐसी भविष्य में फिर कभी नहीं होगी।" उपर्युक्त पद्धति से अपराध क्षमा कराने पर एक तो विनय धर्म की वृद्धि होती है। दूसरे गुरु प्रसन्न होते हैं, जिससे ज्ञान की वृद्धि होती है। तीसरे चित्त में निरभिमानता आती है, जो आत्मा को मोक्ष की ओर आकर्षित करती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार दुर्बुद्धि शिष्यों को गलिया बैल की उपमा देते हैं:—

दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहइ रहं।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं, वुत्तो वुत्तो पकुव्वइ ॥१९॥

दुर्गौः वा प्रतोदेन, चोदितो वहति रथम्।
एवं दुर्बुद्धिः कृत्यानां, उक्त उक्तः प्रकरोति ॥१९॥

पदार्थान्वयः—वा-जिस प्रकार दुग्गओ-गलिया बैल पओएणं-बारंबार चाबुक से चोइओ-ताड़ित किया हुआ रहं-रथ को वहइ-वहन करता है एवं-उसी प्रकार दुबुद्धि-दुर्बुद्धि शिष्य वुत्तो वुत्तो-बारंबार कहा हुआ किच्चाणं-आचार्यों के कहे हुए कार्यों को पकुव्वइ-करता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार अयोग्य वृषभ, बारंबार लकड़ी एवं आर आदि से ताड़ित किया हुआ रथ को वहन कर ले जाता है; ठीक इसी प्रकार दुर्बुद्धि शिष्य भी, गुरुश्री के बारंबार कहने पर कथित कार्यों को करता है।

टीका—अच्छे बुरे प्राणी सभी जातियों में होते हैं। वृषभ (बैल) जाति में भी अच्छे बुरे सभी प्रकार के वृषभ (बैल) पाये जाते हैं। जो अच्छे वृषभ (बैल) होते हैं, वे तो रथवान् के संकेत के अनुसार ही शीघ्रतया रथ को वहन करते हैं और जो दुष्ट वृषभ (बैल) होते हैं, वे रथवान् के संकेत की कोई चिन्ता नहीं करते, उन पर तो जब साँटों की खूब मार पड़ती है, तब यथा कथंचित् रथ को लेकर चलते हैं। इसी प्रकार दुष्ट वृषभ की तरह जो दुर्विनीत शिष्य होते हैं, वे गुरु के संकेतानुसार कभी काम करके नहीं देते। प्रत्युत जब गुरुश्री बार-बार कहते-कहते थक जाते हैं, तब कहा हुआ काम पूरा करते हैं। जो मनुष्य काम के चोर होते हैं, वे प्रायः ऐसा ही किया करते हैं। सूत्र का संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि जैसे दुष्ट वृषभ को रथ तो खींचना ही होता है, किन्तु उस खींचने में स्वयं दुःखी होकर साथ ही रथवान् को भी पूरा-पूरा दुःखी कर देता है। इसी भाँति अविनयी शिष्य को भी कहा हुआ काम तो करना ही होता है, किन्तु वह अपने आप को व गुरुश्री को दुःखी करके काम में कुछ प्रसन्नता का रस अवशिष्ट नहीं रखता है। इसलिये सूत्रकार ध्वनित करते हैं कि जब काम करना ही है, तो फिर दुःखी होकर क्यों करें। प्रसन्नता से विनय के साथ करे, जिससे अपनी भी प्रशंसा हो और गुरुश्री की भी प्रशंसा हो। वही कार्य प्रशंसावर्द्धक होता है, जो विनय भावों के साथ किया जाता है। सूत्रकर्ता ने जो अन्य पशुओं का दृष्टान्त न देकर दुष्ट वृषभ का ही दृष्टान्त दिया है, उसका यह भाव है कि यह दृष्टान्त आबाल वृद्ध सभी लोगों मे प्रसिद्ध है। यही दृष्टान्त का एक मुख्य गुण है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार 'विनय किस प्रकार करनी चाहिए ?' यह कहते हैं:—

आलवंते वा लवंते वा, न निसिज्जाए पडिस्सुणे ।
मुत्तूण आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥२०॥

आलपति वा लपति वा, न निषद्यया प्रतिशृणुयात् ।
मुक्त्वा आसनं धीरः, शुश्रूषया प्रतिशृणुयात् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—आलवंते–गुरु के एक बार बोलने पर वा–अथवा लवंते–बार बार बोलने पर धीरो–बुद्धिमान् शिष्य निसिज्जाए–अपने आसन पर से ही न पडिस्सुणे–न सुने; किन्तु झट-पट आसणं–आसन को मुत्तूण–छोड़ कर सुस्सूसाए–विनय पूर्वक पडिस्सुणे–आज्ञा सुने और उसका यथोचित उत्तर देवे ।

मूलार्थ—गुरुश्री के एक बार अथवा अधिक बार आमंत्रित करने पर, बुद्धिमान् शिष्य को अपने आसन पर से ही आज्ञा सुन कर उत्तर नहीं देना चाहिये; किन्तु आसन छोड़ कर विनम्र-भाव से कथित आज्ञा को सुनना चाहिये और फिर तदनुसार समुचित उत्तर देना चाहिये ।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि शिष्य को गुरु की आज्ञा किस प्रकार सुननी चाहिये । जैसे कि गुरु ने किसी कार्य के लिए एक बार कहा तथा बार बार कहा, तब शिष्य को योग्य है कि अपने आसन पर बैठा हुआ ही आज्ञा सुन कर चिन्ता रहित मन-आया (असंबद्ध) कुछ उत्तर न देवे । क्योंकि ऐसा करने में शिष्य की कोई बुद्धिमत्ता नहीं प्रकट होती । इससे तो उलटी मूर्खता ही व्यक्त होती है । बुद्धिमान् शिष्य की बुद्धिमत्ता यही है कि जिस समय गुरु आज्ञा-वचन कहें तभी शीघ्रतया आसन छोड़ कर खड़ा हो जाना चाहिये एवं सावधान चित्त हो गुरु के आज्ञा-वचनों को सुनना चाहिये; और सुनकर विनयपूर्वक "तथास्तु" आदि स्वीकारता सूचक वचनों द्वारा आज्ञा का उत्तर देना चाहिये । वृहद् वृत्तिकार की इस गाथा पर वृत्ति नहीं है । अतएव मालूम होता है वृहद् वृत्तिकार हरिभद्र सूरि के समय में या तो यह विद्यमान नहीं होगी और पीछे से मिलाई गई है, या होगी तो, प्रक्षिप्त मानी जाती होगी । इस पर ऐतिहासिक विद्वानों को विचार करना चाहिये । हमने जो यह गाथा दी है, सो दीपिकाकार एवं प्रचलित बालावबोधकारों के मत से दी है । उन्होंने इस गाथा को मूल पाठ में स्वीकृत किया है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार शिष्य को समयज्ञ एवं गुर्वाशयज्ञ होने का उपदेश देते हैं :—

कालं छंदोवयारं च, पडिलेहित्ताण हेउहिं।
तेण तेण उवाएणं, तं तं संपडिवायए ॥२१॥

कालं छन्दोपचारं च, प्रतिलेख्य हेतुभिः।
तेन तेन उपायेन, तत् तत् सम्प्रतिपादयेत् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—कालं–शीतादि काल को छंदोवयारं–गुरु के अभिप्रायों को एवं सेवा करने के उपचारों को च–तथा देश आदि को हेउहिं–तर्क-वितर्क रूप हेतुओं से पडिलेहित्ता–भली भाँति जान कर तेण तेण–उसी उसी उवाएणं–उपाय से तं तं–उसी उसी योग्य कार्य को संपडिवायए–सम्प्रतिपादित करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान् शिष्य का कर्तव्य है कि तर्क-वितर्क रूप नानाविध हेतुओं से वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को तथा गुरुश्री के मनोगत अभिप्रायों को तथा सेवा करने के समुचित साधनों को भली प्रकार ज्ञान करके, तत् तत् उपायों से तत् तत् कार्य का सम्पादन करे।

टीका—जिस समय जो वर्षा आदि ऋतु विद्यमान हो, उस समय उसी ऋतु के अनुसार बुद्धिमान् शिष्य, स्वयमेव इस बात का ध्यान रक्खे कि इस ऋतु मे गुरु महाराज को किन किन पदार्थों की आवश्यकता है, अर्थात् इस समय किस प्रकार गुरुश्री की सेवा की जा सकती है। तथा जो देश हो, उसी के अनुसार विचार करे कि यह देश कैसा है इसके कौन कौन से भोज्य पदार्थ अनुकूल एवं प्रतिकूल पड़ते हैं। तथा गुरुश्री की तात्कालिक चेष्टा आदि को देख कर अनुभव करे कि गुरुश्री इस समय क्या चाहते हैं। किस कार्य-सिद्धि के लिये इनके हृदय में विचार प्रवाह बह रहा है? सारांश यह है कि नानाविध हेतुओं से देश, काल, अभिप्राय और सेवा के साधनों का ज्ञान करके शिष्य, गुरु महाराज के इच्छित कार्यों का स्वयं ही सम्पादन कर देवे, गुरुश्री के कहने की कोई प्रतीक्षा नहीं देखे। सूत्रगत 'हेतु' शब्द का यह भाव है कि गुरु महाराज के शरीर की दशा आदि से ज्ञान करे। जैसे कफ का बाहुल्य देखे, तो कफ-वर्द्धक पदार्थों का त्याग कर कफ-नाशक पदार्थों का सेवन करावे। तथा पित्त का बाहुल्य देखे, तो पित्त-वर्द्धक पदार्थों को छोड़ कर पित्त-नाशक पदार्थों का योग मिलावे। इसी प्रकार वायु आदि रोगों

के विषय में, जाड़ा गर्मी आदि ऋतुओं के विषय में तथा ग्रन्थों के अभ्यास के विषय में भी जान लेना चाहिए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार विनय और अविनय का फल बतलाते हैं :—

विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणिअस्स अ।
जस्सेथ दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥२२॥

विपत्तिरविनीतस्य , सम्पत्तिर्विनीतस्य च।
यस्यैतत् उभयतो ज्ञातं, शिक्षां सोऽभिगच्छति ॥२२॥

पदार्थान्वयः—अविणीअस्स–अविनयी पुरुष को विवत्ती–विपत्ति च–और विणिअस्स–विनीत पुरुष को संपत्ती वृद्धि की प्राप्ति होती है अस्तु, जस्स–जिसको ए य–ये उक्त दुहओ–दोनों प्रकार से हानि वा वृद्धि नायं–ज्ञात हैं स–वह पुरुष सिक्खं–ऊँची शिक्षा को अभिगच्छइ–प्राप्त होता है।

मूलार्थ—अविनयी पुरुष के ज्ञानादि गुण नष्ट होते हैं, और विनयी पुरुष के ज्ञानादि गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं। ये उक्त दोनों प्रकार से हानि वृद्धि जिसको विदित हैं, वह पुरुष कल्याणकारिणी शिक्षा को सुख-पूर्वक प्राप्त करता है।

टीका—जो भव्य पुरुष, सम्यग् प्रकार इस बात को जान लेता है कि "जो पुरुष अपने से बड़े पूज्य गुरुजनों की विनय नहीं करता है, उसके सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन आदि सद्गुण विनष्ट हो जाते हैं, और जो सुविनीत पुरुष, अपने से सभी प्रकार से स्थविर पूज्य पुरुषों की भक्तिभाव से यथोचित विनय करता है, उसके सम्यग् ज्ञान आदि सद्गुण पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होते हैं"। वही भव्यात्मा ग्रहण और आसेवन रूप मोक्ष सुखदायिका शिक्षा को पूर्ण रूप से प्राप्त करता है। क्योंकि वह भली भाँति जानता है, विनय से ही सद्गुणों की प्राप्ति एवं वृद्धि होती है; अतः यह पूर्ण उपादेय है। तथा अविनय से दुर्गुणों की प्राप्ति एवं सद्गुणों की हानि होती है, अतः यह हेय है। अतः यह निश्चय है जो जानता है, वह कुछ न कुछ ग्रहण एवं परित्याग अवश्य करता है।

उत्थानिका—अब फिर भी इसी अविनय-फल के विषय को दृढ़ करते हैं :—

जे आवि चंडे मइइड्ढिगारवे,
पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए,
असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ॥२३॥

यश्चाऽपि चण्डः मतिऋद्धिगौरवः[1],
पिशुनो नरः साहसिकः हीनप्रेषणः।
अदृष्टधर्मा विनयेऽकोविदः,
असंविभागी न खलु तस्य मोक्षः ॥२३॥

पदार्थान्वयः—जे आवि—जो कोई नरे—मनुष्य चंडे—क्रोधी है, मइइड्ढिगारवे—ऋद्धि आदि गौरव में निमग्नबुद्धि है, पिसुणे—चुगलखोर है, साहस—अयोग्य कर्तव्य करने में साहसी है हीणपेसणे—गुरु की आज्ञा से बाहिर है अदिट्ठधम्मे—धर्म से अपरिचित है विणएअकोविए—विनय से अनभिज्ञ है, तथा असंविभागी—जो संविभागी नहीं है तस्स—उसको न हु—कदापि मुक्खो—मोक्ष नहीं है।

मूलार्थ—जो दीक्षित पुरुष क्रोधी, अभिमानी, चुगलखोर, दुराचारी, गुर्वाज्ञालोपक, धर्म से अपरिचित, विनय से अनभिज्ञ एवं असंविभागी होता है, वह किसी भी उपाय से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

टीका—इस काव्य में मोक्ष के अयोग्य व्यक्ति का वर्णन किया गया है। यथा—प्रत्येक मनुष्य के लिये आवेश में आकर साधु हो जाना बहुत सहज है, किन्तु फिर साधुता का पालन करना बड़ा ही कठिन है। यही कारण है कि

1 'ऋद्धिगौरवमतिः' इति संस्कृतरूपस्तु बृहद्वृत्तौ।

कर्तव्यों के विषय में विशेष रूप से चतुर होते हैं, वे इस दुःखमय संसार-सागर को बड़े उल्लास से सुखपूर्वक तैर कर और अनादि काल से जन्म-जन्म में दुःख देने वाले साथ-साथ लगे हुए कट्टर कर्म शत्रुओं के भीषण दल बल को समूल नष्ट कर, जिसकी तुलना संसार में किसी भी वस्तु से नहीं हो सकती, ऐसी अनुपम सिद्धि-गति को पूर्वकाल में प्राप्त हुए हैं, यही नहीं, बल्कि वर्तमान काल में प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य में भी प्राप्त करेंगे। सूत्र में जो 'श्रुतार्थ धर्म'[1] शब्द आया है, उस से सम्यग् ज्ञान का तथा जो 'विनय' शब्द आया है, उससे सम्यक् चारित्र का ग्रहण किया जाता है। तथैव जो 'गुरुनिर्देशवर्त्ती' शब्द है, उसका यह भाव है कि जो व्यक्ति गुरुओं की आज्ञा में रहता है, उसे ही सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। अतः शिष्यों को चाहिये कि यथा-संभव गुरुश्री की सेवा करें। कैसा ही क्यों न कारण हो गुरुश्री की आज्ञा से बाहिर न होवें।

"श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी जी से कहते हैं कि हे शिष्य ! जैसा मैंने वीर प्रभु से इस नवम अध्ययन के द्वितीय उद्देश का वर्णन सुना था, वैसा ही मैंने तेरे प्रति कहा है।"

इति नवमाध्ययने द्वितीयोद्देश समाप्त।

---

१ 'श्रुत' शब्द से सम्यग् ज्ञान का ग्रहण जैन परिभाषा में सुप्रसिद्ध है, किन्तु 'विनय' शब्द से चारित्र का ग्रहण जरा पाठकों को अभिनव सा प्रतीत होगा। अत इस विषय में प्रमाण दिया जाता है कि, ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र के पाँचवें अध्ययन में विनय के दो भेद किये हैं। आगार विनय और अनगार विनय। गृहस्थों के द्वादश व्रत आगार विनय में हैं और साधुओं के पंच महाव्रत अनगार विनय में हैं।

अथ नवमाध्ययने तृतीय उद्देशः ।

उत्थानिका—द्वितीय उद्देश में विनय और अविनय का फल वर्णन किया गया है, अब इस तृतीय उद्देश में विनयवान् शिष्य ही पूज्य होता है, यह कहते हैं :–

आयरिअं अग्गिमिवाहि अग्गी,
सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा ।
आलोइअं इंगिअमेव नच्चा,
जो छंदमाराहयई स पुज्जो ॥१॥

आचार्यमग्निमिव आहिताग्निः,
शुश्रूषमाणः प्रतिजागृयात् ।
आलोकितमिंगितमेव ज्ञात्वा,
यः छन्दः आराधयति सः पूज्यः ॥१॥

पदार्थान्वयः—अहिअग्गी–अग्निहोत्री ब्राह्मण इव–जिस प्रकार अग्गि–अग्नि की शुश्रूषा करता है, तद्वत् शिष्य भी आयरिअं–आचार्य की सुस्सूसमाणो–शुश्रूषा करता हुआ पडिजागरिज्जा–प्रत्येक कार्य में सावधान रहे, क्योंकि जो–जो आलोइअं–आचार्य की दृष्टि को वा–तथा इंगिअमेव–चेष्टा को नच्चा–जानकर छंदं–आचार्य के अभिप्रायों की आराहयई–आराधना करता है स–वही शिष्य पुज्जो–पूज्य होता है ।

मूलार्थ—जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण, गृह-स्थापित अग्नि की पूजा करता है; उसी प्रकार बुद्धिमान् शिष्य को आचार्य की पूजा अर्थात् सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये; क्योंकि जो आचार्य की दृष्टि एवं इंगिताकार आदि को जान कर, उनके भावानुकूल चलता है, वही पूजनीय होता है।

टीका—इस उद्देश में इस बात का प्रकाश किया गया है कि जो शिष्य विनयी होते हैं, वे ही संसार में पूज्य होते हैं। यथा—जिस प्रकार अग्निपूजक ब्राह्मण देव बुद्धि से अग्नि की सम्यक्तया उपासना करते हैं, इसी प्रकार कल्याणाभिलाषी शिष्यों को अपने धर्मोपदेशक आचार्यों की विनय भक्ति से उपासना करनी चाहिये, अर्थात् आचार्य को जिन जिन पदार्थों की आवश्यकता समझे, उन्हीं पदार्थों का संपादन कर सेवा करनी चाहिये। क्योंकि जो शिष्य आचार्य की दृष्टि को तथा इंगिताकार को देख कर, आचार्य के मनोभावों को ताड़ जाता है और तदनुसार कार्य करके भावाराधना करता है, वह संसार में सब का पूज्य होता है।

सूत्रोक्त आलोकित एवं इङ्गित शब्द शारीरिक चेष्टाओं के वाचक हैं। इन चेष्टाओं से मनोगत भावों का ज्ञान किया जाता है। यथा—शीत काल में कम्बल पर दृष्टि जाने से मालूम करना कि इस समय आचार्य को सरदी लग रही है; अतः कम्बल ओढ़ने की इच्छा रखते हैं। यह विचार करके आचार्य के विना कहे ही आचार्य जी की सेवा में कम्बल लाकर देना। तथा कफादि की वृद्धि देख कर शुण्ठी आदि औषधी का प्रबन्ध करना। आलोकित एवं इङ्गित शब्द उपलक्षण है; अतः यहाँ इन्हीं के समान अन्य चेष्टाओं का भी ग्रहण है। एक कवि ने मनोगतभावप्रदर्शक चेष्टाओं का संग्रह एक ही श्लोक में बहुत ही अच्छा किया है—"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च; लभ्यतेऽन्तरगतं मनः।" यद्यपि प्रस्तुत प्रकरण आचार्य जी के नाम से वर्णन किया जा रहा है, तथापि इससे 'रत्नाधिकगुणाधिक' सभी पूज्य पुरुषों के विषय मे विनय भाव रखना चाहिये; क्योंकि शास्त्रकारों ने जो विनय के ४५ भेद वर्णन किये हैं, उनमें उपाध्याय, वाचनाचार्य, स्थविर आदि सभी की विनय करने का समुल्लेख है।

उत्थानिका—चारित्र की शिक्षा के लिये ही विनय करना चाहिये, अन्य किसी सांसारिक लोभ से नहीं। इस विषय का सूत्रकार उल्लेख करते हैं:—

आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो पडिगिज्झ वक्कं।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥२॥

आचारार्थं विनयं प्रयुञ्जीत,
शुश्रूषमाणः परिगृह्य वाक्यम्।
यथोपदिष्टमभिकाङ्क्षन् (अभिकाङ्क्षमाणः),
गुरुन्तु नाशातयति सः पूज्यः ॥२॥

पदार्थान्वयः—जो शिष्य आयारमट्ठा—आचार के लिये गुरु की विणयं—विनय पउंजे—करता है, तथा सुस्सूसमाणो—आज्ञा को सुनने की इच्छा रखता हुआ वक्कं—तदुक्त वचनों को पडिगिज्झ—स्वीकार करके जहोवइट्ठं—यथोक्तरीत्या अभिकंखमाणो—करने की इच्छा करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है, और जो गुरुं नासाययई—गुरु की आशातना भी नहीं करता है स—वही पुज्जो—पूजनीय होता है।

मूलार्थ—जो आचारप्राप्ति के लिये विनय का प्रयोग करते हैं; जो भक्तिपूर्वक गुरुवचनों को सुन कर एवं स्वीकृत करके कथित कार्य की पूर्ति करते हैं; और कदापि श्री की आशातना नहीं करते हैं; वे ही शिष्य संसार में पूज्य होते हैं।

टीका—जो सम्यग् ज्ञान आदि सदाचार की शिक्षा के लाभ के लिये गम्भीर ज्ञानी गुरुओं की विनय करता है, जो भक्ति भावना पूर्वक आचार्य श्री के वचनों के सुनने की सदिच्छा रखता है, अर्थात् 'इस समय कृपालु गुरु आज्ञा द्वारा मुझ पर क्या कृपा करेंगे' यह निरंतर पवित्र भावना रखता है, जो आज्ञा मिलने पर आज्ञानुसार ही विना किसी ननु नच (तर्क वितर्क) के झगड़े के शीघ्रतया उपदिष्ट कार्य को करता है, और जो विपत्ति से विपत्ति के समय में भी सदा गुरुश्री की भक्ति मे ही लगा रहता है, कभी आशातना नहीं करता, वास्तव में वही सच्चा

मोक्षाभिलाषी शिष्य है, और वही संसार में वास्तविक पूजा-प्रतिष्ठा, वा मान-सत्कार का अधिकारी होता है। सूत्रकार ने जो यहाँ 'आयारमट्ठा' पद दिया है, उसका यह भाव है कि गुरु की विनय-भक्ति चारित्र की शिक्षा के लिये ही करे, अन्य किसी सांसारिक लोभ से नहीं। क्योंकि जो किसी सांसारिक उद्देश से गुरुश्री की उपासना करता है, उसमें सच्ची पूज्यता नहीं आ सकती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार गुण श्रेष्ठ रत्नाधिक पूज्य पुरुषों की विनय करने का उपदेश देते हैं:—

रायणिएसु विणयं पउंजे,
डहरावि अ जे परिआयजिट्ठा।
नीअत्तणे वट्टइ सच्चवाई,
उवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥३॥

रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत,
डहरा अपिच ये पर्यायज्येष्ठाः।
नीचत्वे वर्तते सत्यवादी,
अवपातवान् वाक्यकरः सः पूज्यः ॥३॥

पदार्थान्वयः—जे-जो रायणिएसु-रत्नाधिकों के लिये अ-तथा परिआयजिट्ठा-दीक्षा में ज्येष्ठ ऐसे डहरावि-बाल साधुओं के लिये विणयं-विनय का पउंजे-प्रयोग करता है, तथैव जो हमेशा सच्चवाई-सत्य बोलता है उवायवं-आचार्यादि की नित्य सेवा में रहता हुआ वन्दना करता है वक्ककरे-आचार्य की आज्ञा मानने वाला है नीअत्तणे-गुणों से नीचा वर्तने वाला है स-वही शिष्य पुज्जो-पूज्य होता है।

मूलार्थ—अपने से गुणों में श्रेष्ठ एवं लघुवयस्क होने पर भी दीक्षा में बड़े मुनियों की विनय भक्ति करने वाला, प्रणिपात शिक्षा में सदा नम्र मुख रहने वाला, मधुर-सत्य बोलने वाला, आचार्यों को वन्दना-नमस्कार करने वाला एवं

उनके वचनों को कार्य रूप से स्वीकार करने वाला शिष्य ही, वस्तुतः पूज्य पुरुष होता है।

टीका—जो सेवाकारी शिष्य, अपने सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप सद्गुणों में अधिक 'रत्नाकर' पदवाच्य मुनियों की सेवा-शुश्रूषा करता है, तथा अपने से अवस्था में, परिमाण से एवं गुणों में छोटे किन्तु दीक्षा में बड़े मुनियों की भी श्रद्धापूर्वक विनय भक्ति करता है, तथा अपने सद्गुणों का घमंड न करके अपने को सब से नीचा समझता है, तथा नम्र भाव से सदा अविरुद्ध सत्य बोलता है, तथा आचार्य आदि पूज्य पुरुषों की शुद्धचित्त से वन्दना करता है, इतना ही नहीं किन्तु, सदैवकाल आचार्य जी के समीप रहता है और उनकी आज्ञाओं का सम्यक्तया पालन करता है, वही वास्तव में पूजने योग्य होता है। सूत्र में आया हुआ 'नीअत्तणे वट्टइ' वाक्य बड़े ही महत्व का है। इस पर आजकल के अहंमन्य मुनियों को पूर्ण ध्यान देना चाहिये। जो मनुष्य स्वयं नीचे बनते हैं, उन्हें ही संसार मानता है। घमंड की अकड़ से ऊँचा बन कर रहने वाले कदापि ऊँचे नहीं बन सकते। वे तो सभी की दृष्टि में नीचे ही समझे जाते हैं। सच्ची सज्जनता नम्र रहने में ही है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार भिक्षा शुद्धि के विषय में कहते हैं:—

अन्नायउंछं चरइ विसुद्धं,
जवणट्ठया समुआणं च निच्चं।
अलद्धुअं नो परिदेवइज्जा,
लद्धुं न विकत्थइ स पुज्जो ॥४॥

अज्ञातोञ्छं चरति विशुद्धं,
यापनार्थं समुदानं च नित्यम्।
अलब्ध्वा न परिदेवयेत्,
लब्ध्वा न विकत्थते सः पूज्यः ॥४॥

पदार्थान्वयः—जो शिष्य **विसुद्धं**—दोषों से रहित **समुआणं**—समुदानी, गोचरी से प्राप्त **अ**—तथा **निच्चं**—सदा **अन्नायउंछं**—अज्ञात कुल से थोड़ा थोड़ा ग्रहण किया हुआ आहार **जवणट्ठया**—संयम रूपी यात्रा के निर्वाह के लिये **चरइ**—भोगता है, तथैव जो **अलद्धुअं**—आहार के नहीं मिलने पर **नो परिदेवइज्जा**—किसी की निन्दा नहीं करता है, और **लद्धुं**—आहार के मिलने पर **न विकत्थइ**—किसी की स्तुति नहीं करता है **स**—वह **पुज्जो**—पूज्य है।

मूलार्थ—जो सदा संयम यात्रा के निर्वाहार्थ विशुद्ध, भिक्षालब्ध एवं अज्ञात कुलों से थोड़ा थोड़ा ग्रहण किया हुआ आहार पानी भोगते हैं, और जो आहार के मिलने तथा न मिलने पर स्तुति निन्दा नहीं करते हैं; वे ही साधु संसार में पूजने योग्य हैं।

टीका—इस गाथा में यह भाव है कि साधु को भिक्षा के विषय में अपनी जाति एवं अपने कुल आदि की कोई प्रतिवन्धकता नहीं रखनी चाहिये। साधु को प्रायः अज्ञात कुलों में ही भिक्षार्थ जाना उचित है। अज्ञात कुलों में से भी थोड़ा-थोड़ा करके दोषों से रहित शुद्ध आहार ही लाना चाहिये। वह भी शरीर की पुष्टि के लिये नहीं, किन्तु संयम रूप यात्रा के निर्वाह के लिये ही भोगना चाहिये। आहार प्राप्ति के विषय में एक बात और यह है कि शुद्ध सरस आहार के मिलने और न मिलने पर हर्ष-शोक में आकर साधु को अपने व्यक्तित्व की, गाँव की, तथा दातार की स्तुति-निन्दा भी नहीं करनी चाहिये। सूत्र में जो 'अज्ञातोंछं' पाठ दिया हुआ है, वृत्तिकार ने उसकी वृत्ति इस प्रकार दी है 'अज्ञातोंछंपरिचयाकरणेनाज्ञातः सन् भावोंच्छं गृहस्थोद्धरितादि चरत्यटित्वा नीतं भुङ्क्ते।' किन्तु इस स्थान पर यह निम्न अर्थ संगत होता है—जो गृहस्थ एकादशवीं प्रतिज्ञा (प्रतिमा) का पालन करता है, वह ममत्व भाव का परित्यागी न होने से ज्ञातकुल की गोचरी करता है अर्थात् अपनी जाति की गोचरी करता है, अन्य जाति की नहीं। परन्तु साधु ज्ञाति के वन्धन से रहित होता है; अतः उसको ज्ञात कुल की गोचरी का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, वह अज्ञात कुल की गोचरी कर सकता है। तथा गौणता मे साधु को परिचय द्वारा भी गोचरी नहीं करनी चाहिये। 'समुदान' शब्द का यह भाव है कि 'उचितभिक्षालब्धम्'—योग्यता-

पूर्वक जो भिक्षा प्राप्त हो, उसी को संयम यात्रा के पालन करने के लिये एवं शरीर रक्षा के लिये भोग में लावे।

उत्थानिका—अब संस्तारक आदि के विषय में कहते हैं :—

संथारसिज्जासणभत्तपाणे,
अप्पिच्छया अइलाभे वि संते।
जो एवमप्पाणभितोसइज्जा,
संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥५॥

संस्तारक शय्यासनभक्तपाने,
अल्पेच्छता अतिलाभे सत्यपि।
य एवमात्मानमभितोषयेत्,
सन्तोषप्राधान्यरतः सः पूज्यः ॥५॥

पदार्थान्वयः—जो-जो साधु अइलाभे-अतिलाभ के संतेवि-होने पर भी संथारसिज्जासण भत्तपाणे-संस्तारक, शय्या, भक्त और पानी के विषय में अप्पिच्छया-अल्प इच्छा रखने वाले हैं संतोसपाहन्नरए-प्राधान्य सन्तोष भाव में रत रहने वाले हैं, और जो अप्पाणं-अपनी आत्मा को अभितोसइज्जा-सदा सन्तुष्ट रखते हैं, स-वे ही पुज्जो-संसार में पूज्य हैं।

मूलार्थ—वही साधु जगतपूज्य होता है, जो संस्तारक, शय्या, आसन, भोजन और पानी आदि के अतीव लाभ के हो जाने पर भी अल्पेच्छता (असूर्छता) रखता है और सदाकाल सन्तोष भाव में रत रहता है तथा अपनी आत्मा को सभी प्रकार से सन्तुष्ट रखता है।

टीका—इस काव्य में सन्तोष का प्राधान्य दिखलाया गया है। साधु को अपने काम में आने वाले संस्तारक, शय्या, आसन और आहार पानी आदि पदार्थों के अत्यधिक मिलने पर भी अल्पेच्छा ही रखनी चाहिये; अर्थात् साधु, दातार द्वारा पूर्वोक्त पदार्थों के अधिक लेने की साग्रह विनती होने पर भी अपने

योग्य थोड़ा ही ग्रहण करे, मूर्च्छा-भाव से यह न विचार करे कि ऐसे उत्तम पदार्थ कब मिलते हैं। आज इस उदार दाता की कृपा से ये मिल रहे हैं; अच्छा ले चलूँ। "आई वस्तु न छोड़िये, पीछे पीछा होय।" कारण यह है कि महा-पुरुष एवं पूज्य पुरुष बनने का प्रधान कारण सन्तोष है। सन्तोष के विना पूज्य पद प्राप्त करने की आकाङ्क्षा करना, वन्ध्यापुत्र की बरात का बराती बनने की आकाङ्क्षा के समान हास्यास्पद है। 'सन्तोषहीनो लभतेऽप्रतिष्ठाम्'। अतः साधु को पूर्ण योग से सन्तोष मे रत रहना चाहिये, इसी में सच्चा साधुत्व है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार "कठोर वचनों को समभाव पूर्वक सहने से पूज्यता मिलती है" यह कहते हैं :—

सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जोउ सहिज्ज कंटए,
वईमए कन्नसरे स पुज्जो ॥६॥

शक्याः सोढुमाशया कण्टकाः,
अयोमया उत्सहमानेन नरेण।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान्,
वाङ्मयान् कर्णशरान् सः पूज्यः ॥६॥

पदार्थान्वयः—उच्छहया-द्रव्य के लिये उद्यम करने वाला नरेण-पुरुष आसया-द्रव्य प्राप्ति की आशा से अयोमया-लोहमय कंटया-कंटकों को सहेउं-सहने के लिये सक्का-समर्थ होता है, उसी प्रकार जोउ-जो साधु कन्नसरे-कर्ण-गामी वइमए-वचनरूप कण्टकों को अणासए-विना किसी आशा के सहिज्ज-सहन करता है स-वही साधु पुज्जो-पूज्य होता है।

मूलार्थ—धनप्राप्ति की अभिलाषा से लोभी मनुष्य, लोहमय तीक्ष्ण बाणों को सहने में समर्थ होता है; परन्तु जो साधु विना किसी लोभ (लालच)

के कर्णकटु वचनरूप कण्टकों को सहन करता है, वह निःसन्देह पूज्य पुरुष होता है ।

टीका—इस काव्य मे इस बात का प्रकाश किया है कि श्रोत्र आदि इन्द्रियों की पूर्ण समाधि के द्वारा ही प्रत्येक आत्मा पूज्य पद प्राप्त कर सकता है । केवल तुच्छ धन की आशा से अनेक पुरुष, उत्साह पूर्वक लोहमय कण्टकों को सहन करते हैं अर्थात् केवल क्षणिक सुखकारी धन के लोभ के कारण बहुत से मनुष्य संग्रामादि के समय अनेक प्रकार के तीक्ष्णतर शस्त्रों के प्रहारों को सहन करने मे समर्थ होते हैं, तथा लोहमयी कण्टक शय्या मे सहर्ष सो जाते हैं; किन्तु वचनमय कण्टक क्षणमात्र सहन नहीं कर सकते । भाव यह है कि मनुष्य, लोहमयी वज्र बाणों को अपने नंगे वक्षस्थल पर सहर्ष सहन कर सकता है; किन्तु कटु वचन रूप बाणों की असह्य चोट को सहन नहीं कर सकता । कटु वचनों के सुनते ही शान्त से शान्त मनुष्य भी सहसा तमतमा उठता है और अपनी प्राकृतिक धीरता एवं गम्भीरता को बात की बात मे (क्षण भर में) खो बैठता है । अतएव जो आत्माएँ विना किसी सांसारिक फल की आशा से कठोर वाक्यों को सहर्ष सहन करती हैं, वे ही वास्तव में पूज्य होती हैं । महान् शक्तिशाली आत्माएँ ही दुर्वचनों को सहन कर सकती हैं, शक्तिहीन नहीं । महान् पुरुषों के वज्र हृदय को दुर्जनों का दुर्वचन रूपी लोह-घन चूर्ण नहीं कर सकता है ।

उत्थानिका—अब लोहमय कण्टकों से वचन कण्टकों की विशेषता बतलाते हैं :—

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥७॥

मुहूर्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः,
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धराः ।

वाचा दुरुक्तानि दुरुद्धराणि,
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥७॥

पदार्थान्वयः—अओमया–लोहमय कंटया–कंटक उ–तो मुहुत्तदुक्खा–केवल मुहूर्तमात्र ही दुःख के देने वाले होते हैं और फिर तेऽवि–वे तओ–जिस अङ्ग में लगे हैं उस अङ्ग में से सुउद्धरा–सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं; परन्तु वायादुरुत्ताणि–कटुवचन रूपी कंटक दुरुद्धराणि–दुरुद्धर हैं। वेराणुबंधीणि–वैर भाव के बन्ध कराने वाले हैं, तथा महब्भयाणि–महाभयकारी हैं।

मूलार्थ—शरीर में चुभे हुए लोह कंटक तो मर्यादित रूप से घड़ी दो घड़ी आदि के समय तक ही दुःख पहुँचाने वाले होते हैं, और फिर वे सुयोग्य वैद्य के द्वारा सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं; किन्तु कटुवचन रूपी कंटक अतीव दुरुद्धर हैं, बड़ी कठिनता से हृदय से निकलते हैं, वैरभाव के बढ़ाने वाले एवं महाभय उत्पन्न करने वाले हैं।

टीका—इस गाथा मे लोहमय प्रसिद्ध कण्टकों से कटुवचनमय कंटकों की विशेषता दिखलाई है। जब घनघोर युद्ध आदि के समय पर किसी शूरवीर के शरीर मे लोहमय कंटक घुस जाते हैं, तो उन कंटकों के लगते समय और निकालते समय केवल मुहूर्तमात्र ही दुःख होता है तथा व्रणादि का सुखपूर्वक उपचार हो जाता है, अर्थात् सुखपूर्वक शरीर से बाहर निकाले जा सकते हैं। किन्तु जब कठिन वचन कंटक कर्णेन्द्रिय द्वारा मन को वेधन करते हैं, तो उनका मन से निकलना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु वे स्थायी वैरभाव के बढ़ाने वाले हो जाते हैं तथा कुगति में ले जाने के कारण महाभय के उत्पन्न करने वाले हैं। सूत्र मे 'वचन कंटक' के लिये जो 'दुरुद्धर' शब्द आया है, उसका यही भाव है कि जो दुर्वचन जिस किसी के प्रति कहे जाते हैं, वे उनके हृदय में वज्रमुद्रा से मुद्रित हो जाते हैं, वे उनको कभी भूल नहीं सकते। क्योंकि, दुर्वचन का प्रहार ही ऐसा होता है। कुल्हाड़ी से काटे हुए वृक्ष भी पुनः हरे भरे पल्लवित हो सकते हैं, किन्तु कटुवचन रूप जहरीली कुल्हाड़ी की चोट खाया हुआ हृदयतरु फिर प्रफुल्लित हो, यह बहुत ही कठिन है। अतः वे पुरुष

धन्य हैं, जो दुर्वचनों पर अपना कोई लक्ष्य नहीं रखते, जो 'गच्छति करिणि भषन्तु भषकाः' के नीति मार्ग पर पूर्ण दृढ़ता से चलते हैं।

उत्थानिका—अब पुनः इसी विषय को सुस्पष्ट करते हैं :—

समावयंता वयणाभिघाया,
कन्नंगया दुम्मणिअं जणंति ।
धम्मुत्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥८॥

समापतन्तो वचनाभिघाताः,
कर्णंगता दौर्मनस्यं जनयन्ति ।
धर्म इति कृत्वा परमाग्रशूरः,
जितेन्द्रियो यः सहते सः पूज्यः ॥८॥

पदार्थान्वयः—समावयंता-इकट्ठा होकर सामने आते हुए **वयणाभिघाया**-कठिन वचन रूपी प्रहार **कन्नंगया**-कर्णेन्द्रिय मे प्रविष्ट होते ही **दुम्मणिअं**-दौर्मनस्य भाव को **जणंति**-उत्पन्न करते हैं, तथा **परमग्गसूरे**-वीर पुरुषों का परमाग्रणी **जिइंदिए**-इन्द्रियों को जीतने वाला **जो**-जो पुरुष **सहई**-वचन प्रहारों को सहन करता है **स**-वह **पुज्जो**-परम पूज्य होता है।

मूलार्थ—समूह रूप से सम्मुख आते हुए कटुवचन प्रहार, श्रोत्र मार्ग से हृदय में प्रविष्ट होते ही अतीव दौर्मनस्य भाव समुत्पन्न कर देते हैं। परन्तु जो शूर वीरों के अग्रणी, इन्द्रियजयी पुरुष इन वचन प्रहारों को शान्ति से सहन कर लेते हैं, वे ही संसार में पूजा पाने योग्य होते हैं।

टीका—संसार में दुर्वचनों का भी एक ऐसा विचित्र प्रहार है, जो बिना किसी रुकावट के शीघ्रतया कर्ण कुहरों को भेदन करता हुआ अन्तर्हृदय में बड़े जोर से लगता है और लगते ही हृदय मे विकट दौर्मनस्य भाव पैदा कर देता है। बड़े बड़े विचारशील धुरंधर विद्वान् तक भी इस वचन की चोट से ऐसे मूर्च्छित हो जाते हैं कि उन्हें अपने कर्तव्याकर्तव्य का भान नहीं रहता। वे 'शठं प्रति शठं कुर्यात्'

की अनुदार पद्धति को पकड़ कर स्वयं मिटने को और दूसरों को मिटाने को तत्पर हो जाते हैं। परन्तु साथ ही एक बात यह और है कि इस वचन प्रहार को कुसुम-प्रहार के समान समझने वाले सन्त पुरुष भी इस संसार में विद्यमान हैं। वे सन्त पुरुष कोई साधारण श्रेणी के नहीं हैं, वे पूर्ण शक्ति वाले महापुरुष वीरों के वीर एवं धीरों के धीर होते हैं। वे इन्द्रियों के आधीन न रहकर उनको ही अपने आधीन रखते हैं। उन्हें चाहे कोई कैसा ही कठोर वचन क्यों न कहे, पर वे किसी प्रकार से विकृत नहीं होते। सूत्र में आये हुए दुम्मणियं' शब्द का संस्कृत अर्थ 'दौर्मनस्य' होता है। जिसका स्पष्ट भाव यह है कि कटुवचनों से मन की भावना दुष्ट हो जाती है। क्योंकि संसारी जीव को अनादि काल से ऐसा ही अभ्यास चला आता है। अतः जो सत्पुरुष होते हैं, वे तो इस अभ्यास के फेर में पड़ते ही नहीं और जो वेचारे ज्ञान-दुर्बल जीव हैं, वे इसके चक्कर में पड़कर अपने सर्वस्व को खो बैठते हैं।

उत्थानिका—पुनरपि भाषा शुद्धि के विषय में ही कहते हैं:—

अवन्नवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीअं च भासं।
ओहारिणिं अप्पिअकारिणिं च,
भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥९॥

अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य,
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम्।
अवधारिणीं अप्रियकारिणीं च,
भाषां न भाषेत सदा सः पूज्यः ॥९॥

पदार्थान्वयः—जो साधु सया—सदाकाल परम्मुहस्स—पीठ पीछे च—तथा पच्चक्खओ—सामने अवन्नवायं—किसी का अवर्णवाद च—तथैव पडिनीअं परपीडा-कारिणी भासं—भाषा को च—तथा ओहारिणिं—निश्चयकारिणी और अप्पिअकारिणिं—

अप्रिय कारिणी भासं-भाषा को न भासिज्ज-नहीं बोलता है स-वह पुज्जो-पूज्य होता है।

मूलार्थ—जो मुनि पीठ पीछे या सामने किसी की निन्दा नहीं करते हैं और सदैव पर पीड़ाकारी, निश्चयकारी एवं अप्रियकारी वचन भी नहीं बोलते हैं; वे ही वस्तुतः पूज्य होते हैं।

टीका—इस सूत्र में साधु को अयोग्य भाषाओं के भाषण करने का प्रतिषेध किया है। यथा-(१) अवर्णवाद निन्दा-बुराई को कहते हैं। यह निन्दा प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद से दो प्रकार की मानी गई हैं। प्रत्यक्ष निन्दा वह है, जो उन्मत्त बन कर बिना किसी लज्जा (संकोच) के सामने ही की जाती है। और परोक्ष निन्दा वह है, जो परतन्त्र बन कर पीठ पीछे की जाती है। अतएव प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही प्रकार से किसी की निन्दा करना बुरा है। (२) प्रत्यनीक भाषा वह है, जो वैराग्य की बढ़ाने वाली हो (-अपकार करने वाली हो)। यथा-तू चोर है, तू मूर्ख है, तू जार है। इत्यादि (३) निश्चयकारिणी भाषा उस भाषा को कहते हैं, जो बिना किसी निश्चय के यों ही निश्चय रूप से बोली जाय। यथा—अमुक वार्ता ऐसी ही है, अमुक कार्य ऐसा ही होगा। (४) अप्रिय-कारिणी भाषा, कठोर भाषा को कहते हैं। जैसे किसी के सगे सम्बन्धी को सहसा सूचना देना कि क्या तुम्हें खबर नहीं कि तुम्हारे अमुक सम्बन्धी की मृत्यु हो गई है। ऊपर जो भाषाएँ बतलाई गई हैं, वे सर्वथा परित्याज्य हैं। इसलिये जो साधु उपर्युक्त भाषाएँ नहीं बोलते हैं, वे संसार में सभी के पूज्य होते हैं। क्योंकि भाषा समिति के शुद्ध रहने से आत्मा विनय समाधि में स्थिर चित्त होता है एवं पूज्यपद प्राप्त करता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार इंद्रजाल आदि कार्यों का परित्याग बतलाते हैं:-

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे आवि अदीणवित्ती।
नो भावए नो विअ भाविअप्पा,
अकोउहल्ले अ सया स पुज्जो ॥१०॥

अलोलुपः अकुहकः अमायी,
अपिशुनश्चापि अदीनवृत्तिः ।
नो भावयेत् नाऽपिच भावितात्मा,
अकौतुकश्च सदा सः पूज्यः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—जो साधु अलोलुए-किसी प्रकार का लोभ (लालच) नहीं करता अक्कुहए-मंत्र यंत्रों के ऐन्द्रजालिक झगड़े मे नहीं पड़ता अमाई-माया के जाल मे नहीं फँसता अपिसुणे-किसी की चुगली नहीं करता आवि-तथा अदीणवित्ती-संकट में बेचैन हो दीन-वृत्ति नहीं करता नो भावए-औरों से अपनी स्तुति नहीं कराता विअ-और भाविअप्पा-अपने मुँह अपनी स्तुति भी नहीं करता है अ-तथा अकोउहल्ले-क्रीड़ा कौतुक भी नहीं देखता है स-वह पुज्जो-पूज्य है ।

मूलार्थ—लालच, इन्द्रजाल, धोखेबाजी, चुगली-चाड़ा, दीनता आदि दोषों से अलग रहने वाले; दूसरों से अपनी स्तुति नहीं कराने वाले; न स्वयं अपनी स्तुति दूसरों के समक्ष करने वाले; तथा नृत्य आदि कलाओं में कौतुक नहीं रखने वाले साधु ही, वस्तुतः पूज्य होते हैं ।

टीका—साधु में वास्तविक पूज्यता तभी आ सकती है जब कि वह अपने योग्य गुणों को पूर्ण रूप से धारण करे । सच्चा साधु आहार पानी के विषय मे किसी प्रकार का लालच नहीं करता । वह तो जैसा कुछ रूखा-सूखा मिल जाता है, वैसा ही सहर्ष स्वीकार कर लेता है । वह अपने भोजन से काम रखता है, स्वाद से नहीं । सच्चा साधु इन्द्रजाल और छल (कपट) के भी काम नहीं करता । उसका हृदय सर्वथा सरल होता है, वह मंत्र-यंत्र, गंडे-तावीज, ज्योतिष-वैद्यक आदि करके लोगों को धोखा नहीं देता है। ऐन्द्रजालिक विद्या से या माया से किसी को धोखा देना, वह अपने को ही धोखा देना समझता है । यह उत्तम साधु, पिशुनता और दीनता के दोष से भी अलग रहता है । वह इधर उधर आपस मे चुगली नहीं करता । वह प्रथम तो निन्दा (बुराई) की बातें ही नहीं सुनता, यदि कभी कोई बात सुन भी ले तो वह उसको प्रगट नहीं करता । निन्दा की बातों को सुनकर वह अपने मन में वैसे ही समा लेता है, जिस प्रकार अग्नि अपने में पड़े

हुए घास-फूँस को भस्मसात् कर लेती है। इसी प्रकार आहारादि के न मिलने पर दैन्यवृत्ति धारण करके पेट-पूर्ति कभी नहीं करता, और प्राणान्तकारी कड़ाके की भूख लगने पर भी वह अपनी वीर वृत्ति पर अटल रूप से स्थिर रहता है। वह प्रशंसा का भूखा भी नहीं होता है, अपनी स्तुति करने के लिये दूसरे लोगों को प्रेरित नहीं करता है। और न स्वयं ही अपने मुँह मियांमिट्ठू बनता है। भाव यह है कि वह अपनी स्तुति का ढोल न स्वयं पीटता है और न दूसरों से पिटवाता है। वह अपनी प्रशंसा को निन्दा के समान ही घृणित समझता है। अपि च, खेल-तमाशों (क्रीड़ा कौतुकों) का भी व्यसनी नहीं होता। वह नाटक-ड्रामा, सरकस, वेश्यानृत्य आदि को एक विडम्बना मात्र समझता है। उसके हृदय में 'सव्वं विलवियं गीअं, सव्वं नट्टं विडंविअं' के भाव लहरें लेते रहते हैं। क्योंकि जिसके अन्तर के घर में स्वयमेव अलौकिक नाटक होते हों, भला वह अन्य बाहिरी कृत्रिम नाटकों को क्यों देखने लगेगा? सच्चा आनंद, आत्मा का आनंद है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार राग-द्वेष में समभाव रखने का सदुपदेश देते हैं:—

गुणेहिं साहू अगुणेहिंऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुण मुंचऽसाहू।
विआणिआ अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥११॥

गुणैः साधुरगुणैरसाधुः,
गृहाण साधुगुणान् मुञ्च असाधून्।
विज्ञाय आत्मानमात्मना,
यो राग-द्वेषयोः समः सः पूज्यः ॥११॥

पदार्थान्वयः—मनुष्य गुणेहिं—गुणों से साहू—साधु और अगुणेहिं—अगुणों से असाहू—असाधु होता है। अतः हे शिष्य ! साहूगुण—साधु योग्य

गुणों को गिण्हाहि–ग्रहण कर ले और असाहू–असाधु योग्य अवगुणों को मुंच–छोड़ दे, क्योंकि जो अप्पएणं–अपनी आत्मा द्वारा ही अप्पगं–अपनी आत्मा को विआणिआ–नाना प्रकार से बोधित करता है तथा रागदोसेहिं–राग और द्वेष में समो–समभाव रखता है स–वह पुज्जो–पूजने योग्य है।

मूलार्थ—अयि शिष्य ! गुणों से साधु और अगुणों से असाधु होता है। अतएव तुम्हें साधु-गुणों को तो ग्रहण करना चाहिये और असाधु-अगुणों को छोड़ देना चाहिये; क्योंकि अपनी आत्मा को अपनी आत्मा से ही समझाने वाले तथा राग द्वेष में समभाव रखने वाले गुणी साधु ही पूज्य होते हैं।

टीका—इस काव्य मे साधु और असाधु के विषय में वर्णन किया गया है। यथा—क्षमा, दया, सत्य, शील, सन्तोष आदि सद्गुणों को पूर्णतया धारण करने से साधुता प्राप्त होती है और अविनय, क्रोध, झूठ आदि दुर्गुणों के धारण करने से असाधुता प्राप्त होती है। साधुता और असाधुता इस प्रकार गुणों और अवगुणों पर अवलम्बित है, वेष-भूषा पर नहीं। अतः गुरुश्री कहते हैं कि हे शिष्य ! यदि तुझे साधुता से प्रेम और असाधुता से घृणा है, तो तू साधुओं के क्षमा आदि गुणों को दृढ़ता से धारण कर, और असाधुओं के क्रोध कपट आदि दुर्गुणों का परित्याग कर। क्योंकि निर्वाण पद प्राप्त करने का एक यही मार्ग है। जो इस मार्ग पर चलते हैं, वे तो सीधे अचल स्थान पर पहुँच जाते हैं, और जो इस मार्ग पर नहीं चलते हैं, वे संसार में ही इधर-उधर धक्के खाते भटकते फिरते हैं। गुरुश्री फिर उपदेश देते हैं, हे शिष्य ! तुम अपनी आत्मा को अपनी आत्मा द्वारा ही शिक्षा दो। क्योंकि जब तक अपने को अपने द्वारा उपदेश नहीं दिया जाता, तब तक कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। 'उद्धरेदात्मनात्मानम् नात्मानमवसादयेत्'। तथा तुम्हें किसी पर राग द्वेष भी नहीं करना चाहिये। यद्यपि कोई तुम से राग रक्खे या द्वेष रक्खे तुम्हें दोनों पर एक सी दृष्टि रखनी ही उचित है। यही पद्धति वास्तविक पूज्यपद प्राप्त करने की है। सूत्रगत 'अगुणेहिंऽसाहू' और 'मुंचऽसाहू' इन दोनों पदों मे 'लुक' इस प्राकृत व्याकरण के सूत्र द्वारा अकार का लोप किया गया है। यदि ऐसा लोप न माना जाय तो अर्थ संगति कदापि नहीं हो सकती।

उत्थानिका—अब निन्दा परित्याग का उपदेश देते हैं :—

तहेव डहरं च महल्लगं वा,
इत्थिं पुमं पव्वइअं गिहिं वा।
नो हीलए नो वि अ खिंसइज्जा,
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥१२॥

तथैव डहरं च महल्लकं वा,
स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा।
न हीलयेत् नापि च खिंसयेत्,
स्तम्भं च क्रोधं च त्यजेत् सः पूज्यः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—तहेव-तथैव साधु डहरं-बालक की च-तथा महल्लगं-वृद्ध की वा-तथा इत्थिं-स्त्री की पुमं-पुरुष की पव्वइअं-दीक्षित की वा-और गिहिं-गृहस्थ की नो हीलए-एक बार हीलना न करे अवि अ-तथा, नोखिंसइज्जा-पुनः पुनः हीलना न करे। क्योंकि जो थंभं-अहंकार को च-तथा कोहं-क्रोध को चए-छोड़ देता है स-वह पुज्जो-पूजने योग्य होता है।

मूलार्थ—जो साधु बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, दीक्षित और गृहस्थ आदि की हीलना-खिंसना नहीं करता है, तथा क्रोध, मान के दोषों से पृथक् रहता है, वह पूज्य है।

टीका—इस काव्य में साधु को निन्दा करने का निषेध किया है। जो मुनि बालकों की, वृद्धों की तथा उपलक्षण से मध्यम अवस्था वालों की, स्त्रियों की, पुरुषों की तथा नपुंसकों की, साधुओं की, गृहस्थों की, अन्यमार्गावलम्बी जनों की, एकवार तथा वारंवार निन्दा नहीं करता है और जो अहंकार एव क्रोध की पापमयकालिमा से अपने को सर्वथा अलग रखता है, वह सभी पुरुषों द्वारा पूजा जाता है। जैन सूत्रों में एकवार निन्दा करने का नाम 'हीलना' और बारंवार निन्दा करने का नाम 'खिंसना' बतलाया है। अतः जो महापुरुष उक्त दोनों ही प्रकार की निंदा का

परित्याग करते हैं, वे ही वस्तुतः पूज्य बनते हैं। क्योंकि त्रिदान के एवं उक्त कार्य के त्याग से ही पूज्यता प्राप्त होती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार शिष्य को कन्या की उपमा देकर आचार्य जी का मान करने का प्रत्यक्ष फल बतलाते हैं :—

जे माणिआ सययं माणयंति,
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति।
ते माणए माणरिहे तवस्सी,
जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥१३॥

ये मानिताः सततं मानयन्ति,
यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति।
तान् मानयेत् मानार्हान् तपस्वी,
जितेन्द्रियः सत्यरतः सः पूज्यः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—जे—जो माणिआ—सत्कार आदि से सम्मानित हुए, अपने शिष्यों को भी सययं—सदा माणयंति—अध्ययन आदि क्रियाओं द्वारा सम्मानित करते हैं, और जत्तण—यत्न से कन्नं व—कन्या के समान निवेसयंति श्रेष्ठ स्थान में स्थापित करते हैं ते—उन माणरिहे—मान योग्य आचार्यों का जो तवस्सी—तपस्वी जिइन्दिए—जितेन्द्रिय सच्चरए—सत्यवादी साधु माणए—विनयादि से सम्मान करता है स—वह पुज्जो—पूज्य होता है।

मूलार्थ—जो शिष्य, आचार्य को विनय भक्ति आदि से सम्मानित करते हैं, वे स्वयं भी आचार्य से विद्यादान द्वारा सम्मानित होते हैं, और यत्न से कन्या के समान श्रेष्ठ स्थान पर स्थापित होते हैं। अतः जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय और तपस्वी साधु; ऐसे सम्मान योग्य आचार्यों का सम्मान करते हैं, वे संसार में सच्ची पूजा-प्रतिष्ठा पाते हैं।

टीका—इस काव्य मे विनय धर्म के प्रत्यक्ष गुण दिखलाये गये हैं। यथा—जो शिष्य, आचार्य आदि गुरुजनों का विनय-भक्ति द्वारा सत्कार करते हैं, यह उनका भक्ति-कार्य व्यर्थ नहीं जाता। इस भक्ति के बदले में आचार्य जी की ओर से शिष्यों को सुमधुर श्रुतोपदेश मिलता है। यही नहीं, किन्तु जिस प्रकार योग्य माता पिता अपनी कन्या को गुणों और अवस्था से प्रयत्नपूर्वक पालते-पोषते हैं और फिर सुयोग्य पति को देकर समुचित स्थान में दे देते हैं; इसी प्रकार आचार्य भी अपने भक्त-शिष्यों को सूत्रार्थ ज्ञाता बना कर, आचार्य पद जैसे महान् ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। अतएव घोर तप करने वाले, चंचल इन्द्रियों के जीतने वाले एवं सदा सत्य वचन बोलने वाले प्रधान धार्मिक पुरुषों का भी परम कर्तव्य है कि वे आचार्य जी की अभ्युत्थान-वन्दनादि से सभक्ति-भाव सेवा-शुश्रूषा करें। क्योंकि पूज्य पुरुषों की सेवा करने से ही मनुष्य पूज्य होता है। सूत्र में जो शिष्य के लिये कन्या की उपमा दी गई है, वह बड़े ही महत्त्व की है। इससे प्राचीन काल की पवित्र पद्धति का पूर्ण रूप से पता चलता है। प्राचीन काल के भारतीय माता-पिता अपनी कन्याओं को बाल्यावस्था में शिक्षा-दीक्षा द्वारा सुयोग्य करते थे और फिर उसका यौवनावस्था में सुयोग्य वर से विवाह-सम्बन्ध करते थे, जिससे उनकी विदुषी एवं सदाचारिणी पुत्रियों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था। वे आनन्दपूर्वक अपने गृहस्थ-धर्म का पालन किया करती थीं। इस सूत्र से आजकल के स्त्री शिक्षा-विरोधी सज्जनों को ध्यान देना चाहिये और पुत्रों के समान ही पुत्रियाँ भी सुशिक्षिता बनानी चाहियें।

उत्थानिका—अब पुनः इसी विषय पर कथन करते हैं:—

तेसिं गुरूणं गुणसायराणं,
सुच्चा ण मेहावि सुभासिआइं।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥१४॥

तेषां गुरूणां गुणसागराणां,
श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।
चरति मुनिः पञ्चरतः त्रिगुप्तः,
चतुःकषायापगतः सः पूज्यः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—जो मुणी-मुनि मेहावि-बुद्धिमान् पंचरए-पंचमहाव्रतपालक तिगुत्तो-त्रिगुप्तिधारी और चउकसायावगए-चारों कषायों से रहित होता है, तथा तेसिं-उन गुणसायराणं-गुण समुद्र गुरूणं-गुरुओं के सुभासिआइं-सुभाषित वचनों को सुच्चा-सुन कर चरे-तदनुसार आचरण करता है स-वह पुज्जो सब का पूजनीय होता है ।

मूलार्थ—जो मुनि पूर्ण बुद्धिमान्, पाँच महाव्रतों के पालक, तीनों गुप्तियों के धारक एवं चारों कषायों के नाशक होते हैं; तथा गुण-सागर गुरुजनों के सुभाषित वचनों को श्रवण कर, तदनुसार आचरण करने वाले होते हैं, वे संसार में पूज्यों के भी पूज्य होते हैं ।

टीका—संसार के सभी जीव पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा करते हैं, परन्तु पूजा-प्रतिष्ठा हर किसी को नहीं मिलती । बहुत से मनुष्य तो ऐसे मिलते हैं, जो बड़े होने की लालसा में पड़ कर 'चौबे जी गये थे छब्बे जी होने को, किन्तु दो गाँठ की और खोकर चलटे दुब्बे जी ही रह गये' की लोकोक्ति के समान पूरे हास्यास्पद होते हैं । अतः सूत्रकार, भव्य जीवों को सदुपदेश देते हुए कहते हैं कि यदि तुम्हें वस्तुतः पूज्यपद प्राप्त करने की उत्कंठा है, तो प्रथम ज्ञान का पूर्ण रूप से अभ्यास करो और फिर अहिंसा आदि पंच महाव्रतों को एवं मनोगुप्ति आदि तीनों गुप्तियों को धारण करो; पश्चात् क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों महादोष रूप कषायों को समूल नष्ट करो, इससे तुम सच्चे पूज्य बन सकोगे । क्योंकि जो शिष्य, समुद्र के समान अनन्त गुणों के धारक आचार्य श्री जी के सुभाषित वचनों को श्रद्धापूर्वक श्रवण करते हैं और तदनुसार चारित्र धर्म का समाचरण करते हैं, वे सर्वोच्च श्रेणी के पूज्य होते हैं । सूत्र में जो गुरुश्री के लिये 'गुणसायराणं' पद दिया है, उसका यह भाव है कि सच्चा संसार-तारक गुरु वही

होता है, जो ज्ञान और चारित्र गुणों में समुद्र के समान असीम होता है। वस्तुतः ऐसे गुरुओं की ही आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिये, नाम धारी गुरुओं की आज्ञा से कोई लाभ नहीं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार विनय धर्म से मोक्ष प्राप्ति बतलाते हुए प्रस्तुत उद्देश का उपसंहार करते हैं:—

गुरुमिह सययं पडिअरिअ मुणी,
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले।
धुणिअ रयमलं पुरेकडं,
भासुरमउलं गइं वइ ॥१५॥
त्ति बेमि।

इति विणयसमाहिए तइओ उद्देसो समत्तो ॥

गुरुमिह सततं परिचर्य मुनिः,
जिनमतनिपुणः अभिगमकुशलः।
धूत्वा रजोमलं पुराकृतं,
भास्वरामतुलां गतिं व्रजति ॥१५॥
इति ब्रवीमि।

इति विनयसमाधेस्तृतीयो उद्देशः समाप्तः ॥

पदार्थान्वयः—जिणमयनिउणे—जिन धर्म के तत्त्वों का ज्ञाता अभिगम-कुसले—अतिथि साधुओं का सुचतुर सेवक मुणी—साधु गुरुं—गुरु की इह—इस लोक मे सययं—निरन्तर पडिअरिअ—सेवा करके पुरेकडं—पूर्वकृत रयमलं—कर्मरज को धुणिअ—क्षय करके भासुरं—दिव्य धाम—ज्ञान ज्योतिः स्वरूप अउलं—सर्वोत्कृष्ट गइं—सिद्ध गति को वइ—प्राप्त करता है। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जैनागम के तत्वों को पूर्ण रूप से जानने वाला एवं अतिथि साधुओं की दत्तचित्त से सेवा (भक्ति) करने वाला सच्चा साधु; इस संसार में अव्याहत रूप से गुरुश्री की सेवा करके पूर्वकृत कर्मों को तो क्षय कर देता है और ज्ञान-तेजोमयी अनुपम सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है।

टीका—इस काव्य में तृतीय उद्देश का उपसंहार किया गया है। यथा—जो साधु, जैन धर्म के आगमतत्वों का पूर्ण मर्मज्ञ होता है, तथा अपने पास में आने वाले अतिथि साधुओं की सश्रद्धा यथोचित सेवा भक्ति करता है; वह संसार में अवतार लेने का वस्तुतः लाभ उठा लेता है और भक्तिपूर्वक गुरुश्री की सेवा करके अनादिकालीन कर्म शत्रुओं को समूल नष्ट कर देता है। अतः जब आत्मा कलुषित कर्ममल से मुक्त होकर सर्वथा शुद्ध बन गया तो फिर संसार में कैसा रहना। फिर तो आत्मा, ज्ञान रूप विलक्षण तेज से परम भास्वर एवं सर्वोत्कृष्ट सिद्धि स्थान में जा विराजता है। यदि कुछ कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं तो देवगति में जन्म होता है, और फिर वहाँ से मनुष्य योनि में जन्म लेकर, जप तप करके, मोक्ष पाता है। इस उद्देश में गुरु-भक्ति का विशद रूप से स्पष्टीकरण किया गया है और बतलाया गया है कि आत्मा गुरु-भक्ति द्वारा ही निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है, लोक परलोक दोनों लोकों की सुधारने वाली संसार में एक गुरु-भक्ति ही है। प्रस्तुत गाथा में 'जिणमयनिउणे' पद खास ध्यान देने योग्य है। जैनधर्म पहले निर्ग्रन्थ धर्म कहलाता था, जैनधर्म नहीं। प्राचीन आगमों में तथा तत्कालीन बुद्ध साहित्य में प्रायः सर्वत्र जैनों के लिए निर्ग्रन्थ शब्द का ही प्रयोग किया गया है। परन्तु भगवान् महावीर स्वामी से चौथी पीढ़ी पर होने वाले श्री शय्यंभव जी 'जिन मत' शब्द का प्रयोग करते हैं, इससे मालूम होता है कि आपके समय में जिन मत शब्द रूढ हो गया होगा। बाद में देवता २।४।२०६ शाकटायन सूत्र के द्वारा 'जिनो देवताऽस्येति' व्युत्पत्ति से जैन शब्द प्रचार में आया।

'श्री सुधर्माजी जम्बूजी से कहते हैं कि हे वत्स ! मैंने जैसा अर्थ इस नवमाध्ययनान्तरवर्ती तृतीय उद्देश का सुना था, वैसा ही तेरे को बतलाया है।'

नवमाध्ययन तृतीयोद्देश समाप्त।

अथ नवमाध्ययने चतुर्थ उद्देशः ।

उत्थानिका—तृतीय उद्देश में विनय धर्म का सामान्य रूप से वर्णन किया गया, अब इस चतुर्थ उद्देश में विशेष रूप से वर्णन किया जाता है :—

सुअं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता ।

कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं
चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता ?
इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं
चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता ।

तंजहा—विणय समाहि (१) सुअसमाहि (२) तवसमाहि (३) आयार समाहि (४) ।

विणए सुए अ तवे, आयारे निच्च पंडिआ ।
अभिरामयंति अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिया ॥१॥

श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्, इह खलु स्थविरैः भगवद्भिः चत्वारि विनय समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ।

कतराणि खलु तानि स्थविरैः भगवद्भिः
चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि !
इमानि खलु तानि स्थविरैः भगवद्भिः
चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ।

तद्यथा–विनय समाधिः (१) श्रुतसमाधिः (२) तपः समाधिः (३) आचारसमाधिः (४) :—

विनये श्रुते च तपसि, आचारे नित्यं पण्डिताः ।
अभिरामयन्ति आत्मानं, ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ॥१॥

पदार्थान्वयः—गुरु कहते हैं आउसं–हे आयुष्मन् शिष्य मे–मैंने सुग्रं–सुना है तेणं–उस भगवया–भगवान् ने एवं–इस प्रकार अक्खायं–प्रतिपादन किया है—इह–इस जिन सिद्धांत में खलु–निश्चय से भगवंतेहिं–ज्ञानादि से युक्त थेरेहिं–स्थविरों ने चत्तारि–चार प्रकार के विणयसमाहिठाणा–विनय समाधि के स्थान पन्नत्ता–प्रतिपादन किये हैं—

शिष्य प्रश्न करता है हे पूज्य ! थेरेहिं–स्थविर भगवंतेहिं–भगवन्तों ने ते–वे चत्तारि–चार प्रकार के विणयसमाहिठाणा–विनय-समाधिस्थान कयरे–कौन से खलु–निश्चयात्मक रीति से पन्नत्ता–निरूपित किये हैं ?—

गुरुश्री उत्तर देते हैं इमे–ये वक्ष्यमाण खलु–निश्चय से ते–वे थेरेहिं–स्थविर भगवंतेहिं–भगवंतों ने चत्तारि–चार विणयसमाहिठाणा–विनय समाधि के स्थान पन्नत्ता–प्रतिपादन किये हैं—तंजहा–जैसे कि विणयसमाहि–विनय समाधि १, सुअसमाहि–श्रुतसमाधि २, तवसमाहि–तपःसमाधि ३, आयार समाहि–आचार समाधि ४ ।—

जे–जो जिइंदिया–जितेन्द्रिय साधु विणए–विनय में सुए–श्रुत में तवे–तप में अ–और आयारे–आचार मे निच्च–सदैव अप्पाणं–अपनी आत्मा को अभिरामयंति–रमण करते है, वे ही पंडिआ–सच्चे पंडित कहलाते हैं ।

मूलार्थ—गुरुश्री कहते हैं हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने सुना है, उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है, इस जैन धर्म में निश्चय ही स्थविर भगवन्तों ने विनय समाधि के चार स्थान कथन किये हैं—

शिष्य प्रश्न करता है, हे भगवन् ! स्थविर भगवन्तों द्वारा प्रतिपादित वे चार प्रकार के विनय समाधि के स्थान कौन से हैं, कृपया बतलाइये—

गुरु श्री उत्तर देते हैं, हे वत्स ! स्थविर भगवन्तों द्वारा प्रतिपादित वे चार प्रकार के विनय-समाधिस्थान ये वक्ष्यमाण हैं; यथा—विनय-समाधि १, श्रुत-समाधि २, तपःसमाधि ३, और आचार समाधि ४ ।

जो जितेन्द्रिय मुनि विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तपःसमाधि, और आचार-समाधि में अपनी आत्मा को "सर्वतोभावेन" संनिविष्ट करते हैं; वे ही परमार्थतः पण्डित होते हैं ।

टीका—इस चतुर्थ उद्देश का प्रारम्भ, गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर द्वारा किया गया है, सो इस से यह ध्वनित होता है कि सैद्धान्तिक तत्वों का गूढ रहस्य प्रश्नोत्तर की पद्धति से बहुत अच्छी तरह परिस्फुट हो सकता है । यह प्रश्नोत्तर की पद्धति, अन्य सब विवेचनात्मक पद्धतियों से अतीव उत्कृष्ट है, क्योंकि इसमे प्रश्नकर्ता एवं उत्तरदाता दोनों ही का हृदय विशुद्ध होता है । विशुद्ध हृदय ही सफलता लाता है । गद्य सूत्र में जो स्थविर—गणधर प्रमुख पुरुषों के लिये भगवान् शब्द का प्रयोग किया है, इससे भगवान् शब्द को पूज्य पुरुषों के प्रति अव्यवहार्य समझने वाले सज्जनों को कुछ समझना चाहिये । भगवान् शब्द ऐश्वर्य का वाचक है, अतः शिष्यों का कर्तव्य है कि बातचीत मे गुरु-जनों के प्रति भगवान् शब्द का प्रयोग करें । गुरुश्री ने जो विनय, श्रुत, तप और आचार नामक चार समाधि स्थान बतलाये हैं, सो यहाँ 'समाधि' का तात्पर्य 'समाधान' से है । भाव यह है कि, परमार्थ रूप से आत्मा को हित, सुख और स्वास्थ्य भावों की प्राप्ति होना ही 'समाधि' है । तथा उक्त चारों प्रकार की क्रियाओं में अत्यधिक

तल्लीनता हो जाने को भी 'समाधि' कहते हैं। यथा—विनय में वा विनय से आत्मा में जो उत्कृष्ट समभावों की उत्पत्ति होती है, उसे 'विनय समाधि' कहते हैं। इसी प्रकार अन्य श्रुत, एवं तप आदि के विषय में भी जान लेना चाहिये।

संसार में जितने भी कार्य होते हैं, वे सब के सब किसी न किसी प्रयोजन को लेकर ही होते हैं। बिना प्रयोजन के मूर्ख से मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतः गुरुश्री शिष्य को विनय समाधि आदि स्थानों का प्रयोजन भी बतलाते हैं—हे धर्मप्रिय ! शिष्य ! जो श्रोत्रेन्द्रिय आदि भाव शत्रुओं के जीतने वाले मुनि अपनी आत्मा को चारों समाधि-स्थानों में प्रयुक्त करते हैं, वे ही वस्तुतः सच्चे पंडित होते हैं। 'पण्डित पद' एक बहुत ही ऊँचा एवं सर्व-प्रिय पद है। इस पद की प्राप्ति के लिये मनुष्य, अनेकानेक घोर कष्टों का भार सिर पर उठाते हैं, परन्तु इसे पा नहीं सकते। क्योंकि इस पद का प्राप्त करना कुछ हँसी-खेल नहीं है। कई लोगों का ध्यान है कि शास्त्रों के पढ़ लेने से मनुष्य पण्डित बन सकता है; किन्तु यह बात नहीं, पंडिताई का पद बहुत दूर है। सच्चा पण्डित तो सूत्रोक्त चारों समाधि-स्थानों के धारण करने से ही बन सकता है। आजकल के पण्डित-पद प्रिय महानुभाव, ध्यान दें, पण्डित पद पर कितना उत्तर-दायित्व है। गाथासूत्र में जो 'अभिरामयन्ति' क्रियापद दिया है, सो यह 'रमु' धातु, यहाँ 'युज्' धातु के अर्थ में गृहीत है। क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं।

उत्थानिका—अब विनय के भेदों के विषय में कहते हैं:—

चउव्विहा खलु विणयसमाहि; तंजहा—अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ (१) सम्मं संपडिवज्जइ (२) वेयमाराहइ (३) न य भवइ अत्तसंपग्गाहिए (४) चउत्थं पयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो—

पेहेइ हिआणुसासणं, सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठिए।
न य माणमएण मज्जई, विणयसमाहि आययट्ठिए ॥२॥

चतुर्विधः खलु विनय समाधिर्भवतिः; तद्यथा—अनुशास्यमानः शुश्रूषते (१) सम्यक् सम्प्रतिपद्यते (२) वेद्माराधयति (३) न च भवति आत्म-सम्प्रगृहीतः (४), चतुर्थं पदं भवति । भवति च अत्र श्लोकः,—

प्रार्थयते(प्रेक्षते)हितानुशासनं, शुश्रूषते तच्च पुनरधितिष्ठति ।
न च मान-मदेन माद्यति, विनयसमाधौ आयतार्थिकः ॥२॥

पदार्थान्वयः—विणयसमाहि—विनय समाधि खलु—निश्चय से चउव्विहा—चार प्रकार की भवइ—होती है, तंजहा—जैसे कि—अणुसासिज्जंतो—गुरु द्वारा अनुशासित किया हुआ सुस्सूसइ—गुरुश्री के वचनों को सुनने की इच्छा करे १, सम्मं—सम्यक् प्रकार से गुरुवचनों को संपडिवज्जइ—समझे २, वेयं—श्रुतज्ञान की आराहइ—आराधना करे ३, च—तथा अत्तसंपग्गहिए—आत्म प्रशंसक भी न भवइ—न होवे । चउत्थंपयं—यह चतुर्थ पद भवइ—होता है अ—और इत्थ—इस पर सिलोगो—यह श्लोक भवइ—है—

आययट्ठिए—मोक्षार्थी साधु हिआणुसासण—हितकारी अनुशासन की पेहेइ—आचार्य और उपाध्याय से प्रार्थना करे, च—तथा तं—आचार्योक्त उपदेश को सुस्सूसइ—तथ्यरूप से प्रमाणीभूत जाने, पुणो—तथा अहिट्ठिए—जैसा जाने वैसा आचरण करे, किन्तु आचरण करता हुआ विणयसमाहि—विनय समाधि में माण-मएण—अभिमान के मद से न मज्जइ—उद्धत न होवे ।

मूलार्थ—विनय समाधि चार प्रकार की होती है । यथा—गुरुद्वारा शासित हुआ, गुरुश्री के सुभाषित वचनों को सुनने की इच्छा करे १, गुरु वचनों को सम्यक् प्रकार से समझे-बूझे २, श्रुत ज्ञान की पूर्णतया आराधना करे ३, तथा गर्व से आत्म-प्रशंसा न करे ४ । यह चतुर्थ पद है, इस पर एक श्लोक है—

जो मुनि, गुरु-जनों से कल्याणकारी शिक्षण के सुनने की प्रार्थना करता है; सुन कर उसका यथार्थ रूप से परिबोध करता है; तथा श्रवण एवं परिबोध के अनुसार ही आचरण करता है; साथ ही आचरण करता हुआ

विनय समाधि के विषय में किसी प्रकार का गर्व भी नहीं करता है; वही सच्चा आत्मार्थी (मोक्षार्थी) होता है।

टीका—इस सूत्र पाठ में विनय समाधि के चार भेद वर्णन किये गये हैं। यथा—जब गुरुश्री सदुपदेश दें तब शिष्य को गुरुश्री का सदुपदेश इच्छा-पूर्वक सुनना चाहिये, और सुनकर विचार विनिमय द्वारा उस उपदेश के तत्व को सम्यक् प्रकार से समझना चाहिये, क्योंकि बिना समझ के सुनना व्यर्थ होता है। समझ लेने मात्र से भी कुछ कार्य सिद्धि नहीं हो जाती; समझ लेने के बाद श्रुतज्ञान की आराधना करनी चाहिये अर्थात् जैसे सुने और समझे वैसे ही क्रियाकाण्ड करके श्रुतज्ञान को सफलीभूत करना चाहिये। केवल क्रियाकाण्ड करने से भी कुछ नहीं होता। यदि क्रिया के साथ अभिमान का पिशाच लगा हुआ हो, अतएव श्रुतानुसार क्रियाकाण्ड करते समय अपनी करनी का गर्व भी नहीं करना चाहिये कि एक मैं ही विनीत साधु हूँ, अन्य सब साधु मुझ से अतीव हीन हैं। अहंकार के करने से विनय धर्म समूल नष्ट हो जाता है। संक्षिप्त रूप से विनयसमाधि की सिद्धि का श्लोकरूप में कहा हुआ यह भाव है कि आचार्य और उपाध्याय आदि गुरुजनों के पास उभयलोककल्याणकारिणी शिक्षाओं के सुनने की प्रार्थना करनी चाहिये, और फिर उस शिक्षा को सम्यक् प्रकार से समझना चाहिये। इतना ही नहीं, किन्तु समझ लेने के पश्चात् यथोक्त रूप से क्रियाओं का अनुष्ठान करना और साथ ही अपने चारित्र का किसी भी प्रकार से अभिमान भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो विनयसमाधि की कथित नीति पर चलता है, वही आत्मार्थी होता है। सूत्रकार ने जो 'वेदमाराधयति' पद दिया है, उस पर यदि यह शङ्का उठाई जाय कि क्या यहाँ वेद शब्द से लौकिक वेदों का ग्रहण है, तो उत्तर में कहना है कि यहाँ सूत्र मे लौकिक वेदों का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु प्रस्तुत विषय लोकोत्तर होने से 'वेद' शब्द से यहाँ श्रुतज्ञान का ही ग्रहण है। क्योंकि 'विद्यतेऽनेनेति वेदः श्रुतज्ञानं, तद् यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति'—जिससे जीवाजीवादि पदार्थ सम्यक् रूप से जाने जायँ, वही वेद है, उसी का अपर नाम श्रुत-ज्ञान है, इस उपर्युक्त वेद की व्युत्पत्ति से यावन्मात्र श्रुतज्ञान सब वेद हैं। अतएव श्रुतज्ञान सम्बन्धी समस्त पुस्तकें वेद संज्ञक होने से आचाराङ्गवेद, सूत्रकृताङ्गवेद, स्थानाङ्गवेद

इस भाँति सभी सूत्रों के विषय में वेद शब्द को प्रयुक्त कर सकते हैं ।

उत्थानिका—अब श्रुत समाधि के विषय में कहा जाता है :—

चउव्विहा खलु सुअसमाहि भवइ; तंजहा—सुअं मे भविस्सइत्ति अज्झाइअव्वं भवइ (१) एगग्गचित्तो भविस्सामित्ति अज्झाइअव्वं भवइ (२) अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वं भवइ (३) ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वं भवइ (४) चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो ।

नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावयई परं ।
सुआणि अ अहिज्झित्ता, रओ सुअसमाहिए ॥३॥

चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति, तद्यथा—श्रुतं मे भविष्यतीति अध्येतव्यं भवति (१) एकाग्रचित्तो भविष्यामीति अध्येतव्यं भवति (२) आत्मानं स्थापयिष्यामीति अध्येतव्यं भवति (३) स्थितः परं स्थापयिष्यामीति अध्येतव्यं भवति (४) चतुर्थं पदं भवति, भवति चात्र श्लोकः—

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च , स्थितश्च स्थापयति परम् ।
श्रुतानि च अधीत्य, रतः श्रुतसमाधौ ॥३॥

पदार्थान्वयः—सुअसमाहि—श्रुत समाधि खलु—निश्चय से चउव्विहा—चार प्रकार की भवइ—होती है, तंजहा—जैसे कि—मे—मुझे सुअं—आचारांगादि श्रुतज्ञान भविस्सइ—प्राप्त होगा त्ति—अतः अज्झाइअव्वं—अध्ययन करना उचित भवइ—है, श्रुतज्ञान से एगग्गचित्तो—मैं एकाग्रचित्त वाला भविस्सामि—हो जाऊँगा त्ति—अतः अज्झाइअव्वं—अध्ययन करना भवइ—होता है, एकाग्रचित्तता से

अप्पाणं–अपनी आत्मा को ठावइस्सामि–स्वधर्म में स्थापित करूँगा त्ति–अतः अज्झाइअव्वयं–अध्ययन करना भवइ–ठीक है, तथा ठिओ–स्वधर्म में स्थित हुआ मैं परं–अन्य को भी धर्म के विषय में ठावइस्सामि–स्थापित करूँगा त्ति–अतः अज्झाइअव्वयं–अध्ययन करना उचित भवइ–है। यह अन्तिम चउत्थं–चतुर्थ पदं–पद भवइ–है अ–एवं इत्थ–इस पर सिलोगो–एक श्लोक भवइ–है :—

जो साधु नित्यप्रति श्रुतज्ञान का अध्ययन करने वाला है, वह नाणं–सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति करता है, एगग्गचित्तो–चित्त को एकाग्र करता है ठिओ–अपने आत्मिक धर्म में स्थित होता है, तथा परं–दूसरे को भी ठावयइ–धर्म में स्थापना करता है, और सुआणि–नानाविध श्रुतज्ञान का अहिज्झित्ता–अध्ययन कर सुअसमाहिए–श्रुतसमाधि के विषय में रओ–रत रहता है। अतः मुनि को श्रुताध्ययन अवश्यमेव करना चाहिये।

मूलार्थ—श्रुतसमाधि चतुर्विध होती है। यथा—मुझे वास्तविक श्रुतज्ञान की प्राप्ति होगी, अतः मुझे अध्ययन करना चाहिये (१) मेरा चंचल चित्त एकाग्र हो जायगा, अतः मुझे अध्ययन करना उचित है (२) मैं अपनी आत्मा को आत्मिकधर्म में स्थापित कर सकूँगा, अतः मुझे श्रुत का अभ्यास करना चाहिये (३) मैं स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे भव्य जीवों को भी धर्म में स्थापन करूँगा, एतदर्थ मुझे शास्त्र का पठन करना ठीक है। यह चतुर्थ पद हुआ, इस पर एक श्लोक भी है—

जो मुनि शास्त्राध्ययन करते हैं, उनका ज्ञान विस्तीर्ण होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, तथा वे धर्म में स्वयं स्थिर होते हैं और दूसरों को भी धर्म में स्थिरीभूत करते हैं। शास्त्राभ्यासी मुनि, नाना प्रकार के श्रुतों का सम्यग् अध्ययन करके, श्रुतसमाधि के विषय में पूर्ण अनुरक्त हो जाते हैं।

टीका—अब सूत्रकार, विनय समाधि के कथन के पश्चात् श्रुत-समाधि के विषय में वर्णन करते हैं। यथा—शास्त्रों का अध्ययन करने से आचाराङ्ग आदि सूत्र पूर्णतया पक्क एवं अस्खलित हो जाते हैं। तथा चित्तवृत्ति अचंचल होकर एकाग्र हो जाती है। तथा आत्मा अहिंसा, सत्य आदि आत्मिक धर्म में पूर्णतः स्थिर हो जाती है। तथा धर्म से गिरते हुए या गिरे हुए अन्य जीवों को भी धर्म

में पुनः स्थित करने का सामर्थ्य हो जाता है। अतएव शिष्य का कर्तव्य है कि वह अन्य सभी आवश्यक कार्यों से उचित समय निकाल कर, स्वमत परमत के पूर्ण ज्ञाता आचार्यों के पास, विनयपूर्वक श्रुत शास्त्रों का अध्ययन करे। सूत्रकार ने जो ये ऊपर चार बातें, शास्त्राध्ययन के लिये बतलाई हैं, वे बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं। इनके ऊपर वाचक वृन्द को मननपूर्वक पूरा-पूरा लक्ष्य देना चाहिये। बिना अध्ययन के मनुष्य, मनुष्यत्व शून्य होता है। वह प्राचीन शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को नहीं समझ सकता। कभी कभी वह अपनी अज्ञता की अहंमन्यता में आकर ऐसा अर्थ का अनर्थ कर डालता है कि जिससे स्वयं भी डूबता है और साथ ही अपने साथियों को भी डुबोता है। अज्ञानी मनुष्य का कोई निश्चित ध्येय भी नहीं होता है। वह लोगों की देखा-देखी पर ही अपना ध्येय रखता है। उसकी हालत भेड़ियाचाल की तरह होती है। अगर एक भेड़िया डूबे तो दूसरा भी डूब जाता है। अध्ययनहीन प्राणी धर्म करता हुआ भी धर्म में स्थिर नहीं होता। वह किसी आकस्मिक विपत्ति या प्रलोभन के आने पर सहसा धैर्यच्युत हो जाता है और धर्म कर्म से सर्वथा भ्रष्ट होकर पापपङ्क से मलिन हो जाता है। अतः जब अज्ञानी स्वयं ही धर्म कर्म की मर्यादा पर ध्रुव रूप से स्थिर नहीं रह सकता तो भला फिर वह दूसरों को किस प्रकार स्थिर कर सकेगा। जो स्वयं तैरना नहीं जानता, वह दूसरों को तैरना कैसे सिखा सकता है। इसलिये उपर्युक्त समग्र विचारों को लेकर आत्मार्थी जीवों को दृढ़ता से श्रुताभ्यास करना चाहिये। सूत्रकार ने जो ये अध्ययन के फल बतलाये हैं, इनसे यह भाव भी निकलता है कि जिज्ञासु को इन्हीं शुभ उद्देशों को लेकर शास्त्राध्ययन करना चाहिये। मान-प्रतिष्ठा के फेर में कदापि नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि शास्त्राध्ययन जैसे महापरिश्रम का फल मान-प्रतिष्ठा माँगना, मानों महा मूल्यवान् हीरे के बदले फूटी कौड़ी माँगना है।

उत्थानिका—अब तपःसमाधि के विषय मे कहते हैं:—

चउव्विहा खलु तवसमाहि भवइ; तंजहा—नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा (१) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा (२) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवम-

अप्पाणं-अपनी आत्मा को ठावइस्सामि-स्वधर्म में स्थापित करूँगा त्ति-अतः अज्झाइअव्वयं-अध्ययन करना भवइ-ठीक है, तथा ठिओ-स्वधर्म में स्थित हुआ मैं परं-अन्य को भी धर्म के विषय में ठावइस्सामि-स्थापित करूँगा त्ति-अतः अज्झाइअव्वयं-अध्ययन करना उचित भवइ-है। यह अन्तिम चउत्थं-चतुर्थ पदं-पद भवइ-है अ-एवं इत्थ-इस पर सिलोगो-एक श्लोक भवइ-है :—

जो साधु नित्यप्रति श्रुतज्ञान का अध्ययन करने वाला है, वह नाणं-सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति करता है, एगग्गचित्तो-चित्त को एकाग्र करता है ठिओ-अपने आत्मिक धर्म में स्थित होता है, तथा परं-दूसरे को भी ठावयइ-धर्म में स्थापना करता है, और सुआणि-नानाविध श्रुतज्ञान का अहिज्झित्ता-अध्ययन कर सुअसमाहिए-श्रुतसमाधि के विषय में रओ-रत रहता है। अतः मुनि को श्रुताध्ययन अवश्यमेव करना चाहिये।

मूलार्थ—श्रुतसमाधि चतुर्विध होती है। यथा—मुझे वास्तविक श्रुतज्ञान की प्राप्ति होगी, अतः मुझे अध्ययन करना चाहिये (१) मेरा चंचल चित्त एकाग्र हो जायगा, अतः मुझे अध्ययन करना उचित है (२) मैं अपनी आत्मा को आत्मिकधर्म में स्थापित कर सकूँगा, अतः मुझे श्रुत का अभ्यास करना चाहिये (३) मैं स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे भव्य जीवों को भी धर्म में स्थापन करूँगा, एतदर्थ मुझे शास्त्र का पठन करना ठीक है। यह चतुर्थ पद हुआ, इस पर एक श्लोक भी है—

जो मुनि शास्त्राध्ययन करते हैं, उनका ज्ञान विस्तीर्ण होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, तथा वे धर्म में स्वयं स्थिर होते हैं और दूसरों को भी धर्म में स्थिरीभूत करते हैं। शास्त्राभ्यासी मुनि, नाना प्रकार के श्रुतों का सम्यग् अध्ययन करके, श्रुतसमाधि के विषय में पूर्ण अनुरक्त हो जाते हैं।

टीका—अब सूत्रकार, विनय समाधि के कथन के पश्चात् श्रुत-समाधि के विषय में वर्णन करते हैं। यथा—शास्त्रों का अध्ययन करने से आचाराङ्ग आदि सूत्र पूर्णतया पक्व एवं अस्खलित हो जाते हैं। तथा चित्तवृत्ति अचंचल होकर एकाग्र हो जाती है। तथा आत्मा अहिंसा, सत्य आदि आत्मिक धर्म में पूर्णतः स्थिर हो जाती है। तथा धर्म से गिरते हुए या गिरे हुए अन्य जीवों को भी धर्म

में पुनः स्थित करने का सामर्थ्य हो जाता है। अतएव शिष्य का कर्तव्य है कि वह अन्य सभी आवश्यक कार्यों से उचित समय निकाल कर, स्वमत परमत के पूर्ण ज्ञाता आचार्यों के पास, विनयपूर्वक श्रुत शास्त्रों का अध्ययन करे। सूत्रकार ने जो ये ऊपर चार बातें, शास्त्राध्ययन के लिये बतलाई हैं, वे बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं। इनके ऊपर वाचक वृन्द को मननपूर्वक पूरा-पूरा लक्ष्य देना चाहिये। बिना अध्ययन के मनुष्य, मनुष्यत्व शून्य होता है। वह प्राचीन शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को नहीं समझ सकता। कभी कभी वह अपनी अज्ञता की अहंमन्यता में आकर ऐसा अर्थ का अनर्थ कर डालता है कि जिससे स्वयं भी डूबता है और साथ ही अपने साथियों को भी डुबोता है। अज्ञानी मनुष्य का कोई निश्चित ध्येय भी नहीं होता है। वह लोगों की देखा-देखी पर ही अपना ध्येय रखता है। उसकी हालत भेड़ियाचाल की तरह होती है। अगर एक भेड़िया डूबे तो दूसरा भी डूब जाता है। अध्ययनहीन प्राणी धर्म करता हुआ भी धर्म में स्थिर नहीं होता। वह किसी आकस्मिक विपत्ति या प्रलोभन के आने पर सहसा धैर्यच्युत हो जाता है और धर्म कर्म से सर्वथा भ्रष्ट होकर पापपङ्क से मलिन हो जाता है। अतः जब अज्ञानी स्वयं ही धर्म कर्म की मर्यादा पर ध्रुव रूप से स्थिर नहीं रह सकता तो भला फिर वह दूसरों को किस प्रकार स्थिर कर सकेगा। जो स्वयं तैरना नहीं जानता, वह दूसरों को तैरना कैसे सिखा सकता है। इसलिये उपर्युक्त समग्र विचारों को लेकर आत्मार्थी जीवों को दृढ़ता से श्रुताभ्यास करना चाहिये। सूत्रकार ने जो ये अध्ययन के फल बतलाये हैं, इनसे यह भाव भी निकलता है कि जिज्ञासु को इन्हीं शुभ उद्देशों को लेकर शास्त्राध्ययन करना चाहिये। मान-प्रतिष्ठा के फेर में कदापि नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि शास्त्राध्ययन जैसे महापरिश्रम का फल मान-प्रतिष्ठा माँगना, मानों महा मूल्यवान् हीरे के बदले फूटी कौड़ी माँगना है।

उत्थानिका—अब तपःसमाधि के विषय मे कहते हैं:—

चउव्विहा खलु तवसमाहि भवइ; तंजहा—नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा (१) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा (२) नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवम-

हिट्ठिज्जा (३) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा (४); चउत्थं पयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो—

विविहगुणतवोरए,
निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं,
जुत्तो सया तवसमाहिए ॥४॥

चतुर्विधः खलु तपःसमाधिर्भवति; तद्यथा—न इह लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् (१) न परलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् (२) न कीर्तिवर्णशब्द श्लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् (३) नान्यत्र निर्जरार्थं तपोऽधितिष्ठेत् (४), चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोकः—

विविधगुणतपोरतः,
नित्यं भवति निराशः निर्जरार्थिकः।
तपसा धुनोति पुराणपापं,
युक्तः सदा तपः समाधौ ॥४॥

पदार्थान्वयः—तवसमाहि—तप समाधि खलु—निश्चय से चउव्विहा—चार प्रकार की भवइ—होती है, तंजहा—जैसे कि इहलोगट्ठयाए—इस लोक के वास्ते तवं—तप नो अहिट्ठिज्जा—न करे; तथा परलोगट्ठयाए—परलोक के वास्ते भी तवं—तप नो अहिट्ठिज्जा—नहीं करे तथा कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए—कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के वास्ते भी तवं—तप नो अहिट्ठिज्जा—न करे, भाव यह है कि अन्नत्थ-निज्जरट्ठयाए—कर्म निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के वास्ते भी तवं—तप नो अहिट्ठिज्जा—न करे चउत्थं पदं यह चतुर्थ पद भवइ—होता है अ—और इत्थ—इस विषय पर सिलोगो—एक श्लोक है—

जो तवसमाहिए–तप समाधि के विषय मे सया–सदा जुत्तो–युक्त रहने वाला विविहगुणतवोरए–विविधगुणयुक्त तप मे रत रहने वाला निरासए–इस लोक और परलोक की आशा नहीं रखने वाला, तथा निज्जरट्ठिए–निर्जरा का अर्थी भवइ–होता है, वह तवसा–तप से पुराणपावगं–पुरातन पाप कर्मों को धुणइ–दूर कर देता है।

मूलार्थ—तप-समाधि चतुर्विध होती है। यथा—तपस्वी साधु इह-लौकिक सुखों के लिये तप न करे १, पारलौकिक स्वर्गादि सुखों के लिये तप न करे २, कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिये भी तप न करे ३, बस केवल एक संचित कर्मों की निर्जरा के लिये ही तप करे ४। यह चतुर्थ पद है, इस पर एक संग्रह श्लोक भी कहा गया है—

जो मुनि तप-समाधि के विषय में सदा युक्त रहता है; नानाविध गुणों वाली उग्रतपश्चर्या में रत रहता है; किसी प्रकार की लौकिक एवं पारलौकिक आशा भी नहीं रखता है; केवल एक कर्म-निर्जरा का ही लक्ष्य रखता है; वही पुराने पाप कर्मों को नष्ट कर अपनी आत्मा को परम विशुद्ध करता है।

टीका—श्रुतसमाधि के पश्चात् अब सूत्रकार, तपःसमाधि के विषय में विवेचन करते हैं। यथा—तपस्वी साधु को इस लोक की आशा रख कर तप नहीं करना चाहिये, जैसे कि इस तप से मुझे तेजस्विता आदि की प्राप्ति हो जायगी या मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जायगा। तथा परलोक की आशा रख कर भी तप नहीं करना चाहिये, जैसे कि मुझे अगले जन्म मे इससे सांसारिक सुखोपभोगों की प्राप्ति होगी। तथैव यशःकीर्ति आदि के लिये भी तप नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से आत्मा में दुर्बलता आती है और आत्मा मे दुर्बलता के आते ही मनुष्य लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है। जब लक्ष्य-भ्रष्टता आ गई तो फिर मनुष्यता कहाँ। क्योंकि लक्ष्य-भ्रष्टता का मनुष्यता के साथ घोर विरोध और पशुता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब प्रश्न होता है कि यदि इस हेतु तप नहीं करना तो फिर किस हेतु करना चाहिये? अन्ततः कोई न कोई हेतु तो होता ही है? विना किसी हेतु के कोई किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। सूत्रकार उत्तर देते हैं कि हमेशा कर्मों की निर्जरा के लिये ही तप करना चाहिये, क्योंकि इसी

से वास्तविक मोक्ष सुख प्राप्त होता है। जो लोग किसी सांसारिक सुखों की आशा से तप करते हैं, उनकी आशा तो अवश्यमेव पूर्ण हो जाती है, किन्तु वे अनन्त स्थायी निर्वाण पद प्राप्त न करके संसार चक्र में ही परिभ्रमण करते हैं। उनकी दशा ठीक ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के समान होती है, जिसने तपोबल से पौद्गलिक सुख तो अनन्त प्राप्त किये; किन्तु अन्त में नरक-यातना से नहीं बच सका। सूत्र में जो कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक शब्द दिये हैं, उनका क्रमशः यह तात्पर्य है—समस्त दिग् व्यापी यशोवाद को कीर्ति कहते हैं १, एक दिग् व्यापी यश को वर्ण कहते हैं २, अर्द्ध दिग् व्यापी यश को शब्द कहते हैं ३, उसी स्थान पर होने वाले यश को श्लोक कहते हैं ४। इन चारों बातों के लिये तप करना निषिद्ध किया है।

उत्थानिका—अब आचार समाधि के विषय में कहते हैं:—

चउव्विहा खलु आयारसमाहि भवइ; तंजहा—नो इह लोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा (१) नो पर लोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा (२) नो कित्ति वन्नसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा (३) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा (४) चउत्थं पयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो—

जिणवयणरए अतिंतिणे, पडिपुन्नाययमाययट्ठिए।
आयारसमाहिसंवुडे, भवइ अ दंते भावसंधए ॥५॥

चतुर्विधः खलु आचारसमाधिर्भवतिः, तद्यथा—नेह लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् (१) न परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् (२) न कीर्तिवर्णशब्दश्लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् (३) नान्यत्र आर्हतैर्हेतुभिराचारमधितिष्ठेत् (४) चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोकः—

जिनवचनरतः अतिन्तिनः, प्रतिपूर्णः आयतमार्थिकः।
आचारसमाधिसंवृतः , भवति च दान्तः भावसन्धकः ॥५॥

पदार्थान्वयः—आयारसमाहि–आचार समाधि खलु–निश्चय से चउ-व्विहा–चतुर्विध भवइ–होती है तंजहा–जैसे कि इहलोगट्ठयाए–इस लोक के वास्ते आयारं–आचार, को नो अहिट्ठिज्जा–न करे, तथा परलोगट्ठयाए–पर लोक के वास्ते आयारं–आचार पालन नो अहिट्ठिज्जा–न करे, तथा कित्तिवण्णसद्दसिलो-गट्ठयाए–कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लाघा के वास्ते भी आयारं–आचार का नो अहिट्ठिज्जा–आराधन न करे, तथा आरहंतेहिं हेऊहिं–अर्हत् प्रणीत सैद्धान्तिक हेतुओं के विना आयारं–आचार का नो अहिट्ठिज्जा–अनुष्ठान न करे अर्थात् आर्हत हेतुओं को लेकर ही आचार-पालन करे चउत्थं पयं–यह चतुर्थ पद भवइ–होता है अ–तथा इत्थ–इस विषय पर सिलोगो–एक श्लोक भवइ–है—

जिणवयणरए–जिन वचनों में रत रहने वाला अतिंतिणे–कटु वचनों पर किसी प्रकार का कटु उत्तर नहीं देने वाला पडिपुन्न–सूत्रों को पूर्ण रूप से जानने वाला आययं–अतिशयपूर्वक आययट्ठिए–मोक्ष का चाहने वाला दंते–मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाला आयारसमाहिसंवुडे–आचार समाधि द्वारा आश्रय का निरोध करने वाला मुनि भावसंधए–मोक्ष-गामी होता है।

मूलार्थ—आचार समाधि के चार भेद वर्णित किये हैं। यथा—इस लोक के लिये चारित्र का पालन नहीं करना चाहिये १, परलोक के लिये चारित्र पालन नहीं करना चाहिये २, तथा कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिये भी आचार पालन नहीं करना चाहिये ३, केवल अर्हत् पद की प्राप्ति के लिये ही आचार पालन करना चाहिये ४, यही चतुर्थ पद है। इस पर एक गाथा भी कही गई है—

जिन प्रवचनों पर अटल श्रद्धा रखने वाला; निन्दक मनुष्यों को कभी कटुक उत्तर नहीं देने वाला; शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को प्रतिपूर्ण रूप से समझने वाला; मोक्ष को अतिशय-पूर्वक चाहने वाला; आचार-समाधि द्वारा आश्रवों के प्रवल वेग को रोकने वाला एवं चंचल इन्द्रियों को स्व-वशवर्ती करने वाला मुनि; अपनी आत्मा को अक्षय मोक्ष मन्दिर में ले जाता है।

टीका—अब सूत्रकार तृतीय तपःसमाधि के अनन्तर चतुर्थ आचार-समाधि का वर्णन करते हैं। यथा—साधु वृत्ति के मूल एवं उत्तर भेद से दो प्रकार के नियम होते हैं, साधु इन दोनों ही प्रकार के नियमों को इस लोक के क्षणिक सुखों के लिये, तथा परलोक के स्वर्ग आदि सुखों के लिये, तथा कीर्ति, वर्ण आदि के लिये भी कदापि पालन न करे। क्योंकि ये सुख, सुख नहीं, किन्तु दुःख हैं। ये सुख उस "किम्पाक" फल के समान होते हैं, जो खाने में तो बहुत मीठा एवं स्वादिष्ट लगता है, परन्तु पीछे से प्राणों का अपहरण कर लेता है। उपर्युक्त हेतुओं को लेकर यदि आचार-पालन नहीं करना तो फिर किस हेतु को लेकर करना, इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि केवल अर्हत्प्रणीत शास्त्रों में जिस आचार द्वारा जीव का आश्रव से रहित होना बतलाया है, उसी आश्रव-निरोध के लिये आचार पालन करना चाहिये, अर्थात् अर्हत् पद की प्राप्ति के लिये ही आचार-पालन करना योग्य है। वृत्तिकार भी यही कहते हैं। तथाहि—"आर्हतैः—अर्हत् सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभिः, आचारं—मूलगुणोत्तरगुणमयमधितिष्ठेत् निरीहःसन् यथा मोक्षएव भवतीति चतुर्थं पदं भवति।" सूत्रकार ने आचार समाधि की पूर्णता के लिये मोक्षपद प्राप्ति में सहायभूत अन्य बातें भी बतलाई हैं। यथा—साधु को अर्हतों के वचनों पर अचल श्रद्धा रखनी चाहिये; कोई किसी कारण से कटु वचन भी कह दे तो असूयावश होकर कोई कठोर प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिये, पाँचों इन्द्रियों को एवं छठे मन को अपने वश में रखना चाहिये, एवं सूत्र-सिद्धान्तों का भी पूर्ण ज्ञान करके आश्रवों का निरोध करना चाहिये। ये साधन मोक्ष प्राप्ति के उत्कृष्ट साधन हैं। इनके बल से अनेकों जीव अजर-अमर पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं। यह शास्त्र से उद्धृत बात नहीं किन्तु अनुभूत है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार सभी समाधियों के फल के विषय मे कहते हैं :—

अभिगम चउरो समाहिओ,
सुविसुद्धो सुसमाहिअप्पओ।

विउलहिअं सुहावहं पुणो,
कुव्वई सो पयक्खेममप्पणो ॥६॥

अभिगम्य चतुरः समाधीन्,
सुविसुद्धः सुसमाहितात्मा ।
विपुलहितंसुखावहं पुनः,
करोति च सः पदक्षेममात्मनः ॥६॥

पदार्थान्वयः—विसुद्धो-परमविशुद्ध सुसमाहिअप्पओ-संयम में अच्छी तरह अपने को स्थिर रखने वाला सो-वह साधु चउरो-चारों समाहिओ-समाधियों को अभिगम-जान कर अप्पणो-अपने विउलं-विपुल-पूर्ण हिअं-हितकारी सुखावहं-सुखदायक पुणो-तथा खेमं-कल्याणकारी पयं-निर्वाणपद को कुव्वई-प्राप्त करता है ।

मूलार्थ—स्वच्छ निर्मल चित्त वाला एवं अपने आप को संयम में पूर्णतः स्थिर रखने वाला साधु; चारों प्रकार के समाधि भेदों को सम्यग् प्रकार जान कर परम हितकारी, परम सुखकारी और परम कल्याणकारी सिद्ध पद को प्राप्त करता है ।

टीका—इस गाथा मे चारों समाधियों के फल का कथन किया गया है । जो मुनि विनय, श्रुत, तप और आचार नामक चारों समाधियों के स्वरूप को भले प्रकार जानता है, तथा मन, वचन और शरीर को पापपङ्क से वचाकर पूर्ण विशुद्ध रखता है, तथा सत्रह (१७) प्रकार के संयम में अपनी आत्मा को सुदृढ़ करता है, वह अपने उस वास्तविक सिद्ध पद को प्राप्त करता है, जो परम हितकारी है, अतीव सुखकारी है, तथा अव्याहत गति से क्षेमकारी है । सूत्रकार ने मुक्ति के लिये हित, सुख और क्षेम ये तीन विशेपण दिये हैं । ये तीनों ही मुक्ति के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करने वाले हैं । विचारशील पाठकों को इन तीनों विशेषणों पर मननपूर्वक गम्भीर विचार करना चाहिये ।

उत्थानिका—अव सूत्रकार विनय का फल वतलाते हुए नवम अध्ययन को समाप्त करते हैं :—

जाइमरणाओ मुच्चइ,
इत्थंथं च चएइ सव्वसो ।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥७॥
त्ति बेमि ।

विणयसमाहि णाम णवमज्झयणे चउत्थो उद्देसो समत्तो ।

जातिमरणाभ्यां मुच्यते,
इत्थंस्थं(अत्रस्थं)च त्यजति सर्वशः ।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः,
देवो वा अल्परतः महर्द्धिकः ॥७॥
इति ब्रवीमि ।

इति 'विनय समाधि' नाम नवमसध्ययने चतुर्थ उद्देशः समाप्तः ।

पदार्थान्वयः—उक्त गुण वाला साधु जाइमरणाओ–जन्म और मरण से मुच्चई–छूट जाता है च–तथा इत्थंथं–नरक आदि के भावों को सव्वसो–सर्व प्रकार से चएइ–छोड़ देता है वा–तथा सासए–शाश्वत सिद्धे–सिद्ध हवइ–हो जाता है वा–अथवा कर्म शेषता से अप्परए–अल्प मोहनीय कर्म वाला महड्ढिए–महर्द्धिक देवे–देव हवइ–हो जाता है । त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—जो मुनि पूर्व सूत्रोक्त समाधि गुणों को धारण करते हैं, वे जन्म-मरण के फंदे से छूट जाते हैं—नरक आदि पर्यायों से मुक्त हो जाते हैं, तथा अविनाशी सिद्ध-पद को प्राप्त कर लेते हैं । यदि कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, तो अल्प काम विकार वाले महर्द्धिक देव होते हैं ।

टीका—इस गाथा में पूर्व विषय का ही स्पष्टीकरण किया गया है । जो साधु पूर्वोक्त चारों समाधियों के विषय में तल्लीन हो जाता है, वह जन्म मरण की

शृङ्खला को तोड़ देता है और साथ ही जो अपनी आत्मा नाना प्रकार के कर्मो द्वारा नाना प्रकार की योनियों में नाना प्रकार के रूपों को धारण करती थी, उससे भी मुक्त हो जाता है। अर्थात् नरकादि चारों गतियों के चक्र से निकल कर शाश्वत स्थान मोक्ष में 'सकल-कर्म-कलंक-विमुक्त-चेतन'—सिद्ध हो जाता है। यदि कुछ पुण्य कर्मांश शेष रह जाते हैं तो देवयोनि प्राप्त करता है। सो भी साधारण नहीं किन्तु वह महर्द्धिक एवं प्रधान देव होता है, जिसके काम विकार की अधिक उत्पत्ति नहीं होती। जैसे कि अनुत्तर विमानों के वासी देवता उपशमवेदी माने गये हैं। वह देव, वहाँ से अपनी भवस्थिति क्षय करके भी अन्य देवों की भाँति फिर संसार में नहीं आता है। वह शीघ्र ही अनुक्रम से जप तप करके निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है। अतएव प्रत्येक मोक्षाभिलाषी का परम कर्तव्य है कि वह उक्त चारों ही प्रकार की समाधियों को अवश्यमेव पालन करे। क्योंकि वे सदा के लिये सब दुःखों से छुड़ाने वाली हैं।

"श्री सुधर्मा स्वामी जी जम्बू स्वामी जी से कहते हैं कि—हे वत्स ! इस विनय समाधि नामक नवम अध्ययन का जैसा अर्थ, मैंने वीर प्रभु से सुना था, वैसा ही तेरे को बतलाया है, अपनी बुद्धि से इसमें कुछ नहीं कथन किया।"

नवमाध्ययन चतुर्थोद्देश समाप्त।

अह सभिक्खु णाम दसमज्झयणं ।

अथ सभिक्षु नाम दशममध्ययनम् ।

उत्थानिका—नवम अध्ययन में इस बात का वर्णन किया गया है कि जो शुद्ध आचार वाला होता है, वही वास्तव में विनयवान् होता है । और जो पूर्वोक्त नवों अध्ययनों में कथन किये हुए आचार को पालन करता है, वही वास्तव में भिक्षु होता है । अतः अब दशवें अध्ययन के विषय में भिक्षु का वर्णन किया जाता है । यही नौवें और दसवें अध्ययन का परस्पर सम्बन्ध है :—

निक्खम्म आणाइ अ बुद्धवयणे,
निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा ।
इत्थीणवसं न आवि गच्छे,
वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥१॥

निष्क्रम्य आज्ञया च बुद्धवचने,
नित्यं चित्तसमाहितो भवेत् ।
स्त्रीणां वशं न चापि गच्छेत्,
वान्तं न प्रत्यापिबति यः सः भिक्षुः ॥१॥

पदार्थान्वयः—जे-जो आणाइ-भगवान् की आज्ञा से निक्खम्म-दीक्षा लेकर बुद्धवयणे-सर्वज्ञ वचनों के विषय में निच्चं-सदा चित्तसमाहिओ-चित्त से प्रसन्न हविज्जा-होता है च-तथा इत्थीण वसं-स्त्रियों के वश में न आवि गच्छे-नहीं आता है, तथा वंतं-वमन किये हुए विषय भोगों को नोपडिआयइ-फिर सेवन नहीं करता है स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—श्री भगवदाज्ञा से दीक्षा ग्रहण कर सर्वज्ञ वचनों में सदा प्रसन्न चित्त रहने वाला, स्त्रियों के वश में नहीं आने वाला, परित्यक्त विषय भोगों को फिर आसेवन नहीं करने वाला व्यक्ति ही सच्चा भिक्षु होता है।

टीका—पूर्व कथित नवों अध्ययनों के अनुसार जो अपना जीवन व्यतीत करता है, उस महापुरुष की 'भिक्षु' संज्ञा होती है। यद्यपि निरुक्त के मत से भेदन करने वाले को (काष्ठ भेदक बढई आदि को) तथा भिक्षाशील को (भिखमँगे को) भी भिक्षु कह सकते हैं, किन्तु वह द्रव्य भिक्षु है। अतः यहाँ उसका ग्रहण नहीं है। यहाँ तो भाव भिक्षु का ही ग्रहण है; क्योंकि उसी का अधिकार है। यहाँ पर 'भिक्षु' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'यः शास्त्र-नीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुरिति'-जो शास्त्र की नीति से तपःकर्म द्वारा संचित कर्मों को भेदन करता है (नष्ट करता है) वही भिक्षु है। प्राचीन शास्त्रों में भिन्न-भिन्न पद्धति से भिन्न-भिन्न भावों को लेकर, भिक्षु के अनेक नाम कथन किये हैं; सो वे सब के सब अतीव उच्च कोटि के एवं गम्भीरार्थक हैं। पाठकों की जानकारी के लिये कुछ व्युत्पत्ति सहित नाम यहाँ प्रसंगोपात्त दिये जाते हैं—(१) निर्वाणसाधकयोगसाधनात् साधुः। (२) क्षपयति यद् यस्माद् वा ऋणं कर्म, तस्मात् क्षपणः। (३) संयमतपसीति संयमप्रधानं तपः, तस्मिन् विद्यमाने तपस्वी, (४) त्तीर्णव त्तीर्णः विशुद्ध सम्यग्दर्शनादि लाभाद् भवार्णवम्। तायोऽस्यास्तीति तायी। (५) द्रव्यं राग द्वेष रहितः। (६) हिंसादि विरतः व्रती। क्षमां करोति, इति क्षान्तः। (७) इन्द्रियादि दमं करोतीति दान्तः। (८) विषयसुखनिवृत्तः, विरतः। (९) मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः। (१०) तपःप्रधानस्तापसः। (११) अपवर्गमार्गस्यप्ररूपकः प्रज्ञापकः। (१२) मायारहितः ऋजुः। (१३) अवगततत्वः बुद्धः। (१४) संयमोऽस्यास्तीति संयमी। (१५) पण्डा

बुद्धिः संजाताऽस्येति पण्डितः । (१६) उत्तमाश्रमी यतिः । (१७) पापान्निष्क्रान्तः प्रव्रजितः । (१८) द्रव्य भावागार शून्यः अनगारः । (१९) पाशाड्डीनः पाखंडी । (२०) पापवर्जकः परिव्राजकः । इसी प्रकार ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि नाम भी जान लेने चाहिएँ । सूत्रकार ने जो भिक्षु-लक्षण रूप प्रथम सूत्र दिया है, उसका स्पष्ट भाव यह है कि श्री तीर्थङ्कर देवों के या गणधर देवों के उपदेश से अपनी योग्यता को देख कर जो पुरुष दीक्षित हो जाय, उसका कर्तव्य है कि वह श्री बुद्धों (तीर्थङ्कर देव वा गणधर) के परम हितकारी प्रवचनों में पूर्ण प्रसन्न रहे । इतना ही नहीं, किन्तु सदैव उनके वचनों का मननपूर्वक अभ्यास करता रहे । क्योंकि ये वचन संकट के पड़ने पर मित्र की भाँति अपनी रक्षा करने वाले होते हैं । तथा स्त्रियों के वश में भी कदापि न आवें, क्योंकि स्त्रियों के वश में पड़ने से निश्चय ही वमन किये हुए विषय सुख पुनः पान करने होते हैं, जो श्रेष्ठ जनों को सर्वथा अयोग्य है । संक्षिप्त सार यह है कि जो वान्त भोगों को फिर से भोगने की इच्छा नहीं करता, वही वास्तव में सच्चा भिक्षु होता है ।

उत्थानिका—अब, पृथ्वी जल एवं अग्नि की रक्षा के विषय में कहते हैं:-

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पिआवए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसिअं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥२॥

पृथिवीं न खनेत् न खानयेत्,
शीतोदकं न पिबेत् न पाययेत् ।
अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितं,
तं न ज्वलेद् न ज्वालयेद् यः सः भिक्षुः ॥२॥

पदार्थान्वयः—जे-जो पुढविं-पृथिवी काय को न खणे-स्वयं नहीं खोदता, तथा न खणावए-औरों से नहीं खुदवाता सीओदगं-कच्चा जल न पिए-न स्वयं

पीता है, और न पिआवए-न औरों को पिलाता है सुनिसिअं-तीक्ष्ण सत्थं जहा-खड्ग आदि शस्त्र के समान अगणिं-अग्नि को न जले-न स्वयं जलाता है, तथा न जलावए-औरों से भी नहीं जलवाता स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति, सचित्त पृथिवी को न स्वयं खनता और न दूसरों से खनवाता, तथा सचित्त जल न स्वयं पीता और न दूसरों को पिलाता, तथा तीक्ष्णशस्त्र तुल्य अग्नि को न स्वयं जलाता और न दूसरों से जलवाता है, वही साधु भिक्षु कहलाता है।

टीका—जो सचित्त पृथिवी का अपने आप खनन नहीं करता, और लोगों से प्रेरणा द्वारा खनन नहीं करवाता एवं स्वयमेव खनन करने वाले अन्य लोगों का अनुमोदन भी नहीं करता। तथा जो सचित्त जल का स्वयं पान नहीं करता, औरों से पान नहीं करवाता एवं स्वयमेव पान करने वाले औरों का अनुमोदन भी नहीं करता। तथा जो खड्गादि शस्त्रों के समान अतीव तीक्ष्ण अग्नि को स्वयं प्रज्वलित नहीं करता, औरों से प्रज्वलित नहीं करवाता एवं स्वयमेव प्रज्वलित करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता, अर्थात् जो पृथिवी, जल एवं अग्नि की तीन करण और तीन योग से हिंसा नहीं करता, वह संसार में सच्चा साधु होता है। यदि यहाँ यह शङ्का की जाय कि, जो यह षट् काय का विषय सभी अध्ययनों में प्रतिपादन किया गया है, सो क्या पुनरुक्ति दोष नहीं है। उत्तर में कहना है कि तदुक्तानुष्ठान में पूर्णतया तत्पर होने से ही भिक्षु होता है, सो भिक्षु-भाव की स्पष्टतः सिद्धि के लिए ही उक्त विषय का बार-बार कथन किया है। अतः यहाँ अणुमात्र भी पुनरुक्ति दोष नहीं है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार वायुकाय और वनस्पतिकाय की यत्ना के विषय में कहते हैं :—

अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए।
बीआणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥३॥

अनिलेन न व्यजेद् न व्यजयेत्,
हरितानि न छिन्द्यात् न छेदयेत्।
बीजानि सदा विवर्जयन्,
सचित्तं नाहारयेद् यः सः भिक्षुः ॥३॥

पदार्थान्वयः—जे-जो अनिलेण-वायुव्यञ्जक आदि पंखे से न वीए-स्वयं हवा नहीं करता न वीयावए-औरों से हवा नहीं करवाता, तथा जो हरियाणि-हरित काय का न छिंदे-स्वयं छेदन नहीं करता न छिंदावए-औरों से छेदन नहीं करवाता, तथा जो बीआणि-बीजों को सया-सदैव विवज्जयंतो-वर्जता हुआ सचित्तं-सचित्त पदार्थ का नाहारए-आहार नहीं करता स-वही भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—जो पंखे आदि से न स्वयं हवा करता है एवं न औरों से करवाता है, तथा जो हरित काय का न स्वयं छेदन करता है एवं न औरों से करवाता है, तथा जो बीजादि का सचित्त आहार न स्वयं करता है एवं न औरों से करवाता है, वही सच्चा भिक्षु कहलाने योग्य होता है।

टीका—जो महानुभाव, महापुरुष बनने की इच्छा से भिक्षु-पद धारण करते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे न तो स्वयं किसी पंखे आदि से हवा करें, न औरों से करवायें, और न अनुमोदन करें। तथा वनस्पति काय का न स्वयं छेदन करें, न औरों से करवायें, न अनुमोदन करें। तथा यावन्मात्र बीज, पुष्प, फलादि का सचित्त आहार न स्वयं करे, न औरों को करने की आज्ञा दे, न करने वालों का अनुमोदन करे। भाव यह है कि साधु को वायु एवं वनस्पति की किसी प्रकार से भी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, औद्देशिक आदि आहार का परित्याग बतलाते हैं :—

वहणं तसथावराण होइ,
पुढवीतणकट्ठनिस्सिआणं ।

तम्हा उद्देसिअं न भुंजे,
　　नोवि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥४॥

वधनं त्रसस्थावराणां भवति,
　　पृथिवीतृणकाष्ठनिश्रितानाम् ।

तस्मादौद्देशिकं न भुञ्जीत,
　　नापि पचेत् न पाचयेत् यः सः भिक्षु ॥४॥

पदार्थान्वयः—भोजन तैयार करते समय **पुढवी तण कट्ठनिस्सिआणं**-पृथिवी, तृण, काष्ठ के आश्रित रहे हुए **तसथावराणं**-त्रस और स्थावर जीवों का **वहणं**-वध होता है **तम्हा**-इसलिये **जे**-जो साधु **उद्देसियं**-औद्देशिक आहार को **न भुंजे**-नहीं भोगता है, तथा जो **नोवि पए**-न स्वयं पकाता है **नपयावए**-न औरों से पकवाता है **स**-वह **भिक्खू**-भिक्षु है ।

मूलार्थ—भोजन पकाते हुए पृथिवी, तृण, काठ आदि की निश्राय में रहने वाले त्रस और स्थावर जीवों का वध होता है, अतएव जो औद्देशिक आदि आहार नहीं भोगता है, अन्नादि स्वयं नहीं पकाता है, तथा दूसरों से भी नहीं पकवाता है, वही आदर्श साधु होता है ।

टीका—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि औद्देशिक आदि दुराहारों के परित्याग से त्रस और स्थावर जीवों का भले प्रकार रक्षण होता है । साधु का नाम रख कर जब आहार तैयार किया जायगा, तब भूमि, तृण और काठ आदि के आश्रय मे रहे हुए त्रस और स्थावर जीवों का वध हो जायगा । अतः उक्त जीवों की रक्षा के लिये मुनि, औद्देशिक आदि आहारों का आसेवन न करे । तथा स्वयं भोजन न पकावे, तथा औरों से प्रेरणा करके न पकवावे, तथा स्वयमेव पकाते हुए अन्य लोगों का अनुमोदन भी न करे । कारण कि आहार की विशुद्धता पर ही भिक्षु की विशुद्धता है । यह सर्वमान्य बात है कि जैसा आहार होता है, वैसा मन होता है, एवं जैसा मन होता है, वैसा ही आचरण होता है ।

हिंसाजन्य आहार, हिंसावृत्ति जागृत कर, साधु को वास्तविक पथ से पराङ्मुख कर देता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार संवर आदि का उपदेश देते हैं :—

रोइअ नायपुत्तवयणे,
अत्तसमे मन्निज्ज छप्पि काए।
पंच य फासे महव्वयाइं,
पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥५॥

रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनं,
आत्मसमान् मन्येत षडपि कायान्।
पंच च स्पृशेत् महाव्रतानि,
पंचाश्रवसम्वृतो यः सः भिक्षुः ॥५॥

पदार्थान्वयः—जे-जो नायपुत्तवयणे-ज्ञातपुत्र वचनों को रोइअ-प्रिय जान कर पंचासवसंवरे-पंच आश्रवों का निरोध करता है छप्पिकाए-छः काय के जीवों को अत्तसमे-अपनी आत्मा के समान मन्निज्ज-मानता है य-तथा पंच-पाँच महव्वयाइं-महाव्रतों को फासे-पूर्णरूप से पालता है स-वह भिक्खू-भिक्षु है।

मूलार्थ—जो भव्य जीव ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के प्रवचनों पर अटल श्रद्धा रख कर, पाँच आश्रवों का निरोध करता है; तथा षट्काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान प्रिय समझता है; तथा पाँच महाव्रतों का यथावत् स्पर्शन-पालन करता है; वह भिक्षुपद-वाच्य होता है।

टीका—इस काव्य में भी भिक्षु के गुण वर्णन किये गये हैं। यथा—जो व्यक्ति भगवान् महावीर स्वामी के कल्याण पथप्रदर्शक सुपवित्र प्रवचनों पर 'श्रद्धा सकल सुख मूल है, श्रद्धा विना सब धूल है' की नीति को लेकर पूर्ण श्रद्धा रखता है तथा पृथिवीकाय आदि षट्काय अर्थात् संसार के छोटे बड़े सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान सुख दुःख के योग से सुखी-दुःखी होने वाले समझता है।

तथा विधिपूर्वक अहिंसा आदि पाँचों महाव्रतों को प्राणों की बाजी लगाकर सर्वथा निर्दोष रीति से पालन करता है। तथा आत्मसरोवर को कलुषित करने वाले प्रमादादि पाँच आश्रवों के गंदे नालों का भी निरोधन करता है। तथा चंचल घोड़े के समान इधर-उधर भटकाने वाली पाँचों इन्द्रियों को भी भली प्रकार वश में रखता है, वही वास्तव में भिक्षु होता है। भाव यह है कि जब श्रीभगवान् के प्रवचन विधि, ग्रहण और भावना द्वारा प्रिय किये हुए होंगे, तो फिर वह आत्मा तदनुसार अवश्य क्रिया करने लगेगा, जिससे फिर उसकी भाव भिक्षु संज्ञा हो जाती है।

उत्थानिका—अब कषाय परित्याग के विषय मे कहते हैं:—

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूवरयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥६॥

चतुरो वमेत् सदा कषायान्,
ध्रुवयोगी भवेत् बुद्धवचने।
अधनो निर्जातरूपरजतः,
गृहियोगं परिवर्जयेत् यः सः भिक्षुः ॥६॥

पदार्थान्वयः—जे-जो सया-सदा चत्तारि-चार कसाए-कषायों को वमे-त्यागता है, तथा बुद्धवयणे-श्री तीर्थंकर देवों के प्रवचनों में धुवजोगी-ध्रुवयोगी हविज्ज-होता है, तथा अहणे-धन से रहित अकिंचन है, तथा निज्जायरूवरयए-चाँदी और सुवर्ण का त्यागी है, तथा गिहिजोगं-गृहस्थों के साथ अधिक संसर्ग भी परिवज्जए-नहीं करता है स-वह भिक्खू-भिक्षु है।

मूलार्थ—चारों कषायों का परित्याग करने वाला, तीर्थंकर देवों के प्रवचनों में ध्रुवयोगी रहने वाला, धन चतुष्पदादि एवं सुवर्ण चाँदी आदि के परिग्रह से अपने को मुक्त रखने वाला, तथा गृहस्थों के साथ संस्तव और परिचय नहीं करने वाला, वीर पुरुष ही भिक्षु होता है।

टीका—जिस सत्पुरुष ने क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग कर दिया है, श्री तीर्थंकर देवों के प्रतिपादित वचनों में ध्रुवयोगी हो गया है। चतुष्पदादि धन से तथा सुवर्ण आदि से अपने को सर्वथा अलग कर लिया है, तथा गृहस्थों के साथ विशेष परिचय रखना भी छोड़ दिया है, इतना ही नहीं किन्तु जो गृहस्थों के व्यापार से भी सदा अलग रहता है, वही सच्चा भिक्षुक है। क्योंकि भिक्षुपद आत्म-विकाश पर अवलम्बित है, और आत्म-विकाश के साधन ये ऊपर बताये हुए हैं। सूत्र में जो 'बुद्धवयणे' सप्तमी विभक्ति का रूप दिया है, वह टीकाकार के मत से तृतीया विभक्ति के अर्थ में है। यथा—'तीर्थंकर वचनेन ध्रुवयोगी भवति यथागममेवेति भावः'—'श्रीतीर्थंकर देवों के वचन से ध्रुवयोगी होता है, जैसा कि आगम में प्रतिपादन किया है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार समदृष्टि बनने का उपदेश देते हुए कहते हैं:—

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तवे संजमे अ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं,
मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥७॥

सम्यग्दृष्टिः सदा अमूढः,
अस्ति हि ज्ञानं तपः संयमश्च।
तपसा धुनोति पुराणपापकं,
मनोवचः कायसुसम्वृतः यः सः भिक्षुः ॥७॥

पदार्थान्वयः—जे-जो सम्मद्दिट्ठी-सम्यग् दृष्टि है सया-सदा अमूढे-अमूढ़ (चतुर) है हु-निश्चय से नाणे-ज्ञान तवे-तप अ-और संजमे-संयम अत्थि-है, ऐसा मानता है मणवयकायसुसंवुडे-मन, वचन और काय से सम्वृत है, तथा तवसा-तप से पुराणपावगं-पुराने पाप-कर्मों को धुणइ-नष्ट करता है, स-वह भिक्खू-भिक्षु है।

मूलार्थ—जो सम्यग् दर्शी है, सदा अमूढ़ है, ज्ञान तप और संयम का विश्वासी है, मन वचन और काय को सम्वृत करता है, तथा तपश्चर्या द्वारा पुरातन पापकर्मों को आत्मा से पृथक् करता है, वही भिक्षु होता है।

टीका—जिन की आत्मा में सम्यगदर्शिता का शान्त समुद्र हिलोरें लेता रहता है, अर्थात् जिनके चित्त में कभी किसी प्रकार का भी विक्षेप नहीं होता। तथा जिनके हृदय मे लोक-मूढ़ता, देव मूढ़ता आदि से कभी विमूढता नहीं आती। तथा जो हेय, ज्ञेय, उपादेय रूप पदार्थों के विज्ञापक ज्ञान का कर्म मल को दूर करने के लिये जल के समान वाह्याभ्यन्तर भेद वाले तप का एवं नवीन कर्मों के निरोध करने वाले संयम का अस्तित्व दृढ़-विश्वास से स्वीकृत करता है। तथा जो मन वचन और काय को त्रिगुप्ति द्वारा भले प्रकार सम्वृत्त करता है और उग्र तप द्वारा अनेक जन्मार्जित पाप-मल को अपनी पवित्र आत्मा से दूर करता है। वही वास्तव मे भिक्षु होता है। सूत्रकार ने जो यह ज्ञान, तप और संयम पर विश्वास रखने का जोर दिया है, यह बड़ी ही दूर-दर्शिता है। क्योंकि बिना विश्वास के कुछ नहीं होता। प्रथम विश्वास होता है और फिर तदनुसार आचरण होता है। चारित्र मन्दिर की बुनियाद विश्वास की भूमि पर रक्खी गई है।

उत्थानिका—अब अशनादि चार आहारों को रात्रि में न रखने के विषय में कहते हैं:—

तहेव असणं पाणगं वा,
　　विविहं खाइमं साइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा,
　　तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥८॥

तथैव अशनं पानकं वा,
　　विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा।
भविष्यति अर्थः श्वः परस्मिन् वा,
　　तत् न निदध्यात् न निधापयेत् यः सः भिक्षुः ॥८॥

पदार्थान्वयः—तहेव-इसी प्रकार जे-जो असणं-अशन पाणगं-पानी वा-और विविहं-नाना प्रकार के खाइमं-खाद्य साइमं-स्वाद्य पदार्थ लभित्ता-प्राप्त कर सुए-यह कल के वा-अथवा परे-परसों के अट्ठो-प्रयोजनार्थ होही-होगा, इस प्रकार विचार कर त-उक्त पदार्थों को न निहे-बासी नहीं रखता है, तथा न निहावए-औरों से बासी नहीं रखवाता है स-वह भिक्खू-भिक्षु है।

मूलार्थ—जो व्रती अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थों को पाकर 'यह कल तथा परसों के दिन काम आयगा' इस विचार से उक्त भोज्य पदार्थों को न स्वयं रात्रि में बासी रखता है और न औरों से बासी रखवाता है, वही भिक्षु होता है।

टीका—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि जो साधु अपनी इच्छानुसार अशन पानादि चतुर्विध आहार को प्राप्त करके 'यह पदार्थ कल तक या परसों तक काम में आ सकेगा, अतः इन पदार्थों का रात्रि में रखना आवश्यक है' ऐसे पुरुषार्थ-हीन एवं लालची विचारों से उक्त पदार्थों को स्वयं रात्रि में रखता है, तथा दूसरों से प्रेरणा करके रखवाता है, तथा रखने वालों का समर्थन करता है, वह कदापि साधु नहीं हो सकता। सच्चा साधु वही है, जो अच्छे से अच्छे सरस पदार्थों के मिल जाने पर भी रात्रि में रखता रखवाता एवं अनुमोदन नहीं करता है। कारण यह है कि साधु की उपमा पक्षी से दी गई है। जिस प्रकार पक्षी क्षुधा लगने पर इधर-उधर घूम-फिर कर अपनी प्रकृति के योग्य भोजन से पेट भर लेता है, किन्तु भविष्य के लिये कुछ संग्रह करके नहीं रखता, ठीक इसी प्रकार साधु भी जो कुछ अपने योग्य मिलता है उससे क्षुधा निवृत्ति कर लेता और कभी किसी भोज्य पदार्थ का संग्रह करके नहीं रखता है, आत्मदर्शी बनने के लिये ममता का त्याग करना आवश्यक है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार समानधर्मी साधुओं को भोजनार्थ निमंत्रित करने का सदुपदेश देते हैं:—

तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमं साइमं लभित्ता।

छंदिअ साहम्मियाण भुंजे,
भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥९॥

तथैव अशनं पानकं वा,
विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा।
छन्दित्वा समानधार्मिकान् भुंक्ते,
भुक्त्वा च स्वाध्यायरतः यः सः भिक्षुः ॥९॥

पदार्थान्वयः—तहेव–उसी प्रकार जे–जो असणं–अन्न पाणगं–पानी वा–तथा विविहं–नाना प्रकार के खाइम–खाद्य और साइमं–स्वाद्य पदार्थों को लभित्ता–प्राप्त कर साहम्मियाण–स्वधर्मी साधुओं को छंदित्ता–निमंत्रित करके ही भुंजे–खाता है, तथा भुच्चा–खाकर सज्झायरए–स्वाध्याय तप मे रत हो जाता है स–वही भिक्खू–भिक्षु होता है।

मूलार्थ—जो अशनादि चतुर्विध आहार के मिलने पर, अपने समानधर्मी साधुओं को भोजनार्थ निमंत्रित करके ही आहार करता है, और आहार करके श्रेष्ठ स्वाध्याय कार्य में संलग्न हो जाता है, वही सच्चा साधु होता है।

टीका—इस काव्य में वात्सल्य भाव का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—गृहस्थों के घरों से अन्न-पानी आदि चतुर्विध आहार के प्राप्त होने पर, अपने समान धर्म पालन करने वाले साथी साधुओं को भोजन का निमंत्रण देकर ही साधु को स्वयं भोजन करना चाहिये, तथा भोजन करके शीघ्र ही सर्वश्रेष्ठ स्वाध्याय कार्य में लग जाना चाहिये। क्योंकि सच्चे भिक्षु का यही मार्ग है। उपर्युक्त नियम से वात्सल्य भाव और स्वाध्याय विषयक तल्लीनता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। देखिये सूत्रकार ने कितना ऊँचा आदर्श रक्खा है। अकेले खाने को कितना निषिद्ध कथन किया है। तथा भोजन के पश्चात् प्रमाद के वश होकर सो जाने का एवं इधर-उधर की निन्दा-विकथा करने का कितना मार्मिक खण्डन किया है?

उत्थानिका—अब साधु को सदा उपशान्त रहने का उपदेश दिया जाता है:—

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,
न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते ।
संजमेधुवजोगजुत्ते,
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥१०॥

न च व्युद्ग्राहिकां कथां कथयेत्,
न च कुप्येत् निभृतेन्द्रियः प्रशान्तः ।
संयमे ध्रुवयोग युक्तः,
उपशान्तः अविहेठकः यः सः भिक्षुः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—जे-जो वुग्गहिअं-क्लेश उत्पन्न करने वाली कहं-कथा न य कहिज्जा-नहीं करता न य कुप्पे-किसी पर क्रोध नहीं करता निहुइंदिए-इन्द्रियों को चंचल नहीं होने देता पसंते-सदा प्रशान्त रहता है संजमे धुवजोगजुत्ते-संयम में तीनों योगों को ध्रुव रूप से जोड़ता है उवसंते-कष्ट पड़ने पर आकुल-व्याकुल नहीं होता है अविहेडए-उचित कार्य का कभी अनादर नहीं करता है स-वही भिक्खू-भिक्षु है ।

मूलार्थ—क्लेशोत्पादक वार्तालाप नहीं करने वाला, शिक्षा दाता पर क्रुद्ध नहीं होने वाला, मन एवं इन्द्रियों को सदा स्थिर रखने वाला, पूर्ण रूप से शान्त रहने वाला, संयम-क्रियाओं में ध्रुव-योग जोड़ने वाला, कष्ट पड़ने पर आकुलता और स्वोचित कार्य का अनादर नहीं करने वाला, व्यक्ति ही सच्चा साधु कहलाता है ।

टीका—इस काव्य मे चारित्र को लक्ष्य करके कहा गया है कि जो साधु, परस्पर कलह उत्पन्न करने वाली कथा-वार्ता नहीं करता; गलती हो जाने पर गुरुजनों के शिक्षा देते समय चित्त में क्रोध नहीं लाता, अपनी इन्द्रियों को कठोर नियंत्रण से संयम की सीमा से बाहर नहीं जाने देता, मोह-ममता के वेग से चित्त

१ अविहेठ न क्वचिदुचिते ऽनारदवान् । क्रोधादीनां विक्षेपक. इत्यन्ये ।

को कभी नहीं विचलित करता है। स्वीकृत संयम से मनोवाक् काय तीनों योगों में से किसी एक योग को भी कदापि नहीं हटाता, आकस्मिक भय के आने पर चपलता एवं आकुलता नहीं करता, समय आने पर स्वयोग्य कार्य के करने से कभी आना-कानी (उपेक्षा बुद्धि) करके अलग नहीं होता; वही वास्तव में स्व-पर-तारक-पद-वाच्य भिक्षु बनता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार कटु-वचन एवं ताड़न तर्जन को समभाव से सहने का उपदेश देते हैं:—

जो सहइ हु गामकंटए,
अक्कोसपहारतज्जणाओ अ।
भयभेरवसद्दसप्पहासे,
समसुहदुक्खसहे अ जे स भिक्खू ॥११॥

यः सहते खलु ग्रामकण्टकान्,
आक्रोशप्रहारतर्जनाश्च।
भयभैरवशब्दसप्रहासे,
समसुख दुःखसहश्च यः सः भिक्षुः ॥११॥

पदार्थान्वयः—जे-जो गामकंटए-इन्द्रियों को कंटक के समान दुःख उत्पन्न करने वाले अक्कोसपहारतज्जणाओ-आक्रोश, प्रहार और तर्जनादि को सहइ-सहन करता है अ-तथा जो भयभेरवसद्दसप्पहासे-अत्यन्त भय के उत्पन्न करने वाले वेतालादि के अट्टहास आदि शब्द जहाँ होते हों, ऐसे उपसर्गों के होने पर समसुह-दुक्खसहे-सुख और दुःखों में सम-भाव रखता है स-वही भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—जो महापुरुष श्रोत्र आदि इन्द्रियों को कण्टक तुल्य पीड़ा देने वाले आक्रोश, प्रहार और तर्जना के कार्यों को शान्ति से सहन करता है, तथा जो अत्यन्त भयकारी अट्टहास आदि शब्द वाले उपसर्गों के आने पर सुख-दुःखों को समविचार से सहता है वही भिक्षु होता है।

टीका—इस काव्य में भी साधु के गुणों का वर्णन किया गया है। यथा जो महात्मा, इन्द्रियों को कंटक के समान घनघोर पीड़ा पहुँचाने वाले आक्रोश—"तूकार रेकार" आदि क्षुद्रवचन, प्रहार—चाबुक आदि द्वारा की गई मार-पीट, तर्जना—असूया आदि के कारण से टेढ़ा मुँह करके अर्थात् भृकुटि चढ़ाकर अंगुली या बेंत आदि दिखाकर झिड़कना—इत्यादि को शान्त होकर सहन करता है। तथा जिस स्थान पर भूत आदि देवों के अत्यन्तरौद्रभयोत्पादक शब्द वीभत्स अट्टहास हों, ऐसे उपसर्गों के हो जाने पर सुख वा दुःख को समभाव से सहन करता है, अर्थात् श्मशान आदि भयानक स्थानों में ठहरा हुआ देवों द्वारा भीषण उपसर्गों के होने पर भी ध्यानवृत्ति से स्खलित नहीं होता; वही वास्तव में जगत्पूज्य भिक्षु होता है। कारण कि उपसर्गों को सहन करना शूरवीर और धैर्यशाली आत्माओं का ही कार्य है। जो धीर आत्माएँ उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करती हैं, और सुख-दुःख में एक सी विचार धारा रखती हैं, वे स्वशक्ति विकाश के पथ पर अग्रसर होकर, शीघ्र ही स्वोद्देश की पूर्ति करते हैं।

उत्थानिका—अब फिर इसी उक्त विषय को स्पष्ट करते हैं :—

पडिमं पडिवज्जिआ मसाणे,
नो भीयए भयभेरवाइं दिअस्स।
विविहगुणतवोरए अ निच्चं,
न सरीरं चाभिकंखए जे स भिक्खू ॥१२॥

प्रतिमां प्रतिपद्य श्मशाने,
न बिभेति भयभैरवानि दृष्ट्वा।
विविधगुणतपोरतश्च नित्यं,
न शरीरं च अभिकांक्षते यः सः भिक्षुः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जे-जो मसाणे-श्मशान में पडिमं-प्रतिमा को पडिवज्जिआ-अङ्गीकार करके वहाँ भयभेरवाइ-अतीव भय के उत्पन्न करने वाले वैतालिक

देवों के रूपों को दिअस्स–देखकर नो भीयए–भयभीत नहीं होता है अ–तथा निच्चं–सदाकाल विविहगुणतवोरए–नाना प्रकार के मूल एवं उत्तर गुणों में वा तप में रत रहता है, तथा सरीरं–शरीर की भी ममतापूर्वक न अभिकंखए–इच्छा नहीं करता है स–वह भिक्खू–भिक्षु है ।

मूलार्थ—जो साधुप्रतिमा को अङ्गीकार करके श्मशान भूमि में ध्यानस्थ हुआ, भूत-पिशाचादि के भयंकर रूपों को देख कर भयभीत नहीं होता; तथा नानाविध मूल गुणादि एवं तपादि के विषय में अनुरक्त हुआ और तो क्या, शरीर तक की भी ममता नहीं करता; वही मोक्ष-साधक भिक्षु होता है ।

टीका—मोक्ष प्रेमी साधु, जब अपने साधु-धर्म की मासिक आदि प्रतिमा को ग्रहण करके, श्मशान भूमि में ध्यान लगा कर खड़ा होवे और यदि वहाँ वेताल आदि देवों के अतीव भयानक रूपों को देखे, तो उसे चित्त में अणुमात्र भी भय नहीं करना चाहिये । किन्तु नाना भाँति के मूल गुणादि एवं तप आदि के विषय में भले प्रकार रत हो जाना चाहिये । जिससे घोरातिघोर उपसर्गों के होने पर भी शरीर पर किसी प्रकार का ममत्व भाव नहीं हो सके । क्योंकि, ममत्व भाव के परित्याग से ही पूर्ण आत्मविकाश होता है । आत्म विकाश से ही साधु में सच्ची साधुता स्थित होती है । यहाँ साधु प्रतिमा का उल्लेख केवल सङ्केत रूप से है । इसका विशेष विवरण श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में किया गया है; अतः इस विषय के जिज्ञासु पाठक वहाँ देखें ।

उत्थानिका—अब, साधु को पृथिवी की उपमा से उपमित करते हैं:—

असइं वोसट्ठचत्तदेहे,
अकुट्ठे व हए व लूसिए वा ।
पुढविसमे मुणी हविज्जा,
अनिआणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥१३॥

असकृत् व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः,
आक्रुष्टो वा हतो वा लूषितो (लुञ्चितो) वा ।

पृथिवीसमो मुनिर्भवेत्,
अनिदानः अकुतूहलो यः सः भिक्षुः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—जे-जो मुणी-मुनि असइं-सर्वकाल में वोसट्ठचत्तदेहे-शरीर पर राग द्वेष नहीं करता है, तथा शरीर को आभूषणों से अलंकृत नहीं करता है अक्कुट्ठ-आक्रोशित हुआ वा-किंवा हए-दंडादि से हत हुआ वा-किंवा लूसिए-खड्गादि से घायल हुआ भी पुढविसमे-पृथिवी के समान क्षमाशील हविज्जा-होता है, और अनिआणे-किसी तरह का निदान नहीं करता है अकोउहल्ले-नृत्य आदि में अभिरुचि नहीं रखता है स-वही भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—यदि सच्चा साधु बनना है तो अपने शरीर पर किसी भी दशा में रागादि का प्रतिबन्ध नहीं रखना चाहिये; तथा किसी के झिड़कने पर, मारने-पीटने पर एवं घायल करने पर भी, पृथिवी के समान क्षमा वीर होना चाहिये; तथा निदान और कुतूहल से भी सदा पृथक् रहना चाहिए।

टीका—संसार में सर्व श्रेष्ठ साधु वही होता है, जो सदैव अपने शरीर के प्रतिबन्धों से रहित होता हुआ, सुन्दर वस्त्राभूषणों से शरीर को विभूषित नहीं करता है। तथा जो किसी उद्दण्ड व्यक्ति के कठोर वचनों से, ताड़न तर्जन करने पर, लकड़ी आदि से मार पीट करने पर, एवं तलवार आदि शस्त्रों से छेदन-भेदन करने पर भी मधुर हँसता है और सर्वसहा पृथिवी के समान एक रूप से सभी प्रहारों को क्षमाभाव से सहन करता है। तथा जो अपने क्रिया काण्ड के भावी फल की कदापि निदान से आशा नहीं करता है। अर्थात् सदा निष्काम क्रिया करता है। तथा जो नाटक और खेलों के देखने का भी कुतूहल नहीं करता। कारण कि ये सभी उपर्युक्त क्रियाएँ, मोहनीय कर्म उत्पन्न करने वाली हैं। मोहनीय कर्म, वह अमावस्या का घनान्धकार है, जिसमें साधुत्व रूप सुधवल चन्द्रमा उदित नहीं हो सकता। अतः साधुओं को ये क्रियाएँ सभी प्रकार से त्याज्य हैं।

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय पर कथन किया जाता है:—

अभिभूअ काएण परीसहाइं,
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं।

विइत्तु जाई मरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥१४॥

अभिभूय कायेन परीषहान्,
समुद्धरेत् जातिपथात् आत्मानम् ।
विदित्वा जातिमरणं महाभयं,
तपसि रतः श्रामण्ये यः सः भिक्षुः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—जे–जो काएण–शरीर से परीसहाइं–परीषहों को अभिभूअ–जीत करके अप्पयं–अपनी आत्मा का जाइपहाउ–जाति पथ से समुद्धरे–उद्धार करता है, तथा जाईमरणं–जन्म मरण रूप संसार के मूल को महब्भयं–महा भयकारी विइत्तु–जान करके सामणिए–श्रामण्य भाव के योग्य तवे–तप में रए–रत होता है स–वही भिक्खू–भिक्षु है ।

मूलार्थ—शरीर द्वारा परीषहों को जीत कर अपनी आत्मा को संसार-मार्ग से अलग हटाने वाला; तथा जन्म मरण के महान् भय को जान कर चरित्र एवं तप में रत रहने वाला; भिक्षु ही संसार में पूज्य होता है ।

टीका—इस सूत्र में कहा गया है कि जो साधु, अपने शरीर द्वारा सभी प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों को सहन करता है, वह संसार मार्ग से अपनी आत्मा का उद्धार कर लेता है । तथैव जो जन्म मरण से उत्पन्न होने वाले अतीव रौद्र भय के स्वरूप को सम्यग् प्रकार से समझ कर संयमवृत्ति के योग्य तपःकर्म में रत हो जाता है, वही सच्चा भिक्षु पद प्राप्त करता है । क्योंकि परीषहों को वही वीरों के वीर महापुरुष सहन कर सकेंगे, जो कि संसार चक्र से पूर्णतया भयभीत होंगे । सूत्रकार ने जो शरीर द्वारा परीषहों का जय करना बतलाया है, उसका यह कारण है कि केवल मन के चिन्तन और वचन के उच्चारण मात्र से ही परीषह नहीं जीते जा सकते, किन्तु शरीर द्वारा ही परीषह जीते जा सकते हैं । अतएव जब साधु शरीर से परीषहों को जीतेगा, तभी चारित्र धर्म की सिद्धि होगी एवं अपना उद्धार होगा । यद्यपि सिद्धान्त की नीति से परीषह जयन में मन

और वचन की दृढ़ता भी अत्यावश्यक है, तथापि परीषह सहन में मुख्यतया शरीर ही लिया जाता है।

उत्थानिका—अब हस्त पादादि की यत्ना के विषय में कहते हैं:—

हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजएइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ॥१५॥

हस्तसंयतः पादसंयतः,
वाक्संयतः संयतेन्द्रियः।
अध्यात्मरतः सुसमाहितात्मा,
सूत्रार्थं च विजानाति यः सः भिक्षुः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—जे-जो व्यक्ति हत्थसंजए-हाथों से संयत है पायसंजए-पैरों से संयत है वायसंजए-वचन से संयत है संजएइंदिए-इन्द्रियों से संयत है अज्झप्परए-अध्यात्म विद्या में रत है सुसमाहिअप्पा-गुणों में दृढ़ता होने से सुसमाहितात्मा है च-तथा सुत्तत्थं-सूत्रार्थ को यथार्थ रूप से विआणइ-जानता है स-वह भिक्खू-भिक्षु है।

मूलार्थ—जो साधु अपने हस्त, पाद, वचन, और इन्द्रियों को पूर्ण संयत रखता है; अध्यात्मविद्या में रत रहता है; निजात्मा को भले प्रकार समाधिस्थ करता है; तथा सूत्र एवं अर्थ के गुप्तरहस्यों को भली भाँति जानता है, वही कर्मों का क्षय कर सकता है।

टीका—इस सूत्र में यत्ना के विषय में विधानात्मक वर्णन किया गया है। यथा—जिस मुनि के हस्त पादादि अवयव संयत रहते हैं अर्थात् जो अपने हस्त पादादि अवयवों को कछवे के समान संकोचे रहता है, किसी खास कार्य के लिये ही उन्हें बड़ी यत्ना से संचालित करता है। तथा जिसका वचन भी संयत है अर्थात्

जो पर पीड़ाकारी सावद्य वचनों का तो त्याग करता है और सर्व हितकारी मधुर सत्य वचनों का यथावसर प्रयोग करता है । तथा जिसकी इन्द्रियाँ भी संयत हैं अर्थात् जो पापकार्यों से अपनी इन्द्रियों को हटाकर धर्म कार्यों में प्रयुक्त करता है। तथा जो आर्त और रौद्र दुर्ध्यानों को छोड़ कर धर्म और शुक्ल नामक श्रेष्ठ ध्यानों में संलग्न रहता है । तथा जो अपनी आत्मा को समाधि द्वारा क्षीरोदधि समान सुविमल एवं सुमर्यादित रखता है और काम विकारों के प्रचंड वायु-वेग से क्षुब्ध नहीं होने देता है। तथा जो सूत्र और अर्थ को यथावस्थित रूप से जानता है, उसमें भाव विपर्यय नहीं करता, वही भिक्षु कर्म-कलंक से मुक्त होने योग्य होता है। कारण कि पापों की जन्मदात्री अयत्ना है, सो जब यत्ना द्वारा अयत्ना का नाश हो जायगा, तो फिर पाप कर्म किस प्रकार मुनि की आत्मा को स्पर्शित करेंगे ? पापों से मुक्त होना ही साधु पद का परमोद्देश है । उक्त गाथा ज्ञान प्राप्ति के साधनों पर भी प्रकाश फैंकती है । ज्ञान प्राप्ति के लिए मन, वचन और काय तीनों का संयम आवश्यक है । सो गाथा मे भी 'हत्थसंजए' आदि और 'अज्झप्परए' तक के पदों में उक्त आशय ग्रंथित है ।

उत्थानिका—अब भण्डोपकरण में अमूर्च्छा भाव रखने का उपदेश देते हैं :—

उवहिंमि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसंनिहिओ विरए,
सव्वसंगावगए अ जे स भिक्खू ॥१६॥

उपधौ अमूर्च्छितः अगृद्धः,
अज्ञातोञ्छं पुलाकनिष्पुलाकः ।
क्रयविक्रयसंनिधिभ्यो विरतः,
सर्वसंगापगतश्च यः सः भिक्षुः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जे-जो उवहिंमि-अपनी उपधियों में अमुच्छिए-अमूर्च्छित रहता है अगिद्धे-किसी प्रकार का प्रतिवन्ध नहीं रखता है अन्नायउंछं-अज्ञात कुल से थोड़ा थोड़ा करके गोचरी करता है पुलनिप्पुलाए-चारित्र को असार कर देने वाले दोषों से रहित है कयविक्कयसंनिहिओ-क्रय विक्रय और संनिधि से विरए-विरक्त है सव्वसंगावगए-सब प्रकार के संग से मुक्त है स-वही भिक्खू-भिक्षु है ।

मूलार्थ—जो अपने आवश्यक उपकरणों में मूर्च्छाभाव नहीं रखता है, सांसारिक प्रतिबन्धों में नहीं आता है, अज्ञात कुल की गोचरी करता है, चारित्र-घातक दोषों से पृथक् रहता है, क्रय विक्रय और संनिधि के व्यापार म नहीं पड़ता है, तथा सब प्रकार के संगों से असंगत रहता है, वही भिक्षु होता है ।

टीका—यदि मोक्ष-पद साधन करना है, तो सच्चा साधु बनिये । बिना साधु वने मोक्ष की सिद्धि कदापि न हो सकेगी । नाम के साधु होने से भी कुछ नहीं बनेगा, जो वनेगा वह काम के साधु होने से ही वनेगा । 'काम का साधु' इस सूत्रोक्त रीति से वना जा सकता है, जिन्हें वनना हो वे आनन्दपूर्वक बने । यथा—साधु को और तो क्या अपने धर्मोपकरण-वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरणादि तक पर भी ममत्व भाव नहीं करना चाहिये । तथा किसी क्षेत्र या किसी गृहस्थ का प्रतिबन्ध नहीं रखना चाहिये, पवन की तरह अप्रतिहतगति ही रहना ठीक है । तथा अज्ञात कुलों में से ही उपधि की भिक्षा करनी चाहिये; और वह भी स्वल्प मात्रा में, अधिक मात्रा में नहीं । तथा जिन दोषों के सेवन से संयम की सारता नष्ट होती है, उन दोषों का भी सेवन नहीं करना चाहिये, दोषवर्जित जीवन ही सच्चा जीवन है । पदार्थों के क्रय (खरीदने) विक्रय (वेचने) और संग्रह करने के प्रपञ्च में भी नहीं पड़ना चाहिये, साधु पद में व्यापार कैसा ? तथा द्रव्य और भाव के भेदों से सभी प्रकार के संगों का त्याग करना चाहिये, अर्थात् गृहस्थ आदि के साथ विशेष संचय-परिचय नहीं करना चाहिये । भाव यह है कि जिसकी आत्मा सांसारिक क्रियाओं से निवृत्त होकर केवल आत्म-विकाश की ओर ही लग जाती है, वही वास्तव में मोक्ष साधक काम करने वाला भिक्षु होता है । सूत्र में जो 'पुलनिप्पुलाए'—पुलाकनिष्पुलाक पद दिया है, उसका स्पष्ट भाव यह है कि संयमासारतापादकदोषर-

हित:—संयम को सार हीन करने वाले दोषों से अलग रहने वाला ही वास्तव में मुनि होता है।

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय पर कहा जाता है:—

अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे,
उंछं चरे जीविअंनाभिकंखी।
इड्ढिं च सक्कारण पूअणं च,
चए ट्ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥१७॥

अलोल भिक्षुः न रसेषु गृद्धः,
उंछं चरेत् जीवितं नाभिकांक्षेत।
ऋद्धिं च सत्कारं पूजनं च,
त्यजति स्थितात्माऽनिभः यः सः भिक्षुः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—जे-जो भिक्खू-साधु अलोल-लोलुपता रहित है रसेसु-रसों में न गिज्झे-गृद्ध नहीं है उंछं-अज्ञात कुलों में आहारार्थ चरे-जाता है जीविअं-संयम रहित जीवन को नाभिकंखी-नहीं चाहता है ट्ठिअप्पा-ज्ञानादि के विषय मे अपनी आत्मा को स्थित रखता है अणिहे-छल से रहित है, तथा जो इड्ढिं-लब्धि प्रमुख ऋद्धि को च-और सक्कारण-सत्कार को च-और पूअणं-पूजा को चए-छोड़ता है स-वही भिक्खू-सच्चा भिक्षु होता है।

मूलार्थ—जो मुनि लोभ-लालच नहीं करता है, रसों में मूर्च्छित नहीं होता है,[1] अज्ञात कुलों में से लाया हुआ भिक्षान्न भोगता है, असंयम जीवन की इच्छा नहीं करता है, ऋद्धि सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा भी नहीं चाहता है, तथा जो स्थिर स्वभावी और निश्छल होता है, वही कर्म समूह को नष्ट करता है और वही भिक्षु कहलाने के योग्य है।

टीका—सच्चा भिक्षु-पद वही प्राप्त कर सकता है, जो लोलुपता से रहित

१. पूर्व सूत्र में उपधि को लेकर कथन किया गया था, और इस सूत्र में आहार को लेकर कथन किया गया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है।

होता है अर्थात् अप्राप्त भोग वस्तु की इच्छा नहीं करता है । तथा जो मधुर लवणादि रस वाले पदार्थों के मिलने पर उनमें गृद्ध (लोलुप) नहीं होता है; रूखा सूखा जैसा मिल जाता है उसी में सन्तोष करता है । तथा जो अज्ञात अर्थात् अपरिचित गृहों से भ्रमण करके थोड़ी-थोड़ी उदर पूर्ति योग्य भिक्षा लाता है । तथा जो असंयत जीवन की भूल कर भी इच्छा नहीं करता है अर्थात् जो मरण संकट के आने पर भी व्रत-भग्न करके जीवन रखने की मन में भावना तक नहीं लाता । तथा जो आमर्षौषधि आदि ऋद्धि की, वस्त्रादि द्वारा सत्कार की, एवं स्तवनादि द्वारा पूजा की, इच्छा का भी परित्यागी है; अर्थात् जो उक्त कार्यों की प्राप्ति के लिये कभी प्रयत्नशील नहीं होता । तथा जो अपनी आत्मा को छल कपट के जाल में नहीं फँसाता, प्रत्युत ज्ञानादि समाधियों के विषय में ही संलग्न रहता है । यह उपर्युक्त विवेचन भाव-भिक्षु को लेकर किया है, द्रव्य भिक्षु को लेकर नहीं । भाव के साथ ही द्रव्य की शोभा होती है, विना भावों के केवल द्रव्य तो पोली मुट्ठी के समान बिल्कुल निःसार है । अतः केवल द्रव्य की पूजा करने वालों को भाव की तरफ लक्ष्य देना चाहिये । सच्चा भिक्षुत्व भाव में ही है ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, साधु को अहंमन्य न बनने का उपदेश देते हैं :—

न परं वइज्जासि अयं कुसीले,
जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा ।
जाणिअ पत्तेअं पुन्नपावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥१८॥

न परं वदेत् अयं कुशीलः,
येन च कुप्येत् न तद् वदेत् ।
ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्य-पापं,
आत्मानं न समुत्कर्षेत् यः सः भिक्षुः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—जे-जो परं-दूसरे को अयं-यह कुसीले-दुश्चरित्री है न वइज्जा-ऐसा नहीं कहता है, तथा जो पुन्नपावं-पुण्य और पाप पत्तेअं-प्रत्येक

जीव अपना किया आप ही भोगता है, दूसरा नहीं जाणिअ—यह जान कर जेण—जिससे अन्नं—अन्य को कुप्पिज्ज—क्रोध हो तं—वह वचन न वइज्जा—नहीं बोलता है, तथा जो अप्पाणं—अपनी आत्मा को नसमुक्कसे—सब से बढ़ कर मानता हुआ अहंकार नहीं करता है स—वही भिक्खू—भिक्षु होता है।

मूलार्थ—महाव्रत धारी भिक्षु, दूसरों को कुशीलिया—दुराचारी कह कर तिरस्कृत नहीं करे; तथा 'जो जैसा पुण्य पाप करता है वह वैसा ही फल भोगता है—' यह विचार कर किसी को क्रोधोत्पादक कटु वचन न कहे; तथा 'मैं ही सब से बड़ा हूँ' यह गर्व करके अपने को उच्छृंखल भी नहीं करे।

टीका—इस काव्य में 'पर निन्दा का परित्याग करना' यही साधु का सर्वोपरि लक्षण है—यह प्रतिपादन किया है। जो साधु, अपने से भिन्न लोगों को यह कहता है कि 'ये लोग दुराचारी हैं, धर्मभ्रष्ट हैं, वह साधु नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने से उन लोगों के हृदय में अप्रीति तथा जैन शासन की लघुता आदि महान् दोष उत्पन्न होते हैं। यहाँ कबीर का यह भाव याद रखना चाहिये, जो उन्होंने एक दोहे में कहा है—"बुरा जो ढूंढन मैं चला, बुरा न देखा कोय, जो घट सोधूँ आपना, मुझ सा बुरा न कोय।" इस उपर्युक्त कथन से यह भाव नहीं समझना चाहिये कि 'स्वपक्ष वालों एवं परपक्ष वालों को शिक्षा बुद्धि से दुराचार की निवृत्ति के अर्थ भी कुछ नहीं कहना। किन्तु साधु, दुराचार की निवृत्ति के लिये तो सभी पक्ष वालों को बड़े प्रेम से सदुपदेश दे सकता है, क्योंकि साधु का जीवन ही दूसरों के उद्धार के लिये होता है। परन्तु शिक्षा देते समय यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिये कि जो कुछ कथन हो, वह अतीव मधुर भाषा में प्रेम भरी हित बुद्धि से हो, द्वेष बुद्धि से नहीं, द्वेषयुक्त दी हुई शिक्षा उचित की अपेक्षा अनुचित प्रभाव उत्पन्न करती है। तथा साधु को वह वचन भी नहीं बोलना चाहिये, जिससे सुनने वाले के हृदय मे क्रोधाग्नि प्रदीप्त होजाय। जैसे कि चोर को चोर एवं व्यभिचारी को व्यभिचारी कहना। यद्यपि यह सत्य है, तथापि अवाच्य है। क्योंकि साधु को इन बातों से क्या प्रयोजन है। जो जैसा भला-बुरा होता है, वह वैसा अपने लिये ही होता है, दूसरों के लिये नहीं। "यादृक् करणं तादृक् भरणम्" की नीति तीन

१. यहाँ 'कुशील' शब्द कुत्सित आचार का वाचक है।

काल में भी स्खलित नही हो सकती । ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पुण्य एवं पाप के कर्तव्य करे तो उनका फल कोई अन्य भोगे । जो अग्नि में हाथ देता है, उसी का हाथ जलता है । अतएव साधुओं का कार्य उपदेश का है, किसी की निन्दा का नहीं । जो नहीं माने, उस पर साधु को सदा उदासीन भाव रखना चाहिये । तथा कुछ अपनी ओर दृष्टि डालनी चाहिये क्योंकि अपने में चाहे कितने ही क्यों न सद्गुण विद्यमान हों, परन्तु अपनी सर्वश्रेष्ठता का कभी गर्व नहीं करना चाहिये जैसे 'वस एक मैं ही आदर्श गुणी पुरुष हूँ । मैं विमल चन्द्रमा हूँ और सब मेरे प्रतिविम्ब हैं ।' क्योंकि सर्वदा अभिमान का शिर नीचा और नम्रता का शिर ऊँचा रहता है। सच्ची सर्वश्रेष्ठता अपने को सब से तुच्छ एवं गुणहीन समझने में ... है । ... सदा अपूर्ण मानने वाले ही आगे जाकर पूर्ण होते हैं, पूर्ण मानने वाले वीच में ही त्रिशङ्कु की तरह लटके रहते हैं । सूत्र का संक्षिप्त सारांश यह ... होता साधु को वड़ी सावधानी के साथ अपनी स्तुति एवं पर की निन्दा से सदा वहिर्भूत रहना चाहिये ।

उत्थानिका—अव सूत्रकार मद-परित्याग का उपदेश देते हैं :—

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएणमत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता,
धम्मज्झाण रए जे स भिक्खू ॥१९॥

न जातिमत्तः नच रूपमत्तः,
न लाभमत्तः न श्रुतेनमत्तः ।
मदान् सर्वान् विवर्ज्य,
धर्मध्यानरतो यः सः भिक्षुः ॥१९॥

पदार्थान्वयः—जे-जो न जाइमत्ते-जाति का मद नहीं करता न य रूवमत्ते-रूप का मद नहीं करता अ-तथा न सुएण मत्ते-श्रुत का मद नहीं

करता, तात्पर्य यह है कि सव्वाणि-सब मयाणि-मदों को विवज्जइत्ता-छोड़ कर केवल धम्मज्झाणरए-धर्मध्यान मे रत रहता है स-वही भिक्खू-भिक्षु है ।

मूलार्थ—जो मुनि जाति, रूप, लाभ और श्रुत आदि सभी प्रकार के मदों का परित्याग करके, हमेशा धर्मध्यान में ही लीन रहता है; वही दुःखों का क्षय कर सकता है।

टीका—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि जो सब प्रकार के मदों का परित्याग करता है वही वास्तव में भिक्षु होता है । यथा—जातिमद—अपनी उच्च जाति का गर्व करना और दूसरों की हीन जाति का अपवाद करना । जैसे कि मैं ब्राह्मण हूँ, मै क्षत्री हूँ, अन्य सब लोग शूद्र हैं । ये चमार आदि अछूत (नीच) हैं, इनसे उच्च जाति वालों को सदा अलग रहना चाहिये । क्योंकि इनके स्पर्श से आत्मा अपवित्र होती है । रूपमद—अपने रूप (सौन्दर्य) का गर्व करना और अन्य रूपहीन जनों की सोपहास निन्दा करना । जैसे कि मेरा कैसा सुन्दर रूप है, मेरी जोड़ी का कोई और है ही नहीं । ये लोग कितने काले हैं । लाभमद—अपने लाभ पर प्रसन्न होना और दूसरों की हानि पर उपहास करना । जैसे कि मैं जिस काम में हाथ डालता हूँ वहाँ से मुझे लाभ ही लाभ मिलता है हानि तो कभी होती ही नहीं । इसके विपरीत अमुक आदमी कितना भाग्यहीन है जो लाभ के काम मे भी हानि ही पाता है । श्रुतमद—अपने को ज्ञानी और दूसरों को अज्ञानी मान कर स्वस्तुति एवं परनिन्दा करना । जैसे कि मैं सब शास्त्रों का जानने वाला पूर्ण पण्डित हूँ, अन्य सब मूर्ख हैं । ये अक्षर शत्रु (विद्याहीन) भला मेरी क्या प्रतिस्पर्द्धा कर सकते हैं । ये ऊपर मदों के नाम उदाहरण स्वरूप दिये हैं । अतः यह नहीं समझना कि केवल इतने ही मद हैं, अन्य नहीं । उपलक्षण से कुलमद एवं ईश्वर मद आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये । सूत्रकार ने जो जाति आदि कह कर भी 'मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता' अलग पद दिया है, वह अन्य मदों का सूचक है । अब सूत्रकार का मदों के विषय मे यह कहना है कि जो साधु, उपर्युक्त जाति आदि सभी मदों को छोड़ कर सदैव धर्म ध्यान के विषय मे आसक्त रहता है, वही मोक्षगामी होता है । क्योंकि जब सब पदार्थ क्षण नश्वर हैं, तो भला फिर इन जाति एवं रूपादि का मद कैसा, मनुष्य

जाति से सब एक हैं, कोई ऊँच-नीच नहीं । उच्चता और नीचता तो कर्मों के ऊपर है। जो जैसा कर्म करता है, वह उसी के अनुसार ऊँच-नीच होता है। जो दूसरों को नीच समझता है, वही वस्तुतः नीच होता है । अतः आदि का मद, आत्म-स्थित अनन्त-शक्ति का बाधक है; सो आत्म-शक्ति प्रेमी भव्यों को इन सभी मदों से अपने को बचाए रखना चाहिये ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार शुद्ध धर्मोपदेश देने के विषय में कहते हैं :—

पवेअए अज्जपयं महामुणी,
धम्मेठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिंगं,
न आवि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥२०॥

प्रवेदयेत् आर्यपदं महामुनिः,
धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि ।
निष्क्रम्य वर्जयेत् कुशीललिङ्गं,
न चापि हासेकुहकः यः सः भिक्षुः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—जे-जो महामुणी-महामुनि अज्जपयं-परोपकार के लिये आर्यपद-शुद्ध उपदेश पवेअए-कहता है, तथा धम्मे-स्वयं धर्म में ठिओ-स्थित हुआ परंपि-पर आत्माओं को भी ठावयई-धर्म में स्थापित करता है निक्खम्म-संसार से निकल करके कुसीललिंगं-कुशील लिंग को वज्जिज्ज-छोड़ देता है हासं कुहए-हास्य उत्पन्न करने वाली कुचेष्टाएँ न-नहीं करता है स-वही भिक्खू-भिक्षु होता है ।

मूलार्थ—जो महामुनि, परोपकारार्थ शुद्ध धर्म का उपदेश देता है; स्वयं धर्म में स्थित हुआ दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है; संसार के दूषित कीचड़ से बाहर निकल कर, कुशील लिङ्ग को छोड़ देता है; तथा कभी निन्द्य-परिहास की उत्पन्न करने वाली कुचेष्टाएँ भी नहीं करता है; वही वस्तुतः भिक्षु होता है ।

टीका—इस काव्य में यह कहा गया है कि जो मुनि विना किसी स्वार्थ के केवल परोपकार की दृष्टि से ही आर्यपद का, शुद्ध अहिंसा सत्य आदि धर्म का, भव्य जीवों को सदुपदेश देता है तथा जो स्वयं धर्म मे मन्दराचल के समान अचल एवं अकम्प रूप से स्थिर हुआ, अन्य धर्म से स्खलित होती हुई आत्माओं को भी अपने ज्ञान-बल से धर्म में दृढ़तया स्थापित करता है। तथा जो पूर्ण वैराग्य भावना द्वारा संसार सागर से निकल कर, फिर आरम्भ-समारम्भ आदि की कुशील चेष्टाओं का भी परित्याग कर देता है, क्योंकि संसार को छोड़ कर जब साधु ही हो गये तो फिर सांसारिक कुशील चेष्टाओं का क्या काम। तथा जो हास्य युक्त असभ्य चेष्टाओं का भी परित्याग करता है, क्योंकि अतीव कुत्सित परिहास से मोहनीय कर्म का विशेष उदय हो जाता है, जिससे चारित्र धर्म का दुर्ग मूलतः ध्वस्त हो जाता है। वही मुनि, संसार सागर को संयम की नौका द्वारा सुखपूर्वक पार कर, अक्षय मोक्षधाम में जाता है। सूत्रोक्त 'कुशील लिङ्ग' का यह भी अर्थ होता है कि साधु, साधु-वृत्ति लेकर फिर कुशील लिङ्ग धारण न करे। जैसे कि मुनि के लिये श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने 'श्वेत वस्त्र धारण करना, मुख पर मुखवस्त्रिका लगाना, रजोहरण और काष्ठ पात्र रखना, निरन्तर नंगे सिर और नंगे पैरों रहना' इत्यादि शुद्ध धार्मिक वेष बतलाया है, यही स्वलिंग है। मुनि को यही स्वलिंग धारण करना चाहिये। राजमुद्रा लग जाने पर ही स्वर्ण विशेष उपयोगी होता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार भाव भिक्षु के फल का वर्णन करते हुए अध्ययन का उपसंहार करते हैं:—

तं देहवासं असुइं असासयं,
सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥२१॥

त्ति बेमि।

इअ सभिक्खु णाम दसमज्झयणं सम्मत्तं।

तं देहवासमशुचिमशाश्वतं,
सदा त्यजेत् नित्यहितस्थितात्मा ।
छित्वा जातिमरणस्य बन्धनं,
उपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम् ॥२१॥

इति ब्रवीमि ।

इति सभिक्षु नाम दशममध्ययनं समाप्तम् ।

पदार्थान्वयः—निच्चहिअहिअप्पा—नित्यहितरूप—सम्यग् दर्शनादि मे अपनी आत्मा को सुस्थित रखने वाला भिक्खू—पूर्वोक्त साधु असुइं—अशुचिमय एवं असासयं—नश्वर तं—इस देहवासं—देह वास को सया—सदा के लिये चए—छोड़ देता है तथा जाईमरणस्स—जन्म मरण के बधणं—बंधन को छिंदित्तु—छेदन कर अपुणागमं—अपुनरागमन नामक गइं—गति को—सिद्धपदवी को उवेइ—प्राप्त कर लेता है । त्ति बेमि—इस प्रकार मैं तीर्थंकरों के उपदेशानुसार कहता हूँ ।

मूलार्थ—रत्न-त्रय-स्थित पूर्वोक्त क्रिया-पालक साधु, शुक्र शोणित पूर्ण इस अशुचिमय एवं विनाशशील शरीर का सदा के लिये परित्याग कर देता है तथा जन्म मरण के बन्धनों को काट कर 'जहाँ जाने के बाद फिर संसार में आना नहीं होता' ऐसे मुक्ति स्थान को प्राप्त कर लेता है ।

टीका—इस काव्य में 'यथावत् रूप से भिक्षु धर्म का पालन करने से भिक्षुओं को किस महाफल की प्राप्ति होती है' यह बतलाते हुए इस प्रस्तुत दशवें अध्ययन का उपसंहार करते हैं । यथा—जो भिक्षु, मोक्षपदप्रदाता सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में पूर्णरूप से संलग्न रहता है उसे प्रथम लाभ तो यह होता है कि, वह इस अपावन शरीर से सदा के लिये सम्बन्ध छोड़ देता है क्योंकि यह शरीर शुक्र और शोणित से उत्पन्न होता है, मल का कारण है कि वह सदाकाल अपवित्र ही रहता है, तथा प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होने से अशाश्वत है, प्रतिक्षण क्षीण होता चला जाता है । अनेकानेक भयंकर रोगों की खान है । भाव यह है कि शरीर के सम्बन्ध से ही

आत्मा को दुःख होता है। जब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध छूट गया तो दुःखों से अपने आप छूट जायगा। अब प्रश्न यह होता है कि जब आत्मा इस अपवित्र शरीर को छोड़ देती है, इसमें नहीं रहती है, तो फिर कहाँ जाती है, कहाँ निवास करती है। इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार स्वयं ही कहते हैं कि जो आत्माएँ शरीर का सदा के लिये परित्याग कर देती हैं, वे अनादिकालीन जन्म मरण के बंधन को मूलतः छेदन करके, उस अव्यवहित सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं जो अपुनरागमन है, अर्थात् जहाँ जाने के पश्चात् फिर वापिस इस दुःखमय संसार चक्र में आना नहीं होता। क्योंकि आत्मा तो मूल स्वभाव से अकम्प (अचल) है। इसमें जो यह जन्म मरण की कम्पना है, वह कर्मों के कारण से है। जब उग्र तप की प्रचण्ड अग्नि द्वारा आत्मा ने कर्मबीज को दग्ध कर दिया तो फिर उसका संसार में जन्म मरण कैसा। संसार में आना जाना कैसा। वह तो वहीं शाश्वत पद रूप में अखण्ड एवं एक रस हो जाती है। यदि यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जाय कि जब कर्मों का फल सादि सान्त बतलाया है, तो फिर आत्मा मुक्ति स्थान में शाश्वत पद किस प्रकार प्राप्त कर सकती है। मुक्ति भी तो एक सुखरूप पुण्य कर्मों का फल है। समाधान मे कहना है कि जैन शास्त्रकार किसी कर्म के फल से मुक्ति नहीं मानते किन्तु कर्मों के क्षय से ही मुक्ति मानते हैं। वस्तुतः बात यह है कि कर्म की कालिमा के नष्ट हो जाने पर, जो आत्मा की वास्तविक शुद्ध अवस्था होती है, उसी का नाम मोक्ष है। मोक्ष कोई अलग कर्मों के फल से मिलने वाली वस्तु नहीं है। मुक्ति प्राप्ति के लिये किये जाने वाले जप-तप कर्म नहीं हैं, किन्तु कर्मों को आत्मा से अलग करने के साधन हैं। जैसे मूसल आदि के प्रहार से चावल के ऊपर का उत्पादक छिलका अलग कर दिया जाता है और फिर चावल का अंकुर निकलना बंद हो जाता है, इसी तरह जप-तप द्वारा आत्मा का संसार में जन्म लेना बंद हो जाता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। 'छिन्ने मूले कुतः शाखा।' सूत्र मे 'अशुचि' और 'अशाश्वत' पद दिये हैं, उनका क्रमशः यह भाव है कि अशुचि भावना द्वारा शरीर पर से मोह ममत्व के भावों का परित्याग कर देना चाहिये (१), तथा अनित्य भावना द्वारा नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति की स्पृहा छोड़ कर संसार चक्र से छूटने के लिये प्रयत्नशील होना

चाहिये । (२) तथा सूत्र में जो 'नित्यहितस्थितात्मा' पद दिया है, उसका यह कारण है कि जब आत्मा को मोक्षपद के सुखों का सम्यकूतया बोध हो जायगा, तभी वह आत्मा संसार चक्र से छूटने के लिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये; प्रयत्न-शील हो सकेगा । "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते ।" यहाँ सूत्र समाप्ति पर सूत्र के विषय में एक बात यह कहनी आवश्यक है कि यह सूत्र प्रायः चारित्र ही का प्ररूपक है । परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि 'केवल चारित्र से ही कार्य सिद्धि हो जाती है, इसमें अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं ।' चारित्र कार्य सिद्ध करने वाला तो अवश्य है; किन्तु ज्ञान दर्शन के साथ ही है, अकेला नहीं । स्वयं सूत्रकार ने भी सप्तम अध्ययन की 'नाणदंसणसंपन्नं' ४९ वीं गाथा में यही वर्णन किया है । क्योंकि ज्ञान द्वारा सभी वस्तु भाव जाने जाते हैं, फिर दर्शन द्वारा उन पर दृढ़ विश्वास किया जाता है, और चारित्र द्वारा पुरातन कर्मों का क्षय तथा नूतन कर्मों का निरोध किया जाता है । अतः संक्षिप्त सार यह है कि 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'—ज्ञान और क्रिया से ही मोक्ष होती है । ज्ञान-पूर्वक ही करी हुई क्रिया फलवती होती है । अब पाठक वृन्द की सेवा में निवेदन है कि यदि आप को मोक्ष प्राप्त करने की सच्ची लगन लगी है, तो सदा ज्ञानपूर्विका ही क्रिया करो । इसी से जन्म मरण के बंधन कटेंगे । इसी से आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन कर, अक्षय सुख एवं अनन्त वीर्य से युक्त सादि अनन्त सिद्ध पद प्राप्त कर सकेगी ।

"श्री सुधर्मा स्वामी जी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् शिष्य ! इस सभिक्षु नामक दशवें अध्ययन का जैसा अर्थ मैंने श्री वीर प्रभु से सुना है, वैसा ही मैंने तेरे प्रति कहा है, अपनी बुद्धि से कुछ नहीं कहा ।"

इति दशमध्ययन समाप्त ।

इति श्रीदशवैकालिकसूत्रं समाप्तम्

अह रइवक्का पढमा चूला ।

अथ रतिवाक्य नामिका प्रथमा चूलिका ।

उत्थानिका—श्री दशवैकालिक सूत्र के दशवें अध्ययन मे भिक्षु के गुण प्रतिपादन किये गये हैं । अब यदि कोई भिक्षु कर्म वशात् धर्म पथ से शिथिल होकर भ्रष्ट होता हो, तो उसकी आत्मा को धर्म पथ में पुनः स्थिर करने के लिये चूलिकाओं का अधिकार किया जाता है । क्योंकि ये दोनों चूलिकाएँ सम्यक् प्रकार से अध्ययन की हुई संयम के विषय में आत्म-भावों को अच्छी प्रकार स्थिर करने वाली हैं । इन चूलिकाओं का दशवें अध्ययन के साथ सम्बन्ध है ।

प्रथम चूलिका का आदिम सूत्र यह है :—

इह खलु भो ! पव्वइएणं, उप्पण्णदुक्खेणं, संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं, ओहाणुप्पेहिणा, अणोहाइएणं, चेव हयरस्सिगयंकुसपोयपडागाभूआइं, इमाइं, अट्ठारसठाणाइं, सम्मं संपडिलेहिअव्वाइं, भवंति ॥

इह खलु भोः प्रव्रजितेन, उत्पन्नदुःखेन, संयमेऽरति-समापन्नचित्तेन, अवधानोत्प्रेक्षिणा, अनवधावितेन, चैव हय-

रश्मिगजांकुशपोतपताकाभूतानि, इमानि, अष्टादशस्थानानि, सम्यक् संप्रतिलेखितव्यानि, भवन्ति ॥

पदार्थान्वयः—भो-हे शिष्यो ! उप्पण्णदुक्खेन-दुःख के उत्पन्न हो जाने पर संजमे-संयम में अरइ समावन्नचित्तेण-जिसका चित्त अरति समापन्न हो गया है, अतः ओहाणुप्पेहिणा-जो संयम का परित्याग करना चाहता है, किन्तु अणोहाइएणं-जिसने अभी तक संयम नहीं छोड़ा है पव्वइएणं-ऐसे दीक्षित-साधु को इह-जिन शासन में खलु-निश्चय रूप से हयरस्सिगयंकुसपोयपडागा भूआइं-अश्व को लगाम, हस्ती को अंकुस, और जहाज को ध्वजा के समान इमाइं-ये वक्ष्यमाण अट्ठारस ठाणाइं-अष्टादश स्थानक सम्मं-सम्यक् प्रकार से संपडिलेहिअव्वाइं-आलोचनीय भवंति-होते हैं ।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! किसी बड़ी भारी आपत्ति के आ जाने पर, जिस साधु के चित्त में संयम की तरफ से अरुचि हो जाय; किन्तु जब तक संयम नहीं छोड़े, तब तक उसको जिन शासन में ये वक्ष्यमाण अष्टादश स्थानक सम्यक्तया विचारणीय हैं; जो घोड़े को लगाम, हाथी को अंकुश, और जहाज को ध्वजा के समान हैं ।

टीका—इस पाठ में इस बात का प्रकाश किया गया है कि संयम त्याग करने वाले मुनि को योग्य है कि वह संयम त्यागने से पहले, वक्ष्यमाण अट्ठारह बातों का अपने अन्तःकरण में अच्छी प्रकार विचार करे; क्योंकि सम्यग् विचारी हुई ये अट्ठारह शिक्षाएँ शारीरिक वा मानसिक दुःखों के उत्पन्न हो जाने के कारण, संयम मे अरति रखने वाले संयम त्यागी साधु के चित्त को उसी प्रकार स्थिर कर देती हैं, जिस प्रकार चंचल अश्व को लगाम वश में कर लेती है, मदोन्मत्त हाथी को अंकुश वश में कर लेता है तथा मार्ग च्युत जहाज को पताका सन्मार्ग पर लाती है ।

उत्थानिका—अब अष्टादश स्थानों का उल्लेख करते हैं :—

तंजहा—हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी १ लहुसगा इत्तिरिआ गिहीणं कामभोगा २ भुज्जो अ साइ-

बहुला मणुस्सा ३ इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सइ ४ ओमज्जणपुरक्कारे ५ वंतस्स य पडिआयणं ६ अहरगइ वासोवसंपया ७ दुल्लहे खलु भो! गिहीणं धम्मे गिहीवासमज्झे वसंताणं ८ आयंके से वहाय होइ ९ संकप्पे से वहाय होइ १० सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परिआए ११ बंधे गिहवासे, मुक्खे परिआए १२ सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परिआए १३ वहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा १४ पत्तेयं पुन्नपावं १५ अणिच्चे खलु भो! मणुआण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले १६ बहुं च खलु भो! पावं कम्मं पगडं १७ पावाणं च खलु भो! कडाणं, कम्माणं, पुव्विं दुच्चिन्नाणं, दुप्पडिकंताणं, वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता १८ अट्ठारसमं पयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो—

तद्यथा—हं भो दुःसमायां दुष्प्रजीविनः १ लघुतरा इत्विरा गृहिणां कामभोगाः २ भूयश्च स्वातिबहुला मनुष्याः ३ इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति ४ अवमजनपुरस्कारः ५ वान्तस्य प्रत्यादानम् ६ अधरगतिवासोपसंपत् ७ दुर्लभः खलु भो! गृहिणां धर्मः गृहवासमध्ये वसताम् ८ आतङ्कस्तस्य वधाय भवति ६ संकल्पस्तस्य बधाय भवति

१० सोपक्लेशो गृहवासः, निरुपक्लेशः पर्यायः ११ बन्धो गृहवासः मोक्षः पर्यायः १२ सावद्यो गृहवासः, अनवद्यः पर्यायः १३ बहु-साधारणा गृहिणां कामभोगाः १४ प्रत्येकं पुण्यपापम् १५ अनित्यं खलु भो ! मनुजानां जीवितं कुशाग्रजलबिन्दुचंचलम् १६ बहु च खलु भो, पापं कर्म प्रकटम् १७ पापानां कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्चरितानां दुष्प्रतिक्रान्तानां वेदयित्वा मोक्षः, नास्त्यवेदयित्वा, तपसा वा क्षपयित्वा १८ अष्टादशं पदं भवति । भवति चात्र श्लोकः[1] ।

पदार्थान्वयः—तंजहा-जैसे कि-हं भो-हे शिष्यो दुस्समाए-दुःषम काल में दुप्पजीवी-दुःखपूर्वक जीवन व्यतीत किया जाता है १, इस दुष्षम काल में गिहीणं-गृहस्थ लोगों के कामभोगा-काम भोग लहुसग्गा-असार हैं एवं इत्तरिआ-अल्पकालीन हैं २, भुज्जोअ-तथैव दुष्षमकालीन मणुस्सा-मनुष्य साइबहुला-विशेष छल-कपट करने वाले हैं ३, इमे अ-ये दुक्खे-दुःख मे-मुझे चिरकालो-वट्ठाई-चिरकालस्थायी न भविस्सइ-नहीं होंगे ४, ओमजण पुरक्कारे-संयम छोड़ देने पर नीच पुरुषों का सम्मान करना पड़ेगा ५, वंतस्स-वमन किये हुए विषय भोगों को पडिआयणं-फिर पीना होगा ६, अहरगइ वा सोवसंपया-नीच गतियों के योग्य कर्म बाँधने होंगे ७, भो-हे शिष्यो ! खलु-निश्चय ही गिहवासमज्झे-गृहपाश में वसंताणं-वसते हुए गिहीणं-गृहस्थों को धम्मे-धर्म दुल्लहे-दुर्लभ है ८, आयंके-सद्योघाती विषूचिका आदि रोग से-उस धर्म रहित गृहस्थ के वहाय-वध के लिये भवइ-होता है ९, संकप्पे-प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग से जो संकल्प उत्पन्न होता है, वह से-उस गृहस्थ के वहाय-विनाश के लिये भवइ-होता है १०, गिहवासे-गृहवास सोवक्केसे-क्लेश से युक्त है और परिआए-चारित्र निरुवक्केसे-क्लेश से रहित है ११, गिहवासे-गृहवास बंधे-कर्मों के बंधन का स्थान है, और परिआए-चारित्र मुक्खे-कर्म वन्धन से छुड़ाने वाला है १२,

१ श्लोक इति जाति परोनिर्देश इत्येक वचनम् ।

गिहवासे–गृहवास **सावज्जं**–पाप स्थान है किन्तु **परिआए**–चारित्र **अणवज्जे**–पाप से रहित है १३, **गिहीणं**–गृहस्थों के **कामभोगा**–काम भोग **बहुसाहारणा**–चोर जार आदि हर किसी जन को साधारण हैं १४, **पुण्णं पावं**–पुण्य और पाप **पत्तेअं**–सब जीवों का पृथक् पृथक् है १५, **मणुआणं**–मनुष्यों का **जीविए**–जीवन **कुसग्ग-जलबिंदुचंचले**–कुशा के अग्रभाग पर ठहरे हुए जलबिंदु के समान चंचल है, अतः **खलु**–निश्चय रूप से **अणिच्चं**–अनित्य है १६, **मे**–मैंने **बहुं**–बहुत ही **पावं कम्मं**–पाप कर्म किया है, जिससे मेरी बुद्धि विपरीत हो रही है १७, **च**–तथा **भो**–हे शिष्यो **दुच्चिण्णाणं**–दुष्ट भावों से आचरण किये हुए **दुप्पडिकंताणं**–मिथ्यात्व आदि से उपार्जन किये हुए **पुव्विं कडाणं**–पूर्वकृत **पावाणं कम्माणं**–पाप कर्मों के फल को **वेइत्ता**–भोगने के पश्चात् ही **मुक्खो**–मोक्ष होती है **अवेइत्ता**–बिना भोगे **नत्थि**–नहीं होती **वा**–किंवा पूर्वकृत कर्मों को **तवसा**–तप द्वारा **झोसइत्ता**–क्षय करके मोक्ष होती है १८, **अट्ठारसमं**–यह अट्ठारहवाँ **पयं**–पद **भव**–है और **इत्थ**–इस पर **सिलोगो भवइ**–श्लोक है, जो संग्रह रूप है।

मूलार्थ—हे शिष्यो! इस दुष्षम काल में दुःखपूर्वक जीवन व्यतीत होता है १ गृहस्थ लोगों के काम भोग तुच्छ और क्षणस्थायी हैं २ वर्तमान काल के बहुत से मनुष्य छली एवं मायावी हैं ३ यह जो मुझे दुःख उत्पन्न हुआ है, वह चिरकाल पर्यंत नहीं रहेगा ४ संयम के त्यागने से नीच पुरुषों की सेवा करनी पड़ेगी ५ वान्त भोगों का पुनः पान करना होगा ६ नीच गतियों में ले जाने वाले कर्म बँधेंगे ७ पुत्र पौत्रादि गृहपाशों में फँसे हुए गृहस्थों को, धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है ८ विषूचिकादि रोग धर्महीन के वध के लिये होते हैं ९ संकल्प-विकल्प भी उसको नष्ट करने वाले हैं १० गृहस्थावास तो क्लेश से सहित है और चारित्र क्लेश से रहित है ११ गृहवास बन्धनरूप है और चारित्र मोक्ष-रूप है १२ गृहवास पापरूप है और चारित्र पाप से सर्वथा रहित है १३ गृहस्थों के काम भोग बहुत से जीवों को साधारणरूप हैं १४ प्रत्येक आत्मा के पुण्य एवं पाप पृथक् पृथक् हैं १५ मनुष्य का जीवन कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चंचल है, अतएव निश्चित रूप से अनित्य है १६ बहुत ही प्रबल पाप कर्मों का उदय है, जो मुझे ऐसे निन्द्य विचार उत्पन्न होते हैं १७ दुष्ट

विचारों से एवं मिथ्यात्व आदि से बांधे हुए, पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगने के पश्चात् ही मोक्ष होती है, विना भोगे नहीं। अथवा तप द्वारा उक्त कर्मों का क्षय कर देने पर मोक्ष हो सकता है १८ यही अट्ठारहवाँ पद है, इस पर इसी विषय के प्रतिपादक श्लोक भी हैं—

टीका—गुरु कहते हैं, हे शिष्यो ! उस संयम त्यागने वाले व्यक्ति को योग्य है कि वह यह विचार करे। यथा—यह दुःसम काल है, इसमें प्रत्येक मनुष्य का जीवन प्रायः दुःखपूर्वक ही व्यतीत होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। राजादि लोग, जिनके पास सब सामग्री विद्यमान हैं, वे भी अपना जीवन दुःख-पूर्वक ही व्यतीत करते हुए देखे जाते हैं। किन्तु जिसके पास गृहस्थाश्रम योग्य कोई भी सामग्री नहीं है, तो फिर उसको विडम्बना और कुगति के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है। अतः मुझे गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन है, मैं क्यों दुःख भोगूँ। इस प्रकार प्रथम स्थान का विचार करना चाहिये। (२) इस दुःसम काल में गृहस्थों के काम भोग–अतीव तुच्छ–और अल्पकालस्थायी हैं, देवों के समान चिरस्थायी नहीं हैं। अतः मुझे इस तुच्छ गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन ? तुच्छ सुखों के लिये क्यों संयम रूपी अमूल्य धन कोष को नष्ट करूँ। (३) इस दुःसम काल में बहुत से मनुष्य छल कपट करने वाले हैं। अतः विश्वास-घाती मनुष्यों में रह कर सुखों का उपभोग किस प्रकार हो सकता है। छलीया मनुष्य तो हमेशा दुःख के ही देने वाले होते हैं। तथा छल कपट द्वारा महा दुष्कर्मों का बन्ध भी होता है, अतः मुझे गृहस्थ होने में कोई भी लाभ नहीं है। (४) जो मुझे किसी कारण से यह दुःख हो गया है, वह चिरकाल-स्थायी नहीं है। दुःख के बाद सुख, रथ के पहिये की तरह मनुष्य पर आते जाते ही रहते हैं। "कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततोवा, नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।" तथा इस कष्ट को सहन करने से कर्मों की निर्जरा और शाश्वत सुख की प्राप्ति होगी। यदि नहीं सहन किया तो नरकादि गतियों की प्राप्ति होगी; जिससे बहुत अधिक कष्ट भोगना पड़ेगा। अतः मेरा कल्याण तो संयम पालन करने में ही है; मैं गृहस्थी नहीं हो सकता हूँ। (५) संयम में स्थिर रहने से, व्यवहार पक्ष में तो राजा महाराजा आदि लोग हाथ जोड़ कर सर्व प्रकार से भक्ति करते हैं; परन्तु संयम के

त्यागने पर नीच से नीच मनुष्यों की भी सेवा करनी पड़ेगी। उसके कहे हुए असह्य वचन सहन करने पड़ेंगे। वह ये सब धर्म और अधर्म का प्रत्यक्ष फल है; अतः गृहस्थावास से मेरा क्या प्रयोजन है। (६) जिन विषय भोगों को मैं हजारों लोगों की साक्षी में वमन (त्याग) कर चुका हूँ (त्याग चुका हूँ) फिर उनका ही गृहवास में आसेवन करना होगा। वमन को तो कुत्ता गीदड़ आदि नीच जीव ही ग्रहण करते हैं, श्रेष्ठ जन नहीं। दीक्षित होने से मैं श्रेष्ठ हूँ, मुझे इन उद्वमन किये हुए सब विषय भोगों का पुनः भोगना कदापि योग्य नहीं है। (७) गृहस्थावास मे रहते हुए धर्म रहित व्यक्तियों को नीच गतियों की ही प्राप्ति होती है; क्योंकि उनसे फिर धर्म होना कठिन हो जाता है। जो पहले से ही गृहवास में रहते हैं, वे तो कुछ अपना उद्धार कर भी लेते हैं, किन्तु जो साधु से फिर गृहस्थ मे जाते हैं, वे किसी अवस्था के नहीं रहते, उनकी श्रद्धा धर्म से हट जाती है और वे अपना उद्धार किसी भी तरह नहीं कर सकते हैं। (८) पुत्र कलत्रादि को शास्त्रकारों ने पाश की उपमा दी है, वे गृहपाश मे बँधे हुए गृहस्थों को फिर सुगमता से धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। कारण कि कतिपय स्त्री और पुत्र आदि व्यक्तियों के स्नेह पाश में जकड़े जाने के बाद प्रमाद विशेष बढ़ जाता है, जिससे धर्म में समय लगाना कठिन हो जाता है। (९) बहुत से इस प्रकार के रोग हैं कि जो तत्काल ही जीव और शरीर को अलग अलग कर देते हैं, जैसे विपूचिका ग्रन्थि आदि रोग। ये रोग, जो धर्म से रहित व्यक्ति है, उनको शीघ्र ही आक्रमण कर लेते हैं। उस समय वह कुछ नहीं कर सकता। बेचारा हताश होकर रोता-पीटता पाप की भारी गठड़ी सिर पर धरे, अधोगतियों में दुःख भोगने के लिये चल देता है। अतएव मैं गृहस्थ होकर क्या लाभ प्राप्त करूँगा ? मैं तो साधु ही रहूँगा और धर्म का संचय करूँगा, जिससे मृत्यु चाहे कभी चली आवे निर्भयता बनी रहेगी। (१०) गृहस्थों को जो इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग होता है, तभी वे लोग इन संकल्पों के द्वारा ही वध को प्राप्त होते हैं। क्योंकि इससे वे कभी सुखी, कभी दुःखी, कभी प्रसन्न और कभी उदास रहते हैं। उनका जीवन तो क्षण क्षण में होने वाले सुख दुःखों की चोटों से सर्वदा छिन्न विछिन्न रहता है। अतः मुझे गृहस्थ बनने से कोई लाभ नहीं। (११) कृषि कर्म, पशुपालन और

वाणिज्य आदि के करने से तथा शीत, उष्ण, वर्षा की पीड़ा सहने से तथा घृत लवणादि की अनेक प्रकार की चिन्ताओं से गृहस्थावास में क्लेशपूर्वक समय व्यतीत होता है, किन्तु यह संयम स्थान सर्वथा क्लेश से रहित है; क्योंकि इसमें उक्त सभी क्रियाओं का अभाव है। अतः मुझे इस निन्दित गृहस्थावास से क्या लाभ है। (१२) गृहस्थावास बन्धन रूप है। इसमें जीव उसी प्रकार फँस जाता है जिस प्रकार रेशम का कीड़ा रेशम के कोश में फँस जाता है और छट-पटा कर वहीं मर जाता है। इसके विपरीत चारित्र धर्म मोक्ष रूप हैं, क्योंकि चारित्र द्वारा ही सब कर्म क्षय किये जाते हैं। (१३) यह गृहवास पाप रूप भी है, क्योंकि इसमें हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन और परिग्रह आदि सब बुरे काम करने पड़ते हैं। इसके विरुद्ध चारित्र पाप से रहित है, क्योंकि उसमें उक्त क्रियाओं का सर्वथा विरोध किया जाता है। (१४) गृहस्थों के यावन्मात्र काम भोग हैं, उन में राजा और चोर आदि इतर जन भी भाग लेने की आशा रखते हैं। अर्थात् कर आदि द्वारा राजा धन लेता है और कभी कभी चोर भी चोरी करके सर्वनाश कर जाता है। अतः वे संसारी काम भोग बहुत ही साधारण हैं। (१५) संसार में जितने भी लोग बसते हैं, वे सब अपने किये हुए ही पुण्य पापों का फल भोगते हैं। किन्तु कोई भी, अन्य किसी के किये हुए कर्मों के फल को नहीं भोग सकता। अतः जब स्वकृत कर्मों के फलों को स्वयं ही भोगना है, तो फिर गृहस्थावास से क्या प्रयोजन क्योंकि स्त्री पुत्रादि मेरे कर्मों को तो आपस में विभक्त नहीं कर सकते हैं। (१६) मनुष्य का जीवन क्षण भङ्गुर है। इसकी उपमा कुशा के अग्रभाग पर पड़े हुए जलबिंदु से दी गई है। जैसे वह हवा के झोंके के साथ ही गिर पड़ता है और नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी रोग आदि अनेक उपद्रवों के कारण से देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है। अतः क्षण विनाशी मानवीय जीवन के तुच्छ भोगों के लिये मैं क्यों साधुत्व छोड़ कर गृहस्थ लूँ। (१७) मेरे अत्यन्त ही पाप कर्मों का उदय है, जो मेरे शुद्ध हृदय में इस प्रकार के अतीव अपवित्र विचार उत्पन्न होते हैं; क्योंकि जो पुण्यवान् पुरुष होते हैं, उनके भाव तो चारित्र में सदैव ध्रुव की उपमा से स्थिर हुए रहते हैं। पाप कर्मों के उदय से ही मनुष्य का लक्ष्य अधःपतन की ओर होता है। (१८) प्रमाद कषाय के

अथवा मिथ्यात्व अविरत आदि के वशीभूत होकर, जो पूर्वजन्म में मैंने पाप कर्म किये हैं, उनके भोगे विना मोक्ष नहीं मिल सकता है। कृत कर्मों को भोगने के पश्चात् ही जीव, दुःखों से छुटकारा पा सकता है। अतः मैं इस आई हुई विपत्ति को क्यों नहीं भोगूँ। इसके भोगने से ही मैं कर्म-बन्धन मुक्त हो सकूँगा। अथवा उत्कट तप द्वारा ही कर्म क्षय किये जा सकते हैं, जिसके फल स्वरूप मोक्ष-प्राप्ति होती है। अतएव मुझे भी योग्य है कि मैं तप करके अपने कृत कर्मों को क्षय करूँ, और अक्षय मोक्ष सुख का भागी बनूँ। इस प्रकार इन अष्टादश स्थानों को अपनी सूक्ष्म-तर्कणा बुद्धि द्वारा संक्षिप्त रूप से किंवा विस्तार रूप से परिस्फुटतया विचारना चाहिये। क्योंकि इस विचार से चित्त की सम-भाव पूर्वक स्थिरता होती है और संसार की दशा का पूर्ण परिचय हो जाने से आत्मा, संयम भाव में संलग्न हो जाती है। यह अष्टादश स्थानों का उत्कृष्ट प्रभाव है, जिस के करने से संसार सागर मे व्यर्थ डूबती हुई आत्माएँ भी सँभल गई हैं और अपना कार्य सिद्ध कर गई हैं। अव इन स्थानों पर शिक्षा रूप श्लोक भी प्रतिपादन किये गये हैं, जो अतीव गम्भीर हैं एवं मननीय हैं। उनमें उक्त अङ्कों का वा अन्य विषयों का वड़ा ही अच्छा स्फीत (विस्तृत) दिग्दर्शन कराया गया है। इति गद्यम्॥

उत्थानिका—संयम छोड़ने वाला साधु, आगामी काल को नहीं देखता, अव यह कहते हैं:—

जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बालो, आयइं नावबुज्झइ॥१॥

यदा च त्यजति धर्मं, अनार्यः भोगकारणात्।
स तत्र मूर्च्छितो बालः, आयतिं नावबुध्यते॥१॥

पदार्थान्वयः—जया-जब अणज्जो-अनार्य साधु भोगकारणा-भोगों के कारण से धम्मं-चारित्र धर्म को चयई-छोड़ता है, तब से-वह बालो-अज्ञानी साधु तत्थ-उन काम भोगों में मुच्छिए-मूर्च्छित हुआ आयइं भविष्यत् काल को नावबुज्झइ-सम्यक्तया नहीं जानता।

वाणिज्य आदि के करने से तथा शीत, उष्ण, वर्षा की पीड़ा सहने से तथा घृत लवणादि की अनेक प्रकार की चिन्ताओं से गृहस्थावास में क्लेशपूर्वक समय व्यतीत होता है, किन्तु यह संयम स्थान सर्वथा क्लेश से रहित है; क्योंकि इसमें उक्त सभी क्रियाओं का अभाव है। अतः मुझे इस निन्दित गृहस्थावास से क्या लाभ है। (१२) गृहस्थावास बन्धन रूप है। इसमें जीव उसी प्रकार फँस जाता है जिस प्रकार रेशम का कीड़ा रेशम के कोश में फँस जाता है और छट-पटा कर वहीं मर जाता है। इसके विपरीत चारित्र धर्म मोक्ष रूप हैं, क्योंकि चारित्र द्वारा ही सब कर्म क्षय किये जाते हैं। (१३) यह गृहवास पाप रूप भी है, क्योंकि इसमें हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन और परिग्रह आदि सब बुरे काम करने पड़ते हैं। इसके विरुद्ध चारित्र पाप से रहित है; क्योंकि उसमें उक्त क्रियाओं का सर्वथा विरोध किया जाता है। (१४) गृहस्थों के यावन्मात्र काम भोग हैं, उन में राजा और चोर आदि इतर जन भी भाग लेने की आशा रखते हैं। अर्थात् कर आदि द्वारा राजा धन लेता है और कभी कभी चोर भी चोरी करके सर्वनाश कर जाता है। अतः वे संसारी काम भोग बहुत ही साधारण हैं। (१५) संसार में जितने भी लोग बसते हैं, वे सब अपने किये हुए ही पुण्य पापों का फल भोगते हैं। किन्तु कोई भी, अन्य किसी के किये हुए कर्मों के फल को नहीं भोग सकता। अतः जब स्वकृत कर्मों के फलों को स्वयं ही भोगना है, तो फिर गृहस्थावास से क्या प्रयोजन क्योंकि स्त्री पुत्रादि मेरे कर्मों को तो आपस में विभक्त नहीं कर सकते हैं। (१६) मनुष्य का जीवन क्षण भङ्गुर है। इसकी उपमा कुशा के अग्रभाग पर पड़े हुए जलबिंदु से दी गई है। जैसे वह हवा के झोंके के साथ ही गिर पड़ता है और नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी रोग आदि अनेक उपद्रवों के कारण से देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है। अतः क्षण विनाशी मानवीय जीवन के तुच्छ भोगों के लिये मैं क्यों साधुत्व छोड़ कर गृहस्थ लूँ। (१७) मेरे अत्यन्त ही पाप कर्मों का उदय है, जो मेरे शुद्ध हृदय में इस प्रकार के अतीव अपवित्र विचार उत्पन्न होते हैं; क्योंकि जो पुण्यवान् पुरुष होते हैं, उनके भाव तो चारित्र मे सदैव ध्रुव की उपमा से स्थिर हुए रहते हैं। पाप कर्मों के उदय से ही मनुष्य का लक्ष्य अधःपतन की ओर होता है। (१८) प्रमाद कषाय के

अथवा मिथ्यात्व अविरत आदि के वशीभूत होकर, जो पूर्वजन्म में मैंने पाप कर्म किये हैं, उनके भोगे बिना मोक्ष नहीं मिल सकता है। कृत कर्मों को भोगने के पश्चात् ही जीव, दुःखों से छुटकारा पा सकता है। अतः मैं इस आई हुई विपत्ति को क्यों नहीं भोगूँ। इसके भोगने से ही मैं कर्म-बन्धन मुक्त हो सकूँगा। अथवा उत्कट तप द्वारा ही कर्म क्षय किये जा सकते हैं; जिसके फल स्वरूप मोक्ष-प्राप्ति होती है। अतएव मुझे भी योग्य है कि मैं तप करके अपने कृत कर्मों को क्षय करूँ, और अक्षय मोक्ष सुख का भागी बनूँ। इस प्रकार इन अष्टादश स्थानों को अपनी सूक्ष्म-तर्कणा बुद्धि द्वारा संक्षिप्त रूप से किंवा विस्तार रूप से परिस्फुटतया विचारना चाहिये। क्योंकि इस विचार से चित्त की सम-भाव पूर्वक स्थिरता होती है और संसार की दशा का पूर्ण परिचय हो जाने से आत्मा, संयम भाव में संलग्न हो जाती है। यह अष्टादश स्थानों का उत्कृष्ट प्रभाव है, जिस के करने से संसार सागर मे व्यर्थ डूबती हुई आत्माएँ भी सँभल गई हैं और अपना कार्य सिद्ध कर गई हैं। अब इन स्थानों पर शिक्षा रूप श्लोक भी प्रतिपादन किये गये हैं, जो अतीव गम्भीर हैं एवं मननीय हैं। उनमें उक्त अङ्कों का वा अन्य विषयों का बड़ा ही अच्छा स्फीत (विस्तृत) दिग्दर्शन कराया गया है। इति गद्यम् ॥

उत्थानिका—संयम छोड़ने वाला साधु, आगामी काल को नहीं देखता, अब यह कहते हैं :—

जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बालो, आयइं नावबुज्झइ ॥१॥

यदा च त्यजति धर्मं, अनार्यः भोगकारणात्।
स तत्र मूर्च्छितो बालः, आयतिं नावबुध्यते ॥१॥

पदार्थान्वयः—जया-जब अणज्जो-अनार्य साधु भोगकारणा-भोगों के कारण से धम्मं-चारित्र धर्म को चयई-छोड़ता है, तब से-वह बालो-अज्ञानी साधु तत्थ-उन काम भोगों में मुच्छिए-मूर्च्छित हुआ आयइं भविष्यत् काल को नाव-बुज्झइ-सम्यक्तया नहीं जानता।

मूलार्थ—कामभोगों के कारण से जब अनार्य बुद्धि वाला साधु, चारित्र धर्म को छोड़ता है; तब वह अज्ञानी साधु, उन काम भोगों में मूर्च्छित हुआ आगामी काल को ध्यान में नहीं रखता है।

टीका—इस गाथा मे इस बात का प्रकाश किया गया है कि जब साधु संयम को छोड़ता है, तब वह आगामी काल के ज्ञान को भूल जाता है। क्योंकि जब साधु के भाव संयम छोड़ने के हो जाते हैं, तब उसकी आत्मा अनार्यों के (म्लेच्छों के) समान दुष्ट क्रियाएँ करने लग जाती है, वह केवल शब्दादि विषयों के वास्ते ही संयम को छोड़ता है, और त्याग किये हुए गृहस्थावास में पुनः आता है। और वह अज्ञानी साधु उन शब्दादि विषयों में अतीव मूर्च्छित होता हुआ, आगामी काल में होने वाले सुख किंवा दुःख सभी को भूल जाता है। कारण कि वर्तमान काल के क्षणस्थायी सुखों में निमग्न हो जाने पर भविष्यत् काल का परिबोध नहीं रहता। वर्तमान काल की मोहमयी अवस्था मे पड़ कर भविष्यकाल की अवस्था को विस्मृत कर देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है, भविष्य मे होने वाले कर्तव्य के कटु परिणामों को जानने वाला ही सच्चा बुद्धिमान् है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार पदभ्रष्ट इन्द्र की उपमा से संयम त्याग का निषेध करते हैं:—

जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो , स पच्छा परितप्पइ ॥२॥
यदाऽवधावितो भवति, इन्द्रो वा पतति क्षमाम्।
सर्वधर्मपरिभ्रष्टः , सः पश्चात् परितप्यते ॥२॥

पदार्थान्वयः—छमं-पृथिवी पर पडिओ-पतित हुए इंदो वा-इन्द्र के समान जया-जब कोई साधु ओहाविओ-चारित्र धर्म से भ्रष्ट होइ-हो जाता है, तब से-वह सव्वधम्मपरिब्भट्ठो-सब धर्मों से सभी प्रकार से भ्रष्ट होता हुआ पच्छा-पीछे से परितप्पइ-अनुताप करता है कि मैंने यह कैसा अकार्य किया है।

मूलार्थ—जिस प्रकार स्वर्ग लोक से च्युत होकर पृथ्वी तल पर आता हुआ इन्द्र पश्चाताप करता है; इसी प्रकार जो चारित्र धर्म से भ्रष्ट हो जाता है,

वह भी सभी धर्म कर्मों से परिभ्रष्ट होता हुआ अतीव पश्चाताप करता है।

टीका—इस गाथा में उपमा अलंकार द्वारा संयम त्याग का फल बतलाया गया है। जैसे कि जब देवाधिपति इन्द्र, पुण्य क्षय होने पर स्वर्ग लोक से च्युत हो कर मनुष्य लोक में आता है; तब वह बहुत अधिक शोक (पश्चात्ताप) करता है। उस समय उसका हृदय भावी संकट की व्यथा से चूर्ण-चूर्ण हो जाता है। वह रोता-पीटता है—हाय! मेरा यह अतुलित वैभव नष्ट हो रहा है, मैं अब आगे कष्ट भोगूँगा। ठीक इसी प्रकार जब साधु भी अपने क्षमा, शील, संतोष आदि धर्मों से च्युत हो जाता है एवं लौकिक गौरव आदि से भी भ्रष्ट हो जाता है; तब वह भी अत्यधिक पश्चात्ताप करता है कि हाय! मैंने यह क्या अनर्थ किया। इससे तो मैं लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट हो गया हूँ। पश्चात्ताप करने का कारण यह है कि जब साधु धर्म से स्खलित होता है तब तो मोहनीय कर्म का विशेष उदय होता है, जिससे सँभलना कठिन हो जाता है। किन्तु जब पीछे से एक से एक भयंकर दुःख आकर पड़ते हैं और मोहनीय कर्म का उदय हो जाता है, तब वह इन्द्र के समान शोक और परिताप करने लग जाता है। सूत्र मे आया हुआ 'छमं' पृथिवी का वाचक है, क्षमा का नहीं। क्योंकि इसका संस्कृत रूप 'क्षमा' होता है। क्षमा नाम पृथिवी का है—'क्षमा धरित्री क्षितिश्च कुः' इति धनंजयः।

उत्थानिका—अब उस साधु को स्वर्गच्युत देवता की उपमा देते हैं :—

जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो।
देवया व चुआ ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥३॥

यदा च वन्द्यो भवति, पश्चाद् भवत्यवन्द्यः।
देवतेव च्युता स्थानात्, सः पश्चात् परितप्यते ॥३॥

पदार्थान्वयः—जया-जब साधु संयम में रहता है, तब तो वंदिमो-वन्दनीय होइ-होता है य-और पच्छा-संयम छोड़ने के पश्चात् वही अवंदिमो-अवंदनीय होइ-हो जाता है स-वह साधु ठाणा-अपने स्थान से चुआ-च्युत हुए देवया व-देवता के समान पच्छा-पीछे से परितप्पइ-पछताता है।

मूलार्थ—जब साधु संयम पालन करता है, तब तो सब लोगों से अभिवन्दनीय होता है; किन्तु जब संयम से च्युत हो जाता है, तब वही सब लोगों से तिरस्करणीय हो जाता है। संयम-च्युत साधु, उसी प्रकार पश्चात्ताप करता है, जिस प्रकार स्थानच्युत देवता पश्चात्ताप किया करता है।

टीका—जिस समय साधु, अपने संयम स्थान में स्थिर-चित्त रहता है एवं संयम को भले प्रकार पालन करता है, उस समय तो वह राजा आदि प्रधान पुरुषों द्वारा वन्दनीय होता है किन्तु वही साधु, जब संयम धर्म को छोड़ कर भोगी गृहस्थ हो जाता है, तब उन्हीं सत्कार करने वाले मनुष्यों से ही असह्य तिरस्कार पाता है। तिरस्कार क्या, कभी कभी तो उसकी ऐसी दुर्गति होती है कि गलितकाय श्वान की तरह वह जहाँ जाता है, वहीं से हठात् दुतकारा जाता है। तिरस्कृत होने पर वह बहुत कुछ पश्चात्ताप करता है। किस प्रकार करता है, इसके लिये स्थान च्युत देवता की उपमा दी गई है। जिस प्रकार स्थानच्युत देवता अपने पूर्वकालीन सुखों को एवं अखण्ड गौरव को याद कर करके शोक करता है, उसी प्रकार साधु भी संयम से भ्रष्ट होकर संयम सम्बन्धी गौरव को बारंबार स्मरण करके, सर्वदा अपने मन में अधिक पछताता रहता है।

उत्थानिका—अब उसको राज्यभ्रष्ट राजा की उपमा देते हैं:—

जया अ पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥४॥

यदा च पूज्यो भवति, पश्चाद् भवत्यपूज्यः।
राजेव राज्यप्रभ्रष्टः, सः पश्चात् परितप्यते ॥४॥

पदार्थान्वयः—जया-जब संयमी रहता है, तब तो साधु पूइमो-पूज्य होइ-होता है अ-फिर वही पच्छा-चारित्र से पतित होने के पश्चात् अपूइमो-अपूज्य होइ-हो जाता है रज्जपब्भट्ठो-राज्यभ्रष्ट राया व-राजा की तरह स-वह साधु पच्छा परितप्पइ-पश्चात्ताप करता है।

मूलार्थ—जब साधु अपने धर्म में स्थित रहता है, तब तो सब लोगों में पूजनीय होता है; किन्तु धर्म से भ्रष्ट हो जाने के पश्चात् वही अपूजनीय हो जाता

है। भ्रष्ट साधु, राज्यभ्रष्ट राजा के समान सदा पछताता रहता है।

टीका—जब साधु अपने चारित्र धर्म में स्थिर रहता है, तब सब लोग उसकी भोजन वस्त्रादि से पूजा किया करते हैं; किन्तु जब चारित्र धर्म को छोड़ देता है, तब वही सब लोगों के लिये अपूज्य हो जाता है। उसकी कोई बात नहीं पूछता। जिस प्रकार राजा राज्य से भ्रष्ट हो जाने के पश्चात् पूर्व गौरव को याद करके, अपने मन में बहुत भारी पश्चात्ताप किया करता है ठीक इसी प्रकार साधु भी संयम से पतित हो जाने के बाद पूर्व दशा को स्मृति में लाकर अपने मन में घुल-घुल कर व्यथित होता रहता है। नष्ट गौरव की स्मृति मनुष्य से पश्चात्ताप कराया ही करती है।

उत्थानिका—अब नजरबंद (दृष्टिनिग्रह) सेठ की उपमा देते हैं:—

जया अ माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो।
सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ ॥५॥
यदा च मान्यो भवति, पश्चाद् भवत्यमान्यः।
श्रेष्ठीव कर्वटे क्षिप्तः, सः पश्चात् परितप्यते ॥५॥

पदार्थान्वयः—**जया**-जब साधु **माणिमो**-मान्य होता है और **पच्छा**-शील से भ्रष्ट होने के पश्चात् शीघ्र ही **अमाणिमो**-अमान्य हो जाता है **कब्बडे**-अत्यन्त क्षुद्र ग्राम मे **छूढो**-अवरुद्ध **सेट्ठिव्व**-सेठ के समान **स**-वह **पच्छा**-पीछे से **परितप्पइ**-परितप्त होता है।

मूलार्थ—संयमधारी सच्चा साधु, जब संयम का पालन करता है, तब तो सर्वमान्य होता है; किन्तु संयम छोड़ने के पश्चात् अत्यन्त अपमानित हो जाता है। वह संयमभ्रष्ट साधु, ठीक उसी प्रकार रंज करता है, जिस प्रकार किसी छोटे से गाँव में कैद किया हुआ, नगर सेठ रंज करता है।

टीका—जब साधु अपने शील और धर्म मे स्थिर-चित्त वाला होता है, तब तो वह अभ्युत्थान एवं आज्ञापालन आदि द्वारा सब लोगों से मान्य होता है, किन्तु जब धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, तब फिर वही उन्हीं सत्कार करने वाले लोगों से अमान्य हो जाता है। जिस प्रकार किसी अपराध के कारण राजा की आज्ञा से

नगर सेठ, किसी क्षुद्र ग्राम में नजरबंद (दृष्टिनिग्रह) किया हुआ पश्चात्ताप करता है, ठीक इसी प्रकार शील धर्म का परित्याग करने वाला साधु भी अमाननीय वन शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से पीड़ित होता रहता है ।

उत्थानिका—अब मत्स्य का दृष्टान्त दिया जाता है :—

जया अ थेरओ होइ, समइक्कंत जुव्वणो ।
मच्छु व्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पइ ॥६॥
यदा च स्थविरो भवति, समतिक्रान्तयौवनः ।
मत्स्य इव गलं(वडिशं)गिलित्वा, सः पश्चात् परितप्यते ॥६॥

पदार्थान्वयः—अ-जो साधु जया-जब समइक्कंतजुव्वणो-यौवनावस्था के बीत जाने पर थेरओ-स्थविर हो जाता है, तब संयम का परित्याग करता है स-वह गलं-वडिश को गिलित्ता-निगल कर व्व-जैसे मच्छु-मत्स्य पश्चात्ताप करता है, तद्वत् पच्छा-पीछे से परितप्पइ-दुःखित होता है ।

मूलार्थ—जो साधु यौवन अवस्था के अतीत हो जाने पर स्थविरावस्था में संयम छोड़ता है, वह लोह-कंटक के गले में फँस जाने पर मछली के समान पश्चात्ताप करता है ।

टीका—जिस प्रकार मच्छ, भोजन के लोभ से धीवरों द्वारा गेरे हुए लोह-कंटक को निगल लेता है, और फिर गले के अवरुद्ध हो जाने पर पश्चात्ताप करता है, इसी प्रकार यौवन अवस्था के व्यतीत हो जाने पर वृद्धावस्था के समय संयम से पतित होने वाला साधु भी पश्चात्ताप करता है । क्योंकि मत्स्य न तो उस वड़िश को गले के नीचे उतार सकता है, और न गले से बाहर निकाल सकता है; ठीक इसी तरह साधु भी न तो भोगों को भोग ही सकता है और न उनसे मुक्त हो सकता है । यों ही कष्टमय जीवन समाप्त कर मत्स्य के समान अन्त में मृत्यु के मुँह में पहुँच जाता है ।

उत्थानिका—अब बंधन-बद्ध हस्ति की उपमा देते हैं :—

जया अ कुकुडंबस्स, कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पइ ॥७॥

यदा च कुकुटुम्बस्य, कुतप्तिभिर्विहन्यते ।
हस्तीव बंधने बद्धः, सः पश्चात् परितप्यते ॥७॥

पदार्थान्वयः—जया-जब संयम त्यागी साधु कुकुडंवस्स-दुष्ट कुटुम्ब की कुतत्तीहिं-दुष्ट चिन्ताओं से, विहम्मइ-प्रतिहनित होता है, तब वह साधु बंधणे-बद्धो-विषय के लालच से बंधन में बँधे हुए हत्थीव-हस्ति के समान पच्छा-पीछे से परितप्पइ-पछताता है।

मूलार्थ—संयम भ्रष्ट साधु को, जब नीच कुटुम्ब की कुत्सित चिंताएँ चारों ओर से अभिभूत करती हैं; तब वह बन्धन-बद्ध हस्ति के समान नितान्त पश्चात्ताप करता है।

टीका—जब साधु संयम से पतित हो जाता है, तब उसे अनुकूल परिवार के न मिलने के कारण प्रतिकूल चिंताओं से उसकी आत्मा प्रतिदिन दग्ध होने लगती है। जिस प्रकार हाथी बंधनों से बँधा हुआ घोर दुःख भोगता है, इसी प्रकार वह साधु भी विषय रूपी बन्धनों में घोर दुःख भोगता है। कारण कि इष्ट संयोग के न मिलने से उसे विषय भोगों में विघ्न पड़ता है, जिससे उसकी आत्मा महादुःख पाती है। इसी वास्ते सूत्र में लिखा है कि 'कुतप्तिभिः'-कुत्सित-चिन्ताभिरात्मनः संतापकारिणीभिर्विहन्यते। सूत्रकार ने जो बंधनबद्ध हाथी का दृष्टान्त दिया है, उसका भाव यह है कि हाथी को पकड़ने वाले लोग वन मे एक बड़ा सा गढ्ढा खोदते हैं। फिर उस गढ्ढे को पतली-पतली लकड़ियों से ढक कर उस पर कागज की हथिनी बना खड़ी कर देते हैं। वन का स्वच्छंद हाथी उसे असली हथिनी समझ कर ज्यों ही उस पर आता है, त्यों ही गढ्ढे में गिर पड़ता है और पकड़ लिया जाता है। पुनः लोहमयी शृङ्खलाओं से बँधा हुआ वह हाथी घोर यातनाओ को भोगता है। इसी प्रकार साधु भी विषय भोगों के झूठे लालच मे फँसकर घोर दुःख उठाता है।

उत्थानिका—अब पंकमग्न हस्ती की उपमा देते हैं :—

पुत्तदारपरीकिन्नो, मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥८॥

पुत्रदारपरिकीर्णः , मोहसंतानसंततः ।
पंकावसन्नो यथा नागः, सः पश्चात् परितप्यते ॥८॥

पदार्थान्वयः—पुत्तदारपरीकिन्नो—पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ मोहसंताणसंतओ—दर्शन मोहनीय आदि कर्मों से संतप्त हुआ स—वह साधु जहा—जैसे पंकोसन्नो—कीचड़ में फँसा हुआ नागो—हाथी पश्चात्ताप करता है, वैसे ही वह पच्छा—पीछे से परितप्पइ—परितप्त होता है ।

मूलार्थ—पुत्र और स्त्री जनों से घिरा हुआ एवं मोहप्रवाह से संतप्त हुआ, वह संयम भ्रष्ट साधु; कर्दम-मग्न हाथी के समान अतीव पश्चात्ताप करता है।

टीका—जब साधु संयम छोड़ देता है, तब पुत्र और स्त्री आदि से संकीर्ण हो जाता है तथा दर्शन मोहनीय आदि कर्मों से संतप्त हो जाता है । उस समय वह जिस प्रकार हाथी दलदल में फँसा हुआ दुःख पाता है, तद्वत् कुटुंब के मोह जाल में फँसा हुआ दुःख पाता है । कारण कि वह सोचता है—हाय ! मैंने यह अनर्थकारी काम क्यों किया । यदि मैं संयम क्रियाओं में दृढ़ रहता तो मेरी आज इस प्रकार की दुर्गति क्यों होती । संयम छोड़ कर मैंने क्या लाभ उठाया है । सूत्रकर्ता ने जो हस्ति का हेतु दिया है, उसका यह भाव है कि जिस भाँति हाथी के लिये कर्दम वन्धन है, ठीक इसी भाँति साधु के लिये संसार में विषय विकार रूपी कर्दम वन्धन है ।

उत्थानिका—अब फिर दूसरे प्रकार से पश्चात्ताप के विषय में कहते हैं :—

अज्ज आहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ ।
जइऽहं रमंतो परिआए, सामण्णे जिणदेसिए ॥९॥

अद्य तावदहं गणी भवेयम्, भावितात्मा बहुश्रुतः ।
यद्यहं रमेय पर्याये, श्रामण्ये जिनदेशिते ॥९॥

पदार्थान्वयः—अज्ज—आज आहं—मैं गणी—आचार्य हुंतो—होता जइ—यदि अहं—मैं भाविअप्पा—भावितात्मा और बहुस्सुओ—बहुश्रुत हो कर जिणदेसिए—जिनोपदेशित सामण्णे—साधु सम्बन्धी परिआए—चारित्र में रमंतो—रमण करता है ।

मूलार्थ—यदि मैं भावितात्मा और बहुश्रुत होता एवं जिनोपदेशित साधु धर्म में रमण करता, तो आज के दिन महान् आचार्य पद पर सुशोभित होता।

टीका—कोई सचेतन साधु पतित हुआ इस प्रकार की विचारणा किया करता है कि "आज तक तो मैं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो जाता, यदि मैं शुभ भावनाओं द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि करने वाला होता, तथा दोनों लोकों में हितकारी बहुत से आगमों की विद्या से युक्त होता, तथा श्रीजिनेन्द्र प्रतिपादित श्रमण भाव मे रमण करता। मैं तो बड़ा ही मूर्ख निकला, जो साधुत्व छोड़ कर विषय भोगों के जाल मे पड़ गया। महान् दुःख है कि मैंने विषय रूपी एक पंकपूर्ण जलबिंदु के लिये अद्वितीय आचार्य पद जैसे महान् गौरव रूपी क्षीरसिन्धु को छोड़ दिया।" सूत्र में का 'जिनदेशिते' शब्द प्रकट करता है कि शाक्यादि के उपदेशित किये हुए श्रमण भाव में नहीं, किन्तु जिनदेशित श्रमणभाव में ही रमण करने से आत्म विकाश का श्रेष्ठ पद 'आचार्य' मिलता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार अधिकारी भेद से संयम को स्वर्ग और नरक की उपमा देते हैं:—

देवलोगसमाणो अ, परिआओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥१०॥

देवलोकसमानस्तु, पर्यायो महर्षीणाम्।
रतानामरतानां च, महानरकसदृशः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—रयाणं-संयमरत महेसिणं-महर्षियों को परिआओ-चारित्र पर्याय देवलोगसमाणो-देव लोक के समान है अ-किन्तु अरयाणं-संयम में रति नहीं रखने वालों को वही चारित्र महानरयसारिसो-महान् नरक के समान है।

मूलार्थ—जो महर्षि संयम क्रिया में रत हैं, उन्हें तो यह संयम स्वर्ग लोक के समान सुखदायक है, किन्तु जो संयम में अरुचि रखने वाले हैं, उन्हें महान् रौरव नरक के समान दुःखदायक है।

टीका—इस गाथा में जो साधु संयम त्यागने की इच्छा रखते हैं, उनको स्थिर करने के लिये यह उपदेश प्रतिपादन किया है। यथा—श्री भगवान् उपदेश करते हैं कि हे आर्यो! जो साधु संयम पर्याय में रति रखने वाले हैं, उनके लिये यह संयम देवलोक के समान सुखप्रद है; क्योंकि जिस प्रकार देवता देवलोक में नृत्य आदि के देखने में लगे रहते हैं, तथा सदैव काल प्रसन्नता से समय व्यतीत करते हैं, ठीक उसी प्रकार साधु भी योगादि क्रियाओं में निमग्न होता हुआ, देवों से बढ़कर सुखों का अनुभव करता है। इसके विपरीत जो साधु संयम क्रियाओं में रति-हीन होते हैं, उनके लिये यह चारित्र पर्याय महानरक (रौरव) के समान दुःखप्रद है, क्योंकि वे विषयाभिलाषी होने से हमेशा भगवान् के वेष की विडम्बना ही करते रहते हैं। मानसिक दुःखों का विशेष उदय हो जाने से उनकी आत्मा महान् घोर दुःखों की अनुभव करने वाली हो जाती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार प्रस्तुत वर्णन का उपसंहार द्वारा निगमन करते हुए कहते हैं:—

अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं,
रयाणं परिआइ तहारयाणं।
निरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं,
रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ॥११॥

अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमं,
रतानां पर्याये तथाऽरतानाम्।
नरकोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं,
रमेत तस्मात् पर्याये पण्डितः ॥११॥

पदार्थान्वयः—तम्हा-इस लिये पंडिए-पण्डित साधु परिआई-चारित्र में रयाणं-रत रहने वालों के अमरोवमं-देवोपम उत्तमं-उत्तम सुक्खं-सुख को जाणिअ-जान कर तहा-तथा अरयाणं-संयम में रत नहीं रहने वालों के निरओवमं-

नरकोपम उत्तमं-महान् दुक्खं-दुःख को जाणिअ-जान कर परिआइ-संयम के विषय में रमिज्ज-रमण करे।

मूलार्थ—संयम में रत रहने वाले, देवों के समान सुख भोगते हैं और संयम से विरक्त रहने वाले, रौरव नरक के समान दुःख भोगते हैं, इस प्रकार सत्य तत्त्व को जान कर बुद्धिमान् साधु को संयम पर्याय में रमण करना चाहिये।

टीका—इस काव्य में उक्त प्रकरण का उपसंहार करते हुए निगमन किया गया है—जो साधु संयम में सब प्रकार से रति मानने वाले हैं, तथा जो संयम में दृढ़चित्त नहीं हैं, उन दोनों के विषय में यह विचार करना चाहिये कि जो संयम में रत हैं, वे तो देवलोक के समान उत्तम सुखों का अनुभव कर रहे हैं; किन्तु जो संयम में अरति रखने वाले हैं, वे महाघोर नरक के समान दुःख भोग रहे हैं। अतः शास्त्रज्ञ मुनि को योग्य है कि वह संयम पर्याय में ही रमण करे, क्योंकि जब उसने दोनों प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर लिया तो फिर उसे संयम में ही प्रसन्न-चित्त होना चाहिए।

उत्थानिका—संयमभ्रष्ट को इस लोक में होने वाले दोषों का उल्लेख करते हैं:—

धम्मा उ भट्ठं सिरिओअवेयं,
जन्नग्गि विज्झाअमिवप्पतेअं।
हीलंति णं दुव्विहं कुसीला,
दाढुड्ढिअं घोरविसं व नागं॥१२॥

धर्माद्भ्रष्टं श्रियोऽपेतं,
यज्ञाग्निं विध्यातमिवअल्पतेजसम्।
हीलयन्ति एनं दुर्विहितं कुशीलाः,
उद्धृतदंष्ट्रं घोरविषमिव नागम्॥१२॥

पदार्थान्वयः—कुसीला-कुत्सित लोक सिरिओ अवेयं-तपोरूप लक्ष्मी से रहित दुव्विहं-दुष्ट व्यापार करने वाले धम्मा उ भट्ठं-धर्म से भ्रष्ट णं-उस पुरुष

की विज्झाए-बुझी हुई अप्पतेअं-तेजो रहित जन्नग्गिमिव-यज्ञ की अग्नि के समान तथा दाढुड्ढिअं-जिस की दाढ़ें निकाल दी गई हैं, ऐसे घोरविसं-रौद्र विष वाले नागमिव-सर्प के समान हीलंति-अवहेलना करते हैं।

मूलार्थ—जो साधु, धर्म से भ्रष्ट एवं तप के अद्वितीय तेज से हीन हो जाता है; उसकी नीच से नीच मनुष्य भी अवहेलना करते हैं। दुराचारी संयम-भ्रष्ट साधु, लोगों से उसी प्रकार तिरस्कृत होता है, जिस प्रकार तेजःशून्य बुझी हुई यज्ञ की अग्नि और दंष्ट्रा रहित महाविषधारी सर्प तिरस्कृत होता है।

टीका—संसार मे गुणवानों की ही पूजा होती है, गुण-हीनों की नहीं। अतः जो मनुष्य विषय भोगों मे फँस कर संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं, तथा अन्त-र्ज्वल्यमान तपोरूप अग्नि के अलौकिक तेज से हीन होकर गतप्रभाव हो जाते हैं, तथा निन्द्य व्यवहार करने लग जाते हैं; उनकी धार्मिक पुरुष तो जो अवहेलना करते हैं, वह तो करते ही हैं, किन्तु आचार-हीन नीच पुरुष भी उसको घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे हँसी करके कहते हैं कि क्यों महाराज! इन्द्रियों पर विजय-स्तम्भ स्थापित कर दिया? वे दिन स्मरण हैं जब हमें दुराचारी कहा करते थे और स्वयं सदाचारी बना करते थे। अब तो तुम से हम ही अच्छे हैं इत्यादि। क्योंकि किसी कार्यक्षेत्र मे नहीं जाने की अपेक्षा, कायरता के कारण, जाकर वापिस लौट आना अधिक बुरा समझा जाता है। सूत्रकार ने संयमभ्रष्ट साधु के तिरस्कार की उपमा उपशान्त हुई यज्ञ की अग्नि और उखाड़ी हुई दाढ़ वाले सर्प से दी है। ये उपमाएँ प्रतिपादित विषय को बहुत ही स्फुट करने वाली हैं। यज्ञ की अग्नि जब तक जलती रहती है, तब तक तो लोग उसमे घृत मधु आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ गेरते हैं और उसको हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हैं, किन्तु बुझ जाने के बाद उसी भस्म हुई अग्नि को बाहर फेंक देते हैं और लोग उसको पैरों तले रोंदते हुए चले जाते हैं। इसी भाँति जब तक सर्प के मुँह में दंष्ट्राएँ, रहती हैं, तब तक तो सब कोई उससे डरते हैं और अलग भागते हैं, किन्तु वे ही सर्प जब मदारी द्वारा दंष्ट्रा रहित कर दिया जाता है, तो बड़े आदमी तो क्या, छोटे-छोटे बच्चे भी आ आकर उसे छेड़ते हैं और लकड़ी की घूंस मारते हैं एवं उसके मुँह मे अंगुली दे देते हैं। कितना लज्जाजनक तिरस्कार है, पदभ्रष्टों की यही दुर्दशा होती है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस लोक के साथ परलोक-सम्बन्धी फल के विषय मे भी कहते हैं :—

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती,
दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणंमि ।
चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो,
संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गइ ॥१३॥

इहैव अधर्मोऽयशोऽकीर्तिः,
दुर्नामध्येयं च पृथग् जने ।
च्युतस्य धर्माद्धर्मसेविनः,
संभिन्नवृत्तस्य चाधस्ताद् गतिः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—जो व्यक्ति धम्माउ-धर्म से चुअस्स-पतित है अहम्मसेविणो-अधर्म का सेवन करने वाला है य-तथा संभिन्नवित्तस्स-गृहव्रतों को खण्डित करने वाला है, वह इहेव-इस लोक मे अधम्मो-अधर्मी कहलाता है अयसो-अपयश और अकित्ती-अकीर्ति पाता है पिहुज्जणंमि-साधारण लोगों मे दुन्नामधिज्जं-बदनाम (अपमानित) हो जाता है, तथा अन्त में हिट्ठओगइ-परलोक का यात्री बन कर नीच गतियों मे उत्पन्न होता है ।

मूलार्थ—धर्मभ्रष्ट, अधर्म सेवी एवं व्रत-भग्न-कर्ता मनुष्य इस लोक में तो अपयश (अकीर्ति) का भागी होता है, अधार्मिक (म्लेच्छ) कहलाता है एवं नीच मनुष्यों द्वारा घृणित नामों से पुकारा जाता है । तथा परलोक में नरक आदि नीच गतियों में चिरकाल तक असह्य दुःख भोगता है ।

टीका—इस काव्य मे धर्म से पतित मनुष्य की इस लोक और परलोक में होने वाली दुर्दशा का दिग्दर्शन कराया गया है । यथा—जो साधु सांसारिक भोग विलासों के लालच से, धर्म से पतित होकर एवं गृहीत व्रतों को खण्डित करके पुनः ससार मे आ जाता है और अधार्मिक कार्य करने लग जाता है, उसकी इस लोक मे शुभ पराक्रम न होने के कारण अपकीर्ति होती है । तथा वह प्राकृत श्रेणी के

मनुष्यों द्वारा धर्मभ्रष्ट, कायर, म्लेच्छ, पतित आदि नामों से भी चिड़ाया जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु बहुत से सज्जन तो उसे देखते तक नहीं। उसके दर्शन में भी पाप समझा जाता है। यह तो इस लोक की दुर्दशा है। अब परलोक की दशा देखिये, संयम भ्रष्ट मनुष्य, जब दुःखपूर्वक अपना जीवन समाप्त कर परलोक में जाता है, तो वहाँ अच्छा स्थान नहीं मिलता। उसे स्थान मिलता है नरक और नीच तिर्यंच का, जहाँ क्षणभर भी सुख नहीं मिलता। दिन रात की हाय-हाय, मरा-मरा की ही करुण पुकार में सारा जीवन व्यतीत होता है। सूत्रकार का 'अधर्म-सेवी' शब्द बतला रहा है कि स्त्री आदि के वास्ते निर्दयतापूर्वक षट्काय के संहार करने वाले अधर्मी जीवों को कदापि सद्गति नहीं मिल सकती है।

उत्थानिका—अब फिर विशेष कष्ट पाने के विषय में कहते हैं:—

भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेअसा,
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणिहिज्झिअं दुहं,
बोही अ से नो सुलहा पुणो पुणो ॥१४॥

भुक्त्वा भोगान् प्रसह्य चेतसा,
तथाविधं कृत्वाऽसंयमं बहुम्।
गतिं च गच्छति अनभिध्यातां,
दुःखां बोधिश्चास्य न सुलभा पुनः पुनः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—संयम त्यागी साधु पसज्झ चेयसा—दत्तचित्त से भोगाइं—भोगों को भुंजित्तु—भोग कर एवं तहाविहं—तथाविध बहुं—बहुत से असंजमं—असंयम कृत्य कट्टु—करके कालधर्म को प्राप्त होता है तब दुहं—दुःख देने वाली अणिहिज्झिअं—अनिष्ट गइं—नरकादि गति को गच्छइ—जाता है अ—और से—उसे बोही—बोधितत्व पुणो पुणो—बारंबार नो सुलहा—सुलभ नहीं होता।

मूलार्थ—संयमभ्रष्ट व्यक्ति, बड़ी लगन से भोगों को भोग कर एवं नानाविध असंयम कार्यों को करके जब मरता है, तो अनिष्ट एवं दुःखद

नरकादि नीच गतियों में जाता है। फिर उसे सुखपूर्वक जिन-धर्म-प्राप्ति-रूप बोधि कभी नहीं मिल सकती।

टीका—जिस मनुष्य ने संयम वृत्ति का परित्याग कर धर्म की अपेक्षा नहीं रखते हुए बड़ी अभिलाषा के साथ विषय भोगों को भोगा है, तथा अज्ञोचित हिंसाकारी महान् अकृत्य किये हैं; वह असंतोष भाव से कुत्ते की मौत मर कर उन नरकादि गतियों में जाता है, जो स्वभावतः ही भयानक एवं असह्य दुःखप्रद हैं। तथा घोर से घोर दुःखों मे पड़ा हुआ भी प्राणी जहाँ जाने की इच्छा नहीं कर सकता। यदि नरक के घोर दुःख भोगने के वाद भी दुःखों से छूट जाय, तो भी सर्वोत्तम है; परन्तु उसको तो दुःखों से भी छुटकारा नहीं मिल सकता है। क्योंकि दुःखों से छुड़ाने वाली जिन-धर्म-प्राप्तिरूप बोधि है, और वह उसे अशुभ कर्मोदय के कारण सुखपूर्वक मिल नहीं सकती। प्रवचन विराधना का यही कटु फल होता है, अतः संयमपरित्याग भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

उत्थानिका—अव फिर इसी नरक गति के विषय में कहते हैं:—

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो,
दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं,
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥१५॥

अस्य तावत् नारकस्य जन्तोः,
दुःखोपनीतस्य क्लेशवर्तिनः।
पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं,
किमंग पुनर्ममेदं मनोदुःखम् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—नेरइअस्स—नरक मे गये हुए दुहोवणीअस्स—दुःख से युक्त हुए एवं किलेसवत्तिणो—एकान्त क्लेश-वृत्ति वने हुए इमस्स—मेरे इस जंतुणो—जीव की जव नरक सम्वन्धी पलिओवमं—पल्योपम तथा सागरोवमं—सागरोपम आयु भी

झिज्झइ–समाप्त हो जाती है पुण–तो फिर अंग–हे जीव मज्झ–मेरा इमं–यह मणोदुहं–मानसिक दुःख तो क्या है, कुछ भी नहीं।

मूलार्थ—संकट आ पड़ने पर संयम से डिगने (विचलित होने) वाले साधु को यह विचार करना चाहिये कि यह मेरा जीव कई बार पहले नरक में जा चुका है और वहाँ के असह्य दुःख भोग कर क्लेश-वृत्ति वाला बन चुका है; परन्तु जब वहाँ के पल्योपम एवं सागरोपम जैसे महान् दीर्घ आयु को भोग कर क्षय कर दिया और वहाँ से निकल आया, तो फिर यह चारित्र विषयक मानसिक दुःख तो क्या चीज है यह तो अभी नष्ट हुआ जाता है।

टीका—इस काव्य मे इस बात का प्रकाश किया गया है कि दुःखों को सहन करने के लिये किस प्रकार से सहनशक्ति उत्पन्न करनी चाहिये यथा—संयम पालते हुए किसी दुःख के उत्पन्न हो जाने पर साधु को इस प्रकार की विचारणा करनी चाहिये—इस मेरे जीव ने अनंत बार नरक गति मे जाकर शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को पल्योपम और सागरोपम आयु प्रमाण सहन किया है, इतना ही नहीं, किन्तु अतीव क्लेशयुक्त होते हुए नानाविध दुःखों को भोगा है, तो फिर यह जो मुझे संयम में अरति के कारण दुःख हुआ है, वह तो थोड़ी मात्रा का है, क्योंकि जिस प्रकार वह दुःख भोग कर क्षय किया जा चुका है, इसी प्रकार यह भी क्षय हो जायगा। अतः मुझे संयम के विषय में दृढ़ता धारण कर उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। सूत्रकार ने यह नरक के दुःखों का दृष्टान्त बड़े ही महत्त्व का एवं समय के अनुकूल दिया है। इससे भ्रष्ट होता हुआ संयमी पुनः संयम मे स्थिर हो जाता है। यह दृष्टान्त साहस एवं धैर्य की गिरती हुई भित्ति को अतीव सुदृढ़ बनाने वाला है।

उत्थानिका—अब फिर दुःखों की अनित्यता के विषय मे कहते हैं:—

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ,
असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ,
अविस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥१६॥

न मम चिरं दुःखमिदं भविष्यति,
अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः।
न चेच्छरीरेण अनेन अपयास्यति,
अपयास्यति जीवित पर्यायेण मे ॥१६॥

पदार्थान्वयः—इमं-यह मे-मेरा दुक्खं-दुःख चिरं-चिरकाल तक न भविस्सइ-नहीं रहेगा; क्योंकि जंतुणो-जीव की भोगपिवास-भोगपिपासा असासया-अशाश्वती है च-यदि विषयतृष्णा इमेण-इस सरीरेण-शरीर से न अविस्सइ-न जायगी तो मे-मेरे जीविअपज्जवेण-जीवन के अन्त में तो अविस्सई-अवश्य जायगी ही।

मूलार्थ—साधु को अरति के समय ऐसा विचार करना चाहिये कि यह मेरा अरति-जन्य दुःख अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकेगा; क्योंकि जीव की विषय-वासना अशाश्वती है। यदि यह शरीर के रहते हुए नष्ट होगी, तो अन्त में मरने पर तो अवश्य ही नष्ट हो जायगी।

टीका—यदि कभी किसी कष्ट के कारण से संयम में अरति उत्पन्न हो जाय तो साधु को ऐसी विचारणा करनी चाहिये कि मुझे जो यह दुःख हुआ है, वह चिरकाल तक नहीं रहेगा कुछ ही दिनों में दूर हो जायगा, क्योंकि दुःख और सुख समीप ही होते हैं, दूर नहीं। दूसरा जो यह रह रह (रुक रुक) कर भोग पिपासा जागृत होती है, जिसके कारण चित्त चलायमान हो जाता है, सो नियमतः अशाश्वती है। इसका अधिक प्रभाव यौवन अवस्था पर्यन्त ही रहता है इसके पीछे तो यह आप ही शिथिल पड़ जाती है। अतः मैं इसके फँदे में क्यों आऊँ। यदि थोड़ी सी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि यह वृद्धावस्था पर्यन्त (शरीर स्थिति तक) नहीं भी छोड़ेगी, तो फिर भी कोई बात नहीं। जब मृत्यु समय आयगा, तब तो यह अवश्य अलग हो जावेगी। किसी भी अवस्था में नहीं रह सकेगी। अब ऊपर की बात का तत्व यह है कि जब शरीर ही अनित्य है, तो भोगवासना नित्य किस प्रकार हो सकती हैं। दुःख और सुख किस प्रकार स्थिर रह सकते हैं। अतः नश्वर भोगवासना एवं दुःख के कारण, अनंतकल्याणकारी संयम का किसी भी प्रकार से त्याग नहीं करना चाहिये।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, धर्म पर प्राण न्यौछावर (बलिदान) करने का उपदेश देते हैं:—

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ,
उविंतिवाया व सुदंसणं गिरिं ॥१७॥

यस्यैवमात्मा तु भवेत् निश्चितः,
त्यजेत् देहं न तु धर्मशासनम्।
तं तादृशं न प्रचालयंति इन्द्रियाणि,
उत्पतद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—जस्स-जिस की अप्पा उ-आत्मा एवं-पूर्वोक्त प्रकार से निच्छिओ-दृढ़ हविज्ज-होती है, वह देहं-शरीर को न-नहीं छोड़ता व-जिस प्रकार उविंतिवाया-महावायु सुदंसणंगिरिं-मेरु पर्वत को चलित नहीं कर सकता, इसी प्रकार इंदिआ-इन्द्रियाँ भी तारिसं-मेरु के समान दृढ़ तं-पूर्वोक्त साधु को न पइलंति-प्रचलित नहीं कर सकती।

मूलार्थ—जिस मुनि की आत्मा दृढ़ होती है, वह अवसर पड़ने पर शरीर का तो सहर्ष परित्याग कर देता है; किन्तु धर्म शासन को नहीं छोड़ता। जिस प्रकार प्रलयकाल की महावायु पर्वतराज सुमेरु को नहीं गिरा सकती, उसी प्रकार चंचल इन्द्रियाँ भी उक्त मुनि को विचलित नहीं कर सकतीं।

टीका—जिस मुनि की आत्मा परम दृढ़ होती है, वह धर्म में विघ्नों के उपस्थित हो जाने पर अपने शरीर को तो छोड़ देगा; किन्तु स्वीकृत धर्म को कदापि नहीं छोड़ेगा। अतः एवंविध दृढ़ आत्मा वाले मुनि को चंचल इन्द्रियाँ उसी प्रकार धर्म पथ से चलायमान नहीं कर सकतीं, जिस प्रकार प्रलय काल की प्रचण्ड वायु, मेरु पर्वत को कंपायमान नहीं कर सकती। अतएव सिद्ध हुआ कि आत्मार्थी मुनि

को योग्य है, कि आत्म-निश्चय कर लेने पर धर्म के विषय में दृढ़ता धारण करे, और विषय-वासनाओं से अपनी आत्मा को पृथक् रक्खे । इसी में अपना कल्याण है, दूसरे का कल्याण है, और सारे संसार का कल्याण है ।

उत्थानिका—अब प्रस्तुत चूलिका का उपसंहार करते हैं :—

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं विआणिआ ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि ॥१८॥
त्ति बेमि ।

इअ रइवक्का पढमा चूला समत्तो ।

इत्येव संदृश्य बुद्धिमान्नरः,
आयमुपायं विविधं विज्ञाय ।
कायेन वाचाऽथवा मानसेन,
त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत् ॥१८॥
इति ब्रवीमि ।

इति प्रथमा चूलिका समाप्तः ।

पदार्थान्वयः—बुद्धिमं-बुद्धिमान् नरो-मनुष्य इच्चेव-इस प्रकार संपस्सिअ-विचार करके विविहं-नाना विध आयं-ज्ञानादि के लाभ के उवायं-विनयादि उपायों को विआणिआ-जान कर काएण-काय से वाया-वचन से अदु-अथवा माणसेणं-मन से तिगुत्तिगुत्तो-त्रिगुप्ति से गुप्त होता हुआ जिणवयणं-जिन वचनों का अहिट्ठिज्जासि-आश्रय करे, अर्थात् जिन वचनानुकूल क्रिया करके स्वकार्य की सिद्धि करे । त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् पुरुष को पूर्वोक्त रीत्या विचार करके, ज्ञानादि लाभ के उपायों को जानना चाहिये एवं मन, वचन और काय के योग से त्रिगुप्ति गुप्त होकर, जिन वचनों का यथावत् पालन करना चाहिये। यही रीति कार्य सिद्ध करने की है।

टीका—इस सूत्र में चूलिका का उपसंहार किया गया है। बुद्धिमान् पुरुष को योग्य है कि जो विषय इस अध्ययन में वर्णन किया गया है, उसको अच्छी प्रकार विचार कर तथा ज्ञानादि की प्राप्ति के विनयादि उपायों को जान कर, तीनों गुप्तियों को धारण करके जिन वचनों के विषय में दृढ़ता रक्खे अर्थात् अरिहंतों के उपदेश द्वारा आत्म कल्याण करे। इसका अन्तिम फल निर्वाण प्राप्ति है। सूत्र में जो 'इत्येवं' शब्द दिया है, उसका यह भाव है—प्रथम सूत्र में जो अष्टादश स्थान बतलाए हैं, उनसे लेकर सम्पूर्ण अध्ययन का सम्यग् विचारों से विचार करना चाहिये। क्योंकि अच्छी प्रकार विचारी हुई यह अष्टादश स्थान-प्रतिपादिका चूलिका, संयम से विचलित होते हुए जीवों को पुनः संयम में स्थिरीभूत करने वाली है।

प्रथम चूलिका समाप्त।

अह विवित्तचरिया विजिआ चूला ।

अथ विविक्तचर्या द्वितीया चूलिका ।

उत्थानिका—प्रथम चूड़ा द्वारा धर्म मे स्थिर होना प्रतिपादन किया गया है; अब इस द्वितीय चूड़ा द्वारा साधु को अप्रतिबद्ध होकर विहार करने का उपदेश देते हैं । क्योंकि, जो धर्म में दृढ़ होता है, वही सूत्रोक्त क्रियाओं के करने में कटिबद्ध होता है । यही इन दोनों चूलिकाओं का आपस मे सम्बन्ध है । अब सूत्रकार फल-निर्देश-पूर्वक चूलिका की प्रशंसा करते हुए, प्रथम प्रतिज्ञा सूत्र कहते हैं:—

चूलिअं तु पवक्खामि, सुअं केवलिभासिअं ।
जं सुणित्तु सुपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई ॥१॥

चूलिकां तु प्रवक्ष्यामि, श्रुतां केवलिभाषिताम् ।
यां श्रुत्वा सुपुण्यानां, धर्मे उत्पद्यते मतिः ॥१॥

पदार्थान्वयः—केवलिभासिअं—केवली भाषित सुअं—श्रुतरूप चूलिअं—चूलिका को पवक्खामि—कहूँगा जं—जिस को सुणित्तु—सुन करके सुपुण्णाणं—अच्छे पुण्यवान् जीवों को धम्मे—चारित्र धर्म मे मई—श्रद्धा उप्पज्जए—उत्पन्न होती है ।

मूलार्थ—जो भगवद्भाषित है, जो श्रुतस्वरूप है, और जिस के श्रवण से पुण्यात्मा जीवों को धर्म में दृढ़ श्रद्धा होती है; ऐसी द्वितीय चूलिका को कहता हूँ ।

टीका—चूलिका के रचयिता मुनि कहते हैं कि मैं जो यह चूलिका कहता हूँ वह, कुछ मनःकल्पित एवं फलशून्य नहीं है । यह तो वह चूलिका है, जो केवली भगवंतों द्वारा प्रतिपादन की गई है, जिसको श्रुतज्ञान में स्थान मिला हुआ है, और जिसको सुन कर पुण्यानुबन्धी पुण्य वाले श्रेष्ठ जीवों को चारित्रधर्म मे अतीव दृढ़ सुमति एवं श्रद्धा उत्पन्न होती है । 'धम्मे उप्पज्जए मई' पद के कहने का यह भाव है कि जिसकी चारित्र धर्म मे संलग्नता हो जाती है, उसकी सब मनः कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं । क्योंकि यह धर्म अचिन्त्य चिन्तामणि रत्न है, सकल चिंता नाश करने वाला है । यह प्रथम सूत्र 'प्रतिज्ञा सूत्र' है, क्योंकि इसमे केवल माहात्म्य वर्णन के साथ 'मैं चूलिका कहता हूँ' यही कथन किया गया है । विषय का वर्णन आगे के सूत्रों में किया जाने वाला है ।

उत्थानिका—अब विषय भोगों से पराङ्मुख रहने का उपदेश देते हैं :—

अणुसोअपट्ठिएबहुजणंमि, पडिसोअलद्धलक्खेणं ।
पडिसोअमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं ॥२॥

अनुस्रोतः प्रस्थिते बहुजने, प्रतिस्रोतो लब्धलक्ष्येण ।
प्रतिस्रोत इव आत्मा, दातव्यो भवतु कामेन ॥२॥

पदार्थान्वयः—जिस प्रकार नदी में गिरा हुआ काष्ठ, प्रवाह के वेग से समुद्र की ओर जाता है, उसी प्रकार बहुजणंमि—बहुत से मनुष्य अणुसोअपट्ठिए—विषयप्रवाह के वेग से संसाररूप समुद्र की ओर बहते हैं, किन्तु पडिसोअलद्ध-लक्खेणं—विषयप्रवाह से पृथक् रहे हुए संयम को लक्ष्य रखने वाले होउकामेणं—मुक्ति जाने की इच्छा करने वाले पुरुषों को तो अप्पा—अपनी आत्मा पडिसोअमेव—विषयप्रवाह से पराङ्मुख ही दायव्वो—करनी चाहिये ।

मूलार्थ—नदी के जलप्रवाह में पड़े हुए काष्ठ की तरह बहुत से प्राणी, विषय रूपी नदी के प्रवाह में पड़े हुए संसारसमुद्र की ओर बहे जाते हैं, किन्तु जिनका लक्ष्य विषयप्रवाह से बहिर्भूत (द्वीपसम) संयम की ओर लग गया है, और संसार से मुक्त होने की इच्छा रखते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे अपनी आत्मा को सदा विषय प्रवाहों से प्राङ्मुख ही रक्खें ।

टीका—इस गाथा मे शिक्षा का वर्णन किया गया है । यथा जब काठ नदी के प्रवाह में गिर जाता है, तब वह नदी के वेग से समुद्र की ओर बहने लगता है, ठीक इसी प्रकार विषयरूपी नदी के प्रवाह में जो जीव पड़े हुए हैं, वे भी संसार समुद्र की ओर बहे जा रहे हैं, किन्तु जो आत्माएँ संसार सागर से पराङ्मुख होकर मुक्ति जाने की इच्छा रखने वाली हैं, उनको योग्य है कि वे अपनी आत्मा को विषय रूपी प्रवाह से हटा कर संयम रूपी द्वीप मे स्थापन करे । कारण यह है कि अनुस्रोत संसार के विषय विकारों का नाम है और 'प्रतिस्रोत' विषय विकारों से निवृत्ति का नाम है । अतः 'द्रव्य अनुस्रोत' नदी का प्रवाह है और 'भाव अनुस्रोत' विषय विकार है । अनुस्रोतगामी जीव अन्त मे नरक आदि के दुःखों के भागी होते हैं और प्रतिस्रोतगामी जीव निर्वाण प्राप्त कर अनंत सुखों के भागी होते हैं । अतएव निर्वाणसुखाभिलाषी भव्य पुरुषों को सदा प्रतिस्रोत की ओर ही गमन करना चाहिये ।

उत्थानिका—अब फिर यही विषय स्पष्ट किया जाता है :—

अणुसोअ सुहो लोओ,
पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।
अणुसोओ संसारो,
पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥३॥

अनुस्रोतः सुखो लोकः,
प्रतिस्रोत आश्रवः सुविहितानाम् ।
अनुस्रोतः संसारः,
प्रतिस्रोतस्तस्योत्तारः ॥३॥

पदार्थान्वयः—संसारो-संसार अणुसोअ-अनुस्रोत है, और तस्स-उससे उत्तारो-पार होना पडिसोओ-प्रतिस्रोत है । अतः सुविहिआणं-साधु पुरुषों का आसवो-इन्द्रियजयरूप व्यापार तथा आसमो-दीक्षा रूप आश्रम पडिसोओ-

प्रतिस्रोत है, सो इसमें संसारी जीवों का जाना कठिन है, क्योंकि लोओ-संसारी जीव तो अणुसोअसुहो-अनुस्रोत में ही सुख मानते हैं।

मूलार्थ—यह संसार अनुस्रोत के समान है और सुविहित साधुओं का दीक्षारूप आश्रम प्रतिस्रोत के समान है; क्योंकि इसीसे संसार-समुद्र पार किया जाता है। अतः संसारी जीवों को प्रतिस्रोत का मार्ग कठिन प्रतीत होता है, वे तो अनुस्रोत में ही सुख मानते हैं।

टीका—इस गाथा मे पूर्व विषय को स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। यथा—जिस प्रकार काष्ठ नदी के अनुस्रोत में तो सुखपूर्वक चला जाता है, किन्तु प्रतिस्रोत में कठिनता से जाता है, उसी प्रकार संसारी जीव भी स्वभावतः अनुस्रोत रूप विषय भोगों की ओर ही प्रवृत्त होते हैं, किन्तु प्रतिस्रोत के समान साधुओं का दीक्षारूप जो आश्रम है, उसमें प्रत्येक जीव सुखपूर्वक गमन नहीं कर सकते। वीर से वीर कहलाने वाले मनुष्य भी संयम के प्रति अपनी असमर्थता ही प्रगट करते हैं। अनुस्रोत से संसार और प्रतिस्रोत से संयम के कहने का यह भाव है कि यदि शब्दादि विषय भोगों में ही लगे रहोगे, तो संसार सागर में डूबोगे। यदि इसके विपरीत विषय भोगों का परित्याग कर संयम धारण करोगे तो निर्वाण पद प्राप्त करोगे। सूत्र में 'आसवो'-और-'आसमो' यह दोनों शब्द मिलते हैं। दोनों का संस्कृत रूप क्रमशः 'आश्रवः'-और-'आश्रम' होता है। भावार्थ दोनों का एकसा ही है।

उत्थानिका—अब नियमों को यथा समय पालन का उपदेश देते हैं:—

तम्हा आयारपरक्कमेणं, संवरसमाहिबहुलेणं।
चरिआ गुणा अ नियमा अ, हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥४॥

तस्मादाचारपराक्रमेण, संवरसमाधिबहुलेन।
चर्या गुणाश्च नियमाश्च, भवन्ति साधूनां द्रष्टव्याः ॥४॥

पदार्थान्वयः—तम्हा-इसलिये आयारपरक्कमेणं-आचारपालन मे पराक्रमी होने से संवरसमाहिबहुलेणं-संवर समाधि मे बहुलता युक्त होने से साहूण-साधुओं को चरिआ-अपनी चर्या गुणा-मूलगुण वा उत्तर गुण अ-तथा नियमा-

पिंडविशुद्धि आदि नियम, जिस समय जो आचरण करने योग्य हों, उसी समय वही दट्ठव्वा–आसेवन करने योग्य हुंति–होते हैं।

मूलार्थ—अतएव जो मुनि आचार क्रिया में पराक्रमी हैं एवं संवर समाधि की विशेषता वाले हैं; उन्हें अपने विहार, मूलोत्तर गुण और नियम आदि, जिस समय जो आवश्यक हों उस समय वे ही कर्तव्य है।

टीका—जो साधु ज्ञानादि आचारों मे पराक्रम करता है तथा इन्द्रियजय रूप संयम का धनी है, अर्थात् चित्त की अनाकुलता रूप समाधि से संपन्न है, उसको योग्य है कि वह "भिक्षुभावसाधिका" "अनियतवासादिस्वरूपा" चर्या का, तथा मूलोत्तर रूप गुणों का, तथा पिंडविशुद्धि आदि नियमों का, शास्त्रनिर्दिष्ट समय के अनुसार ही आचरण करे। भाव यह है कि शास्त्रों में जिस जिस समय जो जो क्रियाएँ करनी आवश्यक वतलाई हों, उस उस समय उन उन क्रियाओं का ही साधु को आचरण करना चाहिये, विपरीत नहीं। कारण यह है कि सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान द्वारा जो चारित्र की आराधना की जाती है, वही सम्यग् रूप होने से आत्म कल्याण करने वाली होती है। बिना देश काल का सम्यग् ज्ञान चारित्र सुखकर कभी नहीं हो सकता है।

उत्थानिका—अब चर्या के विषय में कहते हैं:—

अनिएअवासो समुआण चरिआ,
अन्नायउंछं पइरिक्कया अ।
अप्पोवही कलहविवज्जणा अ,
विहारचरिआ इसिणं पसत्था॥५॥

अनिकेतवासः समुदानचर्या,
अज्ञातोञ्छं प्रतिरिक्तता च।
अल्पोपधिः कलहविवर्जना च,
विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ता॥५॥

पदार्थान्वयः—**अनिएअवासो**—एक ही स्थान पर सदा नहीं रहना **समुआणचरिआ**—अनेक घरों से भिक्षाचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करना **अ**—तथा **अन्नायउंछं**—अज्ञात कुलों से स्तोक स्तोक मात्र धर्मोपकरण लेना **पइरिक्कया**—एकान्त स्थान मे निवास करना **अप्पोवही**—अल्प उपधि रखना **अ**—एवं **कलहविवज्जणा**—कलह का परित्याग करना, यह **इसीण**—ऋषियों की **विहारचरिआ**—विहार चर्या है, जो **पसत्था**—अतीव प्रशस्त है।

मूलार्थ—प्रायः सदा एक ही स्थान पर नहीं रहना, समुदानी भिक्षा करना, अज्ञात कुल से थोड़ा-थोड़ा करके आवश्यक आहारादि लेना, एकान्त स्थान में निवास करना, अल्प उपधि रखना, और कलह का त्यागना, ऐसी विहारचर्या ऋषियों के लिये प्रशस्त है।

टीका—इस काव्य में साधु की विहार चर्या के विषय में वर्णन किया गया है। यथा—साधु को बिना किसी रोगादि के एक ही स्थान पर स्थिर-वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि एक जगह अधिक रहने से ममत्व भाव का उदय होता है। तथा अनेक घरों से भिक्षाचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, क्योंकि एक घर के आहार मे आरंभ समारंभ का दोष लगता है। तथा अज्ञात कुलों से स्तोक मात्र ही विशुद्ध धर्म सम्बन्धी उपकरण लेने चाहियें, क्योंकि ज्ञातकुल से लेने में क्रीतकृत आदि दोषों की संभावना रहती है। तथा प्रायः भीड़ रहित एकान्त स्थान मे ही ठहरना चाहिये, क्योंकि विना एकान्त स्थान के कोलाहल के कारण चित्त में स्थिरता नहीं आती। तथा उपधि धर्मोपकरण अल्प ही रखने चाहियें क्योंकि अधिक रखने से परिग्रह की वृद्धि होकर ममत्व भाव बढ़ेगा। तथा किसी के साथ कलह भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि कलह से आत्मा की शान्ति भंग होती है और जनता मे धर्म के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त अनियतवासरूप विहार चर्या मुनियों के लिये भगवंतों ने प्रतिपादन की है, जो अतीव सुन्दर है। विहार चर्या का मन्तव्य मर्यादावर्ती होना है, और वह इसमें पूर्ण रूप से है:—

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय पर कहा जाता है:—

आइन्नओमाणविवज्जणा अ,
ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे ।
संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू,
तज्जायसंसट्ठ जइ जइज्जा ॥६॥

आकीर्णावमानविवर्जना च,
उत्सन्नदृष्टाहृतं भक्तपानम्।
संसृष्टकल्पेन चरेद् भिक्षुः,
तज्जातसंसृष्टः यतिर्यतेत ॥६॥

पदार्थान्वयः—भिक्खू-भिक्षण शील जइ-साधु को आइन्नओमाणविवज्जणा-राजकुल संखडी एवं स्वपक्ष और परपक्ष से उत्पन्न अवमान, इन दोनों को वर्जना चाहिये ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे-प्रायः उपयोगपूर्वक ही प्रशस्त आहार पानी ग्रहण करना चाहिये संसट्ठकप्पेण-संसृष्ट हस्तादि द्वारा ही आहार लेते हुए चरिज्ज-विचरना चाहिये, तथा तज्जायसंसट्ठ-यदि उसी पदार्थ से हस्तादि संसृष्ट हों तो उसी के ग्रहण करने में जइज्ज-यत्न करना चाहिये ।

मूलार्थ—वस्तुतः कर्मों को क्षय करने वाला यत्नशील साधु वही होता है, जो जनाकीर्ण राज संखड़ी का और अपमान का परित्याग करता है, जो उपयोगपूर्वक ही शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है, जो खरड़े हुए हस्तादि से ही आहार-वस्तु लेता है, एवं यदि दीयमान पदार्थ से संसृष्ट हों तो उन्हीं को लेने का यत्न करता है ।

टीका—इस सूत्र में साधुचर्या के विषय में ही वर्णन किया गया है । यथा—जिस राजकुलादि में प्रीतिभोज हो रहा हो और जो अनेक मनुष्यों के यातायात से संकीर्ण हुआ हो, ऐसे स्थान में साधु को भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिये, क्योंकि वहाँ परस्त्री आदि का संघट्टा होता है तथा भीड़ के कारण किसी के धक्के से गिरने पर चोट लग जाने की भी संभावना है । तथा स्वपक्ष और परपक्ष की ओर से यदि अपना अपमान हो रहा हो, तो उसे शान्ति से सहना चाहिये;

क्योंकि यही मार्ग बढ़ती हुई अशान्ति के स्थान में शान्ति का करने वाला है। तथा उपयोगपूर्वक ही शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा बहुत अधिक आधाकर्म आदि दोषों के लग जाने की आशंका है। तथा किन्हीं योग्य पदार्थों से हस्त वा कड़छी आदि संसृष्ट हों (खरड़े हुए हों) तो उन्हीं से आहार लेना चाहिये; अन्यथा पुरः कर्म दोष की संभावना है। तथा जिस पदार्थ के लेने की इच्छा हो, यदि उसीसे हस्तादि संसृष्ट हों तो उसे ही ले लेना चाहिये, अन्यथा संसर्जन दोष की उत्पत्ति होती है। यह उपर्युक्त वृत्ति मुनियों के लिये प्रशस्त रूप से प्रतिपादन की गई है, अतः इसको पालन करने के लिये यतिवरों को पूर्ण यत्न करना चाहिये । इस वृत्ति के पालन में पुरुषार्थ करने से आत्मा का वास्तविक कल्याण होता है।

उत्थानिका—अब अध्यात्मिक उपदेश देते हैं:—

अमज्जमंसासि, अमच्छरीआ,
अभिक्खणं निव्विगइंगया य।
अभिक्खणं काउसग्गकारी,
सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥७॥

अमद्यमांसाशी अमत्सरी च,
अभीक्ष्णं निर्विकृतिं गताश्च।
अभीक्ष्णं कायोत्सर्गकारी,
स्वाध्याययोगे प्रयतो भवेत् ॥७॥

पदार्थान्वयः—अमज्जमंसासि-मद्य और मांस का परित्यागी अमच्छरी-द्वेष से रहित च-तथा अभिक्खणं-वारंवार निव्विगइं-निर्विकृति को गया-प्राप्त करने वाला अ-तथा अभिक्खणं काउसग्गकारी-वारंवार कायोत्सर्ग करने वाला साधु सज्झायजोगे स्वाध्याय योग में पयओ-प्रयत्नवान् हविज्ज-होवे।

मूलार्थ—यदि सच्चा साधु बनना है तो मद्य मांस से घृणा करे, किसी से ईर्षा मत करे, बारंबार पौष्टिक भोजन का परित्याग और कायोत्सर्ग करता

रहे तथा स्वाध्याय योग में प्रयत्नवान् बने।

टीका—साधु को मद्य और मांस का कदापि सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये दोनों अभक्ष्य पदार्थ हैं, बुद्धि को भ्रष्ट करने वाले हैं। तथा किसी से ईर्षा भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ईर्षा से विश्वबन्धुत्व की भावना नष्ट होती है और आत्मा में अयोग्य संकीर्णता आती है। तथा बारंबार घृतादि पौष्टिक पदार्थों का भी सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि पौष्टिक पदार्थों का प्रतिदिन सेवन करने से मादकता की वृद्धि होती है। तथा प्रतिदिन पुनः पुनः कायोत्सर्ग–ध्यान करना चाहिये, क्योंकि ध्यान से आत्म-शुद्धि होती है। तथा वाचनादि स्वाध्याय योग मे प्रयत्नशील होना चाहिये, क्योंकि स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है एवं चित्त मे स्थिरता आती है। उपलक्षण से साधु की अन्य वृत्तियों का भी इसी प्रकार ग्रहण कर लेना चाहिये। उपर्युक्त क्रियाओं के करने से साधु की विहार चर्या ठीक होती है, एवं पराधीनता के स्थान मे स्वतंत्रता की भावना जाग्रत होती है। शुभ क्रियाओं का अन्तिम फल निर्वाण होता है। और यही मुनि का चरम लक्ष्य है।

उत्थानिका—अब शासन आदि की ममता नहीं करने का उपदेश देते हैं:—

ण पडिन्नविज्जा सयणासणाइं,
सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा नगरे व देसे,
ममत्त भावं न कहिंपि कुज्जा ॥८॥

न प्रतिज्ञापयेत् शयनासने,
शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानम्।
ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे,
ममत्वभावं न क्वचिदपि कुर्यात् ॥८॥

पदार्थान्वयः—मास कल्पादि की समाप्ति पर जब विहार करने का समय आवे, तब साधु सयणासणाइं-संस्तारक और आसन सिज्जं-वसति निसिज्जं-स्वाध्याय भूमि तह-तथा भत्तपाणं-अन्न पानी को लेकर ण पडिन्नविज्जा-श्रावक को यह प्रतिज्ञा न करावे कि—"जब मैं लौट कर आऊँगा, तब उक्त पदार्थों को ग्रहण करूँगा, अतः ये पदार्थ मुझे ही देना, और किसी को नहीं।" अतएव साधु गामे-ग्राम में नगरे-नगर में व-तथा देसे-देश में वा-तथा कुले-कुल में कहिंचि-किसी स्थान पर भी ममत्तभावं-ममत्व भाव न कुज्जा-न करे।

मूलार्थ—शयन, आसन, शय्या, स्वाध्यायभूमि एवं अन्न-पानी के विषय में साधु को श्रावक से यह प्रतिज्ञा नहीं करानी चाहिये कि जब मैं वापस लौट कर आऊँ, तब ये पदार्थ मुझे ही देने, और किसी को नहीं। क्योंकि साधु को ग्राम, नगर, कुल और देश आदि किसी भी वस्तु पर ममत्व-भाव करना उचित नहीं है।

टीका—किसी क्षेत्र में ठहरे हुए जब मासकल्प आदि पूरा हो जावे, तब विहार करते समय साधु को श्रावकों से यह नहीं कहना चाहिये कि 'ये शयन—संस्तारक, आसन—पीठ फलक आदि, शय्या—वसति, निषद्या—स्वाध्याय भूमि, तथा तत्कालावस्थायी खंड खाद्य, द्राक्षापान आदि, वस्तुएँ खूब सुरक्षित रखना। जब मैं पुनः लौट कर आऊँ, तब मुझे ही देना। यदि कोई और मांगे तो उसको स्पष्टतः मनाही कर देना।" इस प्रकार कहने का निषेध इसलिये किया है कि ऐसा करने से ममत्व भाव का दोष लगता है। ममत्वभाव का सार्वत्रिक निषेध करते हुए सूत्रकार और भी स्पष्टतः कथन करते हैं कि ग्राम, नगर, कुल और देशादि किसी स्थान पर भी साधु को ममत्व भाव नहीं करना चाहिये। क्योंकि यावन्मात्र दुःखों का मूल कारण ममत्वभाव ही है। जिसने ममत्व को जीत लिया, उसने सब कुछ जीत लिया।

उत्थानिका—अब अव्रती के पास रहने का निषेध करते हैं:—

गिहिणो वेआवडियं न कुज्जा,
अभिवायण-वंदण-पूअणं वा।

असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा,
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥९॥

गृहिणो वैयावृत्यं न कुर्यात्,
अभिवादन-वन्दन-पूजनं वा।
असंक्लिष्टैः समं वसेत्,
मुनिश्चारित्रस्य यतो न हानिः ॥९॥

पदार्थान्वयः—मुणी-साधु गिहिणो-गृहस्थ की वेआवडिअं-वैयावृत्य वा-अथवा अभिवायणवंदण पूअणं-अभिवादन, वन्दन और पूजन आदि सत्कार न कुज्जा-न करे और जओ-जिससे चरित्तस्स-चारित्र की हाणी-हानि न-न हो, ऐसे असंकिलिट्ठेहिं-संक्लेश रहित साधुओं के समं-साथ वसिज्जा-निवास करे।

मूलार्थ—वास्तविक साधुता उसी साधु में आती है, जो गृहस्थों का वैयावृत्य, अभिवादन, वन्दन और पूजन आदि से सत्कार नहीं करता है; तथा जिससे चारित्र की हानि न हो, ऐसे संक्लेश रहित साधुओं के संसर्ग में रहता है।

टीका—साधु को साधुवृत्ति से पराङ्मुख होकर किसी आशा के वश गृहस्थों के साथ वैयावृत्य-सेवा भक्ति का, अभिवादन-वचन द्वारा सत्कार करने का, वन्दन-काय द्वारा हाथ जोड़ कर प्रणाम करने का, तथा पूजन-वस्त्रादि द्वारा सत्कार करने का, व्यवहार किसी भी अवस्था मे नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसे सम्बन्ध से भोगविलासों में रुचि होती है एवं चारित्र की तरफ से उदासीनता होती है। जैसा संसर्ग हो वैसा होकर ही रहता है। अब प्रश्न यह होता है—यदि साधु ऐसे काम करता हुआ गृहस्थों के संसर्ग में न रहे तो फिर किनके संसर्ग मे रहे। सूत्रकार उत्तर देते हैं कि जो मुनि सभी प्रकार के गृहस्थसम्बन्धी संक्लेशों से रहित हैं "उत्कृष्ट चारित्री हैं" उन्हीं के संसर्ग में (साथ में) साधु को रहना चाहिये। कारण कि साधु को उन्हीं के साथ रहना उचित्त है, जिनके साथ रहने से स्वीकृत चारित्र में किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। सहवास समान धर्म वालों का ही उपयुक्त होता है। यह सूत्र 'अनागत काल विषयक' जानना चाहिये।

क्योंकि प्रणयन-काल में संक्लिष्ट साधुओं का अभाव है। अतएव उक्त कथन की सिद्धि नहीं हो सकती।

उत्थानिका—अब सूत्रकार "यदि श्रेष्ठ मुनि न मिलें तो फिर क्या करना चाहिये।" इस प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

ण या लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहिअं वा गुणओ समं वा।
इक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो,
विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥१०॥

न यदि लभेत निपुणं सहायं,
गुणाधिकं वा गुणतः समं वा।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्,
विहरेत् कामेषु असज्जमानः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—या-यदि गुणाहिअं-गुणों से अधिक वा-किंवा गुणओसमं-गुणों से तुल्य वा-किंवा निउणं-संयम पालने में निपुण कोई सहायं-सहायक साधु न लभिज्जा-न मिले तो साधु पावाइं-पाप कर्मों को विवज्जयंतो-वर्जता हुआ कामेसु-काम भोगों में असज्जमाणो-आसक्त न होता हुआ एगोवि-अकेला ही विहरिज्ज-विचरे।

मूलार्थ—यदि अपने से गुणों में अधिक, गुणों में तुल्य एवं संयम क्रिया में निपुण कोई साधु न मिले तो मुनि, पापकर्मों का परित्याग करता हुआ एवं काम भोगों में आसक्त न होता हुआ अकेला ही विचरे; किन्तु शिथिलाचारी साधुओं के संग न रहे।

टीका—यदि कभी कालदोष के माहात्म्य से संयमानुष्ठान में कुशल, परलोक साधन में सहायक, अपने से ज्ञानादि गुणों मे अधिक, तथा गुणों में समान, कोई विशुद्ध मुनि न मिले तो मुनि को सहर्ष अकेला ही विचरना चाहिये, किन्तु भूल कर भी शिथिलाचारी और संक्लेशी मुनियों के साथ नहीं विचरना

चाहिये। क्योंकि शिथिलाचारी मनुष्यों के साथ विचरने से चारित्र धर्म की हानि होती है और जन समाज मे अपनी अप्रतीति होती है। अयोग्य साथी से सिवा हानि के और कुछ लाभ नहीं। पर अकेले विचरने वाले मुनियों से सूत्रकार एक बात का निश्चय (प्रतिज्ञा) कराते हैं, उसका पालन करना आवश्यक होगा। वह प्रतिज्ञा यह है कि अकेले विचरते समय पापकर्मों की ओर चित्त नहीं लगाना चाहिये। कठिन से कठिन संकट में भी पापकर्मों को हलाहल विष के समान समझे और स्पर्श न करे। तथा कामभोगों मे आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। विषय भोग, कैसे ही क्यों न सुलभ और साग्रह निमंत्रित हों, तो भी उनकी ओर दृष्टि तक न करे। अकेलेपन में किसी की रोक-रुकावट नहीं रहती; इसी लिये यह प्रतिज्ञा कराई गई है। इस प्रकरण से अकेले विचर कर अपनी मनमानी करने वाले, स्वच्छन्द वृत्ति से साधु लाभ न उठावें। यहाँ सूत्रकार अकेले विचरने की आज्ञा नहीं दे रहे हैं, वल्कि अपवाद बतला रहे हैं। अपवाद सदा के लिये नहीं, कुछ काल के लिये ही होता है। और फिर इसमें तो अकेले विचरने का समय भी बहुत कठिन बतलाया गया है। ऐसा समय हर किसी को नहीं मिलता।

उत्थानिका—अब विहार-काल का मान बतलाते हैं:—

संवच्छरं वावि परं पमाणं,
बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू,
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥११॥

संवत्सरं वाऽपि परं प्रमाणं,
द्वितीयं च वर्षं न तत्र वसेत्।
सूत्रस्य मार्गेण चरेद् भिक्षुः,
सूत्रस्यार्थो यथा आज्ञापयति ॥११॥

पदार्थान्वयः—संवच्छरं—वर्षाकाल में चार मास वावि—अन्य ऋतुओं में एक मास रहने का परं—उत्कृष्ट पमाणं—प्रमाण है, सो जहाँ पर चतुर्मास किया हो वा मास कल्प किया हो तहिं—वहाँ पर बीअं—द्वितीय वासं—चतुर्मास वा मासकल्प न वसिज्जा—नहीं रहना चाहिये, क्योंकि सुत्तस्स—सूत्र का अत्थो—अर्थ जह—जिस प्रकार आणवेइ—आज्ञा करे, उसी प्रकार भिक्खू—साधु सुत्तस्स—सूत्र के मग्गेण—मार्ग से चरिज्ज—चले।

मूलार्थ—एक स्थान पर वर्षा ऋतु में चार महीने और अन्य ऋतुओं में एक महीना ठहरने का उत्कृष्ट प्रमाण कथन किया है; अतः उसी स्थान पर दूसरा चतुर्मास अथवा मास-कल्प मुनि को नहीं करना चाहिये। क्योंकि सूत्र के उत्सर्ग और अपवाद रूप अर्थ की जिस प्रकार से आज्ञा हो, उसी प्रकार से सूत्रोक्त मार्ग पर मुनि को चलना चाहिये।

टीका—जिस साधु ने जिस स्थान पर चतुर्मास वा मासकल्प किया हो, तब फिर उसी साधु को उसी स्थान पर दूसरा चतुर्मास वा मासकल्प कदापि नहीं करना चाहिये अर्थात् दो अथवा तीन चतुर्मासादि अन्यत्र करके, फिर उसी स्थान पर चतुर्मासादि करना उचित है। अतएव जिस प्रकार सूत्रार्थ की आज्ञा हो उसी प्रकार साधु को वर्तना चाहिये, क्योंकि सूत्रोक्त मार्ग से चलता हुआ साधु आज्ञा का आराधक होता है। अतः जो मुनि सूत्र के भावों को सम्यक् प्रकार से विचार करके तदनुसार चलते हैं, वे तो अपने कार्य की सिद्धि कर लेते हैं, किन्तु जो मुनि इसके विपरीत चलते हैं, वे कार्य सिद्धि की अपेक्षा उल्टी अपनी सत्ता भी नष्ट कर देते हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार आत्म विचारणा के विषय में कहते हैं:—

जो पुव्वरत्तावररत्तकाले,
संपेहए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किंच मे किच्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥१२॥

यः पूर्वरात्रापररात्रकाले,
संप्रेक्षते आत्मकमात्मकेन ।
किं मया कृतं किंच मम कृत्यशेषं,
किं शक्यं न समाचरामि ॥१२॥

पदार्थान्वयः—मे-मैंने किं-क्या किच्चं-करने योग्य कार्य कडं-किया है तथा मे-मेरा किं-क्या किच्च-कृत्य सेस-शेष रहा है, तथा किं-क्या सक्कणिज्जं-कार्य करने की मेरे में शक्ति है, जिसे मैं न समायरामि-आचरण नहीं करता हूँ, इस भाँति जो-जो साधु पुव्वरत्तावररत्तकाले-रात्रि के प्रथम प्रहर और चरम प्रहर में अप्पगं-अपनी आत्मा को अप्पएणं-अपनी आत्मा द्वारा ही संपेहए सम्यक् प्रकार से देखता है, वही श्रेष्ठ है ।

मूलार्थ—जो साधु, रात्रि के प्रथम प्रहर और अन्तिम प्रहर में अपनी आत्मा को अपनी आत्मा द्वारा सम्य प्रकार से देखता है और विचारता है कि मैंने क्या किया है, मुझे क्या करना शेष है, मेरे में किस कार्य के करने की शक्ति है, जिसे मैं नहीं कर रहा हूँ—वही सर्व शिरोमणि साधु होता है ।

टीका—इस सूत्र में आत्मदर्शी वनने के लक्षण वर्णन किये हैं। यथा—साधु को रात्रि के पहले पहर और पिछले पहर में अपनी आत्मा को (कर्मभूत) अपनी आत्मा द्वारा ही (करणभूत) सम्यक् प्रकार से अर्थात् सूत्रोपयोगिनी-नीति से देखना चाहिये, तथा सदैव एकान्त स्थान मे यह विचार करना चाहिये कि मैंने क्या क्या शुभ कृत्य किये हैं। तथा मुझे कौन कौन से तपश्चरणादि करने बाकी हैं। तथा वे कौन कौन से कृत्य हैं, जिनके करने की मुझ में शक्ति तो है, परन्तु मै प्रमाद के कारण उन्हें आचरण नहीं करता हूँ। कारण यह है कि ऐसा करने से भ्रम का परदा दूर होता है, स्वकर्तव्य का भान होता है, आलस्य के स्थान पर पुरुषार्थ का उत्थान होता है, तथा पाप मल के दूर होने पर निजात्मा की शुद्धि होती है, जिससे अजर अमर मोक्षधाम में पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति होती है । सूत्र मे 'किं मे कृत्यं' वाक्य में जो 'मे' यह षष्ठी विभक्ति दी है, वह 'मया' इस तृतीया के स्थान पर है । यह प्रयोग छान्दस है, अतः शुद्ध है ।

उत्थानिका—अब फिर उक्त विषय पर ही कहा जाता है :—

किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं वाऽहं खलिअं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥१३॥

किं मम परः पश्यति किं चात्मा,
किं वाऽहं स्खलितं न विवर्ज्जयामि ।
इत्येवं सम्यगनुपश्यन्,
अनागतं न प्रतिबंधं कुर्यात् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—परो-अन्य पुरुष मे-मेरी किं-क्या खलिअं-स्खलना पासइ-देखता है च-तथा अप्पा-मैं स्वयं अपने प्रमाद के प्रति किं-क्या देखता हूँ वा तथा अहं-मैं किं-क्या खलिअं-स्खलित न-नहीं विवज्जयामि-छोड़ता हूँ इच्चेव-इस प्रकार सम्मं-सम्यक्तया अणुपासमाणो-विचार करता हुआ साधु अणागयं-अनागत काल के पडिबंध-प्रतिबंध को न कुज्जा-न करे, अर्थात् भविष्य में कोई दोष न लगावे ।

मूलार्थ—दूसरे लोग मुझे किस प्रकार स्खलित अवस्था में देखते हैं । मैं अपने आत्मिक-कार्य सम्बन्धी प्रमाद को किस प्रकार देखता हूँ । मैं अपने इस स्खलित भाव को क्यों नहीं छोड़ता हूँ । —इस प्रकार सम्यक्तया विचार करता हुआ मुनि, भविष्यकाल में किसी प्रकार का दोषात्मक प्रतिबन्ध न करे ।

टीका—इस गाथा में साधु को पुनरपि विचार करने के लिये कहा गया है । यथा—आत्मार्थी मुनि शान्तचित्त से विचार करे कि "जब मैं किसी संयमसम्बन्धी नियम से स्खलित होता हूँ, तब मुझे स्वपक्ष और परपक्ष वाले सभी लोग किस घृणा की दृष्टि से देखते हैं । तथा जब मैं प्रमाद के कारण आत्मिक पथ से स्खलित होता हूँ, तब मैं 'यह कार्य करना मुझे उचित नहीं है'—इस भाँति विचार कर अपने आत्मस्वरूप को किस प्रकार से देखता हूँ । तथा मैं अपने इस

दुष्ट प्रमाद के छोड़ने में किस कारण से असमर्थ हूं क्यों नहीं इसको छोड़ता। भाव यह है कि जो मुनि, उपर्युक्त रीति से सम्यक्तया अपने आत्म स्वरूप को देखता है, वह अनागत काल में किसी प्रकार का दोष नहीं लगा सकता है। वह जब कभी कोई भूल होती है, तब शीघ्र ही उस भूल को स्मृति में लाकर भविष्य में ऐसी भूल न होने के लिये सावधान होजाता है। स्खलित होना बुरा है, किन्तु इससे भी बुरा वह है, जो स्खलित होकर फिर संभलने की चेष्टाएँ नहीं करता।

उत्थानिका—अब सूत्रकार साधु को सँभलने के लिये अश्व का दृष्टान्त देते हैं:—

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं,
काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा,
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥१४॥

यत्रैव पश्येत् क्वचिद् (कदा) दुष्प्रयुक्तं,
कायेन वाचाऽथवा मानसेन।
तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेत्,
आकीर्णः क्षिप्रमिव खलिनम् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—कइ–प्रतिलेखन प्रमुख क्रिया के किसी भी समय जत्थेव–जिस स्थान पर काएण–काय से वाया–वचन से अदु–अथवा माणसेणं–मन से अपने आप को दुप्पउत्तं–दुष्प्रयुक्त (प्रमादयुक्त) पासे–देखे तो धीरो–धैर्यवान् साधु तत्थेव–उसी स्थान पर अपने आपको पडिसाहरिज्जा–शीघ्रतया संभाल ले इव–जिस प्रकार आइन्नो–जातिवान् अश्व खिप्पं–शीघ्र क्खलीणं–लगाम ग्रहण करता है और संभल जाता है।

मूलार्थ—अपने आप को जब मन से, वचन से एवं काय से स्खलित होता हुआ देखे, तब बुद्धिमान् साधु को शीघ्र ही संभल जाना चाहिये। जिस प्रकार जाति-युक्त अश्व नियमित मार्ग पर चलने के लिये शीघ्र ही लगाम को

ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधु भी संयम-मार्ग पर चलने के लिये सम्यक् विधि का अवलम्बन करे।

टीका—विचारशील साधु, जब संयम सम्बन्धी प्रतिलेखना आदि क्रियाएँ करे, तब यदि प्रमाद वश कोई मन वचन एवं काय योग से भूल हो जाय, तो उसी समय शीघ्र ही अपनी आत्मा को संभाल ले—अर्थात् निजात्मा को आलोचना द्वारा पृथक् करले। क्योंकि उसी समय न सँभलने से फिर आगे चल कर अनेक दोषों की उत्पत्ति हो जायगी। 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'। अपने आप को किस प्रकार सँभाल ले—इस पर सूत्रकार अश्व का दृष्टान्त देते हैं। जिसका भाव यह है कि जिस प्रकार उत्तम जातिवन्त शिक्षित घोड़ा, लगाम के संकेत के अनुसार विपरीत मार्ग को छोड़ कर, नियमित मार्ग पर, चलता है और सुखी होता है, इसी प्रकार बुद्धिमान् साधु भी शास्त्रीय विधि के अनुसार जो संयम का मार्ग नियत है, उस पर असंयम मार्ग को छोड़ कर चले और लोक-परलोक दोनों मे यशस्वी बने।

उत्थानिका—अब प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हैं:—

जस्सेरिसा जोग जिइंदिअस्स,
धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी,
सो जीअइ संजमजीविएण॥१५॥

यस्य ईदृशाः योगाः जितेन्द्रियस्य,
धृतिमतः सत्पुरुषस्य नित्यम्।
तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनं,
स जीवति संयमजीवितेन॥१५॥

पदार्थान्वयः—जिइंदिअस्स—इन्द्रियजयी धिईमओ—धैर्यवान् जस्स—जिस सप्पुरिसस्स—सत्पुरुष के जोग—मन वचन काय योग निच्चं—सदा एरिसा—इस प्रकार के रहते हैं तं—उसको लोए—लोक मे पडिबुद्धजीवी—प्रतिबुद्ध जीवी आहु—कहते हैं, क्योंकि सो—वह संजमजीविएणं—संयम जीवन से जीअइ—जीता है।

मूलार्थ—जिसने चंचल इन्द्रियों को जीत लिया, जिसके हृदय में संयम के प्रति अदम्य धैर्य है, जिसके तीनों योग सदैव वश में रहते हैं, उस सत्पुरुष को विद्वान् लोग प्रतिबुद्धजीवी कहते हैं, क्योंकि वह संसार में संयम जीवन से ही जीता है।

टीका—जिसने स्पर्श आदि पाँचों इन्द्रियों को अपने वश मे कर लिया है, जो संयम क्रियाओं के करने मे अदम्य धैर्ययुक्त है, जिसके मन वचन और काय योग वशीभूत हैं, जो सदैव प्रमाद को जीतता है, तथा जो नित्य प्रति अपनी संयम-सम्बन्धी क्रियाओं मे लगा रहता है, ऐसे श्रेष्ठ मुनि को विद्वान् लोग संसार मे 'प्रतिबुद्धजीवी'—अर्थात् प्रमाद रहित जीवन वाला कहते हैं। कारण कि वह साधु संयम-जीवन से जीता है अर्थात् उसका जीवन चारित्र धर्म से युक्त है। बात यह है कि जो मनुष्य धर्मप्रेमी है, वही जीवित गिना जाता है, धर्महीन नहीं। धर्महीन मनुष्य की तो मृतक से उपमा दी गई है। कुछ साँस के चलते रहने से ही जीवन नहीं गिना जाता, यों तो लुहार की मुर्दार धौंकनी भी साँस लेती रहती है। सच्चा जीवन तो संयम से ही सम्बन्ध रखता है। अतः संयमजीवी ही प्रतिबुद्धजीवी कहलाता है।

उत्थानिका—अब चूलिका की समाप्ति में आत्म-रक्षा का उपदेश देते हैं:—

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥१६॥

त्ति बेमि।

इअ दसवेआलिअसुत्तस्स विवित्तचरिआ चूलिआ समत्ता।

आत्मा खलु सततं रक्षितव्यः,
सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितैः।

अरक्षितो जातिपथमुपैति,
सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते ॥१६॥
इति ब्रवीमि ।

इति दशवैकालिकसूत्रस्य द्वितीया चूलिका समाप्ता ।

पदार्थान्वयः—सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं—समग्र इन्द्रियों द्वारा सुसमाहित मुनि से अप्पा—यह आत्मा खलु—निश्चय ही सययं—सदाकाल रक्खियव्वो—रक्षणीय है, क्योंकि अरक्खिओ—अरक्षित आत्मा तो जाइपहं—जातिपथ को उवेइ—प्राप्त होती है और सुरक्खिओ—सुरक्षित आत्मा सव्वदुहाण—सब दुःखों से मुच्चइ—मुक्त होती है । त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—जो मुनि समस्त इन्द्रियों द्वारा सुसमाहित हैं, उनका कर्तव्य है कि वे अपनी आत्मा की सदैवकाल रक्षा करते रहें; क्योंकि अरक्षित आत्मा जातिपथ को प्राप्त होती है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाती है ।

टीका—इस सूत्र में शास्त्र का उपसंहार और उपदेश का फल बतलाया गया है । यथा—साधु को अपनी आत्मा की बड़ी सावधानी से सदाकाल रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि रक्षित की हुई आत्मा ही शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त होकर अनन्त निर्वाण सुख को प्राप्त होती है । इसके विपरीत जो आत्मा अरक्षित रहती है, वह एकेन्द्रिय आदि नानाविध जातियों के पथ की पथिक बनती है, वहाँ वह ताड़न-तर्जन आदि के अनेकानेक असह्य कल्पनातीत दुःख भोगती है । अब प्रश्न यह होता है कि आत्मा की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये । चूलिकाकार उत्तर देते हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विकारों से निवृत्त होकर, समाधिस्थ हो जाने से आत्मा की रक्षा होती है—अर्थात् तप संयम द्वारा ही आत्मा सुरक्षित की जा सकती है, और अजर अमर सर्वज्ञ-पद पा सकती है ।

"गुरु श्री अपने शिष्य से कहते हैं कि—हे वत्स ! जिस प्रकार मैंने इस द्वितीया चूलिका का भाव गुरुमुख से श्रवण किया था, उसी प्रकार वर्णन किया है, अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा है ।"

द्वितीया चूलिका समाप्त ।

दशवैकालिक और आचारांग सूत्रो का नमूनामात्र तुलनात्मक अध्ययन

दशवैकालिक सूत्र अन्य सूत्रों का संक्षिप्त सारभाग है। दशवैकालिक का वहुत सा अंश आचारांग और उत्तराध्ययन के गद्य और पद्य-भाग से प्रायः अक्षरश. मिलता है। इसके प्रमाण में यहा पर आचारांग के गद्य-पाठ और दशवैकालिक के गद्य-पद्य-भाग की समतुलना का थोड़ा दिग्दर्शन करया गया है, जो कि पाठकों, विद्वानों और अन्वेषकों के लिए विशेष उपयुक्त होगा।

आचारांगसूत्रम्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अह पुण एवं जाणेज्जा तिव्वदेसियं वासं वासमाणं पेहाए, तिव्वदेसियं महियं सणिणचयमाणिं पेहाए महावाएण वा रयं समुद्धुयं पेहाए, तिरिच्छसंपातिमा वा तसा पाणा संघडा सन्निचयमाणा पेहाए, से एवं णच्चा णो सव्वं भंडगमायाय गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा, वहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा गामाणुगामं दूइज्जेज्ज वा।

[५५९सू.] (द्वि श्रु अ १०उ.३)

दशवैकालिकसूत्रम्–

न चरेज्ज वासे वासते महियाए पडतिए।
महावाए व वायते तिरिच्छ सपाइमेसु वा॥

[दश अ ५उ.१गाथा.८]

आचारांगसूत्रम्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलस्स दुवारसाहं कंटक वोंदियाए पडिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय नो अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय पमज्जिय ततो संजयामेव अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा। [५७२सू.] (अ.१०उ.५.)

दशवैकालिकसूत्रम्–

साणीपावारपिहिअं, अप्पणा नावपंगुरे।
कवाड नो पणुलिज्जा, उग्गहंसि अजाइया॥

[दश अ ५उ १गा १८]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा समणं वा, माहणं वा, गाम पिण्डोलगं वा, अतिथि वा, पुव्वपविट्ठं पेहाए णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा । केवली वूया "आयाणमेयं" । [५७३सू.] (अ१०उ.५)

समणं माहणं वा वि, किविणं वा वणीमगं ।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥
[दश अ ५उ २गा १०]

पुरा पेहाए तस्सट्ठाए परो असणं वा ४ आहट्टु दलएज्ज । अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा एस पतिन्ना, एस हेऊ, एस उवएसो, जं णे तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा ।
[५७४सू.] (अ.१०उ.५)

तमइक्कमित्तु न पविसे न चिट्ठे चक्खुगोअरे ।
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥
[दश अ ५उ.२ गा.११]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठसमाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, गोणं वियालं पडिपहे पेहाए, महिसं वियालं पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्स आसं हत्थिं सीहं वग्घं दीवियं अच्छं तरच्छं परसरं सियाल विराल सुणयं कोलसुणयं कोकंतियं चित्ताचेल्लरयं वियालं पडिपहे पेहाए, सति परक्कमे सजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ।
[५७०सू.] (अ.१०उ.५)

साण सूइयं गावि, दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्ध, दूरओ परिवज्जए ॥
[दश अ ५उ.१गा १२]

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे अंतरा से ओवाओ वा, खाणू वा, कंटए वा, घसीवा, भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा

ओवायं विसमं खाणुं, विजलं परिवज्जए ।
सकमेण न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥
[दश.अ.५उ.१गा.४]

परियावज्जेज्जा, सति परक्कमे संजयामेव णो उज्जुयं गच्छेज्जा ।
[५७९सू.] (अ.१०उ.५)

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए ।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥
तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए ।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥
[दश.अ.५उ.१गा.५-६]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे नो गाहावतिकुलस्स दुवारसाहं अवलंबिय २ चिट्ठेज्जा. नो गाहावतिकुलस्स दगच्छड्डणमत्तए चिट्ठेज्जा. नो गाहावतिकुलस्स चंदणिउयए चिट्ठेज्जा, णो गाहावइकुलस्स सिणाणस्स वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा: णो गाहावतिकुलस्स आलोयं वा थिग्गलं वा संधिं वा दगभवणं वा बाहाउ पगिज्झिय २ अंगुलियाए वा उद्दिसिय २ ओणमिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा. णो गाहावतिं अंगुलियाए उद्दिसिय २ जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए चालिय २ जाएज्जा: णो गाहावतिं अंगुलियाए तज्जिय २ जाएज्जा. णो गाहावतिं अंगुलियाए उक्खुलंपिय २ जाएज्जा. णो गाहावतिं वंदिय २ जाएज्जा. णो वयणं फरुसं वदेज्जा । [५८०सू.] (अ.१०उ.५)

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मिअं भूमिं परक्कमे ॥
तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागविअक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥
आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि य ।
चरंतो न विणिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ॥
[दश अ ५उ १गा २४,२५,१५]

अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए ।
अवलंबिआ न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ॥
इत्थिअं पुरिसं वावि, डहरं वा महल्लगं ।
वंदमाणं न जाइज्जा, नो णं फरुसं वए ॥
जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥
[दश.अ ५उ.२गा ९,२९,३०]

अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए तंजहा. गाहावइं वा-जाव कम्मकरिं वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा — 'आउसो'त्ति वा, भइणि त्ति वा, दाहिसि मे एत्तो अन्नयरं

पुरेकम्मेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा ।
दितिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥
एवं उदउल्ले ससिणिद्धे ससरक्खे मट्टिआओसे ।
हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥

भोयणजातं ।' से एवं वदंतस्स परो हत्थं वा, मत्तं वा, दविं वा, भायणं वा, सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा, उच्छोलेज्ज वा पहोएज्ज वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा 'आउसो-त्ति वा भगिणीति वा, मा एयं तुमं हत्थं वा, मत्तं वा, दविं वा, भायणं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेहि वा पहोवाहि वा। अभिकंखसि मे दातुं, एमेव दलाहि ।' से एवं वदंतस्स परो हत्थं वा ४ सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेत्ता पधोइत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारेण पुरेकम्मएण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा, णो उदउल्लेणं, ससिणिद्धेणं सेसं तं चेव। एवं ससरक्खे, महिया ऊसे, हरियाले, हिंगुलए, मणोसिला, अंजणे, लोणे, गेरुय-वन्निय सेडिय सोरट्ठिय-पिट्ठ-कुक्कस-उक्कुट्ठ संसट्ठेणं।

[५८१सू.] (अ.१०उ.६)

अह पुण एवं जाणेज्जा, णो असंसट्ठे, तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४ असणं वा पाणं वा ४ फासुयं जाव पडिगाहेज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा, असंसट्ठे, तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ फासुयं जाव पडिगाहेज्जा। [५८२सू.] (अ.१०उ.६)

गेरुअ-वन्निअ-सेढिय सोरट्ठिअपिट्ठकुक्कुसकए अ।
उक्किट्ठमसंसट्ठे, ससट्ठे चेव बोद्धव्वे॥

[दश अ ५उ १गा ३२,३३,३४]

असंसट्ठेण हत्थेणं, दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाण न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे॥
ससट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे॥

[दश अ ५उ १गा३५ ३६]

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा (४) अगणिणिक्खित्तं तहप्पगारं असणं वा (४) अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। केवली बूया-"आयाण-मेयं"। अस्संजए भिक्खुपडियाए उस्सिंचमाणे वा, निस्सिंचमाणे वा, आमज्जमाणे वा, पमज्जमाणे वा, ओयारेमाणेवा, उयत्तेमाणेवा, अगणिजीवे हिंसेज्जा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा एस पइण्णा, एस हेऊ, एस कारणे, एसुवएसे, जं तहप्पगारं असणं वा (४) अगणि णिक्खित्तं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संतेणो पडिगाहेज्जा। [५८५सू.] (अ.१०उ.६)

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, असणं वा (४) खंधंसि वा, थंभंसि वा, मंचंसि वा, मालंसि वा, पासायंसि वा, हम्मियतलंसि वा, अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि उवणिक्खित्ते सिया, तहप्पगारं मालोहडं असणं वा (४) जाव अफासुयं नो पडिगाहेज्जा। केवली बूया 'आयाणमेतं' अस्संजए भिक्खुपडियाए पीढं वा, फलगं वा, णिस्सेणिं वा उदूहलं वा, आहट्टु उस्सविय दुरुहेज्जा। से तत्थ दुरुहमाणे पयलेज्ज वा पक्खलेज्ज वा पवडेज्ज वा। से तत्थ पयलेमाणे वा पक्खलेज्जमाणे वा पवडेज्जमाणे वा हत्थं वा, पायं वा, बाहुं वा, ऊरुं वा, उदरं वा,

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
तेउम्मि (अगणिम्मि) होज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिआ दए॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥
[दश अ ५उ १गा ६१,६२]

एवं उस्सिक्किया ओसक्किया, उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया, उववत्तिया ओवारियादए॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥
[दश अ ५उ १गा ६३,६४]

निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ता ण मारुहे।
मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठा एव दावए॥
दुरुहमाणी पवडिज्जा, हत्थं पायं व लूसए।
पुढवीजीवे वि हिंसेज्जा जे अ तन्निस्सिआ जगे॥
एआरिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो।
तम्हा मालोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया॥
[दश अ ५उ १गा.६७,६८,६९]

सीसं वा, अण्णयरं वा कायंसि इंदिय-जायं लूसेज्ज वा, पाणाणि वा, भूयाणि वा, जीवाणि वा सत्ताणि वा अभिहणेज्ज वा वत्तेज्ज वा लेसेज्ज वा संघसेज्ज वा संघट्टेज्ज वा परियावेज्ज वा किलामेज्ज वा ठाणाओ ठाणं संकामेज्ज वा। तं तहप्प-गारं मालोहडं असणं वा (४) लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। [५८७सू.] (अ.१०उ.७)

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा (४) आउकायपतिट्ठियं तहप्पगारं असणं वा (४) लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[५९१सू.] (अ.१०उ.७)

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
उदगम्मि हुज्ज निक्खित्त उत्तिंग पणगेसु वा॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥
[दश.अ ५उ १गा ५९,६०]

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा (४) वणस्सइ-कायपतिट्ठियं, तहप्पगारं असणं वा ४ वणस्सइकायपतिट्ठियं अफासुयं अणेस-णिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[५९३सू.] (अ.१०उ.७)

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
पुप्फेसु हुज्ज उम्मीसं, वएसु हरिएसु वा॥
तं भवे भत्तपाण तु संजयाण अकप्पियं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥
[दश अ ५उ १गा५७,५८]

से भिक्खू वा (२) जाव पविट्ठसमाणे से जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा, तंजहा उस्सेइमं वा, संसेइमं वा, चाउलोदगं वा, अण्णयरं वा तहप्पगारं पाणगजातं अहु-णाधोतं अणबिलं अवोक्कंतं अपरिणतं अवि-द्धत्थं अफासुयं अणेसणिज्जं भण्णमाणे णो पडिगाहेज्जा [५९४सू.] (अ.१०उ.७)

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोवणं।
ससेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोअं विवज्जए॥
जं जाणेज्ज चिराधोअं, मइए दंसणेण वा,
पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकियं भवे॥
अजीवं पडिणय नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए।
अह संकियं भवेज्जा, आसाइत्ताण रोअए॥
[दश अ ५उ १,गा७५,७६,७७]

अह पुण एवं जाणेज्जा चिराधोतं, अंबिलं वक्कतं परिणतं विद्धत्थं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा। [५९५सू.] (अ.१०उ.७)

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा सालुयं वा, विरालयं वा, सासवणालियं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। [६०१सू.] (अ.१०उ.८)

सालुअं वा विरालिअं, कुमुअं उप्पलनालिअं।
मुणालिअं सासवनालिअं उच्छुखंडं अनिव्वुडं॥
[दस.अ.५उ.२गा.१८]

से भिक्खू वा (२) जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण मंथुजातं जाणेज्जा, तंजहा: उंबरमंथुं वा, णग्गोहमंथुं वा, पिलक्खुमंथुं वा आसोत्थमंथुं वा, अण्णयरं वा तहप्पगारं मंथुजातं आमयं दुरुक्कं साणुबीयं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। [६०६सू.] (अ.१०उ.८)

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिआ।
विहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए॥
[दस.अ.५उ.२गा.२४]

से भिक्खू वा (२) से जं पुण जाणेज्जा, उप्पलं वा, उप्पलनालं वा, भिसं वा भिसमुणाल वा, पोक्खलं वा, पोक्खलविभंग वा अण्णयरं वा तहप्पगारं जाव णो पडिगाहेज्जा। [६०९सू.] (अ.१०उ.८)

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संलुंचिआ दए॥
उप्पलं पउमं वा वि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च सम्मद्दिआ दए॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥
[दस.अ.५उ.२गा.१४,१६,१७]

से भिक्खू वा (२) से जं पुण जाणेज्जा, अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा, उच्छुचोयगं वा, उच्छुमेरगं वा, उच्छुसालगं

बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं।
अत्थियं तिंदुय बिल्लं, उच्छुखंडं च सिंबलिं॥
[अ.५उ.१गा.७३]

वा, उच्छुडालगं वा, संवलिं वा, संवलिवालगं वा, अस्सिं खलु पडिग्गाहियंसि अप्पे सिया भोयणजाए, वहुउज्झियधम्मिए तहप्पगारं अंतरुच्छुयं जाव संवलिवालगं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। [६२८सू.] (अ.१०उ १०)

से भिक्खू वा (२) से जं पुण जाणेज्जा, वहुअट्ठियं मंसं वा, मच्छं वा बहुकंटगं; अस्सिं खलु पडिग्गाहियंसि अप्पे सिया भोयणजाए, वहु उज्झियधम्मिए-तहप्पगारं वहुअट्ठियं मंसं मच्छं वा वहुकंटगं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा। [६२९सू.] (अ१०उ.१०)

अप्पे सिआ भोयणजाए, वहुउज्झिय धम्मिए।
'दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥
[अ ५उ १गा ७४]

से भिक्खूणं जाणेज्जा चत्तारि भासजायाइं, तंजहा, सच्चमेगं पढमं भासजायं, वीयं मोसं, तइयं सच्चामोसं, जं णेव सच्चं णेव मोसं 'असच्चामोसं' णाम तं चउत्थं भासज्जायं। [७७१सू.] (अ.१३उ.१)

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाय भासा सच्चा, जायभासा मोसा, जाय भासा सच्चामोसा, जायभासा असच्चामोसा, तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं, कक्कसं, कडुयं, णिठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेदकरिं परितावणकरिं उवद्दवकरिं भूतोवघाइयं, अभिकंख णो भासं भासेज्जा। [७७४सू.] (अ १३उ.१)

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं।
दुण्ह तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्जसव्वसो॥,
जा अ सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा अ जा मुसा।
जा अ बुद्धेहिं नाइन्ना, न तं भासिज्ज पन्नव॥
असच्चमोसं सच्च च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्ध गिर भासिज्ज पन्नवं॥
[दश अ.७गा.१,२,३]

इत्थी वेस, पुरिस वेस, णपुंसग वेस, एवं वा वेयं, अण्णहा वा वेयं, अणुवीइ णिट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासेज्जा इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म।
[७७०सू.] (अ.१३उ.१)

वितह पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासओ नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए॥
[दश अ ७गा ५]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पुमं आमंतेमाणे, आमंतिते वा अपडिसुणमाणे णो एवं वदेज्जा होलेति वा, गोलेति वा, वसलेति वा, कुपक्खेति वा, घडदासेति वा, साणेति वा, तेणेति वा, चारिएति वा, माईति वा, मुसावादीति वा, एयाइं तुमं इतियाइं ते जणगा। एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव अभिकंखणो भासेज्जा।
[७७५सू.] (अ.१३उ १)

हे भो, हलित्ति अन्नित्ति, भट्टा सामि अ गोमि अ।
होला गोल वसुलित्ति, पुरिसं नेवमालवे॥
[दश अ ७गा १६]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अपडिसुणमाणे एवं वदेज्जा अमुगेति वा, आउसोति वा, आउसंतोति वा, सावगेति वा, उपासगेति वा, धम्मिएति वा, धम्मपियेति वा,। एयप्पगार भासं असावज्जं जाव अभूतोवघाइयं अभिकंख भासेज्जा।
[७७६सू.] (अ.१३उ.१)

नामधिज्जेण णं बूआ, पुरिसगुत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा॥
[दश अ ७गा.२०]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा इत्थी आमंतेमाणे आमंतित य अपडिसुणमाणी नो एवं वदेज्जा, होलेति वा, गोलेति वा, इत्थिगमेणं णेतव्वं।
[७७७सू.] (अ १३उ.१)

हले हलित्ति अन्नित्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि।
होले गोले वसुलित्ति, इत्थिअं नेवमालवे॥
[दश अ.७गा १६]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा इत्थियं आमंतेमाणे आमंतिए य अपडिसुणमाणी एवं वदेज्जा; आउसोत्तिवा, भगिणिति वा, भगवति ति वा, साविगेति वा, उवासिएति वा, धम्मिएति वा, धम्मपिएति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा। [७७८सू.] (अ.१३उ.१)

णामधिज्जेण ण पूआ, इत्थीगुत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा॥
[दश अ ७गा १७]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णो एवं वदेज्जा णभोदेवे ति वा, गज्जदेवेति वा, विज्जुदेवे ति वा, पवुट्ठदेवे ति वा, निवुट्ठदेवे ति वा, पडउवासं, मा वा पडउ, णिप्पज्ज उ वा सस्सं, मा वा णिप्पज्जउ, विभायउ वा रयणी, मा वा विभायउ, उदउ वा सूरिए, मा वा उदउ, सो वा राया जयउ मा वा। णो एतप्पगारं भासं भासेज्ज पण्णवं। [७७९सू.] (अ.१३उ.१)

देवाणं मणुआण च, तिरिआणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउत्ति नो वए॥
वाओ वुट्ठ व सीउण्ह, खेमं धायं सिवं ति वा।
कया णु हुज्ज एयाणि, मा वा होउत्ति नोवए॥
तहेव मेहं व नहं व माणवं, न देव देवत्ति गिरं वइज्जा।
समुच्छिए उन्नए वा पओए, वइज्ज वा वुट्ठ वलाहयत्ति॥
[दश.अ ७गा ५०,५१,५२]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अंतलिक्खे ति वा, गुज्झाणुचरिए ति वा, समुच्छिए वा णिवइए पओए, एवं वदेज्ज वा, वुट्ठेवलाहगे त्ति। [७८०सू.] (अ.१३उ.१)

अंतलिक्खे त्ति णं बूआ, गुज्झाणुचरिअत्ति अ।
रिद्धिमंतं नरदिस्स, रिद्धिमंत ति आलवे॥
[दश.अ.७गा ५३]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहावेगइयाइं रूवाइं पासेज्जा तहावि ताइं णो एवं वदेज्जा तंजहा, गंडी गंडीति वा, कुट्ठी कुट्ठी ति वा, जाव महुमेही महुमेही ति वा. हत्थच्छिण्णे हत्थच्छिण्णे ति वा, एवं पाद-णक्क-कण्ण उट्ठ-च्छिण्णे त्ति वा। जेयावन्ने तहप्पगारा तहप्पगाराहिं

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओपावस्स आगमो॥
तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा।
वाहिअं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए॥
[दश अ ७गा ११,१२]

भासाहिं वूइया वूइया कुप्पंति माणवा, तेयावि तहप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख णो भासेज्जा।

[७८२सू.] (अ.१३उ.२)

एएणन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मइ।
आयार भावदोसन्नू, न तं भासिज्ज पण्णवं॥

[दश.अ.७गा.१३]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहा वेगइयाइं रूवाइं पासेज्जा तंजहा-वप्पाणि वा, जाव भवणगिहाणि वा, तहावि ताइं णो एवं वदेज्जा तंजहा, सुकडे इ वा, सुट्ठु कडे इ वा, साहु कडे इवा, कल्लाणे इ वा, करणिज्जे इ वा। एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

[७८४सू.] (अ.१३उ.२)

सुकडित्ति सुपक्कित्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुनिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी॥

[दश अ ७गा.४१]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, मणुस्सं वा गोणं वा, महिसं वा, मिगं वा, पसुं वा, पक्खिं वा, जलयरं वा-से त्तं परिवूढकायं पेहाए णो एवं वदेज्जा-थुल्ले ति वा, पमेतिल्ले ति वा, वट्टे ति वा, वज्झे ति वा, पाइमे ति वा। एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

[७८८सू.] (अ.१३उ.२)

तहेव मणुसं पसुं पक्खिं वा वि सरीसिवं।
थूले पमेइले वज्झे, पाइमि त्ति अ नो वए॥

[दश.अ ७गा.२२]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं जाव जलयरं वा से त परिवूढकायं पेहाए एवं वदेज्जा परिवूढकाए ति वा, उवचितकाए ति वा, उवचितमंससोणिए ति वा, वहुपडिपुण्णइंदिए ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्ज जाव णो भासेज्जा।

[७८९सू.] (अ.१३उ.२)

परिवुड्ढे त्ति णं वूआ, वूआ-उवचिए त्ति अ।
संजाए पीणिए वा वि, महाकाय त्ति आलवे॥

[दश.अ.७गा २३]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा विरूवरूवाओ गाओ पेहाए णो एवं वदेज्जा, तंजहा, गाओ दोज्झा ति वा, दम्मा इ वा गोहरा, वाहिमा ति वा रहजोग्गा ति वा। एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।
[७९०सू.] (अ.१३उ.२)

तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहग त्ति अ।
वाहिमा रहजोगि त्ति, नेवं भासिज्ज पण्णवं॥
[दश अ ७गा २४]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा विरूवरूवाओ गाओ पेहाए एवं वदेज्जा, तंजहा जुवं गवे ति वा, धेणू ति वा, रसवति ति वा, हस्से ति वा, महल्लए ति वा, महव्वए ति वा, संवाहणे ति वा। एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा।
[७९१सू.] (अ.१३उ.२)

जुवं गवित्ति णं बूआ, धेणुं रसदय त्ति अ।
रहस्से महल्लए वा वि, वए संवहणि त्ति अ॥
[दश अ ७गा २५]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा तहेव गंतुमुज्जाणाइं पव्वाइं वणाणि वा, रुक्खा महल्ला पेहाए णो एवं वदेज्जा, तंजहा-पासाय जोग्गा ति वा, तोरणजोग्गा ति वा, गिहजोग्गा ति वा, फलिह जोगा ति वा, अग्गल-णावा-उदगदोणि-पीठ चंगवेर-णंगल कुलिय-जंतलट्ठि-णालि गंडी-आसण-सयण-जाण-उवस्सय-जोग्गा ति वा। एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा। [७९२सू.] (अ.१३उ.२)

तहेव गंतुमुज्जाण, पव्वयाणि वणाणि अ।
रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासिज्ज पण्णवं॥
अल पासायखंभाणं, तोरणाणि गिहाणि अ।
फलिहग्गल नावाणं, अलं उदगदोणिणं॥
पीढए चंगवेरे अ, नंगले मइयं सिया।
जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिआ व अल सिया॥
आसण सयणं जाण, हुज्जा वा किंचुवस्सए।
भूओवघाइणिं भास, नेव भासिज्ज पण्णव॥
[दश अ.७गा २६ २७ २८ २९]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा तहेव गंतुमुज्जाणाइं, पव्वयाणि वणाणिय, रुक्खा महल्ला पेहाए एवं वदेज्जा, तंजहा-जातिमंता ति वा, दीहवट्टा ति वा, महालया ति वा, पयायसाला ति वा, विडिम-

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ।
रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पण्णवं॥
जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया।
पयायसाला विडिमा, वए दरिसणि त्ति अ॥
[दश अ ७गा ३० ३१]

साला ति वा, पासादिया ति वा, जाव पडिरूवा ति वा । एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा ।
[७९३सू.] (अ.१३उ.२)

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूता वणफला पेहाए तहा वि ते णो एवं वदेज्जा तंजहा-पक्का ति वा, पायखज्जा ति वा, वेलोचिया ति वा, टाला ति वा, वेहिया ति वा । एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा । [७९४सू.] (अ.१३उ.२)

तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइ नो वए ।
वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइ त्ति नो वए ॥
[दश.अ ७गा ३२]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूय-फला अंबा पेहाए एवं वदेज्जा-तंजहा असंथडा ति वा, बहुणिवट्टिमफला ति वा, बहुसंभूया ति वा, भूतरूवा ति वा । एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासेज्जा । [७९५सू.] (अ.१३उ.२)

असंथडा इमे अंबा, बहुनिव्वडिमा फला ।
वइज्ज बहुसंभूया, भूअरूव त्ति वा पुणो ॥
[दश अ ७गा.३३]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूयाओ ओसहीओ पेहाए तहा वि ताओ णो एवं वदेज्जा तंजहा-पक्का ति वा, नीलिया ति वा, छवी इ वा, लाइमा इ वा, भज्जिमा इ वा, बहुखज्जा इ वा । एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा ।
[७९६सू.] (अ.१३उ.२)

तहेवोसहीओ पक्काओ, नीलिआओ छवीइ अ ।
लाइमा भज्जिमाउ त्ति, पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥
[दश अ ७गा ३४]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूयाओ ओसहीओ पेहाए तहा वि एवं वदेज्जा, तंजहा-रूढा ति वा, बहुसंभूता ति वा,

रूढा बहुसंभूआ, थिरा ओसढा वि अ ।
गब्भिआओ पसूआओ, संसारा उ त्ति आलवे ॥
[दश.अ.७गा.३५]

थिरा ति वा, ऊसढा ति वा, गब्भिया ति वा, कासारा ति वा, एयप्पगारं असावज्जं जाव भासेज्जा। [७९७सू.] (अ १३उ २)

पढम भंते ! महव्वयं, पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं, से सुहुमं वा, वायरं वा, तसं वा, थावरं वा, णेव सयं पाणाइवायं करेज्जा ३, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणसा वयसा कायसा। तस्स भंते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। [१०२९सू.] (अ.२४)

अहावरं दोच्चं महव्वयं, पच्चक्खामि सव्वं मुसावायं वतिदोसं से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा, णेव सयं मुसं भासेज्जा, नेवन्नेणं मुसं भासावेज्जा, अण्णंपि मुसं भासंतं ण समणुजाणेज्जा तिविह तिविहेणं, मणसा वयसा कायसा, तस्स भंते पडिक्कमामि जाव वोसिरामि। [१०३८सू.] (अ.२४)

अहावरं तच्चं महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं अदिण्णादाणं, से गामे वा नगरे वा अरण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा, चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, णेव सयं अदिण्णं गिण्हेज्जा, णेवण्णेहिं अदिण्णं गेण्हावेज्जा, अण्णपि अदिण्णं गिण्हंतं न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए जाव वोसिरामि। [१०४६सू.] (अ०२४)

पढमे भन्ते। 'महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते। पाणाइवायं पच्चक्खामि। से सुहुमं वा, बायरं वा, तसं वा, थावरं वा, नेव सय पाणे अइवाइज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायन्तेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतपि अन्न न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि जाव वोसिरामि।

अहावरे दुच्चे भन्ते। महव्वए मुसावायाओ वेरमणं। सव्वं भंते मुसावाय पच्चक्खामि से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा, नेव सयं मुस वइज्जा, नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते पडिक्कमामि जाव वोसिरामि। [दश अ ४]

अहावरं तच्चे भन्ते। महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं। सव्व भन्ते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि। से गामे वा, नगरे वा, रण्णे वा, अप्पं वा बहुं वा, अणु वा, थूल वा, चित्तमंत वा अचित्तं वा, नेव सय अदिन्न गिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं अदिन्न गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविह तिविहेणं मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि, करंतंपि अन्न न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि जाव अप्पाण वोसिरामि।

अहावरं चउत्थं महव्वयं-पच्चक्खामि सव्वं मेहुणं, से दिव्वं वा माणुसं वा, तिरिक्खजोणियं वा, णेव सयं मेहुणं गच्छे, तं चेव अदिण्णादाणवत्तव्वया भाणियव्वा जाव वोसिरामि।
[१०५४सू.] (अ.२४)

अहावरे चउत्थे भंते। महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भंते। पच्चक्खामि। से दिव्वं वा, माणुसं वा, तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि करंतपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते पडिक्कमामि जाव वोसिरामि। (अ.४)

अहावरं पंचमं भंते महव्वयं–सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा णेव सयं परिग्गहं गिण्हेज्जा, णेवन्नेण परिग्गहं गिण्हविज्जा, अण्ण पि परिग्गह गिण्हंतं ण समणुजाणेज्जा जाव वोसिरामि। [१०६२सू.] (अ.२४)

अहावरे पंचमे भन्ते। महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं। सव्वं भते। परिग्गहं पच्चक्खामि। से अप्पं वा बहु वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गह परिगिण्हिज्जा। नेवन्नेहिं परिग्गह गिण्हाविज्जा, परिग्गह परिगिण्हन्ते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा। जावज्जीवाए तिविह तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भते पडिक्कमामि जाव अप्पाणं वोसिरामि।

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा। वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे॥ अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो, मा कुले गंधणा होमो, सजमं निहुओ चर॥ जइ तं काहिसि भावं, जा जा दच्छसि नारिओ। वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि॥ तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं। अकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ॥
(उत्त.अ.२२गा.४२,४३,४४,४१)

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं तं मरणं भवे॥
अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो।
मा कुले गधणा होमो, संजम निहुओ चर॥
जइ त काहिसि भावं, जा जा दच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्सासि॥
तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ॥
(दश अ २गा ७ ८ ९ १०)

विसुज्झए जं सि मलं पुरेकडं,
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥
[आचा.अ.२४गा.८]

विसुज्झए जं सि मलं पुरेकडं ।
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥
[दश अ ८गा ६३]

संशोधन करलें

पृष्ठ १९६ अ. ५ उ. १ गा. ५५ 'पामिच्च' शब्द का अर्थ—किसी से उधार लेकर साधु को देना, इस प्रकार करना चाहिए।